शान्तिनिकेतन से शिवालिक

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी
की षष्टिपूर्ति के अवसर पर
प्रस्तुत

तार आपन जने छाडबे तोरे
ता' बले भावना करा चलबे ना
तोर आशालता पडबे छिंडे,
हय तो रे फल फलबे ना
ता' बले भावना करा चलबे ना ॥

आसबे पथे आँधार नेमे
ताइ बलेइ कि रइबि थेमे
ओ तुइ बारे बारे ज्वालबि बाति, हय तो बाति ज्वलबे ना
ता' बले भावना करा चलबे ना ॥

शुने तोमार मुखेर बानी
आसबे फिरे बनेर प्राणी
तबु हयतो तोमार आपन घरे पाषाण हिया गलबे ना
ता' बले भावना करा चलबे ना ॥

बद्ध दुयार देखलि बले
अमनि कि तुइ आसबि चले,
तोरे बारे बारे ठेलते हबे, हयतो दुयार टलबे ना
ता' बले भावना करा चलबे ना ॥

— रवीन्द्रनाथ ठाकुर

शान्तिनिकेतन से शिवालिक

सम्पादक
शिवप्रसाद सिंह



भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन



Lokodaya Series Title No 250

SHANTINIKETAN SE
SHIWALIK

(Literary criticism)

Dr SHIVAPRASAD SINGH

*Bharatiya Jnanpith
Publication*

First Edition 1967

Price Rs 20.00

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

प्रधान कार्यालय

९, अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता २७

प्रकाशन कार्यालय

दुर्गाकुण्ड मार्ग वाराणसी ५

विक्रय केन्द्र

३६२०।२१ नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली ६

प्रथम संस्करण १९६७

मूल्य २०.००

सन्मति मुद्रणालय,
वाराणसी-५

आभार

•

हम एक अजीब दौरसे गुजर रहे हैं। परम्परासे अलगाव, मूल्योंसे उदासीनता और 'जो कुछ है उस सबसे घृणा'का दौर कोई नयी चीज नहीं है। बहुत पहले यूरोपके कई देश इसी दौरसे गुजर चुके हैं। कमोबेश मात्रामें आज भी दुनियाके कई और काफी हिस्सोंमें ऐसी ही कशमकश जारी है। किन्तु हमारे विद्रोह, बिखराव, गुस्से, और जुगुप्साके भीतर एक विशेष बात है। वह है मनुष्यताके प्रति अविश्वासका भाव। यह एक गम्भीर बात है। तोड़-फोड़, गाली-गलौज, चीत्कार-फूत्कार, बेशर्मी-नंगई आदि मृत परम्पराओंको बदलनेके इच्छुक बौद्धिक वर्गके लिए कभी-कभी साधन होते हैं, मैं मानता हूँ पर इन्हें ही साध्य मानकर अपने ही हाथों घायल और क्षत-विक्षत मनुष्यताको कब्रमें रख देनेका प्रयत्न मूलतः अबौद्धिक है, इसमें भी सन्देह नहीं। मूर्ति-भंजनके इस दौरमें एक बुजुर्ग साहित्यकारकी षष्टिपूर्ति मनानेका प्रयत्न निःसन्देह अनेक सहकर्मियोंके लिए न सही खुले विरोध, भ्रू-कुंचनका विषय तो होगा ही। पर मैं इसे व्यंग्य और वक्रताओंकी चोट नहीं, अतः प्रेरणाकी धरोहर मानता हूँ। विद्रोह दिशाहारा न हो, संघर्ष असफल न बने, और खण्ड सन्त्रास हमारे मनमें मनुष्यताकी सारी सम्भावनाओंको पोंछ न दे, इसके लिए यह आयोजन मेरे लिए एक अनिवार्यता बन गया। इस अनिवार्यताके लिए इस उत्तरदायित्वहीन युगमें मैं हर प्रकारसे उत्तरदायी हूँ।

कुछ मित्रों आचार्य द्विवेदीके श्रद्धालुओं और शिष्योंने एवं बृहद् समुदायने उनके चालीस वर्षोंकी साहित्य-साधनाके प्रति अपनी श्रद्धाके रूपमें एक सुनियोजित व्यापक स्तरके अभिनन्दनका संकल्प लिया था। कई अरसे तक इस प्रकारके किसी प्रयत्नका पूर्व लक्षण भी दिखाई न पड़ा। कहीं कोई सुगबुगाहट न देखकर मन खिन्न हुआ। जाहिर है कि वैसा प्रयत्न एक व्यक्तिकी शक्तिके बाहर था। समुदायके व्यापक इच्छा-मौनके विरुद्ध एकाकी प्रयत्न आजके युगमें बुद्धिमानी नहीं माने जाते, बल्कि मौनमें मौन मिला देना आधुनिक जरूर समझा जाता है। यह मौनवाद ऊपरके स्तरपर उन्हीं तत्त्वोंसे जुड़ा है जो हमारे समाज

और दशकों मनुष्यताको खारिज करनेके अन्तिम प्रयत्नोंमें लगे हैं। इस प्रयत्नमें मेरा यह प्रयत्न कुछ भी स्पष्ट हो गया, तो मुझे आत्मतोष मिलेगा।

मेरा यह अपना प्रयत्न भी मनोगत ही रह जाता यदि मेरे एक बार कहनेपर ही भारतीय ज्ञानपीठके मन्त्री श्री लक्ष्मीचन्द्रजी जैनने 'शान्तिनिकेतनसे शिवालिक' को समयसे प्रकाशित कर देनेका आश्वासन न दिया होता। इस बहुमूल्य आश्वासनके बाद सामग्री-संकलनका दुस्तर सिन्धु आगे आया। समय कम था। अभिनन्दन ग्रन्थ नामक कोई वस्तु तैयार करनेका संकल्प न था क्योंकि मैं जानता था कि वह मेरी क्षमताके बाहरकी बात है। हाँ ऐसी पुस्तक प्रकाशित करनेकी योजना जरूर थी जो पण्डितजीके व्यक्तित्व और उनके साहित्यको सही परिप्रेक्ष्यमें देखनेमें सहायक बन सके। आचार्य द्विवेदी अपनी कतिपय प्राचीन धारणाओंके बावजूद हिन्दीके विरल व्यक्ति हैं जिनके साहित्यमें आस्थाका एक ऐसा रसीला और नव्य रूप मिलता है, जिसे आजकी हमारी पीढ़ीके साहित्यकार भी समझना पसन्द करेंगे बशर्ते कि वे आस्थाकी तमाम सम्भावनाओंको परखे बिना ही आस्थाहीन होनेका संकल्प न ले चुके हों।

निबन्धके लिए, मैंने समयके अभाव और निश्चित परिकल्पनाकी बाध्यताके कारण 'खुला न्योता' नहीं दिया। जिनसे जो चीज चाही है, वही लिखवानेका प्रयत्न किया। दो एकको छोड़ सभी बन्धुओंने अपनेको तरह-तरहकी परेशानियोंमें डालकर भी दर-गुजर सहयोग दिया और पूरा किया। इन सभी लेखकोंके प्रति मैं आभार व्यक्त करता हूँ। इस हालतमें भी कुछ चीजें मन माफिक नहीं मिलीं, इसलिए एकाध ऐसी चीजें भी चली गयी हैं, जिन्हें समयकी छूट होनेपर शायद मैं स्वीकार न करता।

द्विवेदीजीके व्यक्तित्व और कृतित्वकी परिचय-परीक्षणात्मक सामग्रीके अतिरिक्त पुस्तकके अन्तमें कुछ पत्र भी संकलित हैं। ये पत्र सन १९४० से १९६० के बीच समय-समयपर विभिन्न साहित्यकारों-द्वारा द्विवेदीजीको लिखे गये हैं। ये हिन्दीके साहित्यिक विकासके दस्तावेज तो हैं ही, साथ ही स्वतःस्फूर्त होनेके कारण द्विवेदीजीके व्यक्तित्व और उनके साहित्यकारके विकासके साक्षी भी हैं। इन पत्रोंमें पण्डितजीके जीवनके विविध पक्षोंपर बहुत स्पष्ट प्रकाश पड़ता है। उनकी आर्थिक स्थिति, स्वभाव, साहित्यिक उपलब्धियाँ संघर्ष और संकटके क्षण इन पत्रोंमें अच्छी तरह अभिव्यक्त हुए हैं। आशा है इनका प्रकाशन हिन्दीके इस विरल व्यक्तित्वको सही ढंगसे समझनेमें सहायक होगा।

बन्धुवर विद्यानिवास मिश्रने निरालापर निबन्ध लिखा। आग्रह किया तो एक संस्मरण भी भेजा। कुछ ट्रान्सपरेण्ट रंगीन स्लाइडें भी भेजीं जिनका मैं साधनके अभावमें उपयोग न कर सका। जानता हूँ यह सब उन्होंने पण्डितजीके प्रति अपनी सहज निष्ठाकी अभिव्यक्तिके रूपमें किया तो भी वे मेरे लिए प्रथम स्मरणीय हैं, इसमें सन्देह नहीं। सौभाग्यवती आरती मिश्रने पण्डितजीके कुछ दुर्लभ चित्र भेजे। वह इस पुस्तकको देखकर प्रसन्न होंगी। उन्हें धन्यवाद क्या दूँ। आयुष्मान् श्री गोपाल द्विवेदीने पुराने पत्रों और कुछ चित्रोंके जुटाने ढूँढ़नेमें मदद की। मेरे छात्र श्री प्रेमचन्द्र जैनने अनेक निबन्धोंकी प्रतिलिपि तैयार की। भारतीय ज्ञानपीठके कार्यकर्ता इस ग्रन्थको समयपर प्रकाशित करनेमें हमेशा तत्पर रहे। मैं इन सबके प्रति अपना आभार व्यक्त करता हूँ। अन्तमें पुनः मैं श्री लक्ष्मीचन्द्रजी जैनके प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ जो इस अनुष्ठानके समवाय कारण रहे। उनकी आशु स्वीकृतिके बिना यह सब सम्भव न होता।

काशी
१०८६१

— शिवप्रसाद सिंह

अ

जीवन यज्ञ

इतिहास-दर्शन

सन्तुलित दृष्टि

अतीत कथा

निबन्ध चिन्तन

विविध

एक इण्टरव्यू : कुछ पत्र

तत समुत्क्षिप्य धरा स्वदंष्ट्रया
महावराह स्फुट - पद्मलोचन ।
रसातलादुत्पल - पत्र - सन्निभ
समुत्थितो नील इवाचलो महान् ॥

जीवन-यज्ञ

*

घोर आंगिरसने देवकीपुत्र कृष्णसे कहा   जीवन ही यज्ञ है।

—छान्दोग्योपनिषद् ३।१६।१७

लिखनेके लिए टेबल-कुरसी जरूरी तो नहीं।



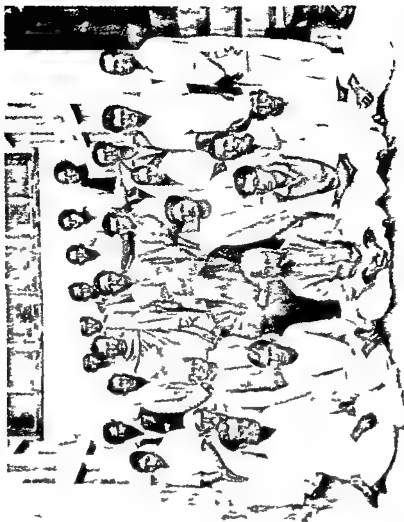
अच्छा पूछो। —द्विवेदीजी और डॉ० शिवप्रसाद सिंह



भू० पू० राष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन और आचार्य द्विवेदी टैगोर पुरस्कारके अवसरपर



पिता प० अनमोल द्विवेदीके साथ



विरूपीकरण

• •

शिवप्रसाद सिंह

पण्डितजीको मैं पिछले सत्रह वर्षोंसे देखता आ रहा हूँ। घण्टों बातें की हैं। गप्पें की हैं। सैकड़ों बार शामको साथ-साथ घूमा हूँ। सुबह कभी भी नहीं, इसके लिए वे अक्सर चिढ़ानेके लिए यह भी कहते हैं कि आज तुम्हारे दरवाजेपर दस्तक दे आया, पर मैं सुबहको दस्तकोंको व्यक्ति-स्वातन्त्र्यके खिलाफ मानता हूँ इसलिए कभी ध्यान नहीं दिया। नाना विषयोंपर, कभी-कभार बेमतलब ही, बहसें की हैं, सभा-गोष्ठियोंमें साथ-साथ बैठा हूँ, कितनोंकी उनके सामने निन्दा प्रशंसा की है, कई-कई बार वे अपने विरोधियोंकी निन्दा सुनकर खीझे हैं, और कई-कई बार मेरे द्वारा प्रशंसित व्यक्तियोंपर करारा व्यंग्य करके ठहाके लगाते रहे हैं। ठहाके वे अपनेपर भी लगाते हैं और कुछ अवसरोंपर उन्हींपर उन्हीं-द्वारा लगनेवाले ठहाकोंमें मैंने भी पुरज़ोर हिस्सा लिया है। यानी संक्षेपमें यह कि इस व्यक्तित्वके नाना अक्स मेरी स्मृतिमें टँके हैं, जिनकी 'नम्बरिंग' करना भी मुश्किल है, तरतीबसे पुनः प्रस्तुत कर सकना तो असम्भव ही समझिए।

पण्डितजीका चेहरा 'फोटो फेस' बिल्कुल ही नहीं है। यह मेरी फोटोग्राफी की असफलता भी हो सकती है, कच्चापन भी, सही कोण और आवश्यक दूरी का अभाव भी, पर इतना तय है कि यह शतकोणिक व्यक्तित्व अक्सर धोखा देकर छूट जाता है। इसे बाँधनेका प्रयत्न, सब-कुछको समेट लेनेकी चेष्टा प्राय व्यर्थ हो जाती है। इसीलिए अपने इस प्रयत्नकी सफलताके बारेमें भी मुझे कोई मुगालता नहीं है। इसका परिणाम जानता हूँ। सिर्फ विरूपीकरण, और कुछ नहीं। पर कभी-कभी मन-माफिक चित्रण न कर सकनेकी खीझ विरूपीकरणसे ही तुष्ट होती है और फिर असम्भवको सम्भव करनेके असफल प्रयत्नका भी एक स्वाद तो होता ही है।

उन्हें पहली बार देखा तो स्टेजपर थे। यानी शुरुआत काफी कुछ बनावटी रोशनियोंके बीच हुई। नव संस्कृति संघका अधिवेशन था। मैं उस समय उदयप्रताप कॉलेजका छात्र था। गलत क्षेत्र, यानी साहित्य-वाहित्यके प्रति

रक्तानके जरासीम बुद्धिमें पड गये थे। ऐसा न होता तो मैं रात दस बजे उस जगह कैसे पहुँचता, जहाँ जनता-जैसी चीज बिल्कुल ही न थी। स्टेज था। वहाँ कई साहित्यकारनुमा लोग बैठे थे। उनसे अलग स्टेजपर एक और व्यक्ति थे नरेन्द्रदेव। अलग थे, इसलिए वे याद हैं। द्विवेदीजीका भाषण चल रहा था। टूटे हुए पिरामिडकी तरह तब वे बिल्कुल न थे। सीधे खड़े थे। उनका भाषण शुरू हुआ तो तेजी कम थी। वे जैसे जैसे गरमाते गये, ब्रेक टूटते गये और शब्दोंकी धारा उमड़ती गयी। स्टेजपर काफी रोशनी थी और उसकी लहरोंको हल्कोरते दो हाथ निरन्तर धूममें घूमकी हटाते अपने ही कहे हुए शब्दोंकी भीड़को ठेलते, सोलाअवि चिसकी जटिमाको झकझोरते, निषके अकुण्ठ नृत्यकी मुद्रामें अंकित वे हाथ मुझे आज भी भूले नहीं हैं। लौटनेपर मेरे अध्यापक मार्कण्डेय सिंहने पूछा कैसा था भाषण द्विवेदीजीका? मैंने कहा बहुत अच्छा। मार्कण्डेय सिंह खाँटी प्रक्टिकल आदमी थे। हँसते हुए बोले—"हाथ बहुत भाँजते हैं।" व्यक्तित्व के प्रभाव, भाषणकी ओजस्विता और शब्दोंकी ओझल अहीम मैं दो घण्टे खड़ा था और मुझे उन हाथोंकी हरकत नागवार बिल्कुल नहीं लगी थी। इसलिए 'भाँजना' क्रियाऐं ठेस लगी। उसके बाद भी मैंने सैकड़ा बार भाषण सुने, कक्षामें रोज ही सुनता था। बैठे होनेपर उनके हाथोंकी तरह पैरोंमें भी एक कम्पन होने लगती है। वैसा ही कम्पन जैसी स्टार्ट लगानेपर मोटर गाड़ीमें। यह कम्प द्विवेदीजीके समूचे व्यक्तित्वकी कुंजी है। यह उस अपराजित अमोघशक्तिका सूचक है जो उनके मन, बुद्धि और चित्तको पूरी तरह समेटकर धधकती है। प्राण मन-बुद्धिका यह आवेग इतना शक्तिशाली होता है कि अभिव्यक्ति माध्यम हिल उठते हैं। वे बोलने लगेंगे तो सम्पूर्ण शरीर थरथराने लगेगा, लिखने लगेंगे तो पन्ने-पर-पन्ने फाड़ते जायेंगे क्योंकि कथ्यको सँभालनेमें शब्द अपनेको ही निरर्थक लगने लगेंगे। किन्तु यह ज्वाला और यह आवेग सदा वर्तमान नहीं रहते। नहीं रह सकते। इससे रहित होकर शीतल बुद्धिसे वे शोध-कार्य भले ही कर-करा लें, साहित्यका लालित्य इस शीतल बुद्धि प्रधान प्रयत्नमें बँध नहीं पाता। ऐसी स्थितिमें कक्षाओंमें बोलते होंगे तो अर्थ न्यूनाद्र धरतीमें पड़े बीजकी तरह मिनमिनाकर रह जायेगा। इस मूडमें यदि कुछ लिखने लगें तो 'कुटज' और देवदारु-जैसे निबन्धोंकी सृष्टि तो सम्भव नहीं, केवल लिखी सकडा भूमिकाओंमें एक इजाफा और भले ही हो जाये। यह कम्प किसी भी प्रकारकी हीनता अथवा परिणाम नहीं है जैसा उनके बहुत-से विरोधी कहते हैं। यह उस चेतनाका बाह्य उपलक्षण मात्र है जो अन्तरमें जागृत होकर सम्पूर्ण जड़-सम्भारको कँपाती अभिव्यक्त होनेके लिए कसमसाती रहती है।

पण्डितजी उस तरहके लेखकोंमें नहीं हैं जो भावोद्रेकको पानीका छींटा मार-मारकर ठण्डा कर लेते हैं और फिर उसे बड़े करीनेके साथ अभिव्यक्तिके समूचे कौशलको दृष्टिमें रखकर नखशिख दुरुस्त जमाकर उतारनेकी कोशिश करते हैं। यह सच है कि सुशीतल ढंगवाले लेखकों-द्वारा औसतसे न्यून स्तरकी चीजें कम लिखी जाती हैं, पर यह भी सच है कि कलाकी अकल्पनीय ऊँचाई भी वे कभी-कभार ही छू पाते हैं। इस दृष्टिसे द्विवेदीजी निराला और मुक्तिबोध-जैसे लेखकोंकी जातके साहित्यकार ठहरते हैं, पन्त और अज्ञेयकी जातके नहीं। यह अलग बात है कि समीक्षकके रूपमें उन्हें पन्त और अज्ञेय निराला और मुक्तिबोधकी अपेक्षा कहीं अधिक पसन्द हैं।

अछोर भावोद्रेक और असीम आवेग खुदमें कोई बड़ी चीज नहीं रहते यदि उन्हें संयमित करनेवाली समाहार चेतनाका अभाव हो। विशाल जलराशि भी बिना तटोंके अवरोधके निरर्थक बाढ़में बदल जाती है। शक्ति नियमनका ही परिणाम है। 'एकाग्रीभाव छन्दकी आत्मा है।' आवश्यक सीमाएँ और कगार ही धाराको गति देते हैं, पण्डितजीके व्यक्तित्वमें संयम और समाहारकी भी अद्भुत शक्ति है। ऐसा आवेग और आवेश मूलक आदमी इतना संयमी और विनम्र कैसे हो सकता है? इस प्रश्नपर मैं बार-बार सोचता रहा हूँ।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालयसे उनका हटना शायद उनके जीवनका सबसे बड़ा संकट और सन्त्रास था। इसे वे अपने पापका परिणाम कहते हैं। पाप था गुरुदेवके शान्तिनिकेतनको छोड़कर आना। अस्तित्ववादियोंकी धारणा है कि सन्त्रास और संकटमें मनुष्यका व्यक्तित्व अनावृत हो जाता है। मैंने उन दिनों भी उन्हें काफी निकटसे देखा। मनके भीतर जो भी उथल पुथल रही हो बाहरसे वे उन्हींके शब्द उधार लूँ 'तो निर्वात दीपकी तरह बिलकुल निष्कम्प' थे। उनके मनको आघात लगा था, पर मलाल न था। उन्होंने अन्यायके विरुद्ध लड़ाई नहीं लड़ी। बहुतोंको उनका यह व्यवहार खला। मुझे भी। पर जब-जब मैंने उनके इस आचरणपर विचार किया, मुझे लगा कि यहाँ भी लड़ाई है, और बहुत उग्र और भयंकर पर वह कहीं और लड़ी जा रही है। यह युद्ध क्षेत्र उनका स्वयंका मन था जिसमें आवेश आवेग और महाप्राणताका युद्ध चल रहा था—संयम, आत्मविश्वास और कटु परिस्थितियोंसे उत्पन्न क्षोभ और निराशाके साथ। जिस दिन वे काशी छोड़कर जा रहे थे। अचानक उनके घरके भीतरसे रेडियो सिलोनसे रेकॅर्ड बज रहा था—'बनते लगे न देर, बिगड़ते लगे न देर।' ये रेडियो भी कभी-कभी कैसा परम बेहूदा असमय राग अलापने लगते हैं? उन्हें पहुँचाकर स्टेशनसे लौटा तो मन बड़ा खिन्न था। कुछ ही [illegible]

में उनका लेख 'कुटज' प्रकाशित हुआ। 'कादम्बिनी' अभी उद्घटित नहीं हुई
थी। एक अग्रिम अंक राव साहबने मुझे दिया था। मैं रातको प्रयाग होटलके
कमरेमें लेटा-लेटा यह लेख पढ़ने लगा। उस निबन्धमें कुछ ऐसी कशिश थी कि
मैं तड़पकर रह गया। 'कुटज' उनकी सम्पूर्ण सन्त्रासकालीन मन स्थितिका
दस्तावेज है। मैं पढ़ता गया—"धन्य कुटजके फूल! यह और बात है कि आज
आषाढ़का नहीं, जुलाईका पहला दिन है। मगर फ़र्क भी कितना है। बार-बार
मन विश्वास करनेको उतारू हो जाता है कि यक्ष बहाना मात्र है, कालिदास ही
कभी 'शापनाम्तंगमितमहिमा' होकर रामगिरि पहुँचे थे। अपने ही हाथों इस
कुटज पुष्पका अर्घ्य देकर उन्होंने मेघकी अभ्यर्थना की थी। शिवालिककी इस
अत्युच्च पर्वत शृंखलाकी भाँति रामगिरिपर भी उस समय और कोई फूल
नहीं मिला होगा। कुटजने उनके सन्तप्त चित्तको सहारा दिया था। धन्य हो
कुटज, तुम गाढ़ेके साथी हो।"

अपनेको शापित मान लेनेकी यह प्रवृत्ति खुदमें एक निरीह विवशता और
निरा आत्मतोष बनकर रह जाती, यदि उन्हें यह बोध न होता कि "कुटज क्या
केवल जी रहा है? यह दूसरेके द्वारपर भीख माँगने नहीं जाता, कोई निकट आ
गया तो भयके मारे अधमरा नहीं हो जाता, नीति और धर्मका उपदेश नहीं
देता फिरता, अपनी उन्नतिके लिए अफ़सरोंका जूता नहीं चाटता, दूसरोंको अव-
मानित करनेके लिए ग्रहोंकी खुशामद नहीं करता, आत्मोन्नतिके हेतु नीलम
नहीं धारण करता, अँगूठियोंकी लड़ी नहीं पहनता, दाँत नहीं निपोरता, बगलें
नहीं झाँकता। जीता है और शानसे जीता है—काहे वास्ते? किस उद्देश्यसे?
कोई नहीं जानता। मगर कुछ बड़ी बात है। स्वार्थके दायरेके बाहरकी
बात है।"

यह बड़ी बात', स्वार्थके दायरेके बाहरकी 'बात' उनके व्यक्तित्वको संयमित
करती है, घेरती और खींचती है, आवृत करती है और हर सन्त्रास और संकटमें
उनका कवच बन जाती है। इसीके सामने समर्पित होकर अहं समष्टिमें बदल
जाता है, आवेग सृजनका रूप ले लेता है और भावोद्रेक एक अद्भुत 'कवेंचर' के
साथ अकल्प ऊँचाइयोंको अपने भीतर समेट लेता है। यह बड़ी 'बात', यह
बड़ा उद्देश्य उन्हें कभी नहीं भूलता। लोग इसे आदर्शवादिता कहकर टालनेकी
कोशिश करते हैं, इसमें उन्हें पण्डितका अतिरिक्त उत्साह और परम्पराका मोह
दीखता है। कुछेकके लिए यह बकवास है, कुछेकके लिए भावुकता। आधुनिकता
वादी इसे पुराणप्रियता और चालाक लोग मानसिक कमज़ोरी कहकर सन्तुष्ट हो
लेते हैं। पण्डितजीके बहुतेरे शिष्योंको पण्डितजीका यह 'अनासक्त' रूप काफ़ी

कष्टकर लगता है, क्योंकि इसीके चलते वे उचित मौकेपर आवश्यक दृढ़ता नहीं दिखाते और उचित काम भी करा नहीं पाते। पर जो व्यक्ति अपने संकट और संत्रासके क्षणोंमें अपने प्रति निर्मोही और तटस्थ हो सकता है, वह पलायनवादी नहीं है बल्कि किसी उच्चतर मूल्यके लिए कष्टकर और कठोर रास्तोंको अपनाये हुए है, इसमें सन्देह नहीं। यह कैसी बात क्या है? "जीना भी एक कला है। लेकिन कला ही नहीं तपस्या है। जीओ तो प्राण डाल दो जिन्दगीमें, मन डाल दो जीवन रसके उपकरणोंमें। ठीक है। लेकिन क्या? क्या जीनेके लिए जीना ही बड़ी बात है? सारा संसार अपने मतलबके लिए ही तो जी रहा है।" इसी प्रसंगमें उन्हें याज्ञवल्क्यके 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' की याद आती है हाब्स और हेल्वेशियसके ऐसे ही विचार याद आते हैं। तो क्या सारा जगत सिर्फ अपने स्वार्थके लिए ही प्रयत्नशील है? "अन्तरतरसे कोई कह रहा है नहीं ऐसा सोचना गलत ढंगसे सोचना है। स्वार्थसे भी बड़ी कोई-न-कोई बात अवश्य है, जिजीविषासे भी प्रचण्ड कोई-न-कोई शक्ति अवश्य है। क्या है?"

इसे जो कह लीजिए इतिहास विधाता, सर्व, समष्टि, महाकाल, महाअनात, कुछ भी पर इस 'बड़े उद्देश्य'के प्रति उनकी अटूट आस्था आनुनिकतम आधुनिक विचारोंमें लिपटी होनेपर भी, ज्योंकी-त्यों दिखाई पड़ेगी। यह एक पूर्णता भाव है, अगाध मूल्य स्रोत, जिससे उनका हर विचार, हर धारणा और हर उद्भावना कहीं-न-कहीं जुड़ी रहती है। "अपने-आपको दलित द्राक्षाकी भाँति निचोड़कर जबतक सबके लिए निछावर नहीं कर दिया जाता, तबतक स्वार्थ खण्ड-सत्य है वह मोहको बढ़ावा देता है तृष्णाको उत्पन्न करता है और मनुष्यको दयनीय कृपण बना देता है। कार्पण्य दोषसे जिसका स्वभाव उपहत हो गया है उसकी दृष्टि म्लान हो जाती है, वह स्पष्ट नहीं देख पाता, वह स्वार्थ भी नहीं समझ पाता, परमार्थ तो दूरकी बात है।"

समर्पण, किसी भी बड़ेसे बड़े मूल्यके सामने व्यक्तिकी ऐकान्तिक निष्ठाकी चीज है इसलिए एकान्त वैयक्तिक चीज है। इस विषयमें मुझे कुछ नहीं कहना, पर पण्डितजीकी 'सबके आगे अपनेको दलित द्राक्षाकी तरह निचोड़कर समर्पण' करनेकी बात मुझे आचरण और सिद्धान्तके रूपमें अक्षम लगती रही है लगती है। मैं इस वाक्यकी बहुत अनुवर्तिता देखकर खीझ उठता हूँ। फिर थोड़ा शान्त होकर सोचता हूँ तो लगता है मुझे खीजनेका कोई हक नहीं है। पण्डितजीका 'सब' और उनका 'समर्पण' बिल्कुल उनकी चीज है और उनके चित्तमें इतने गहरे धँसी हुई है कि इसे मात्र हीं उगाया नहीं जा सकता। यह एक अजीब

प्रक्रिया है, अपने सम्पूर्ण जीवनके सुख-दुःखके बीच उनका अनुभूत रिक्था है, जिसे हम आजकी दृष्टिसे जो चाहे कह लें, इसके पीछे विद्यमान उस व्यक्तिकी ईमानदारीमें सन्देह नहीं किया जा सकता, और निरन्तर परिवर्तित होते हुए मान्यता, सत्या, धारणाओंके जगतमें अपनी मान्यताके प्रति ऐसी विलक्षण निष्ठा अपनी अनवरतताके कारण ही एक आधुनिक मूल्य बन जाती है इसमें शक नहीं। यह भी एक अजीब समर्पण है जिसे ठीकसे कर न सकनेके कारण बड़ी-बड़ी प्रतिभाएँ असफल हुईं। चाहे भट्ट हों या भट्टिनी, चाहे चन्द्रलेखा हो या राजा सातवाहन। सभी इस समर्पणकी अग्निमें झोंके गये। पर खरे कितने उतरे? न व्यक्ति न राष्ट्र। पर पण्डितजीकी इस धारणामें परिवर्तन नहीं होता। अनासक्त मस्ती और दलित द्राक्षाकी तरह निचोड़कर किया जानेवाला समर्पण बिलकुल विरोधाभास है न? वैसा ही विरोधाभास जैसा अलम्य प्राणवेग तथा संयम और नम्रताके बीच है।

यह विरोधाभास ही उनके सृजनका उपयुक्त क्षेत्र है। वे एक ऐसे कुशल कृषक हैं, जो अपनी माटीकी खूबियाँ और त्रुटियाँ दोनों समझते हैं और उसे अपने अथक परिश्रम और अध्यवसायसे ऐसी भूमिमें बदल देते हैं जिसमें हजारों वर्ष पुरानी भारतीय संस्कृतिकी खाद है, साधनाओंका उर्वरक है और नवीनसे नवीन प्रकारके अधिक फल देनेवाले आधुनिक बीज हैं। पण्डितजी ध्वंस और उत्सर्जनकी बात सोच ही नहीं सकते। मनुष्यकी मनुष्यतामें विलक्षण आस्था रखनेवाला व्यक्ति स्वभावतः सृजनका पक्षधर होता है। घरकी बागवानीसे लेकर गोष्ठी-मञ्चानों तक सर्वत्र उनकी सृजनधर्मिता नाना रूपोंमें प्रतिफलित होती रहती है। वे इसी कारण कभी-कभी इतने निरीह और विवश भी हो जाते हैं कि अत्यन्त अनभल ताकनेवालेका भी कोई नुकसान या हानि कर नहीं सकते। उनके साथ जिन लोगोंने बुरासे बुरा बरताव किया, उनके व्यक्तित्वपर कीचड़ उछाला, उनकी जीविकापर लात मारा, उनके विकासके सारे रास्ते काँटोंसे रूँधे, उनके विरोधमें कुछ करना तो दूर कुछ कहनेका भी उन्होंने कभी प्रयत्न नहीं किया। काशी हिन्दू विश्वविद्यालयसे विदा होते वक्त जाँच समितिके अध्यक्षके बार बार आग्रहपर भी उन्होंने कुछ न कहा। चलते वक्त गुरुदेवकी दो पंक्तियाँ अवश्य निकल पड़ीं—फल-फूलसे लदे विशाल वृक्षोंका धराशायी कर देना कितना आसान है। पर तुम एक छोटा-सा फूल भी खिला नहीं पाओगे नहीं पाओगे, नहीं पाओगे —

"तोरा पारिबी ने गो, पारिबी ने गो, पारिबी ने
फूल फोटाते।"

अपने जीवनके उन ध्वंसात्मक क्षणोंमें भी जिसे फूट निकलनेकी ही याद रही, उसकी सृजनधर्मिताके बारेमें और क्या कहा जाये। पृथ्वीके अदम्य गुरुत्वाकर्षणको ठेलकर आकाशकी ओर आनन्द भावसे देखनेवाला बीजांकुर उनका बहुत प्रिय प्रतीक है। अंकुरोद्भवकी प्रक्रिया याद आते ही उनका सम्पूर्ण शरीर उल्लासमें थिरक उठता है। उनका विश्वास है कि सृजनको अवरुद्ध करनेवाली बड़ीसे बड़ी शक्ति भी मामूली अँखुवेकी गतिको रोक नहीं सकती। "पृथ्वी लाखों वर्षों तक ठण्डी होती रही। लाखों वर्षों तक उसपर तरल तप्त धातुओंकी लहाछेह वर्षा होती रही। लाखों वर्षों तक उसके बाहर और भीतर प्रलयकाण्ड चलता रहा और जीवतत्त्व अविक्षुब्ध भावसे अवसरकी प्रतीक्षामें बैठा रहा। अवसर आनेपर उसने सम्पूर्ण जड़शक्तिके विरुद्ध विद्रोह करके सिर उठाया—अंकुररूपमें। सारी जड़शक्ति अपने प्रबल आकर्षणका सम्पूर्ण वेग लगाकर भी उसे नीचे नहीं खींच सकी।" (कल्पलता पृ० ९९)। हाय री अदम्य जिजीविषा। जीना चाहते हो? कठोर पाषाणको भेदकर, पातालकी छाती चीरकर, अपना भोग्य संग्रह करो, वायुमण्डलको चूसकर, झंझा तूफानको रगड़कर अपना प्राप्य वसूल लो, आकाशको चूमकर, अवकाशकी लहरीमें झूमकर उल्लास खींच लो। कुटजका यही उपदेश है

भित्त्वा पाषाणपिठरं छित्त्वा प्राभञ्जनीं व्यथाम्।
पीत्वा पातालपानीयं कुटजश्चुम्बते नभः ॥

यही सृजनधर्मिता, यही जिजीविषा, संस्कृतके मामूली शास्त्राभ्यासको शान्तिनिकेतन ले गयी, साहित्यकी अछूती घाटियोंमें ले आयी, प्राचीन संस्कृति और इतिहासके अन्ध खण्डहरोंमें ले गयी अँगरेजीका नियमित अध्ययन न होते हुए भी विदेशी विचारधाराके उत्तुंग शिखरोंपर ले गयी। वे जहाँ भी गये, उन्मुक्त भावसे ही गये, पर कभी भी अपनी स्वकीयता छोड़कर नहीं। स्वकीयता, जिसमें मानवतत्त्व है, भाग्य है, कालिदासका सौन्दर्य और सौभाग्य है कबीरकी फक्कड़ाना मस्ती है दिक्कालकी शाक्त धारणाएँ हैं मिथुनता है, रवीन्द्रका 'महामानव' है और इनको समेटकर अन्तर्भुक्त करके चलती हुई भोजपुरी सहजता है कभी उनसे अलग नहीं होती। यहाँ आकर नॉमल नॉमिल हो जाता है। वर्ण्टिनुअम इम्पल्स, नाट्यमें ववैण्टम क्रियामें, विज्डम बदल जाता है। सारा आधुनिक 'एस्थेटिक' ललितकला क्षेत्र बन जाता है जिसकी मूल शक्ति ललिता है जो शिवकी क्रीडा-सखा है। बहुविध क्षेत्रोंमें ले जानेवाली यह जिजीविषा उन्हें सर्वभुक् बनाती है, वैसे वे पैदायशी अग्निभुक् तो हैं ही। कटु तिक्त लवण, कषाय, मधुर, चरपरा सभी सुपाच्य हैं, सभी गल-पचकर भारतीय

प्रक्रिया है, अपने सम्पूर्ण जीवनके सुमन्दु सवे बीच उनका अनुभूत रिश्ता है, जिसे हम आजकी दृष्टिसे जो चाहे कह लें, इसके पीछे विद्यमान उस व्यक्तिकी ईमानदारीमें सन्देह नहीं किया जा सकता, और निरन्तर परिवर्तित होते हुए मत्या, सत्या, धारणाओंके जगत्में अपनी मान्यताके प्रति ऐसी विलक्षण निष्ठा अपनी अनवरतताके कारण ही एक आधुनिक मूल्य बन जाती है इसमें शक नहीं। यह भी एक अजीब समर्पण है जिसे ठीकसे कर न सकनेके कारण कितनी बड़ी प्रतिभाएँ असफल हुई। चाहे भट्ट हों या भट्टिनी, चाहे चन्द्रलेखा हो या राजा सातवाहन। सभी इस समर्पणकी अग्निमें झोंके गये। पर खरे कितने उतरे? न व्यक्ति न राष्ट्र। पर पण्डितजीकी इस धारणामें परिवर्तन नहीं होता। अनासक्त मस्ती और दलित द्राक्षाकी तरह निचोड़कर किया जानेवाला समर्पण, बिलकुल विरोधाभास है न? वैसा ही विरोधाभास जैसा अदम्य प्राणवेग तथा संयम और नम्रताके बीच है।

यह विरोधाभास ही उनके सृजनका उपयुक्त क्षेत्र है। वे एक ऐसे कुशल कृषक हैं, जो अपनी माटीकी खूबियाँ और त्रुटियाँ दोनों समझते हैं और उसे अपने अथक परिश्रम और अध्यवसायसे ऐसी भूमिमें बदल देते हैं जिसमें हजारों वर्ष पुरानी भारतीय संस्कृतिकी खाद है, साधनाओंका उर्वरक है और नवीनसे नवीन प्रकारके अधिक फल देनेवाले आधुनिक बीज हैं। पण्डितजी ध्वंस और उत्खननकी बात सोच ही नहीं सकते। मनुष्यकी मनुष्यतामें विलक्षण आस्था रखने वाला व्यक्ति स्वभावतः सृजनका पक्षधर होता है। घरकी बागवानीसे लेकर सौधके महद्यानों तक सर्वत्र उनकी सृजनधर्मिता नाना रूपोंमें प्रतिफलित होती रहती है। वे इसी कारण कभी-कभी इतने निरीह और विवश भी हो जाते हैं कि अत्यन्त अनभल ताकनेवालेका भी कोई नुकसान या हानि कर नहीं सकते। उनके साथ जिन लोगोंने बुरासे बुरा बरताव किया, उनके व्यक्तित्वपर कीचड़ उछाला, उनकी जीविकापर लात मारा, उनके विकासके सारे रास्ते काँटोंसे रूँधे, उनके विरोधमें कुछ करना तो दूर कुछ कहनेका भी उन्होंने कभी प्रयत्न नहीं किया। काशी हिन्दू विश्वविद्यालयसे विदा होते वक्त जाँच समितिके अध्यक्षके बार-बार आग्रहपर भी उन्होंने कुछ न कहा। चलते वक्त गुरुदेवकी दो पंक्तियाँ अवश्य निकल पड़ी—फल-फूलसे लदे विशाल वृक्षको धराशायी कर देना कितना आसान है। पर तुम एक छोटा-सा फूल भी खिला नहीं पाओगे, नहीं पाओगे, नहीं पाओगे —

> "तोरा पारिबी ने गो, पारिबी ने गो, पारिबी ने
> फूल फोटाते।"

 शान्तिनिकेतनसे शिवालिक

अपने जीवनके उन ध्वंसात्मक क्षणोंमें भी जिसे फूल खिलानेकी ही याद रही, उसकी सृजनधर्मिताके बारेमें और क्या कहा जाये। पृथ्वीके अदम्य गुरुत्वाकर्षणको ठेलकर आकाशकी ओर आश्वस्त भावसे देखनेवाला बीजांकुर उनका बहुत प्रिय प्रतीक है। अंकुरोद्भवकी प्रक्रिया याद आते ही उनका सम्पूर्ण शरीर उल्लासमें सिहर उठता है। उनका विश्वास है कि सृजनको अवरुद्ध करनेवाली बड़ीसे बड़ी शक्ति भी मामूली अँखुवेकी गतिको रोक नहीं सकती। 'पृथ्वी लाखों वर्षों तक ठण्डी होती रही। लाखों वर्षों तक उसपर तरल तप्त धातुओंकी हहाछेह वर्षा होती रही। लाखों वर्षों तक उसके बाहर और भीतर प्रलयकाण्ड चलता रहा और जीवतत्त्व अविक्षुब्ध भावसे अवसरकी प्रतीक्षामें बैठा रहा। अवसर आनेपर उसने सम्पूर्ण जड़शक्तिके विरुद्ध विद्रोह करके सिर उठाया—अंकुररूपमें। सारी जड़शक्ति अपने प्रबल आकर्षणका सम्पूर्ण वेग लगाकर भी उसे नीचे नहीं खींच सकी।" (कल्पलता पृ० ९९)। हाय री अदम्य जिजीविषा। जीना चाहते हो? कठोर पाषाणको भेदकर, पातालकी छाती चीरकर अपना भाग्य संग्रह करो, वायुमण्डलको चूसकर, झंझा तूफानको रगड़कर अपना प्राप्य वसूल लो, आकाशको चूमकर, अवकाशकी लहरोंमें झूमकर उल्लास खींच लो। कुटजका यही उपदेश है

भित्त्वा पाषाणपिठरं छित्त्वा प्राभञ्जनीं व्यथाम्।
पीत्वा पातालपानीयं कुटजश्चुम्बते नभः॥

यही सृजनधर्मिता, यही जिजीविषा संस्कृतके मामूली शास्त्राचार्यको शान्तिनिकेतन ले गयी, साहित्यकी अछूती घाटियोंमें ले आयी, प्राचीन संस्कृति और इतिहासके अन्ध खण्डहरोंमें ले गयी, अँगरेजीका नियमित अध्ययन न होते हुए भी विदेशी विचारधाराके उत्तुंग शिखरोंपर ले गयी। वे जहाँ भी गये उन्मुक्त भावसे ही गये, पर कभी भी अपनी स्वकीयता छोड़कर नहीं। स्वकीयता जिसमें मानवतत्त्व है, मांगल्य है, कालिदासका सौन्दर्य और सौभाग्य है, कबीरकी फक्कड़ाना मस्ती है, दिक्कालकी शाक्त धारणाएँ हैं, सिसृक्षा है, रवीन्द्रका 'महामानव' है, और इनको समेटकर, आत्मभुक्त करके चलती हुई भोजपुरी सहजता है, कभी उनसे अलग नहीं होती। यहाँ आकर कोमल नमित हो जाता है। कण्टिकनुआम इच्छामें, नादमें, कौतुम क्रियामें, बिन्दुम बदल जाता है। सारा आधुनिक 'एस्थेटिक' लालित्यका क्षेत्र बन जाता है जिसकी मूल शक्ति ललिता है जो शिवकी क्रीड़ा सखी है। बहुविध स्वादोंमें ले जानेवाली यह जिजीविषा उन्हें सर्वभुक् बनाती है वैसे वे वैष्णवी अभिमुक्त हो ही हैं। कटु, तिक्त, लवण, कषाय, मधुर, चरपरा सभी सुपाच्य हैं, सभी गल-पचकर भारतीय

जीवनकी अमृत प्राणधाराका अंश बन जाते हैं। यह उनकी जिजीविषाकी सृजन धर्मिता है, साथ ही निर्ममता भी। "मनुष्यकी जीवन शक्ति बड़ी निर्मम है। वह संस्कृति और सभ्यताके वृथा मोहोंको रौंदती चली आ रही है। शुद्ध है केवल मनुष्यकी दुर्दम जिजीविषा। वह गंगाकी अबाधित अनाहत धाराकी भाँति सब कुछको हजम करनेके बाद भी पवित्र है।"

किन्तु यह निर्ममता उस समय कितनी मोहमय हो जाती है जब सभ्यता और संस्कृतिको जान पानेकी लालसा काई लगे पाषाणके टुकड़ेको भी बिना परखे फेंकना नहीं चाहती। मैं फिर एक विरोधाभासकी बात कर रहा हूँ। पण्डितजी अतीतके भग्न जीर्ण टुकड़ेके प्रति भी असीम मोहसे विजड़ित हो जाते हैं। शायद इसके भीतरसे कुछ मिल जाये। उस अन्धकालको जाननेके लिए एक मामूली चिनगारी भी मिल जाये, तो उसे जिलाये रखना कर्तव्य है। इसी कर्तव्यसे प्रेरित होकर वे निरन्तर तन्त्र-मन्त्र, पुराण-आगम, जैन-बौद्ध, शैव शाक्त, नाथ-कापालिकों के राशीभूत नीरस और फालतू-से लगनेवाले शास्त्र-साहित्यको उकेरते रहते हैं। उन्होंने खुद ही लिखा है कि "अच्छा समझिए या बुरा मेरे अन्दर एक गुण है जिसे आप बालूमें से तेल निकालना समझ सकते हैं बशर्ते कि यह बालू मुझे अच्छी लग जाये।" [मेरी जन्मभूमि] यह गुण उनके लिए, आजकी बौद्धिक और वर्तमानके अंश विशेषमें सीमित विद्वन्मण्डलीके स्थूल प्रामाण्यवादके चलते काफी महँगा भी साबित हुआ है। लोग उन्हें पुराणपन्थी भावुक तथा यथार्थसे दूर कहनेमें नहीं हिचकते, किन्तु जिसने अतीत और वर्तमानके जाड्यको भेदकर सत्य जाननेका संकल्प लिया है, वह इन आरोपोंकी परवाह ही कब करता है। उन्हें न तो अपनेको फैशनपरस्त आधुनिक कहे जानेकी आकांक्षा है और न तो परम्परापूजक कहे जानेकी चिन्ता। बालूसे तेल निकालनेकी यह शक्ति प्राचीन साहित्यके जिज्ञासुओंको आश्चर्यचकित और श्रद्धापूरित अवश्य बनाती है। मैं तो द्विवेदीजीकी इस अनुपम शक्तिका भावुक प्रशंसक हूँ ही। चाहे वह पुराने कवियोंकी रचनाएँ हों, चाहे पुरानी दार्शनिक और साधनात्मक विवृत्तियाँ, चाहे वह आधुनिक जगतका ज्ञान विज्ञान हो, चाहे पाश्चात्य दर्शन और साहित्योपयोगी मानवशास्त्र पण्डितजीकी पकड़ विस्मयमें डाल देती है। सूक्ष्म बातोंको समझने का उनका बोधयन्त्र इतना विकसित और जीवन्त है कि अबूझ से लगनेवाले तत्त्व जैसे स्वतः उनके सामने खुल जाते हैं। उन्होंने अँगरेजीमें लिखा बहुत-सा नहीं पढ़ा है नित नूतन विचार जगतसे भी उनका परिचय नाकाफी ही कहा जायेगा पर जितना भी उन्होंने पढ़ा है या पढ़ते हैं उसका आदि-अन्त खूब समझते हैं। कभी-कभी नये विचारों तर्कके विषयमें चिरपरिचित पंक्तियाँके

भीतरसे ही वे ऐसा अर्थ निकाल देते हैं कि अचानक तबीयत उदास हो जाती है और लगता है कि यह बात मुझे क्या नहीं सूझी। दो पंक्तियोंके बीचके अन्तरालके अनकहेको जान लेनेकी उनकी शक्ति हमेशा ही ईर्ष्याकी वस्तु रही है। तत्त्वको सही ढगसे जाननेकी यह 'डिसिप्लिन' विरल है। इसे कोई यों ही पा भी नहीं सकता इसके लिए अनवरत साधना और अभ्यासकी जरूरत है। इस शक्तिकी कुछ अन्य घाटियाँ भी होती है, इसमें मै इनकार नहीं करता। इसका अतिरेक कभी-कभी बिना नींवके हवाई महल भी खडा कर सकता है, इसे मैं मानता हूँ, पर उपलब्धियोंके देखते खतरोंसे घबडानेकी कोई जरूरत नहीं है।

ऐसे आदमीके निकट उदासी शायद स्वभावत नहीं आती। पण्डितजी उदास और निराश लोगोंपर फबतियाँ कसनेमें भी नहीं चूकते। देशकी अरक्षा, बढती हुई अराजकता, गरीबी, घूसखोरी, भ्रष्टाचार, स्वार्थांधता, अन्याय और नाय पथा' वाली दिशाहारी घुटनकी बातें सुनकर वे तडतडाकर हँसेंगे, "और क्या सोचोगे? जरा सी स्थितियाँ उल्टी गयी, बस, हाथ-पैर फूल गये। तुम क्या समझते हो कि हमारे देशके ऋषियोंकी हजारों बरसकी तपस्या निरर्थक थी? इतनी बडी परम्परा और इतनी बडी जनशक्तिवाला देश यो ही नष्ट हो जायेगा? इस देशका कुछ नहीं बिगडेगा देख लेना। नोट कर लो। कहा था न कि इस बार पाकिस्तान चढा तो खायेगा गच्चा। वही हालत चीनकी भी होगी, हाँ। बडा फूल रहा है, गुब्बारे सा। फटेगा, फटकर रहेगा, नोट कर लो। अरे भाई, हिन्दुस्तान कोई भेड-बकरी नहीं, हाथी है, उठनेमें देर लगती है। जरा उठ जाये तो देखना। भारत पाक लडाईके समय चण्डीगढमें होते तो देखते कि जनता कितनी जाग्रत है। यहाके इण्टलैक्चुअल सो रहे है। सोओ सोओ, तुम लोगोंमें कुछ न होगा "सुप्त शयीथा, निकटे जागर्ति जाह्नवीभक्त।"

'क्या उठेगा पण्डितजी"। निराशाके बादल जब उनकी तडतडाहटसे भी नहीं छँटते तो वे कहते है—

'आखिर राजपूत ही हो न पराजित जातिके आदमी। और क्या सोचोगे?"

मै उस समय चुप हो जाता हूँ। जानता हूँ बोलनेसे कुछ लाभ नहीं। सही निराशा और सही उदासीका भी अपना एक व्याकरण होता है, शास्त्र होता है यह अब पण्डितजीसे कौन कहे। उनके स्वभावमें ही नहीं है कि वे उदासी और निराशाकी 'सिन्सियरटी'को देखते हुए उस विचारधाराको भी कुछ अहमियत दें जो महान् परम्परा, निष्काम तपस्या, अप्रतिहत साधना और सुनहरे आदर्शवादी मूल्योंके विराट् स्तूपोंको निरर्थक सिद्ध करके ढाहती चली

जा रहा हू। ऐसा करनेके लिए उन्हें 'बडी बात'के उस महत किन्तु अदृश्य वायवी मूल्य-स्रोतसे अपनेको विच्छिन्न करना पडेगा। जो वे कभी नहीं कर सकते। घोरसे घोर सकट और विपत्तिमें भी उनका मन उस स्रोतसे जुडा रहेगा और वे खुद ही भीतर ही भीतर निराशा और उदासीसे खोखले होते रहेंगे, पर छेड देनेपर उनके भीतर सोया प्राणवेग हुमककर ऊपर आ जायेगा और इन आधुनिक धारणाओको मटियामेट कर देनेके लिए टकराता रहेगा। उस समय पण्डितजी मेरी या आपकी उदासीको लताड रहे होते है, पर मुझे अकसर लगता है यह जोश भरी लताड अपने ही भीतर बैठ गयी उदासीके विरुद्ध चल रही है। भीतर-ही भीतर कभी वे भी गहन शकामे भरभरा जाते होगे कि इस दुनियामें ईमानदारी, न्याय और सत्यकी हमेशा (बल्कि कभी-कभी भी) जीत ही नही होती।

उदास तो मै भी होना नही चाहता, किसी अदृश्य सत्तासे जुड जानेसे ही ऐसी सहज आस्था और चारित्रिक मस्ती मिल जाती है, तो मुझे उस तरह जुडनेसे भी इनकार नही। थोडा-बहुत प्रयत्न भी कर सकता हूँ किन्तु मै जानता हूँ कि लाख कोशिश करके भी मेरी पीढीका कोई लेखक इस प्रयत्नके लिए वह विश्वास अर्जित नही कर पायेगा, जो इस बूढे व्यक्तिको नयेसे नये लेखककी तुलनामें अपेक्षाकृत अधिक जीवन्त और उत्साहमय बनाये रहता है। यह विश्वास पिछली पीढीको विरासतमे मिला था, इस पीढीके हमारे-जसे सुपूतोंके लिए वह खाता भी चुक गया है।

हम अधिकसे अधिक इतना ही कर सकते हैं कि ऐसे लोगोके आशा-स्रोतसे कुछ ठण्डक पा लें। पण्डितजीके पास बैठनेपर ऐसी ही ठण्डक मिलती है। वे पुराने पिटे हुए लतीफोको बार-बार दोहराते है हम नयोंको सही लगनेवाली चीजोपर उनके व्यग्यके ठहाके तडतडाते है, लोहियाके नामपर मुँह बिचकाते है, इन्दिराजीके नामपर खिल जाते हैं जवाहरलालके बारेमें सही आरोप लगाते वक्त भी स्नेह और श्रद्धासे विगलित हो जाते है, नयोकी धमाचौकडीको नापसन्द करते है बावजूद इसके कि नयोके प्रति वात्सल्य और प्रोत्साहनमे कभी नही आती परिचित और मान्य लोगोके गलत कामोकी खुलकर निन्दा नही करते भुनभुनाते हैं गलत लोगोके खिलाफ सही बात सुनकर भी मौन धाव लेते है जिस एक बार अपना लिया उस आदमीकी सकडो टुच्ची प्रवृत्तियोको ढँकते-तोपते रहते है, आच्छादन करते है, उसके प्रति होनेवाले विरोधोको बुरा बताते है—ये चीजें मिल-जुलकर जब कभी कभी बहुत भारी लगने लगती है तो अचानक इसका प्रतिवाद कर बैठता हूँ। यह सब हलकके नीचे नहीं उतरता।

उस समय वे किंचित उदासी और हलकी खीझके साथ हँसते हुए कहते हैं—"रजपुत भगत न मूसर धनुही। राजपूत भक्त नहीं हो सकता। मूसलसे धनुष नहीं बन सकता।" उस समय मुझे गुस्सा आता है और सोचता हूँ कि कहूँ "आपको धनुषकी जरूरत कब है। मन्त्रपूत दिव्य धनुष तो अभी वृक्षपर मुरदाके साथ टँगे हैं। आपको अज्ञातवासमें ही रस आने लगा है।" पर चुप रह जाता हूँ। उनकी अस्वीकार्य बातोंका भी उग्र विरोध करनेका साहस नहीं होता क्योंकि उनका गुरुका शील, आचरण और नैतिकता इतनी महान् है कि अपना प्रतिवाद बौना लगने लगता है। और फिर कौन जाने, 'सब प्रत्यक्ष द्रष्टव्य सत्य नहीं होते। इसमें केवल एक बात सत्य है जो अक्सर प्रत्यक्ष नहीं दीखती। एकाएक नहीं कहा जा सकता कि हमने जो कुछ देखा है, वह किस हद तक सत्य है।" (चारुचन्द्रलेख) मैं मौनम खो जाता हूँ। मेरी चुप्पी और उदासीको तोड़नेके लिए वे कहेंगे—"अच्छा, लो, लो पान खाओ। और कहो तुम्हारा 'लिटज' क्या लिख रहा है आजकल ?"

काफ़ी रात ढले अँधेरी सड़कपर घर लौटते मैंने अक्सर अपने-आपसे ही पूछा है—वह कौन-सी चीज़ है, जो इस आदमीकी आत्मामें निरन्तर जलती रहती है संजीवनी वनस्पतिके नीचे जलनेवाली ज्योतिकी तरह। आदमी चाहे कितना भी थका हो, उदास हो, परेशान हो, उनसे मिलकर लौटनेपर लगेगा कि एक नयी शक्ति पा गया है, एक गरमाहट, एक जिन्दा होनेका बोध मिल गया है। निश्चय ही यह अग्नितत्त्व कहीं-न-कहीं एक दिव्यताके स्रोतसे जुड़ा है।



> मेरा निश्चित मत है कि हँसाना हँसना पूँजीवादी मनोवृत्तिकी उपज है। इस युगके हिन्दी साहित्यिक जो हँसना नापसन्द करते हैं उसका कारण शायद यह है कि वे पूँजीवादी बोजुवा मनोवृत्तिसे मन हो मन घृणा करने लगे हैं।
>
> —अशोकके फूल

जा रही ह। ऐसा करनेके लिए उन्हे 'बडी बात'के उस महत किन्तु अदृश्य वायवी मूल्य-स्रोतसे अपनेको विच्छिन्न करना पडेगा। जो वे कभी नही कर सकते। घोरसे घोर सकट और विपत्तिमे भी उनका मन उस स्रोतसे जुडा रहेगा और वे खुद ही भीतर ही भीतर निराशा और उदासीसे खोखले होते रहेंगे, पर छेड देनेपर उनके भीतर सोया प्राणवेग हुमक्कर ऊपर आ जायेगा और इन आधुनिक धारणाओको मटियामेट कर देनेके लिए टकराता रहेगा। उस समय पण्डितजी मेरी या आपकी उदासीको लताड रहे होते हैं पर मुझे अकसर लगता है यह जोश भरी लताड अपने ही भीतर बैठ गयी उदासीके विरुद्ध चल रही ह। भीतर-ही भीतर कभी वे भी गहन नकासे भरभरा जाते होगे कि इस दुनियामें ईमानदारी, न्याय और सत्यकी हमेशा (बल्कि कभी-कभी भी) जीत ही नही होती।

उदास तो म भी होना नही चाहता, किसी अदृश्य सत्तासे जुड जानेसे ही ऐसी सहज आस्था और चारित्रिक मस्ती मिल जाती ह, तो मुझे उस तरह जुडनेसे भी इनकार नही। थोडा-बहुत प्रयत्न भी कर सकता हूँ, किन्तु मैं जानता हूँ कि लाख कोशिश करके भी मेरी पीढीका कोई लेखक इस प्रयत्नके लिए वह विश्वास अर्जित नही कर पायेगा, जो इस बूढे व्यक्तिको नयेसे नये लेखककी तुलनामें अपेक्षाकृत अधिक जीवन्त और उत्साहमय बनाये रहता है। यह विश्वास पिछली पीढीको विरासतमें मिला था इस पीढीके हमारे-जसे भुक्तभोगियोंके लिए यह स्रोत भी चुक गया ह।

हम अधिकसे अधिक इतना ही कर सकते हैं कि ऐसे लोगोके आशा-स्रोतसे कुछ ठण्डक पा लें। पण्डितजीके पास बठनेपर ऐसी ही ठण्डक मिलती ह। वे पुराने पिटे हुए लतीफोको बार-बार दोहराते है हम नयोको सही लगनेवाली चीजोपर उनके व्यग्यके ठहाके तडतडाते ह, साहित्यके नामपर मुँह बिचकाते हैं इन्दिराजीके नामपर खिल जाते है जवाहरलालके बारेम सही आरोप लगाते वक्त भी स्नेह और श्रद्धासे विगलित हो जाते है, नयोकी धमाचौकडीको नापसन्द करते ह बावजूद इसके कि नयोके प्रति वात्सल्य और प्रोत्साहनमे कमी नही आती, परिचित और मान्य लोगोके गलत कामोकी खुलकर निन्दा नही करते, भुनभुनाते ह गलत लोगोके खिलाफ सही बात सुनकर भी मौन साध लेते ह, जिस एक बार अपना लिया, उस आदमीकी सकरी टुच्ची प्रवृत्तियोको ढँकते-तोपते रहते ह आच्छादन करते ह, उसके प्रति होनेवाले विरोधोको बुरा बताते ह,—ये चीजें मिल-जुलकर जब कभी कभी बहुत भारी लगने लगती ह तो अचानक इसका प्रतिवाद कर बठता हूँ। यह सब हल्कके नीचे नही उतरता।

उस समय वे किंचित उदासी और हलकी खीझके साथ हँसते हुए कहते है—"रजपुत भगत न मूसर धनुही। राजपूत भक्त नही हो सकता। मूसलसे धनुष नही बन सकता।" उस समय मुझे गुस्सा आता है और सोचता हूँ कि कहूँ "आपको धनुषकी जरूरत कब है। मन्त्रपूत दिव्य धनुष तो शमी वृक्षपर मुरदोंके साथ टँगे है। आपका अज्ञातवास ही रस आने लगा है।" पर चुप रह जाता हूँ। उनकी अस्वीकार्य बातोंका भी उग्र विरोध करनेका साहस नही होता क्योंकि उनका खुदका शील, आचरण और नैतिकता इतनी महान् है कि अपना प्रतिवाद बौना लगने लगता है। और फिर कौन जाने, 'सब प्रत्यक्ष द्रष्टव्य सत्य नही होते। इसमें केवल एक बात सत्य है जो अक्सर प्रत्यक्ष नही दीखती। एकाएक नही कहा जा सकता कि हमने जो कुछ देखा है वह किस हद तक सत्य है।" (चारुचन्द्रलेख) मै मौनमे खो जाता हूँ। मेरी चुप्पी और उदासीको तोडनेके लिए वे कहेगे—"अच्छा, लो, ला पान खाओ। और कहो तुम्हारा 'लिटज' क्या लिख रहा है आजकल?'

काफी रात ढले अँधेरी सडकस पर लौटते मने अक्सर अपने-आपसे ही पूछा है—वह कौन सी चीज है, जो इस आदमीकी आत्मामें निरन्तर जलती रहती है संजीवनी वनस्पतिके नीचे जलनेवाली ज्योतिकी तरह। आदमी चाहे कितना भी थका हो, उदास हो, परेशान हो, उनसे मिलकर लौटनेपर लगेगा कि एक नयी शक्ति पा गया हैं, एक गरमाहट, एक जिन्दा इनेका बोध मिल गया है। निश्चय ही यह अग्नितत्त्व कहीं-न-कहीं एक दिव्यताके स्रोतसे जुडा है।



> मेरा निश्चित मत है कि हँसाना हँसना पूँजीवादी मनोवृत्तिकी उपज है। इस युगके हिन्दी साहित्यिक जो हसना नापसन्द करते हैं उसका कारण शायद यह है कि वे पूँजीवादी बोजुवा मनोवृत्तिसे मन ही मन घृणा करने लगे हैं।
>
> —अशोकके फूल

जलौघमग्ना सचराचरा धरा

• •

धर्मवीर भारती

जब बाहरका सारा जीवन क्षय, पराजय, कुण्ठा, विकृति, पाशविकता और कुरूपतासे इस कदर आक्रान्त हो गया हो कि उसमें मनुष्यताके लिए तिल भर भी जगह न बचे, जहाँ जो कुछ भी मानवीय है वह कुण्ठित, बौना, भ्रष्ट और खण्डित होनेको विवश हो जाये उस समय हमारे सामने कौन-सा विकल्प है ? क्या हम इन तमाम स्थितियोंसे आँख चुराकर किसी कल्पित, अमानवीय अलौकिक सौन्दर्यकी कल्पनामें अपनेको झुठलायें या इन मानवविरोधी, भ्रष्ट व्यवस्थाओंको ही अपने अस्तित्वकी एकमात्र आधारभूमि मानकर मनुष्यताकी धातोंपर से अपना विश्वास ही खो बैठें ? इतिहासमें सिर्फ आज नहीं अनेक बार ऐसी अन्धकारमय स्थितियाँ आयी हैं। शायद यह जरूर है कि संकटकी यह गहनता और व्यापकता इतनी कभी नहीं थी जितनी कि आज है।

कुछ जातियाँ, खास तौरसे वे, आन्तरिक रूपसे अत्यधिक कल्पना प्रवण रही हैं और सांस्कृतिक स्तरपर वैभव-सम्पन्न, उनमें बहुधा एक अद्भुत क्षमता दीखती है मिथकों और प्रतीकोंके निर्माणकी और फिर उन मिथकों और प्रतीकोंके सहारे ऐसे अवसरपर अपनी उस आन्तरिक संकल्पशक्तिको जगानेकी, जो इस गहन संकटके समय उनके खण्डित होते हुए व्यक्तित्वको उनकी पिसती हुई, क्षय होती हुई मानसिकताको नयी ताकत देती है और वे पुनः इस संकटसे जूझती हैं और मनुष्यताके तत्त्वको फिरसे स्थापित करती हैं। परम्परा, समाज-व्यवस्था, राजसत्ता, धर्म, नियम, आचार, नैतिकता सबको कठोरतम वर्जनाओंकी निर्ममता से जाँचकर स्वीकार या अस्वीकार करती हैं और उनके स्वीकार या अस्वीकार की एकमात्र कसौटी होती है—संकटके समक्ष अपने मनुष्यत्वकी रक्षा और इसकी प्रतिष्ठा करता हुआ मनुष्य। और वे साहससे उद्घोष करती हैं 'सबार ऊपरे मानुष सत्य तहार ऊपरे नाई।'

वह कौन-सा क्षण था जिस समय एक अत्यन्त संवेदनशील, अध्ययन-समृद्ध, गहन दृष्टिवाले लेखकने उन सारी गर्हित वर्जनाओं, झूठी रूढ़ियों, भ्रान्त किन्तु

हज़ारों वर्षोंसे प्रतिष्ठित मानवविरोधी धारणाओंके नीचे पिसती हुई, हर तरफसे डरी हुई मानसिकताको एक अमृतवाक्य देनेका संकल्प किया, एक मूलमन्त्र— "किसीसे भी न डरना, गुरुसे भी नहीं, मन्त्रसे भी नहीं, लोकसे भी नहीं, वेदसे भी नहीं।" (बाणभट्टकी आत्मकथा) हज़ारों सालसे वेदसे, शास्त्रसे, पंचायतसे, गुरुसे, जात बिरादरीसे, स्वर्गसे, नरकसे, कर्मफलसे सगुन असगुनसे, कलाससे लेकर आँगनकी तुलसी तकमें वास करनेवाले तैंतीस करोड़ देवताओंसे, पत्रा-पंचांगसे, साधु-फकीरसे, राजासे, पटवारी और सिपाहीसे लेकर राह काटनेवाली बिल्ली तकसे डरनेवाली कायर जाति जो दूसरी ओर नृशंस होकर ज़िन्दा औरतों को जलाने तककी अमानुषिकतापर उतर आती थी, उसकी सारी व्यवस्थाके बीच खड़े होकर किस पीड़ा और किस साहससे उसने ललकारा था 'पाखण्डी! तेरे सब शास्त्र पाखण्ड सिखाते हैं, तुझे धोखा देते हैं, जो तेरे भीतर सत्य है उसे दबाने को कहते हैं, जो तेरे भीतर मोहन है उसे भूलनेको कहते हैं। तू जिसे पूजता है उसे छोड़नेको कहते हैं।" और इसीलिए मूल मन्त्र था डर मत। कुछ भी डरसे मत स्वीकार, अपने मनुष्यत्वको, अपनी देहको, अपने मनको गर्हित या त्याज्य मानकर मत आरम्भ कर, तूने देह धारण की, यह देह धारण ही तेरे पापका प्रमाण है, अतः इसे दण्ड मानकर स्वीकार करना, यह चिन्तन मानवविरोधी है, क्यों नहीं मनुष्य अपने सत्यको देवता समझ लेता जाय ?"

कैसी है सबरस समृद्ध परिपूर्ण यह आस्था, शिरीष फूलों-सी मृदुल और वज्रसे भी कठोर!

शान्तिनिकेतनमें जिस कुटियामें द्विवेदीजी रहते थे वहाँसे प्रार्थना प्रांगणको जाने वाली पगडण्डीपर एक विशाल शिरीष वृक्ष पड़ता है। उतरते फागुन चढ़ते चैतके दिन थे। नर्मदेश्वरजी और शिवनाथजी भोरमें ही मुझे उठा देते थे और फिर हम लोग हिन्दी भवनके पीछे खड़े होकर पण्डितजीकी प्रतीक्षा करते थे। भोरके धुँधलकेमें प्रार्थना प्रांगणकी ओर जाते हुए नर्मदेश्वरजी और शिवनाथ जीसे तमाम दुनियाकी बातें करते हुए पण्डितजीको यह क्या मालूम था कि धीरेन्द्रजीका भेजा हुआ यह दुबला-पतला संकोची स्वभावका शोधछात्र, जो चुपचाप पीछे-पीछे चल रहा है, (निगाह बचाकर शिरीषका एक झब्बेदार फूल भी तोड़ लेता है) वह मन-ही-मन पण्डितजीको 'बाणभट्टकी आत्मकथा'से मिला हुआ एक गुरुमन्त्र दोहरा रहा है 'किसीसे भी न डरना, गुरुसे भी नहीं, मन्त्रसे भी नहीं, लोकसे भी नहीं, वेदसे भी नहीं।

अपनी उस कॉलेजके बरामदेमें बैठे हुए, कभी नाथ सम्प्रदायपर बात करते हुए, कभी सूफी फकीरोंके लतीफे सुनाते हुए, कभी ठठाकर निश्छल हँसी हँसते हुए और कभी आम्र वनके नीचे घास और सूखे पत्तोंपर बैठे छात्रोंको लेक्चर देते हुए पण्डितजी और निपुणिका (निउनिया) के हाथका पान खाते हुए, चण्डी मण्डपम वालोंसे निडर होनेका मन्त्र लेते हुए, नौका युद्धके समय गंगामें डूबती हुई भट्टिनीको बचाते हुए और उनके उपास्य महावाराहकी मूर्तिका उद्धार करते हुए बाणभट्ट मेरे मनमें ये दोनों छवियाँ एक-दूसरेमें घुलती मिलती रहती थीं। मैं प्रयागसे आया हुआ बटुक था। हमारी त्रिवेणीके संगममें जहाँ गंगा-जमुना मिलती हैं वहाँ दूरसे एक रेखा स्पष्ट दीखती है, उधर हरा जल, इधर दूधिया, लेकिन बिल्कुल पास जाओ तो सब घुल मिल, पता नहीं चलता कहाँसे जमुना खत्म होती है कहाँसे गंगा शुरू हो जाती है। डॉ० प्रबोधचन्द्र बागचीसे तन्त्रवाद और शान्ति भिक्षुसे महायानका पाठ लेकर लौटता था और अक्सर चुपचाप हिन्दी भवनवाले अपने कमरेकी खिड़कीसे पण्डितजीको अपनी कुटियाके बरामदे में बैठे देखता रहता था कभी बाणभट्ट कभी पण्डितजी तक्रम बराबर चलता यह आदत बन गयी। कितनी बार पण्डितजी मिले, उनसे बातें बहुत कम करता, बस उन्हें देखता (शायद उनसे खुलकर बातें एक ही बार हुई जब वे दोपहरके पहले रघुवंशीके यहाँ आये थे और साथमें थे छोटे-से मुकुन्दजी सफेद कमीज हाफपैण्ट पहने।) और हमेशा शुभ्र खादीके कुरता धोती और दुपट्टेमें उनकी हँसती हुई छविने बार-बार यह प्रश्न जगाया कि वह कौन-सा क्षण होगा, किस आत्म मन्थनकी परिणति होगी, किन अनुभवोंका साक्षात्कार होगा जो उन्हें उस विस्फोटक सत्य तक ले आया कि 'किसीसे भी न डरो लोकसे भी नहीं, वेदसे भी नहीं।'

आज यह कहनेमें कोई संकोच नहीं मुझे कि वाराणसीके जिस समुदायने पण्डितजीका विरोध किया वह शायद इसीलिए कि बौद्धिकता और चिन्तनके धरातलपर वह 'बाणभट्टकी आत्मकथा', 'सूर साहित्य', 'कबीर', 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' के लेखकसे बहुत छोटा था। पण्डितजीने पहली बार एक दृष्टि दी थी जिससे हम अपनी सारी साहित्य-परम्पराको जीवनसे सम्पृक्त और युगसे उसकी प्रतिबद्धताके आन्तरिक धरातलको समझ सकें। न केवल साहित्य वरन् जीवनके धरातलपर भारतीय मानसिकता जिस चिन्तन-भारतन्त्रमें दो हजार वर्षसे ग्रस्त था उसे खुली चुनौती देनेका एक साहसपूर्ण प्रयास इस चिन्तकने किया था।

इस चुनौतीका मूलबिन्दु 'कबीर'में नही वरन 'सूर-साहित्य'में मिलता है। वही, जहाँ पण्डितजीने कतिपय पश्चिमी अध्येताओंकी इस धारणाका विरोध किया है कि भारतीय भक्ति-आन्दोलन मध्यकालीन ईसाइ प्रभावोंकी देन है। पण्डितजीने उस समय ईसाइ भक्तों और भारतीय वैष्णव भक्तोंकी मूल जीवन-दृष्टिका अन्तर बताते हुए कहा था कि ईसाई परिकल्पना मनुष्य जीवनमें सारे दुःख और वेदनाको उस आदिम पापका दण्ड मानती है जो आदमने अदनके बागम किया था वर्जित फलको चखकर। इसीलिए अपने शरीरको कष्ट पहुँचाकर तन पूत होना ही पश्चात्तापका एक मात्र मार्ग है ईसाइयतमें।

किन्तु तन्त्रसे लेकर भक्ति तक जो हमारी जीवन-दृष्टि विकसित हुई वह प्रवृत्तियोंके हननकी नही थी, और 'बाणभट्टकी आत्मकथा'के गुरुने विरतिवज्रमे यही कहा था "देखो! न तो प्रवृत्तियोंको छिपाना उचित है न उनसे डरना कर्तव्य है न लज्जित होना युक्तियुक्त है।" और इसी बातको सुचरिताने कहा था "मानव देह केवल दण्ड भोगनेके लिए नहीं बनी है आर्य। यह विधाताकी सर्वोत्तम सृष्टि है। गुरुने अब यह रहस्य मुझे समझा दिया है। मैं जिसे अपने जीवनका सबसे बड़ा कल्मष समझती थी, वही मेरा सबसे बड़ा सत्य है।'

भारतीय मानसिकताको हजारों वर्षोंसे अनकानेक भयोंकी सृष्टि करके दबाया गया था। इसी भयके वश वह एकांगी होकर कभी एक ओर कभी दूसरी ओर झुकती रही। कभी देहसे और कभी चेतनासे मुक्ति पानेकी विचित्र अमानुषिक राहें उसने ढूँढ़ी। कभी अपने पापी कल्मषमय शरीरको जिन्दा आरेसे कटवाकर 'काशी करवट' लेना और कभी केवल मदिरा और मैथुनके चरम उन्मादमें जीवित शवसाधन कर अपनेको पशुताके धरातल्पर उतार देना, दोनों ही एकांगिताओंमें अपनी मानवीय मानसिकता और उसकी सार्थकताको प्रतिष्ठित करनेका आग्रह नहीं था, दोनों ही में पलायन था, एकमें देहको ही दण्डनीय मानकर और दूसरेमें मानवीयताको बोझ मानकर।

इन दोनों अतिरंजनाओंका अतिक्रमण कर सही रास्ता वैष्णव चिन्तनने सुझाया था जिसने यह बताया था कि मनुष्य अपने देह और मन दोनोंसे पवित्र है लेकिन उसकी सार्थकता केवल आत्मनिष्ठ हिंस्र गुहावासी पशुकी भाँति अमानुषिक और आक्रामक बने रहनेमें नहीं है बल्कि समग्र मानवताकी ऐतिहासिकताका साझेदार बननेमें है। इसी बातको अगर वैष्णव शब्दावलीमें कहें तो सुचरिताके शब्दोंमें 'वस्तुतः कल्मष भी मनुष्यका अपना सत्य है उसे स्वीकार करके ही वह सार्थक हो सकता है। दमनसे वह मनुष्यको नष्ट कर देता है। समस्त गुण और अवगुण जनके निर्विकार चित्तसे नारायणको नहीं सौंप दिये

जाते तबतक वे भार-मात्र हैं।"

हमने प्रारम्भमें यह कहा था कि महत्तम संकटके क्षणोंमें महान् जातीय प्रतिभा जिन साधक मिथकों और प्रतीकोंकी कल्पना करती है उससे उस जातिकी आन्तरिक संकल्प क्षमताका पता चलता है। यह केवल संयोगकी बात नहीं कि द्विवेदीजीने वैष्णवताके अनेकानेक अवतार प्रतीकोंमें से महावाराहका प्रतीक चुना। कल्मष और कीचड़में धँसती हुई धरतीका उद्धार महावाराहने किया। सारे कालुष्य और कीचड़में धँसकर भी उसमें-से सरक्षणीय मानवीय तत्त्वको बचा ले आने और उसको पुनः प्रतिष्ठित करनेकी क्षमता। यह प्रतीक बहुत-कुछ कहता है जिसे आजके सन्दर्भमें समझा जाये तो बहुत से महत्त्वपूर्ण विचारसूत्र निकल सकते हैं।

आजके मानवीय संकटका विवेचन करते हुए उस कीचड़की चर्चा, उस दलदलका जिक्र बार-बार आया है जिसकी व्यंजना 'जलौघमग्ना सचराचरा धरा' से होती है। एक ओर मूल्योंका सम्पूर्ण विघटन दूसरी ओर मनुष्यमें नूतन मूल्यान्वेषणकी क्षमता और साहसका क्षय हमें कहाँ ले आया है इसके लिए मुझे 'मानव मूल्य और साहित्य' में भी सलाखका प्रतीक सूझा—"इस भ्रम भानतोंके दौरमें स्थिति बिल्कुल विपरीत होती है, निरर्थक विशृंखल क्षणोंका एक सीमाहीन सलाब, मनुष्य जलप्लावन-जैसा। उसके चारों ओर जो भी बहाव है वह उसे कहीं ले नहीं जाता। इधरसे उधर थपेड़े देकर डाउता रहता है एक असंपृक्तताकी कुहेलिका मनुष्यके अन्दर अन्तरात्मा रह जाती है जो संसारका मूल्यांकन कर सके और न उसके बाहर कोई व्यवस्था जिसका मूल्यांकन किया जाये। ऐसा लगता है जैसे एक शून्य दूसरे शून्यके सलाबमें फँस गया हो।"

और शून्यके इसी सलाबमें-से उपजता है भय, और अविवेक और निष्क्रियता और संकल्पहीनता और निरुद्देश्य हिंसा। और यही भय सम्पूर्ण आन्तरिक रुग्णता बनकर पैठ जाता है। अस्तित्ववादी गब्रियल मार्सेल कहता है "हम आज कहते हैं हमारी संस्कृति मरणोन्मुख है। इसके अर्थ क्या है? क्या कोई भूचाल उसे नष्ट कर रहा है नहीं मरणोन्मुख संस्कृतिसे मतलब होता है कि हमारी संस्कृतिका आन्तरिक मूल्य कुछ नहीं रहा। मनुष्यमें आन्तरिक रुग्णता आ गया है? क्या यह आन्तरिक रुग्णता केवल एक विशिष्ट या एक व्यवस्थाकी संस्कृतिमें है? नहीं हमारी वर्तमान स्थितिमें दोनों ओरकी व्यवस्थाएँ प्रगतिकी दावा है। अतः वे जान-बूझकर मनुष्यकी आन्तरिकताको रुग्ण और कुण्ठित बना रही हैं। वैयक्तिक आन्तरिकताके विरुद्ध इस गुप्त कीटाणु युद्धके तरीके बड़े ही विचित्र और कूर हैं। व्यक्तिमें भयका संचार किया जाता है।

भय-संचारकी इस टेकनिकका पूर्णतम विकास पूँजीवादी देशोंमें अणुबमके रूपमें हुआ है और साम्यवादी देशोंमें चिन्तन-पारतन्त्र्यके रूपमें।"

इस अणुबम और चिन्तन-पारतन्त्र्यने हमें इतिहासके उस मोड़पर लाकर खड़ा कर दिया है जहाँ आजका किशोर-मानस एक ओर रेडगार्ड बन गया है दूसरी ओर बीटनिक। एक ही सिक्केके दो पहलू। दोमुँहा भय। और उसीसे पैदा होता है पाखण्ड और हमें आश्चर्य नहीं होता जब हम पाते हैं कि उसी पाखण्डका एक अदना भारतीय प्रवक्ता मार्क्सवादका झण्डा हाथमें लेकर मारिजुआनाकी तिजारत और मानसिक ऐय्याशीकी वकालत करता नजर आता है—आलोचनाकी अदालतमें।

भय और उससे उत्पन्न इन तमाम पाखण्डपूर्ण स्थितियोंका एहसास भारतमें खूब अच्छी तरह हो रहा है।

'बाणभट्टकी आत्मकथा'के प्रकाशनको आज बीस वर्ष हो गये। लगभग उतना ही समय गुजरा हमें आजादी पाये हुए। आर्यावर्तको आक्रामक दस्युओंसे मुक्त करानेका स्वप्न लेखकने देखा था, लेकिन आजादीके बादके बीस वर्षोंमें क्या आक्रामक दस्यु घटे या पराजित हुए? क्या सचमुच भट्टिनीके महाराज्ञीकी रक्षा हुई? क्या सचमुच हमारी राष्ट्रीय मानसिकता भयसे मुक्त हुई या नये-नये डगस नये-नये शास्त्र नये-नये देवता नयी-नयी जाति, वर्ग और वर्ण चेतनाका नया अहंकार, नये-नये राजपुरुष और नयेसे नये पाखण्डोंका अन्धकार हमको ग्रसता गया हम नये भयोंके शिकार होते गये। और न केवल जीवन वरन् साहित्य चिन्तनके स्तरपर यह मिथ्याचारी झूठे चेहरोंवाला गर्हित पाखण्ड और भी मुखर होता गया और भी बेशर्म होता गया।

और कभी-कभी मैं फिर उसी तरह बिना कुछ कहे पण्डितजीकी ओर चुपचाप देखता हूँ कि 'किसीसे भी न डरनेका मूलमन्त्र देनेवाली वाणी मन्द क्यों रही? जिसने लोकसे भी और वेदसे भी निडर होनेकी बात कही थी वह पिछले कितने ही वर्षोंसे ऐसी ज्वलन्त समस्याओंपर या तो चुप है या जब वह बोलता है तो कुछ ऐसा जिसमें किसीको भी नाराज न करनेकी चतुरता होती है। न लोक नाराज हो न वेद नाराज हो, न गुरु नाराज हो, न मन्त्र। क्या नामवरी और बदनामवरोंकी चिन्ता उनके प्रखर चिन्तनपर कहीं बोझ बन गयी है? या जिन धरातलोंपर उनने चिन्तन किया था वास्तविक साहित्यिक जगत्में उनसे कहीं पृथक् धरातलपर वस्तुगत साक्षात्कार उसको कतराते और

दुखी कर दिया है ?

लेकिन द्विवेदीजीने ही लिखा था कि "दुख तो केवल माया विकल्प ही है।" अपनेको निःशेष भावसे दे देनेके बाद वह दुख कितने बड़े सुखमें परिणत हो जाता है यह भी उन्होंने लिखा है। अपनेको सत्यके प्रति निःशेष भावसे अर्पित कर देनेकी क्षमता उनमें है यह मैं जानता हूँ और इसीलिए मैं जानता हूँ कि कहीं धीरे धीरे वह विस्फोटक क्षण पक रहा है। और फिर वे उसी ज्वलन्त वाणीमें कहेंगे "अमृत पुत्रो, प्रजामें मृत्युका भय छा गया है। यह अशुभ लक्षण है। जहाँसे भी मिले वहाँसे उसे बलपूर्वक खींच लाओ। यदि तुम नहीं समझते कि न्याय पाना मनुष्यका धर्मसिद्ध अधिकार है और उसे न पाना अधर्म है तो भारतवर्षका भविष्य अन्धकारसे आच्छन्न है। म्लेच्छवाहिनी सेना पहली बार नहीं आ रही है अन्तिम बार भी नहीं आ रही है, तुम यदि आज तुवरमिलिन्द और श्री हर्षदेवकी आशापर बैठे रहोगे, तो सम्भवतः आज यह विपत्ति टल जाये, परन्तु कल नहीं टलेगी। तुवरमिलिन्द और श्री हर्षदेव सदा नहीं रहेंगे पर तुम्हें सदा रहना है। राजा, महाराजा और सामन्त स्वार्थके गुलाम बनते जा रहे हैं। प्रजा भीरु और कायर होती जा रही है। धर्माचरणमें व्याघात इसीलिए उत्पन्न हुआ है कि राजा अन्धे हैं, प्रजा अन्धी है, विद्वान् अन्धे हैं। यह बड़ा अशुभ लक्षण है। अपने-आपको बचाओ, धर्मपर दृढ़ रहो, न्यायके लिए मरना सीखो मृत्युका भय माया है।" (बाणभट्टकी आत्मकथा)

उन्हें नहीं मालूम कि जीवनके कभी-कभी कितने गहन अन्धकारमय क्षणोंमें बाणभट्ट, सूर साहित्य और कबीरके उनके कितने ही वाक्योंने मुझे कितना उजाला और कितनी शक्ति दी है। केवल मुझे ही नहीं उनके कितने ही पाठकों को, शिष्योंको, मित्रोंको। यदि आज इस कलम उन्हें श्रद्धा देनेका अधिकारी अपनेको पाता हूँ तो भी यह उन्हींकी प्रेरणा है और यदि उनसे कुछ निवेदन भी करनेका सामर्थ्य पाता हूँ तो यह भी उन्हींकी प्रेरणा है। आज उनकी षष्टिपूर्तिके अवसरपर भी धुँधलकेमें उसी तरह शिरीष वृक्षके नीचे चुपचाप उन्हें मन-ही-मन प्रणाम कर रहा हूँ और उनसे पाये हुए इस गुरुमन्त्रको दोहरा रहा हूँ कि 'सत्यके लिए किसीसे भी न डरना लोकसे भी नहीं, वेदसे भी नहीं।"



आर्षवाक्

• •

राहुल सांकृत्यायन

"स्टेशनसे हम सीधे शान्तिनिकेतन पहुँचे, और पहले कामकी फिकरमें पड़े। शान्तिनिकेतनमें बृहत्तर भारतके सम्बन्धमें जितनी पुस्तकें है, उतनी कलकत्ता युनिवर्सिटीको छोड़कर भारतमें और कहीं नहीं मिलेंगी। तो भी इन पुस्तकोंको पर्याप्त नहीं कहा जा सकता। अब हम २५ तारीख तकके लिए प० हजारी प्रसाद द्विवेदीके अतिथि थे। द्विवेदीजीके साथ इतनी घनिष्ठताके साथ रहनेका यह पहला अवसर था, लेकिन उसका यह अर्थ नहीं कि मेरी इससे पहले उनके साथ कम घनिष्ठता थी। मैं उनकी विद्या, लेखनी और निर्णय शक्तिका भारी प्रशंसक हूँ। कहा करता था हिन्दीके साहित्यकार जब ऐसी गम्भीरता प्राप्त करेंगे, तब हिन्दी तेज़ीसे आगे बढ़ेगी। द्विवेदीजीके परिवारके सभी लड़के-लड़कियाँ मेरे मनोरंजन और सहायताके लिए तैयार रहते थे। द्विवेदीजी स्वयं सरजूपारी कुलकलंक हैं, बाँह उठा उठाकर जिनके लिए ऋषियोंने कहा, "तुम्हें मछली मांस खाना चाहिए," और वह आज ऋषि-वाक्यके विरुद्ध जायें, यह कोई अच्छी बात है? पर अगली पीढ़ी ऋषियोंके रास्तेपर चली आयी है, यह देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई। 'न मांसो मधुपर्को भवति' (बिना मांसके पूज्य अतिथिकी सेवा नहीं की जा सकती) ऋषियोंकी इस बातसे द्विवेदीजी सहमत थे। बंगाल में मांससे ज्यादा बंगाली ढंगसे बनायी मछली अच्छी लगती है। मैं उसीकी तजवीज़ दे रहा था। ऐसे समानधर्मा बन्धुओंके साथ इतना कम रहनेका मौका क्या मिलता है, मुझे तो यही शिकायत थी।"

—मेरी जीवन यात्रा खण्ड ४ पृ० २०१ ६६
(प्रतिलिपि शिवचन्द्र शर्मा)



अनुष्ठानकी सामग्रीकी एक सूची है, कुछ जोडना तो नहीं है, सूची पढ़ते-पढ़ते देखा लिखा है—पाव भर ओम मैं चकराया यह क्या ? पता चला ओम अक्षर प्लास्टिकपर छपा हुआ टिकुलीकी शक्लमें बिकता है और यह चिपकाया जाता है वर्कमें रामनामका हिसाब रखनेकी बात तो सुनी थी, पर ओमके रूपमें परमात्माके तुलनेकी बात मुझे अद्भुत कल्पना लगी और मैंने पंजाबकी जीवन्त संस्कृतिको प्रणाम किया। प्रणाम हम लोगोंने भी किया, पर हँसते-हँसते पेटमें बल पड़ गया।

पण्डितजी केवल सुनी सुनाई भोजपुरी कथाओं, संस्कृत कवियोंके विनोदों और पुरानी कथाओंके ही जीवन्त कोश हों, सो बात नहीं, वे तुरत कहानी गढ लेनेमें भी माहिर हैं और गढ़कर सन्दर्भसे जोड़नेमें तो जैसा ऊपर कह चुका हूँ उन्हें कमाल हासिल है। यह संयोजन कौशल ही उनका आन्तरिक स्वभाव भी है। वे तोड़नेवाले भाइको चुनौती देते हैं—भाइ तू तोड़ता जाये, मैं जोड़ता जाऊँगा देखना है तुम कितना तोड़ते हो और मैं कितना जोड़ता हूँ। यही उनकी जीवन साधनाका मर्म है और यही उनकी साहित्य साधनाका।



जब जब मैं कलकत्तेके चिड़ियाघरमें गया हूँ तब-तब मुझे लगा है कि संसारके जीवोंमें सबसे अधिक गम्भीर और चिन्तामग्न चेहरा उस चिड़ियाघरमें रखे हुए एक वनमानुसका है। अब मैंने अपनी रायमें संशोधन कर लिया है वस्तुत संसारके सभी वनमानुस गम्भीर और तत्त्वदर्शी दिखाई देते हैं।

—अशोकके फूल

पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी

• •

बलराज साहनी

द्विवेदीजीमें एक दोष है। ढीलम-ढाला रहते हैं, हजामत हफ्तेमें एक बारसे अधिक नहीं करते, तिसपर जो व्यक्ति पहली नजरमें उन्हें जँच जाये उसकी खैर, जो न जँचे उसे सामने बिठाकर उसके मुँहकी ओर देखते रहते हैं। इसलिए कई महानुभाव शान्तिनिकेतनसे यह धारणा बनाकर लौटते हैं कि द्विवेदीजी वैरागी आत्मा हैं।

दूर बैठे हुए लोग द्विवेदीजीके आलोचनात्मक लेखोंको पढ़कर यह अनुमान कर लेते हैं कि शास्त्राचार्य पचपन और साठके दरमियान होंगे। प्रेमचन्द तकको यही भ्रम रहा। वास्तवमें यह दोनों बातें गलत हैं।

मैं भी उन्हीं सौभाग्यशालियोंमें-से हूँ जिनकी ओर वह एकटक देखा करते हैं। किन्तु दूर-ही-दूरसे मुझे यह देखनेका अवसर मिला है कि वह इतने विरक्त नहीं हैं। जिस मण्डलीके साथ शामको सैर करने निकल पड़ें उसका अट्टहास मीलके घेरेमें कान चीरता है। उनके शुभचिन्तक शान्तिनिकेतनमें आनेवाले यात्रियोंसे प्रायः यही सवाल-जवाब करके सन्तुष्ट हो जाते हैं—

“पण्डितजी हँस रहे हैं न ?”

“हाँ हँस रहे हैं।”

देखनेमें छह फुटसे कम नहीं। एक ऐसे बनारसी महापण्डितके शिष्य रह चुके हैं जिनका सत्तर वर्षकी अवस्थामें भी डेढ़ सौ सपाटा (दण्ड-बैठक) प्रातःकालका नियम था, जिन्होंने डबल निमोनियाका इलाज भी सपाटोंसे करनेकी कोशिश की और मर गये। आयु इकतीस वर्ष है। गाड़ी देखनेके बेहद शौकीन हैं। दूरसे आती हुई गाड़ीका शब्द सुनते ही शास्त्रार्थ व चप्पल छोड़कर लाइनकी तरफ भाग खड़े होते हैं।

द्विवेदीजी जीवनसे अथक प्रेम रखते हैं। एक सच्चे पारिहासिककी तरह वह उसकी क्रीडाको निर्लिप्त होकर देखते हैं, और अपने समेत सभी वस्तुओंपर

हँस सकते हैं। किन्तु साथ ही उनमें जीवनके चरम उद्देश्य, साहित्य व कलाकी आयताके प्रति गहरी श्रद्धा है। ज्ञान और अनुभवके लिए अतोषणीय भूख है। सूईसे लेकर सोशलिज्म तक सभी वस्तुओंका अनुसन्धान करनेके लिए उत्सुक रहते हैं। किसी विषयपर भी अचल धारणाएँ उनकी नहीं। बोलनेके बजाय सुनना अधिक पसन्द करते हैं। इसीलिए जिस मूर्तिमान समस्याको नहीं समझ पाते उसे सामने बिठाकर ताकते रहते हैं।

आत्म-सम्मानका उनमें एकदम अभाव है, फिर भी अपनी क्षमताओं व त्रुटियोंकी जाँच स्वयं ही करना पसन्द करते हैं। इसलिए प्रशंसात्मक पत्रोंको फाड़कर फेंक देते हैं। अखबारोंमें तसवीरें छपवाना बुढ़ापेपर स्थगित कर रखा है। रुपये-पैसेकी परवाह नहीं करते। ऐसा आदमी अगर न हँसे तो कौन हँसे!

उनकी आलोचनाओंके गम्भीर तथा सारगर्भित होनेका कारण यह है कि वह साहित्यको खेलकी चीज नहीं समझते। मुद्दतसे उनके विचारमें, उर्दू और कुछ हद तक यूरोपियन रोमाण्टिक साहित्यने, सस्तेमें छूट जानेकी, अर्थात शृंगार और मुहावरेबाजीकी प्रथा चालू कर दी है। हिन्दी-साहित्यका पहला कर्तव्य यह है कि रुके हुए विकासको अपनी पुरानी उपपन्न नींवोंके बलपर उभारे। संस्कृतके समृद्ध साहित्यके लिए अगाध पक्षपात रखनेके कारण उन्हें आधुनिक हिन्दी-साहित्यमें काफी त्रुटियाँ नजर आती हैं। कहानियाँ बहुत कम पढ़ते हैं। गद्य-कविता व अतियथार्थवाद (सुरियलिज्म) के प्रति उनकी उपेक्षा उनकी इस निम्नोद्धृत रचनामें सीमित हुई है

अथ कविता

? ?

छप छप्

[कौन किसकी सुनता है—]

अनन्तका नर्तन !!

नग्न नीहारिका, पैराशोल्म हाइपरबोला!

× × – × × – – × ×

[कौन किसे सुनने देता है]

सुदूरकी आवाज कानोंको खाये जाती है।

[कोई मानो कुण्डी खटखटा रहा है]

सरल्में पिसा करता है माती।

घिसा करते ह मदन
अशेष पुत्कार
विराट नतन ।
छप छप् ।
[कौन किसकी सुनता है—]
उफ ।
सेठोंकी पगडियाँ, सुन्दरियोंकी साडियाँ,
पहलवानोंके लँगोट, आगरेकी दालमोट
छप् छप छप् ।
[कौन किसे सुनने देता है ।]

ज्योतिष व नक्षत्र विद्याके भी माहिर ह। आठ सालसे महाभारतप
अनुसन्धान कर रहे है।

बहुत लोग, इन पंक्तियोंका लेखक भी उन्हींम-स ह, अभिलाषा रखते हैं
श्री हपकी तरह द्विवदीजीको भी कोई हकीम उडदकी दाल और बासी भात
खिला द, ताकि अनुसन्धान-अनुसन्धानको त्याग कर लगते-हाथ एक नॉवल लिख
डालें। अपनी मोहक भाषाको अपना वास्तविक काम करने दें। जहाँ अभी
साहित्यके मान बन ही नही पाये, वहाँ आलोचकका क्या काम? और जिसके
पास लेखक होनेकी सामग्री विद्यमान ह वह आलोचक बने क्यो? नॉवल न सही,
कोई कटाक्ष पूर्ण निबन्ध-संग्रह ही सही।

यह नही कि उनके प्रभा-पूर्ण परिहासको उनकी कृतियोंम अवसर नही
मिला। अवश्य मिला ह। लकिन यदि उसका प्रवाह एक बार उसकी अपनी
गहन अनुभूतियोंम-स छलककर बहे तो श्रीयुत 'बच्चन'के लिए एक बेहतर
मधुशाला हो।

(मार्च १९३९ के 'हस' से साभार)
प्रतिलिपि श्री राधागोविन्द पाण्डेय पुरातत्त्व विभाग कलकत्ता।

■

हँस सकते हैं। किन्तु साथ ही उनमें जीवनके चरम उद्देश्य, साहित्य व कलाकी आयतनके प्रति गहरी श्रद्धा है। ज्ञान और अनुभवके लिए अतापणीय भूख है। सुईसे लेकर सोशलिज्म तक सभी वस्तुओंका अनुसन्धान करनेके लिए उत्सुक रहते हैं। किसी विषयपर भी अचल धारणाएँ उनकी नहीं। बोलनेके बजाय सुनना अधिक पसन्द करते हैं। इसीलिए जिस मूर्तिमान् समस्याको नहीं समझ पाते उसे सामने बिठाकर ताकते रहते हैं।

आत्म-सम्मानका उनमें एकदम अभाव है, फिर भी अपनी क्षमताओं व त्रुटियोंकी जाँच स्वयं ही करना पसन्द करते हैं। इसलिए प्रशंसात्मक पत्रोंको फाड़कर फेंक देते हैं। अखबारोंमें तसवीरें छपवाना बुढ़ापेपर स्थगित कर रखा है। रुपये-पैसेकी परवाह नहीं करते। ऐसा आदमी अगर न हँसे तो कौन हँसे!

उनकी आलोचनाओंके गम्भीर तथा सारगर्भित होनेका कारण यह है कि वह साहित्यको खेलकी चीज नहीं समझते। मुद्दतसे, उनके विचारमें, उर्दू और कुछ हद तक यूरोपियन रोमाण्टिक साहित्यने, सम्लेमें छूट जानेकी, अर्थात् शृंगार और मुहावरेबाजीकी प्रथा चालू कर दी है। हिन्दी साहित्यका पहला कर्त्तव्य यह है कि रुके हुए विकासको अपनी पुरानी सम्पन्न नींवोंके बलपर उभारे। संस्कृतके समृद्ध साहित्यके लिए अगाध पक्षपात रखनेके कारण उन्हें आधुनिक हिन्दी-साहित्यमें काफी त्रुटियाँ नजर आती हैं। कहानियाँ बहुत कम पढ़ते हैं। गद्य-कविता व अनियमतावाद (सुर्रियलिज्म) के प्रति उनकी उपेक्षा उनकी इस निम्नोद्धत रचनामें सीमित हुई है

अग्र कविता

? ?

छप छप

[कौन किसकी सुनता है—]

अनन्तका गगन 卐

नाग, नीहारिका, पैराशेला हाइपरबोला!

× × – × × – – × ×

[कौन किसे सुनने आता है]

सुदूरकी आवाज कानोंको खाये जाती है।

[कोई मानो कुण्डी खटखटा रहा है]

घरल्में पिसा करत है भाती।

शान्तिनिकेतनसे शियालिक

घिसा करते हैं चन्दन
अदोष फुहार
विराट नर्तन !
छप् छप् !
[कौन किसकी सुनता है—]
उफ !
सेठोंकी पगड़ियाँ, सुन्दरियोंकी साड़ियाँ,
पहलवानोंके लँगोट, आगरेकी दालमोट
छप् छप छप् !
[कौन किसे सुनने देता है !]

ज्योतिष व नक्षत्र विद्याके भी माहिर हैं। आठ सालसे महाभारतपर अनुसन्धान कर रहे हैं।

बहुत लोग, इन पंक्तियोंका लेखक भी उन्हींमें-से है, अभिलाषा रखते हैं कि श्री हृषकी तरह द्विवेदीजीको भी कोई हकीम उड़दकी दाल और बासी भात खिला दे, ताकि अनुसन्धान-अनुसन्धानका त्याग कर लगते-हाथ एक नॉवेल लिख डालें। अपना मोहक भाषाको अपना वास्तविक काम करने दें। जहाँ अभी साहित्यके मान बन ही नहीं पाये, वहाँ आलोचकका क्या काम? और जिसके पास लेखक होनेकी सामग्री विद्यमान है वह आलोचक बने क्यों? नॉवेल न सही, कोई कल्पना-पूर्ण निबन्ध-संग्रह ही सही!

यह नहीं कि उनके प्रतिभा-पूर्ण परिहासको उनकी कृतियोंमें अवसर नहीं मिला। अवश्य मिला है। लेकिन यदि उसका प्रवाह एक बार उसकी अपनी गहन अनुभूतियोंमें-से छलककर बहे तो श्रीयुत बच्चनके लिए एक बेहतर मधुशाला हो।

(मार्च १९३१ के 'हंस' से साभार)
प्रतिलिपि श्री राधागोविन्द पाण्डेय पुरातत्त्व विभाग कलकत्ता।



दीयेकी लौ

● ●

भारती मिश्र

एक दिन छोटा भाई घरमें घुसते ही चिल्लाकर बोला—"घरम रहकर इतना भी खयाल नही रहता ? बाबूजी क्या पहनकर जा रहे यता नही, इतना भी नही देख सकती।" मैं चुपचाप सुनती रही पर जब उपदेश भाडना और चीखना चिल्लाना बढता ही गया तो हलकी-सी झडप भी हो गयी। शान्त होनेपर पता चला कि बाबूजी बाथरूम-स्लीपर पहने ही कॉलेज चले गये है।

ऐसा अक्सर होता है, और होता रहेगा। जूते सामने लाकर रख दो पर वे स्लीपर पहने चले जायेंगे। स्वेटर उल्टा डाल लेंगे, जेबमे चश्मा रखा रहेगा और वे परेशान होकर चारो ओर खोजते फिरेंगे। वे प्राय अपना कलम लिये मेरे कमरेमे आ जायेंगे—"मुन्नू पता नही कौन मेरी दावात उठा ले गया। कलममें स्याही चाहिए।" अकसर दावात उठानेकी तोहमत भाइयोपर मढी जाती पर दावात ढूँढनेपर पता चलता कि वह किसी मोटी थीसिस, या भारी भरकम ग्रथके नीचे दबी है। दावात मिलनेपर वे ठठाकर हँसेंगे—'थीसिसें भी कसी होने लगी है, चार किलोसे कम न होगी।"

पढनेके कमरेमे पहुँचिए तो देखकर दग रह जायेंगे। आपको विश्वास न होगा कि यह पढनेका कमरा है। बिलकुल किताबोके गोदाम-जैसा लगेगा। उन्हे हमेशा पढनेके लिए छोटा और बन्देका कमरा चाहिए। दीवारोसे सटी आलमारियाँ पुस्तकोसे ठसाठस भरी हुई। इनमें-से अपने कामकी किताबें सिर्फ बाबूजी ही निकाल सकते हैं। शादीके पहले इन किताबोको टीक-ठाक करते मुझे यह विश्वास हो चला था कि किताबें मैं भी निकाल सकती हूँ पर अब जाती हूँ तो उस भूलभुलैयामें खुदको घिरी पाती हूँ।

इस भूलभुलैयाको सुलझानेका सकल्प करती हूँ हाथ लगाती हूँ तो मेरे लौटने का दिन आ जाता है। वह अधसुलझी वैसीकी वैसी रह जाती है। मैं जानती हूँ कि अगली बार आऊँगी तबतक इसके व्यूह और बढ जायेंगे, सुलझानेकी कोशिश दुर्दम अभिमन्युकी तरह घिरकर रह जायगी, पर कुछ बस नही

कमरा। कमरेमें जिधर खिड़की होती है, उधरको दरी बिछी होती है। दरीके ऊपर गद्दा, और गद्देपर बाबूजीके बैठनेका आसन। सामने किताबोंका ढेर और उसके ऊपर-नीचे, अगल-बगल, सर्वत्र किताबोंका जंगल। आप बाबूजीके पास पहुँचना चाहें तो चौकड़ी दरीपर बिछे आसन तक कहीं रास्ता न सूझेगा। खुद उनको वहाँतक जानेके लिए रोज रास्ता बनाना पड़ता है, चले तो जाते हैं, पर जानेके बादका रास्ता भी अपने-आप बन्द हो जाता है। किताबें उन्हें अपने बीचसे जानेके लिए रास्ता ही नहीं देतीं। उन्हें इस ढंगसे उबारनेके लिए अगर कोई सहानुभूतिपूर्वक उनको तरतीब दे दे, तो उसकी आफत। मानो तब कोई न कोई कागज जरूर गुम हो जाता है। माँ झल्लाकर कहती है—'मैं कभी नहीं साफ करूँगी उस कमरेको।' पर इतनी प्रतिज्ञा करनेपर भी अगर माँ सफाई करना नहीं बन्द करतीं, तो बाबूजी कागजोंके खोनेकी शिकायत क्यों बन्द कर दें भला। सो सफाई और शिकायतें साथ-साथ चलती रहती हैं।

पढ़ने-लिखनेके समय उनके बगलमें पानदान रखा रहता है और अक्सर उससे पान निकालकर वे खाते रहते हैं। पान अपने ही हाथसे लगाना उनका शौक है, या यूँ भी कह सकते हैं कि यही उनका विलास है। अपने पास आनेवालोंको अपने ही हाथसे लगाकर पान देते हैं। घरमें माँ, बाबूजी और बड़े भाईके सिवा और किसीको भी पान खानेकी आदत नहीं है। इसलिए जब कभी माँ बाहर जाती है तो पानकी सार-सँभालका भार वे स्वयं ही उठा लेते हैं। हम लोग हमेशा या तो पानी डालना भूल जाते हैं या सुपारी कतरना। शान्तिनिकेतनमें जहाँ उन्हें हर घण्टे चायकी जरूरत पड़ती थी वहाँपर बनारसका असर यह हुआ है कि वे पान खाने लगे हैं।

मेरे छोटे भाई लोग शुरूसे ही शैतान हैं। इसके कारण बाबूजीको कई बार परेशानियोंका भी सामना करना पड़ा है पर वे कभी उनसे नाराज नहीं हुए। हम लोगोंकी थोड़ी-सी परेशानी भी उन्हें परेशान कर देती है। माँको एक दो बार उन्हें छोड़कर जाना पड़ा। माँकी अनुपस्थितिमें मैं ही उनकी देखभाल करती थी। ऐसे समयमें बाबूजीके साथ मेरी तगड़ी प्रतिद्वन्द्विता होती थी। हम-दोनों ही अपने कामको जल्दीसे जल्दी पूरा करके दूसरेको हरानेपर तुले रहते। मैं जहाँ रसोईमें पहुँची बाबूजी हाजिर, कोई काम करने पहुँची बाबूजी वहाँ मौजूद। ऐसे समयमें वे खुद ही सब कामोंमें हस्तक्षेप कर बैठते हैं। मैंने उन्हें कितनी बार समझाया कि साहित्य और भोजन बनानेकी कला एक ही नहीं है। जरूरी नहीं है कि साहित्यमें आपका अधिकार है तो पाकशास्त्रमें भी हो। पर वे मानें तब तो? कभी

दीयेकी लौ

• •

भारती मिश्र

एक दिन छोटा भाई घरमें घुसते ही चिल्लाकर बोला—"घरमें रहकर इतना भी खयाल नहीं रहता ? बाबूजी क्या पहनकर जा रहे क्या नहीं, इतना भी नहीं देख सकती ।" मैं चुपचाप सुनती रही पर जब उपदेश झाड़ना और चीखना चिल्लाना बढ़ता ही गया तो हलकी-सी झड़प भी हो गयी । शान्त होनेपर पता चला कि बाबूजी बाथरूम-स्लीपर पहने ही कालेज चले गये हैं ।

ऐसा अवसर होता है, और होता रहेगा । जूते सामने लाकर रख दो पर वे स्लीपर पहने चले जायेंगे । स्वेटर उल्टा डाल लेंगे, जेबमें चश्मा रखा रहेगा और वे परेशान होकर चारों ओर खोजते फिरेंगे । वे प्राय अपना कलम लिये मेरे कमरेमें आ जायेंगे—"मुनू पता नहीं कौन मेरी दावात उठा ले गया । कलममें स्याही चाहिए ।" अक्सर दावात उठानेकी तोहमत भाइयोंपर मढ़ी जाती पर दावात ढूँढनेपर पता चलता कि वह किसी मोटी थीसिस या भारी भरकम ग्रन्थके नीचे दबी है । दावात मिलनेपर वे ठठाकर हँसेंगे—"थीसिसें भी मसी होने लगी हैं चार किलोसे कम न होगी ।"

पढ़नेके कमरेमें पहुँचिए तो देखकर दंग रह जायेंगे । आपको विश्वास न होगा कि यह पढ़नेका कमरा है । बिलकुल किताबोंका गोदाम-जैसा लगेगा । उन्हें हमेशा पढ़नेके लिए छोटा और कोनेका कमरा चाहिए । दीवारोंसे सटी आलमारियाँ पुस्तकोंसे ठसाठस भरी हुई । इनमें-से अपने कामकी किताबें सिर्फ बाबूजी ही निकाल सकते हैं । शादीके पहले इन किताबोंको ठीक ठाक करते मुझे यह विश्वास हो चला था कि किताबें मैं भी निकाल सकती हूँ पर जब जाती हूँ तो उस भूलभुलैयामें खुदको घिरी पाती हूँ ।

इस भूलभुलैयाको सुलझानेका संकल्प करती हूँ हाथ लगाती हूँ तो मेरे लौटने का दिन आ जाता है । वह अनसुलझी गुत्थी वैसीकी वैसी रह जाती है । मैं जानती हूँ कि अगली बार आऊँगी तबतक इसके व्यूह और बढ़ जायेंगे, सुलझानेकी कोशिश खुदमें अभिमन्युकी तरह घिरकर रह जायगी पर कुछ बन नहीं

वाला नहीं, कोई शिकायत करनेवाला नहीं, कोई डबल चम्मच लेकर उत्पात करनेवाला भी नहीं। सब उदास।" कई बार कहते हैं कि सब लड़के लड़कियाँ तो बड़े हो गये हैं अब नाती-पोतोंको लेकर ही रहनेका मन करता है।

अपने बाबूजीको मैंने सिर्फ पिता रूपमें ही नहीं जाना माँ, मित्र और गुरुके रूप भी उनमें देखे हैं। मैं उन्हींके पास हिन्दीमें एम० ए० कर रही थी। पहले दिन जब मैं उनके क्लासमें गयी तो मनमें उत्कण्ठा थी कि देखें मेरे बाबूजीका प्रोफेसर रूप कैसा है। मैं ही नहीं मेरे साथके और विद्यार्थी भी, जो दूर-दूरसे उनका नाम सुनकर आये थे, शायद उन्हें गुरु रूपमें देखनेको उत्सुक थे। सभी मनमें थोड़ा सहमे हुए भी थे।

क्लासमें उन्होंने हँसते हुए प्रवेश किया और अपनी कुरसीके पास आकर खड़े हो गये। अपनी मूँछोंके अन्दरसे हँसते हुए सारे क्लासपर नजर दौड़ायी। घूमती हुई नजरें क्षण भरके लिए मेरे ऊपर आकर स्थिर हो गयी—मात्र क्षण भरके लिए और उस दिन वह क्षण मुझे घण्टेके समान लगा। तभी उनके मुँहपर मुसकान आयी, साथ ही उनकी निगाहें आगे बढ़ गयी।

उस दिन पढ़ाई नाम भरको ही हुई या यूँ कहिए कि हुई ही नहीं।

मेरी सम्पाठिन और सहपाठी हमेशा यही सोचते थे कि मैं घरमें अकलेमें उनसे खूब पढ़-समझ लेती हूँ और किसीके सामने प्रकट नहीं करना चाहती। उन्हें शायद यह नहीं पता कि दीपक अपने आस-पास चाहे जितनी भी रोशनी फैलाता है, उसके नीचे हमेशा अँधेरा ही रहता है। हम लोग वही अन्धकार हैं जिन्हें जबरन कभी कभी अपने स्वार्थके लिए दियेकी लौको अपनी ओर खींचकर झुका लेना पड़ता है।



आसमानमें निरन्तर मुक्का मारनेमें कम परिश्रम नहीं है और मैं निश्चित जानता हूँ कि रहस्यवादी आलोचना लिखना कुछ हँसी-खेल नहीं है। पुस्तकको छुआ तक नहीं और आलोचना ऐसी लिखी कि त्रैलोक्य विकम्पित। यह क्या कम साधना है।

— अशोकके फूल

कभी तो मेरे उठनेसे पहले ही सुबह पाँच बजे वे आधा खाना बनाकर रख देते थे। एक दिन बुद्धिमानी करके मैंने भण्डारवाले कमरेमें ताला लगा दिया और अपने सिरहाने चाबी लेकर सो गयी। दूसरे दिन उठकर देखा तो चाबी अपनी जगह थी और बाबूजी अपनी खाटपर गहरी नींदमें सोये थे। खुश-खुश मैं सीधे रसोईमें पहुँची। लेकिन यह क्या? एक ओर पराठे बने पड़े हैं—और दूसरी प्रेशर-कुकरमें साग—आलू, मूली, प्याजके पत्ते और न जाने क्या-क्या सब्जियाँ—एक साथ मिलकर बनी रखी हैं। छूकर यही पता चलता है कि एक घण्टा पहले बना होगा। बाबूजीके उठनेपर जब पूछा तो उन्होंने बताया कि मेरे तकियेके नीचेसे चाबी लेकर उन्होंने रोटी बना ली और जब कोई सब्जी नहीं दिखी तो अँधेरेमें ही बगीचेमें जाकर जो भी सब्जी दिखी तोड़कर ले आये। उस दिन उस सब्जीको खानेमें हम बहन भाइयोंने जिस बहादुरीका प्रदर्शन किया, गुरुदेवको नीमके पत्तोंका शरबत पीनेमें उसके शतांशका भी परिचय शायद ही देना पड़ा हो।

एक ओर हम लोगोंके लिए जहाँ उन्हें इतनी चिन्ता रहती है वहीं दूसरी ओर घरमें क्या हो रहा है क्या आ रहा है, क्या जा रहा है इसका उन्हें पता भी नहीं रहता। पैसा लाकर देना भर जानते हैं। बाकी इन्तजाम करना-न-करना सब माँपर निर्भर है। घरमें रहकर भी घरके हलचलसे दूर अपनेमें मगन रहते हैं।

घरमें अगर दो-चार छोटे बच्चे आ जायें तो फिर बाबूजीको देखिए। उनके सारे नाती-पोते उनसे इतनी जल्दी हिल मिल जाते हैं कि किसीको अपने माँ-बापकी याद ही नहीं रहती। बच्चोंके आनेसे उनका काम भी बढ़ जाता है। वे खुद कहते हैं कि बच्चोंके साथ बातें करते हुए ही काममें मन लगता है। उनकी शरारतोंसे मन बहल जाता है। मैं अपने बच्चेको लेकर चण्डीगढ़ गयी तो राजा सारे दिन अपने नानाके कमरेमें ही बैठे रहते। कभी नानाकी लाल नीली पेंसिल गायब हो जाती तो कभी कलम या चश्मा। सारे दिन उनपर बेसिर पैरके प्रश्नोंकी बौछार होती रहती और वे धैर्यके साथ सबका उत्तर देते हुए अपना काम करते रहते। बच्चोंका अभाव उनके मनको हमेशा खटकता रहता है। उनकी ३० ६ ६७ की लिखी चिट्ठीका ही एक अंश है— और राजा साहबको प्यारका चपत देना। नाना नानीको याद करते हैं कि नहीं। आऊँगा तो चपत मारूँगा। सिर तो अभी उनका चपत लायक ही होगा [उस समय राजाका मुण्डन हुआ था] यहाँकी चहल-पहल खतम हो गयी है। अब बड़ा उदास लग रहा है। अभी जलपानके समय सिर्फ तीन ही बैठे थे। कोई झपट्टा मारने

वाला नहीं, कोई शिकायत करनेवाला नहीं, कोई हबल चम्मच लेकर उत्पात करनेवाला भी नहीं। सब उदास।" कई बार कहते हैं कि अब लड़के-लड़कियाँ बड़े हो गये हैं अब नाती-पोतोंको लेकर ही रहनेका मन करता है।

अपने बाबूजीको मैंने सिर्फ पिता-रूपमें ही नहीं जाना था मित्र और गुरु रूप भी उनमें रहे हैं। मैं उन्हींके पास हिन्दीमें एम० ए० कर रही थी। पहले दिन जब मैं उनके क्लासमें गयी तो मनमें उत्कण्ठा था कि देखें मेरे बाबूजीका प्रोफेसर-रूप कैसा है। मैं ही नयी मेरे साथके और विद्यार्थी भी जो दूर-दूरसे उनका नाम सुनकर आये थे, शायद उन्हें गुरु-रूपमें देखनेको उत्सुक थे। सभी मनमें थोड़ा सहमे हुए भी थे।

क्लासमें उन्होंने हँसते हुए प्रवेश किया और अपनी कुरसीके पास आकर खड़े हो गये। अपनी मूँछोंके अन्दरसे हँसते हुए सारे क्लासपर नजर दौड़ायी। घूमती हुई नजरें क्षण भरके लिए मेरे ऊपर आकर स्थिर हो गयीं—मात्र क्षण भरके लिए और उस दिन वह क्षण मुझे घण्टेके समान लगा। तभी उनके मुँहपर मुसकान आयी साथ ही उनकी निगाहें आगे बढ़ गयीं।

उस दिन पढ़ाई नाम भरको ही हुई या यूँ कहिए कि हुई ही नहीं।

मेरी सम्पाठिनें और सहपाठी हमेशा यही सोचते थे कि मैं घरमें अकेलेमें उनसे खूब पढ़-समझ लेती हूँ और किसीके सामने प्रकट नहीं करना चाहती। उन्हें शायद यह नहीं पता कि दीपक अपने आस-पास चाहे जितनी भी रोशनी फैलाता है उसके नीचे हमेशा अँधेरा ही रहता है। हम लोग वही अन्धकार हैं जिन्हें अवसर कभी कभी अपने स्वार्थके लिए किसीको खींचकर अपनी ओर खींचकर मुड़ा लेना पड़ता है।



आसमानमें निरन्तर मुक्का मारनेमें कम परिश्रम नहीं है पर मैं निश्चित जानता हूँ कि रहस्यवाली आलोचना लिखना कुछ हँसी-खेल नहीं है। पुस्तकको छूना तक नहीं और आलोचना ऐसी लिखो कि त्रैलोक्य विकम्पित। यह क्या कम साधना है।

— अशोकके फूल

कभी तो मेरे उठनेसे पहले ही सुबह पाँच बजे वे आधा खाना बनाकर रख देते थे। एक दिन बुद्धिमानी करके मैंने भण्डारवाले कमरेमें ताला लगा दिया और अपने सिरहाने चाबी लेकर सो गयी। दूसरे दिन उठकर देखा तो चाबी अपनी जगह थी और बाबूजी अपनी खाटपर गहरी नींदमें सोये थे। खुश-खुश मैं सीधे रसोईमें पहुँची। लेकिन यह क्या ? एक ओर पराठे बने पड़े हैं—और दूसरी प्रेशर-कुकरमें साग—आलू मूली प्याजके पत्ते और न जाने क्या-क्या सब्जियाँ—एक साथ मिलकर बनी रखी हैं। छूकर यही पता चलता है कि एक घण्टा पहले बना होगा। बाबूजीके उठनेपर जब पूछा तो उन्होंने बताया कि मेरे तकियेके नीचेसे चाबी लेकर उन्होंने रोटी बना ली और जब कोई सब्जी नहीं दिखी तो अँधेरेमें ही बगीचेमें जाकर जो भी सब्जी दिखी तोड़कर ले आये। उस दिन उस सब्जीको खानेमें हम बहन भाइयोंने जिस बहादुरीका प्रदर्शन किया, गुरुदेवको नीमके पत्तोंका शरबत पीनेमें उसने शताशका भी परिचय शायद ही दिया गया हो।

एक ओर हम लोगोंके लिए जहाँ उन्हें इतनी चिन्ता रहती है वहीं दूसरी ओर घरमें क्या हो रहा है, क्या आ रहा है क्या जा रहा है इसका उन्हें पता भी नहीं रहता। पैसा लाकर देना भर जानते हैं। बाकी इन्तजाम करना-न करना सब मांपर निर्भर है। घरमें रहकर भी घरके हलचलसे दूर अपनेमें मगन रहते हैं।

घरमें अगर दो-चार छोटे बच्चे आ जायें तो फिर बाबूजीको देखिए। उनके सारे नाती-पोते उनमें इतनी जल्दी हिल मिल जाते हैं कि किसीको अपने माँ-बापकी याद ही नहीं रहती। बच्चोंके आनेसे उनका काम भी बढ़ जाता है। वे खुद कहते हैं कि बच्चोंके साथ बातें करते हुए ही काममें मन लगता है। उनकी शरारतोंसे मन बहल जाता है। मैं अपने बच्चोंको लेकर चण्डीगढ़ गयी तो राजा सारे दिन अपने नानाके कमरेमें ही बैठे रहते। कभी नानाकी लाल नीली पेंसिल गायब हो जाती तो कभी कलम या चश्मा। सारे दिन उनपर बेसिर-पैरके प्रश्नोंकी बौछार होती रहती और वे धैर्यके साथ सबका उत्तर देते हुए अपना काम करते रहते। बच्चोंका अभाव उनके मनको हमेशा खटकता रहता है। उनकी ३० ६-६७ की लिखी चिट्ठीका एक अंश है— 'और राजा साहबको प्यारकी चपत देना। नाना नानीको याद करते हैं कि नहीं। आऊँगा तो चपत मारूँगा। फिर तो अभी उनको चपत लायक ही होगा [उस समय राजाका मुण्डन हुआ था] यहाँकी चहल पहल खतम हो गयी है। अब बड़ा उदास लग रहा है। अभी जलपानके समय सिर्फ तीन ही बैठे थे। कोई झपट्टा मारने

वाला नहीं, कोई शिकायत करनेवाला नहीं, कोई डबल चम्मच लेकर उत्पात करनेवाला भी नहीं। सब उदास।" कई बार कहते हैं कि अब लड़के लड़कियाँ तो बड़े हो गये हैं अब नाती-पोतोंको लेकर ही रहनेका मन करता है।

अपने बाबूजीको मैंने सिर्फ पिता रूपमें ही नहीं जाना माँ, मित्र और गुरुके रूप भी उनमें देखे हैं। मैं उन्हींके पास हिन्दीमें एम० ए० कर रही थी। पहले दिन जब मैं उनके क्लासमें गयी तो मनमें उत्कण्ठा थी कि देखूँ मेरे बाबूजीका प्रोफ़ेसर रूप कैसा है। मैं ही नहीं मेरे साथके और विद्यार्थी भी, जो दूर-दूरसे उनका नाम सुनकर आये थे, शायद उन्हें गुरु रूपमें देखनेको उत्सुक थे। सभी मनमें थोड़ा सहमे हुए भी थे।

क्लासमें उन्होंने हँसते हुए प्रवेश किया और अपनी कुरसीके पास आकर खड़े हो गये। अपनी मूँछोंके अन्दरसे हँसते हुए सारे क्लासपर नज़र दौड़ायी। घूमती हुई नज़रें क्षण भरके लिए मेरे ऊपर आकर स्थिर हो गयीं—मात्र क्षण भरके लिए और उस दिन वह क्षण मुझे घण्टेके समान लगा। तभी उनके मुँहपर मुसकान आयी, साथ ही उनकी निगाहें आगे बढ़ गयीं।

उस दिन पढ़ाई नाम भरको ही हुई या यूँ कहिए कि हुई ही नहीं।

मेरी सहपाठिनें और सहपाठी हमेशा यही सोचते थे कि मैं घरमें अवश्य उनसे खूब पढ़-समझ लेती हूँ और किसीके सामने प्रकट नहीं करना चाहती। उन्हें शायद यह नहीं पता कि दीपक अपने आस-पास चाहे कितनी भी रोशनी फैलाता है उसके नीचे हमेशा अँधेरा ही रहता है। हम लोग वही अभागे हैं जिन्हें जबरन कभी कभी अपने स्वार्थके लिए दियेकी लौको अपनी ओर खींचकर हवा लेना पड़ता है।



आलमारीमें निरन्तर सजाकर रखनेमें कम परिश्रम नहीं है और मैं निश्चित जानता हूँ कि रहस्यवादी आलोचना लिखना कुछ हँसी-खेल नहीं है। पुस्तकको छुआ तक नहीं और आलोचना ऐसी लिखी कि मैं मौलिक विस्मित। यह क्या कम साधना है।

— अशोकके फूल

दो असमर्थताएँ

•

फीरोज़ाबाद
२३ ६ ६७

प्रियवर,

अवश्यमेव बन्धुवर हजारीप्रसादजी द्विवेदीके विषयमें कुछ लिखनेका विचार है। इधर स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता। इस कारण विलम्ब होनेकी आशंका है। श्री द्विवेदीजीको मेरा प्रणाम लिख दें। वे मुझपर निरंतर कृपा करते रहे हैं। यद्यपि उम्रमें मैं बड़ा हूँ, पर अकलमें वे ही बड़े हैं। वे विद्वान हैं और मैं विद्वत्तासे कोसों दूर हूँ। बन्धुवर द्विवेदीजीके अनेक महत्त्वपूर्ण पत्र मेरे पास सुरक्षित हैं। इनका भी संग्रह हो जाना चाहिए। वे बहुत ही सहृदय व्यक्ति हैं। विनम्र श्रद्धालु और अपने-आपको पीछे रखनेवाले। आपके इस यज्ञकी पूर्ण सफलता चाहता हूँ।

विनीत
बनारसीदास चतुर्वेदी

*

५ सफदरजंग लेन नयी दिल्ली
जुलाई ७, १९६७

प्रियवर,

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि हिन्दीके महास्तम्भ पण्डित हजारीप्रसादजी द्विवेदी आगामी श्रावण शुक्ल एकादशीको अपने जीवनका साठवाँ वर्ष पूरा कर रहे हैं तथा काशीके साहित्यिकोंने यह आयोजन किया है कि इस अवसरपर उन्हें एक ग्रन्थ भेंट किया जाय। मुझपर आरम्भसे ही द्विवेदीजीकी कृपा रही है और आरम्भसे ही मैं उनपर श्रद्धा रखता आया हूँ। विद्वान और लेखक वे आज बेजोड़ हैं किन्तु मनुष्यताकी दृष्टिसे भी उनके समकक्ष पहुँचनेवाले लोग देशमें कम ही होंगे। उन्होंने जो कुछ लिखा है उसका अधिकांश चिरायु होगा।

बहुत अच्छा होता यदि मैं इसी समय द्विवेदीजीका संस्मरण लिख पाता। किन्तु इन दिनों मेरी मनोदशा खिन्न है अतएव इस मांगलिक अवसरपर मैं मान्यवर हजारीप्रसादजीको प्रणाम करता हूँ और भगवान्से मनाता हूँ कि वे उन्हें शतायु करें।

रामधारीसिंह दिनकर

■

भूली कहाँ हूँ

● ●

शिवानी

पण्डितजीका गुरुपल्लीमें परिचय मेरे जीवनमें एक श्रेष्ठ सम्पदाके रूपमें सदैव संचित रहा है। अपने व्यक्तिगत सौभाग्यसे मैं उस उदारमना व्यक्तित्वकी स्नेहमय छायामें, आठ वर्ष तक रही। आज जब उन आठ वर्षोंके संस्मरण सँभालने बैठती हूँ तो सहसा १९३५ के आश्रमरंगमंचके रेशमी पर्दे स्वयं ही सरसरा कर उठ जाते हैं। आश्रमका 'क्वार्टर मार्ट्स' एक लम्बी सड़कके दोनों ओरसे विभाजित लम्बा धूल धूसरित मैदान था और उसीसे लगी थी गुरुपल्ली। एक ही कतारमें ताड़-खजूर और मालती लताके सायेमें खड़े, एक ही नक्शेसे बने कच्ची मिट्टीके खपरैल छाये मकानोंमें पहला मकान था बड़े पण्डितजीका, व्यक्तित्वमें गुरुस्वामीकी ही भाँति सुन्दर छोटा-सा बरामदा फिर एक कमरा कोनेमें बिछा एक तख्त, आलमारियोंमें ठुँसी विभिन्न आकारकी पुस्तकोंका स्तूपाकार गट्ठर फिर एक बरामदा, आँगन और आँगनसे ही लगी छोटी-सी कोठरीमें बनी भाभी-जीकी सुव्यवस्थित रसोई, जहाँसे आती, उत्तरप्रदेशीय व्यंजनोंकी चिर-परिचित स्वाद सामग्रीकी सुगन्धित लपट, बंगालके घण्ट, 'बड़ियों' 'काशीफल डालना' और 'आलू पोस्त'के सर्वथा नवीन अटपटे स्वादसे ऊबकर, पल-भरमें दौड़कर वहाँ जाती। पण्डितजीके यहाँ तो हम उत्तरप्रदेशीय छात्राओंका अड्डा ही था। भूख लगी तो दौड़ पड़ी। कभी भी समय असमय हमारा आक्रमण निरीह भाभीजीकी रसोईपर होता और वे हँसकर ही हमारा स्वागत करतीं। गोरी बूटे-से कदकी आनन्दी भाभीजी, कभी मूलीका पूरा कनिस्तर ही उतार कर हमारे सम्मुख रख देतीं, सरसोंके तेलमें सनी, हरी मिर्च और नमकके प्याजमें बनी वह मूली, मुस्कराकर परोसने लगतीं और देखते-देखते पूरा कनिस्तर साफ हो जाता। धोती ढीला कुरता और चप्पलोंकी चरमराहटसे पण्डितजी दूर हीसे पहचाने जाते। लम्बा कद न दुर्बल न स्थूल प्रशस्त माथा, आँखोंमें अनूठी चमक और अधरोंपर, बात-बातपर उतर आनेवाली स्निग्ध हँसी।

उनके पढ़ानेका अपना अनूठा ढंग था। कभी-कभी अपने मट्ठर गुरुजीको

कहानियाँ सुनाते और कभी सामान्य-सी बूँदाबाँदी होनेपर ही भीगनेकी छुट्टी कर देते। यह आश्रमकी एक विशेष प्रकारकी मौलिक छुट्टी होती थी, वर्षा होनेपर। कोई भी कक्षा अपने अध्यापकके साथ 'भीगनेकी छुट्टी' मनाने जा सकती थी। कभी अनिलचन्द्रके साथ गाने हो हल्ला मचाते हम लोग 'श्रीनिकेतन'की ओर चले जाते

शावनेर गगने गाय, विद्युत चमकिया जाय,
क्षण क्षण शवरी सिहरिया उठे हाय '

शवरी सिहरे न सिहरे समवेत कण्ठस्वरसे आश्रमकी दिशाएँ अवश्य ही सिहर उठती।

पण्डितजीकी कक्षामें, इस छुट्टीके अतिरिक्त, एक प्रकारकी छुट्टी और भी होती थी, जब कभी कुछ चुने छात्र छात्राओंको पण्डितजीके लिए ब्लेड, साबुन आदि लेने आश्रमकी एकमात्र दुकान 'कोऑपरेटिव स्टोर' तक भेजा जाता। उनके कार्यके लिए समुचित पारिश्रमिककी भी व्यवस्था रहती, इसीसे इस उदार प्रस्ताव को स्वीकार करने कभी-कभी पूरी कक्षा ही चल पड़ती। किन्तु प्रत्येक शान्त व्यक्तिकी भाँति पण्डितजीका क्रोध भी बड़ा विकट होता था। एक बार हमारी कक्षाके एक अत्यन्त निरीह छात्र शरणप्रसादको पण्डितजीने पढ़ाते समय आँवले की गुठली चबाते पकड़ लिया। उन दिनों आश्रममें छात्र छात्राओंके इस आमलकी प्रेमसे सभी अध्यापक परेशान थे। जिसे देखो वही आँवलेकी गुठलियाँ मुँहमें भरे सुपारी-सी कुतर रहा है। एक-दो बार पहले भी पण्डितजी कुछ अन्य छात्राओंको इस उद्दण्ड कुड़क-कुड़कके लिए डपट चुके थे— तुम लोग यहाँ आँवला खाने आते हो या पढ़ने? अब किसीको गुठली कड़काते देखा तो बाहर निकाल दूँगा—समझो।"

उन्होंने कहा था, पर समझनेवालियाँ खूब समझती थीं कि गरजनेवाला यह निरीह मेघ कभी बरसता नहीं।

उस बार हमारी कक्षाका शरणप्रसाद, न जाने कैसे पकड़में आ गया। 'क्या शरणप्रसाद', पण्डितजीका चेहरा तमतमा उठा, 'कितनी दर्जन गुठलियाँ हैं मुँहमें? खाओ यह।' शरणप्रसादने भोले बछड़ेकी भाँति मुँह खोल कर वैराग्य-भाव प्रकट किये। स्पष्ट था कि गुठली बाजीगरी सफाईसे जीभके नीचे छिपा ली गयी है।

'हूँ?'' पण्डितजी बोले हम क्या समझते नहीं जीभके नीचे छिपा ली है। खड़े रहो पूरा पीरियड। इस दफा—'' मेरी ओर उँगली दिखाकर उन्होंने कहा— 'अभी नयी-नयी आयी है पहाड़से, कैसे सिर झुकाये शान्त गऊ-सी बैठी

रहती ह, एक तुम हो इतने दिनामे आश्रमम हो, पल भर सीधे नही बैठ सकते।'

उस सावजनिक सभाम अपनी प्रशसा सुनकर म प्रसन्नताका गहबर सहसा रोक ही नही पायी। ऐसी खासी उठी कि जीभके नीचे बडे छलयत्नसे छिपायी गया आँवलकी गुठली, गोली-सी छिटक कर सीधी पण्डितजीकी गोदम जा गिरा। पहल वे खाने फिर ठहाका मारकर जारम हँस पड।

उस उदार गुरका वह राशीभूत अट्टहास, आज भी रह रहकर मेरी स्मृति-प्राचीरमे गूँज उठता ह। कान उमेठकर लेखनीको सही पकड सिखानेवाले उस सहृदय गुरुके सस्मरण क्या एक आध ह?

घटा तले हिन्दीकी कक्षाम मुट्ठी भर छान छात्राएँ पण्डितजीको घेरकर बठे ह। उन दिनो हमारे पाठ्य क्रमर्मे 'सुदर काण्ड' था और पढाते थे स्वय पण्डितजी। अपनी अण्डीकी चादर मुडी-मडीकर लपेटे पण्डितजी हिल हिलकर 'सुदर-काण्ड' पढ़ने लगते ता लगता पूछनेको कुछ ह ही नहीं। एक-एक दाहा चापाई, उलझे ताने सी स्वय ही सुलझती चली जाती। लगता जैसे अवनीन्द्र ठाकुरकी रोचक 'गल्पेर क्लास' का ही पीरियड चल रहा हो।

तब एक काव्य-सग्रह भी हमारे पाठ्य-क्रमम था, उस पीरियडको भी पण्डितजी ही लेते पर काव्य-सग्रह पढानेमें पण्डितजीका न जाने क्या विशेष रुचि नही रहती। "क्या करागी यह सब यहा पढकर, घरम पढ लेना।' एक दिन म पीछे पड गयी "घरपर भला कौन बठा हैं पढानेवाला, परीक्षा सिरपर आ गयी ह अब ता आप पढा ही दीजिए।'

'मूरख कही की' बार-बार एक कविताका अर्थ समझा देनेकी जिदसे पण्डितजी झल्लाकर बाल, "क्या धरा ह इसमें समझानेको

मुझे आज भी वह कविता याद ह और म सोचता हूँ पण्डितजी भी नही भूले हाग।

कविता थी—

कोकिल बोलो ता!

प्राणामें मधु घोलो तो "

'अब कोकिल ह" पण्डितजी बाल, "कौआ ता ह नही जो काँव काव होगा! कुहू-कुहू कर रही होगी बस घुल गया हमारा प्राणाम मधु जाआ भागो—छुट्टी! इस सरल सहज सजीव व्याख्याके पश्चात भला कुछ पूछनेका प्रश्न ही कब उठ सकता था? कभी कभी दस मिनिट पहल ही एसा अप्रत्याशित छुट्टी मिल जाती पर कभी व्याकरणकी कक्षाम अनुशासनकी पतली आनल्वा रस्सी

कहानियाँ सुनाते और कभी सामान्य-सी बूँदाबाँदी होनेपर ही भीगनेकी छुट्टी कर देते। यह आश्रमकी एक विशेष प्रकारकी मौलिक छुट्टी होती थी वर्षा होनेपर। कोई भी कक्षा अपने अध्यापकके साथ 'भीगनेकी छुट्टी' मनाने जा सकती थी। कभी अनिलचदाके साथ गाते हो हल्ला मचाते हम लोग 'श्रीनिकेतन की ओर चले जाते

> 'शावनेर गगनेर गाय, विद्युत चमकिया जाय
> क्षण क्षणे, शवरी सिहरिया उठे हाय '

शवरी सिहरे न सिहरे, समवेत कण्ठस्वरसे आश्रमकी दिशाएँ अवश्य ही सिहर उठतीं।

पण्डितजीकी कक्षामें, इस छुट्टीके अतिरिक्त, एक प्रकारकी छुट्टी और भी होती थी, जब कभी कुछ चुने छात्र छात्राओंको पण्डितजीके लिए कण्ड साबुन आदि लेने आश्रमकी एकमात्र दुकान कोऑपरेटिव स्टोर' तक भेजा जाता। लाने वालेके लिए समुचित पारिश्रमिककी भी व्यवस्था रहती, इसीसे इस उदार प्रस्ताव को स्वीकार करते कभी-कभी पूरी कक्षा ही चल पड़ती। किन्तु प्रत्येक शान्त व्यक्तिकी भाँति पण्डितजीका क्रोध भी बड़ा विकट होता था। एक बार हमारी कक्षाके एक अत्यन्त निरीह छात्र शरणप्रसादको पण्डितजीने पढ़ाते समय आँवले की गुठली चबाते पकड़ लिया। उन दिनों आश्रममें छात्र-छात्राओंके इस 'आमलकी भक्षण से सभी अध्यापक परेशान थे। जिसे देखो वही आँवलेकी गुठलियाँ मुँहमें भरे सुपारी-सी कुतर रहा है। एकाध बार पहले भी पण्डितजी कुछ अन्य छात्राओंको इस उद्दण्ड कुड़क-कुड़पर लिए डपट चुके थे— तुम लोग यहाँ आँवला खाने आती हो या पढ़ने? अब किसीको गुठली कुतरते देखा तो बाहर निकाल दूँगा—समझी?'

कहनेको कहा था पर समझनेवालियाँ खूब समझती थीं कि गरजनेवाला यह निरीह मेघ कभी बरसता नहीं।

उस बार हमारी कक्षाका शरणप्रसाद न जाने कैसे पकड़में आ गया। 'क्या शरणप्रसाद', पण्डितजीका चेहरा तमतमा उठा, 'कितनी दर्जन गुठलियाँ हैं मुँहमें? खोलो मुँह।' शरणप्रसादने बालकन्हैयाकी भाँति मुँह खोल कर भलीभाँति स्नान करा दिये। स्पष्ट था कि गुठली बाजीगरी सफाईसे जीभके नीचे छिपा ली गयी है।

'हूँ?' पण्डितजी बोले, 'हम क्या समझते नहीं, जीभके नीचे छिपा ली है। खड़ रहो पूरा पीरियड। इसे देखो—' मेरी ओर उँगली दिखाकर उन्होंने कहा—' अभी नयी-नयी आयी है पहाड़से कैसे सिर झुकाये शान्त गऊ-सी बैठी

रहती हैं, एक तुम हो इतने दिनोंमें आश्रमम हो, पल भर सीधे नही बठ सकते।"

उस सावजनिक सभामें अपनी प्रशसा सुनकर मैं प्रसन्नताका गहबर सहसा राक ही नही पायी। ऐसी खाँसी उठी कि जीभके नीचे बड छलसे छिपायी गयी आँवलेकी गुठली, गोली-सी छिटक कर सीधी पण्डितजीकी गोदमें जा गिरी। पहले वे चौके फिर ठहाका मारकर जोरसे हँस पड़े।

उस उदार गुरुका वह राशीभूत अट्टहास, आज भी रह रहकर मेरी स्मृति-प्राचीरमें गूँज उठता है। कान उमेठकर लेखनीकी सही पकड़ सिखानेवाले उस सहृदय गुरुके संस्मरण क्या एक आध हैं?

घटा तले हिन्दीकी कक्षामें मुट्ठी भर छात्र-छात्राएँ पण्डितजीको घेरकर बठे हैं। उन दिनों हमारे पाठ्य क्रममें 'सुदर काण्ड' था और पढ़ाते थे स्वय पण्डितजी। अपनी अण्डीकी चादर मुडी मुडीकर लपेटे पण्डितजी हिल हिलकर 'सुदर-काण्ड' पढ़ाने लगते तो लगता पूछनेको कुछ है ही नही। एक-एक दोहा चौपाई, उलझे ताले सी स्वय ही सुलझती चली जाती। लगता जसे अवनीन्द्र ठाकुरकी रोचक 'गलेरे क्लास' का ही पीरियड चल रहा हो।

तब एक काव्य-सग्रह भी हमारे पाठ्य-क्रममें था उस पीरियडको भी पण्डितजी ही लेते पर काव्य-सग्रह पढ़ानेमें पण्डितजीको न जाने क्यों विशेष रुचि नही रहती। "क्या करोगी यह सब यहाँ पढकर घरमें पढ लेना।" एक दिन म पीछे पड गयी "घरपर भला कौन बठा है पढ़ानेवाला, परीक्षा सिरपर आ गयी है अब तो आप पढा ही दीजिए।"

'मूरख कहीं की' बार-बार एक कविताका अथ समझा देनेकी जिदमें पण्डितजी झल्लाकर बोले, क्या धरा है इसमें समझानेको

मुझे आज भी वह कविता याद है और म सोचती हूँ पण्डितजी भी नहीं भूले होंगे।

कविता थी—

"कोकिल बोला तो।

प्राणोंमें मधु घोलो तो

'अब कोकिल है" पण्डितजी बोले, 'कौवा तो है नहीं जो काव काँव होगा। कुहू-कुहू कर रही होगी बस घुल गया होगा प्राणोंमें मधु जाओ भागो—छुट्टी।' इस सरल सहज सजीव व्याख्याके पश्चात भला कुछ पूछनेका प्रश्न ही कैसे उठ सकता था? कभी कभी दस मिनिट पहले ही ऐसी अप्रत्याशित छुट्टी मिल जाती पर कभी व्याकरणकी कक्षामें अनुशासनकी पतली जालीदार रस्सी

पर, किसी क्रूर नट पिताकी ही भाँति पण्डितजी हमें चढ़ाकर एक-एक नपा-तुला कदम रखना सिखाते थे—

"व्याकरणकी क्लासमें फाँकी देकर क्या कभी एक ढंगका निबन्ध भी लिख पाओगी तुम लोग ? और यह 'गउरा'," अचानक वे मुझपर बरस पड़ते, 'जितनी ही साधो थी उतनी ही शैतान हो गयी है। देखेंगे अब हम तुमको, एक दिन कान जड़से उखाड़ कर रख देंगे। आज ही कहेंगे जयन्तीसे,"—'जड़'के बीच एक विशेष मीड़-सा खींचकर पण्डितजी ऐसे सहमा देते, लगता कान सचमुच ही जड़से उखड़ा जा रहा है, पर कहना व्यर्थ है—न तो वह मुझे एक दिन दसनेका कभी आया, कर्णद्वय अभी भी समूल सुरक्षित हैं और मेरी बड़ी बहन जयन्तीसे मेरी शिकायत जड़नेकी भयावह धमकी सदा धमकी ही तक सीमित रही।

पाठ्य-क्रमकी पुस्तकोंको ही पढ़ानेकी पण्डितजीको विशेष चिन्ता नहीं रहती, बड़े कर्ता, कर्म, करण, अधिकरणकी नीरस बारहखड़ी जिस महत व्यक्तित्वने बड़े परिश्रमसे रटायी है—यह जब स्मरण करती हूँ तो गर्वसे फूलकर कुप्पा हो उठती हूँ।

कभी-कभी हमारी पूरी कक्षाको ही तार निकलनेपर, पण्डितजीके घर आनेका निमन्त्रण मिल जाता—"जाओ भागो सब, आज इस पीरियडका क्लास नहीं पढ़ायेंगे हम, गुरुदेवके पास जाना है, सन्ध्याको घरपर आना, वहीं पढ़ायेंगे।" पता नहीं इस युगके शिक्षाशास्त्री इस विचित्र शिक्षा-पद्धतिके विषयमें क्या कहेंगे पर ऐसी सरस कक्षा, बोलता चलता फिरता पाठ्य-क्रम और छात्र छात्राओंकी भीड़को पाइड पाइपरकी सी जादुई वंशी धुनमें खींचे लिये जा रहे पण्डितजी। क्या अनुशासनहीनताके इस युगमें, जहाँ प्रतिवर्ष परीक्षा भवनमें उद्दण्ड छात्र-वर्ग, क्रुद्ध बर्बर आदिवासियोंकी-सी हृदयहीनतासे, अनेक अध्यापकोंको अपने क्रूर भाले या छुरेका निशाना बना समयसे पूर्व ही अवकाश ग्रहण करा देते हैं, यह सब कुछ अविश्वसनीय नहीं लगता ?

गुरुकी परिभाषा शायद अब बदल गयी है। पर लाख बदले, हमारी वह पौराणिक कक्षाकी स्मृति कभी नहीं बदल सकती—जो काँजुके निर्मित ग्रन्थ ... गियासकी जटिल अभिरामतापूर्ण क्यारी, घण्टोंतक रहकर भी पण्डितजी ... दिवय ही नयी सभ्यताके विघटनकारी मरघटमें अछूती गुरुपत्नीके अपने उस कभी मिष्टान्न आँगनमें जुटी हमारी मुँहलगी कक्षाकी भीड़को नहीं भूल होगा।

... आकाशके रहस्यमय सौरमण्डलसे परिचय चलता। 'वह रहा ...' सहसा एक ही अँगूठेकी धुरीपर गोल घूमते पण्डितजी सप्तर्षिसे परिचय कराने लगते।

शान्तिनिकेतनसे शिवानी

"अरे कहाँ हैं पण्डितजी !"

"अरे इस मूरख कुसुमको! कुछ नहीं सूझता—देखती नहीं !"

फिर तारागणोंकी दुरूह पहेली सुगम हो उठती। आज जब मेरा पुत्र, दूरबीन विशेष यन्त्रोंसे विभूषित नैनीतालकी ऑब्जरवेटरीसे विराट आकाशकी महिमा पहली बार देख, मुझे अपनी पाण्डित्यपूर्ण दलीलोंसे प्रभावित करनेकी चेष्टा करता है तो मुझे हँसी आती है—इतना पावरफुल दूरबीन है कि बस—' मैं कैसे उस नन्हें मस्तिष्कको समझाऊँ कि जिस शक्तिशाली दूरबीनसे मैंने सौरमण्डलको देखा है उससे वह कभी नहीं देख सकता।

पण्डितजी एक एक तारेकी महिमा समझाते जाते और आकाशके समग्र [illegible] तारे, जब झुक-झुककर परिचित मित्रोंकी भाँति मुसकराकर हमसे हाथ मिलाने लगते। न तब हमारे पास दूरबीन थी न कोई यन्त्र। विचित्र आज स्वप्नका विचित्र उच्चारण था। केवल पण्डितजीका टेपरिकार्ड था और लम्बे-लम्बे हाथोंको हिला हिलाकर समझाया गया सुगम रोचक पाठ। अचानक रात के गानेका घण्टा बजता, आश्रमके प्रत्येक घण्टेका अपना अनोखा ही आरोह-अवरोह रहता। एक-दो तीन चार-पाँच—बीते-समयका ध्यान आता और हम भोजनालयकी ओर भागते।

दूसरे दिन व्याकरणका पीरियड है। आज पण्डितजी गुरुदेवका नया लिखा उपन्यास 'चार अध्याय' ले आये हैं। कई दिनों तक धारावाहिक रूपमें पण्डितजी हमें सुनाते रहे। मौलसिरीके विराट वृक्षकी छायामें एक बार पण्डितजी गुरुदेवकी रचना [illegible] पण्डित हजारीप्रसादजीको पढ़कर [illegible] तब हँसते रहे थे। उनकी इसी हँसीके विषयमें मुझे कुछ कहना है। जैसे मुक्ताको गुणी जौहरी नेचुरल और कल्चर्डकी परिभाषामें तौल कर रख देते हैं—हँसीको भी इसी मापदण्डसे मापा जा सकता है। कल्चर्ड मोती बनावटी [illegible] की ही भाँति कल्चर्ड हँसीका पानी भी मुझे छिछला लगता है। किसी विदेशी कम्पनीके जटिल परिहासको न ग्रहण कर पानेपर भी शिष्टताके नाते जबरन खींच कर निकाली गयी हँसी, जो सबकी हँसी बन्द हो जाने पर भी बहुत देर तक होठोंमें गूँजती रहती है, ऐसी ही कल्चर्ड हँसी है।

पर एक दूसरी भी हँसी होती है—असली पानीदार मोतीकी दमक-सी स्वयं दमकती और दूसरोंको दमकाती दिशाएँ गुँजाती रास्तेपर टकराते पहाड़ी झरनेकी-सी सरस जलधार जो पास खड़े लोगोंको भिगाती चली जाती है—ऐसी ही हँसी थी पण्डितजीकी। हो सकता है अब बदल गया हो, पर ऐसी हँसी [illegible] कम है। पण्डितजी हँसते तो पूरा शरीर हिलने लगता। आश्रम

मे गज-गज भरकी दूरीपर असंख्य कणाएँ निसरी रहती। पण्डितजी हँसने लगते, और सब मुड मुड़कर देखने लगते। एक ही रस्सीमें बँधी, पहाड़ी मंदिरकी सी कई घण्टियाँ एक साथ खनकने लगती।

"क्या जी कमला, कल बड़े सबेरे तुम्हारा भाई सफेद लाल लँगोट लगाये डण्ड पेल रहा था" अचानक अपनी छात्राके लाल लँगोटधारी दण्ड प्रेमी सहोदर की स्मृति पण्डितजीको गुदगुदा जाती और वे एक ठहाका लगाकर हँस उठते।

एक बार पण्डितजीने बड़ी सी दाढ़ी रख ली थी। बस फिर क्या था— पूरी कक्षा उनके पीछे पड़ गयी। "छि छि पण्डितजी!—एकदम जोगी बाबा लग रहे हैं आप। कटवा ना ही डालो दाढ़ी!"—पण्डितजी बार-बार कहते कि "कुछ फुड़ियाँ निकल गयी हैं, इसीसे दाढ़ी बढ़ा ली है कोई शौकसे थोड़े ही पाली है!" पर उनकी कौन सुनता? आज अपनी बचकानी जिदपर हँसी भी आती है।

अन्तर्राष्ट्रीय साहित्यिक ख्यातिके उस विद्वान गुरुकी कैसी मुँहलगी कक्षा थी हमारी— कभी साबुन-ब्लेडके मूल्यसे भी अधिक बड़ी वर्दमानीसे वसूल किया गया जुर्माना! कभी दाढ़ी कटवानेकी जिद, कभी अकारण ही सामान्य सी बूँदाबाँदीका बहाना बनाकर माँगी गयी छुट्टी।

गत वर्ष, अपने क्षणिक प्रयाग प्रवासके बीच भी समय निकालकर पण्डितजी मुझसे मिलने आये। वही परिचित स्नेहस्निग्ध हँसी, वही मोटे फ्रेमका चश्मा और ढीला कुरता—बस नहीं थी तो कन्धेकी चादर, और शायद उसीके बिना मेरा रेखाचित्र आज कुछ अधूरा-सा बुना जा रहा है।

एक बार पण्डितजीने मुझे लिखा था—"तुम्हारी पुस्तिका मिली पढ़कर बड़ी प्रसन्नता हुई। शान्तिनिकेतनका उन दिनोंका तुमने ऐसा सजीव चित्र खींचा है कि कई दिन तक उन स्मृतियोंने पीछा नहीं छोड़ा। उस छोटी-सी पुस्तिकामें शान्तिनिकेतन जितना सजीव हुआ है उतना बड़े बड़े पोथोंमें नहीं हो पाया। तुममें छोटी छोटी किन्तु महत्त्वपूर्ण आत्मीयतापरक बातोंके द्वारा, सम्पूर्णको जीवंत बनानेकी बड़ी क्षमता है।"

उक्त पुस्तिका मैंने एक परिचित प्रकाशकके विशेष आग्रहपर लिखी थी— साथमें प्रकाशकने एक लुभावनी पुरस्कार-योजनाकी भी घोषणा की थी। सौभाग्य से पुरस्कार मुझे नहीं मिला पर अपने गुरु-द्वारा प्रदत्त प्रशंसाका यह अनूठा कोहिनूर मेरा साहित्यिक मंजूषाका यश जगमगाता रहा है।

उसी स्निग्ध भरी छत्रानी एवं ऐसे गहन वनमें वनमृगोंकी-सी निर्भीक छात्रोंगें

लगाने लगी है जहाँ उसे क्रूरसे क्रूर व्याघ्रके बाणोंका भी भय नहीं रहा है। पर आज सब संस्मरणोंकी पोटली खोल कर—लिखने बैठी हूँ तो—सम्पूर्णको जीवन्त बनानेकी क्षमता सहसा खो बैठी हूँ। 'गुरुशापात स्मृतिभ्रष्टा' का-सा आभास हो रहा है।

पण्डितजीके बहुरूपी व्यक्तित्वकी कई रंगीन स्लाइडें एक-एककर उभर आती हैं—

हिल-हिलकर सुन्दर काण्ड पढ़ाते पण्डितजी।
सड़कके लाल लँगोटकी स्मृतिपर ठहाका लगाते पण्डितजी।
'जड़से कान उखाड़नेकी धमकी देते पण्डितजी।

दाढ़ी बढ़ाये, अण्डीकी चादर लपेटे मिट्टीके कच्चे आँगनमें गोल-गोल पर पैर अँगूठेकी धुरीपर घूमने, आगन्तुक अतिथियोंसे परिचय कराते पण्डितजी और अन्तमें—कारसे उतरते रेशमी कुरते और धोतीमें पहले-से कुछ-कुछ बदले पण्डितजी—क्या कालक्रम बार-बार बिगड़ जाता है? अच्छे चित्रके लिए कलाकार बैकग्राउण्डको बड़ा महत्त्व देते हैं। चित्र बने भी कैसे? एक बार यदि पण्डितजी फिर उसी कच्चे मकानके आँगनमें खड़े हो सकते! गुम्मी-मुम्मी पर ओढ़ी गयी चादर—नीला कुरता और कन्धेमें दबा 'विश्वभारती' का नारंगी रजिस्टर—एक बार भी यदि गरजकर कह सकते—देख लूँगा तुमको एक दिन—कान जड़से उखाड़कर रख दूँगा

तब शायद फिर सम्पूर्णको जीवन्त बनानेकी क्षमता पा लेती।

एक बार पूज्य हजारीप्रसाद द्विवेदीजीने मेरे एक पत्रके उत्तरमें लिखा था

अपनी पुरानी छात्रमण्डलीको कभी भूल सकता हूँ! मेरे सामने तुम सब छोटी-छोटी छात्राओंके रूपमें उसी प्रकार साकार हो। तुम लोगोंको कैसे भूल सकता हूँ! कामकाजमें भूलकर भूलना भी कोई भूलना है! गुरुदेवने लिखा था—

'अयमने चलि पथे
भुलि ने कि फूल
भुलि ने कि तारा
तबुओ ताहारा
प्राणेर निःश्वास वायु करे सुमधुर
भूलेर शून्यता माँझे भरि ये सुर
भूले थाका नय से तो भोला—'

'अन्यमनस्क पथिक यदि राह चलते तारा और खिले फूलोंको नहीं देख पाता तो क्या उन्हें भूल जाता है? वे ही तो उसके प्राणोंकी निःश्वास वायुको सुमधुर बनाते हैं। भूलनेकी शून्यतामें वे ही तो स्वर भरते रहते हैं। इसे भला भूलना कहते हैं?'

गुरुपत्नीकी मीठी स्मृति भी मेरे प्राणोंकी निःश्वास-वायुको चिरंतन माधुर्यसे भरती, भूलनेकी शून्यतामें मीठे स्वर भरती रहेगी और इसीसे न भी कहती हूँ—

भूली कहाँ हूँ?



> जो लोग शहरोंमें घिरे और छतसे ढके कमरोंमें रात काटनेके अभ्यस्त हैं उनसे यदि कहूँ कि रात जीवन्त वस्तु है तो न जाने क्या कहेंगे। लेकिन जो कोई भी खुले-आम रहनेवाला भला आदमी तारकखचित आसमानके नीचे घण्टा आध-घण्टेके लिए आ खड़ा होगा वह अनुभव करेगा कि रात सचमुच ही जीवन्त पदार्थ है। वह साँस लेती हुई जान पड़ती है उसके अंग अंगमें कम्पन होता है मस्त होती है उदास होती है धुँधुआ जाती है खिल उठता है।
>
> —केतु दर्शन

अफलाकाक्षी

मालती तिवारी

बहुत दिन पहले एक लेख पढ़ा था 'ऑव माइसेल्फ़' जिसमें लेखक चार्ल्स लैम्बने बताया था कि अपने ऊपर लेख लिखना कितना कठिन है। मुझसे भाई साहबने कहा कि बाबूजीके बारेमें एक पारिवारिक लेख लिखो, तो लगा कि 'ऑव हिमसेल्फ़' लिखना भी कोई आसान नहीं। हो सकता है जिसको मैं बहुत अधिक महत्त्व देती हूँ, औरोंके लिए वही नगण्य लगे। फिर भी मैंने सोचा है ईमानदारीसे कुछेक ऐसी घटनाएँ साहित्य जगतके सामने रख दूँ जिनका साहित्यसे कोई सम्बन्ध न हो।

बहुत छुटपनकी बातें तो भूल-सी गयी हूँ, पर जब थोड़ी बड़ी हुई तब हम लोग छह भाई-बहन थे और सभी लोग बाबूजीके हाथसे खाना पसन्द करते थे। इसीलिए दिनमें तो भागतों-अभ्यागतोंसे घिरे होनेके कारण बहुत अवसर नहीं मिलता था, पर रातको सभी बच्चोंको बिठाकर एक ही थालीमें सबको खिलाते थे। यह क्रम बहुत दिनों तक चलता रहा था।

शान्तिनिकेतनमें हम लोगोंको प्रायः ही मलेरिया हो जाया करता था। उस बीमारीमें औरोंको चाहे जो भी दवाई लगे, हम लोगोंके लिए तो निश्चित रूपसे बाबूजी राम बाण दवा थे। रात रात भर जागना, दवाई देना, प्यारसे सिरमें तेल लगाना और सब तरहकी गन्दगी निर्विकार होकर साफ़ करना। उन दिनों वे काम माँ नहीं कर पाती थीं क्योंकि वे खुद ही काफ़ी बीमार रहती थीं।

तीमारदारी करना ही नहीं बल्कि 'ऑपरेशन' करना भी बाबूजीको खूब आता है। जहाँ किसीको फोड़ा हुआ नहीं कि बाबूजी झट स्पिरिट, रुई ब्लेड और मरहम लेकर तैयार हो जाते। इस क्रियामें बाबूजीको बेहद आनन्द मिलता।

जब हम चण्डीगढ़ गये तब सिर्फ़ मैं, बाबूजी और छोटा भाई लाल्जी साथमें थे। उन्हीं दिनों संयोगवश एक फोड़ा मेरी पीठपर निकल आया। कई दिन तो मैं उसे छिपाती रही, पर जब वह पकने लगा और भयानक दर्द शुरू

हुआ तो मुझे कहना ही पड़ा। बस बाबूजीने अपने अस्त्र शस्त्र सँभाले और फोडेको यों देखा जैसे बाज नाजुक पक्षीको देखता है। मैं अपने भयको समेटूँ सँभालूँ कि बाबूजी विजय गर्वसे बोले—"लो हो गया ऑपरेशन।" वे परम आनन्दसे र्ईमें मल्हम लपेटकर उसपर लगाते रहे। ऑपरेशन करते समय उनका मन बच्चा-जैसा खुश रहता है और बार-बार सबसे अपनी बड़ाई खूब करते हैं। चाहे कोई मान या न माने बाबूजी तो अपनेको एक कुशल डॉक्टर मान ही लेते हैं।

बाबूजी एक पक्के पाकशास्त्र मर्मज्ञ भी हैं। नित्य नवीन खाना बनाना उनकी हॉबी है। यह और बात है कि उस परम प्रयोगसे बने खाद्य पदार्थको कोई खा भी पाता है या नहीं। बाबूजीका कहना है कि तेरी माँ तो लकीरकी फकीर है। बस तयशुदा ढंगसे खाना बनाती हैं। इस सब्जीमें यही मसाला पड़ेगा और इसी तरीक़ेसे पकाया जायेगा। यह क्या बात हुई। उस तरह तो कलाकी चेतना ही मर जायेगी। बिना प्रयोगके भी कलाका विकास हो सकता है क्या? मगर उनके सभी 'एक्सपेरिमेण्ट' माँकी अनुपस्थितिमें ही सम्भव होते हैं। शुरू-शुरूमें चण्डीगढ़में यह बाधा नहीं थी। माँ अभी पहुँची ही नहीं थी। सो जब मैं पढ़ने जाती थी तो बाबूजी अतिशय वात्सल्यसे प्रेरित होकर, मुझे तकलीफ और परेशानियोंसे बचानेके लिए खाना खुद ही तैयार कर लेते थे। उस स्वादिष्ट एवं पौष्टिक भोजनके खाते समय मुझे लगता कि कॉलेजमें लौटकर दुगुना कष्ट उठा लेना ज्यादा अच्छा होता। हालाँकि बाबूजी स्वयं भी इसे नहीं खा पाते थे पर अजीब मुद्रा बनाकर बार-बार कहते— खाओ खाओ, देखो तो क्या बढ़िया बना है। हम किसी तरह हाँ हाँ करते करते पानीके साथ निगलते जाते। पर हमारी मुरव्वत भरी प्रशंसासे बाबूजीको और उत्साह आ जाता और वे हमारी खाली प्लेटें इस प्रयोगवादी खानेसे भर देते। इस परम स्वादिष्ट और अतीव पौष्टिक भोजनसे छुट्टी पानेके उद्देश्यसे मैं कॉलेज जानेके पहले ही कुकर चढ़ाने लगी। लेकिन जब मुझे फोड़ा हो गया तो बाबूजीका रास्ता फिर क्लियर हो गया। जिस दिन मेरा ऑपरेशन हुआ उस दिन मैं ज़रा देर तक सोयी रही। एकाएक खटर-पटरकी आवाज़से नींद खुल गयी। देखा—बाबूजी इधर उधर दौड़ रहे हैं। मैं हैरान थी कि यह क्या हो रहा है। तुरन्त ही बात साफ़ हो गयी। एक देगची स्टोवपर चढ़ी है और कुछ जल रहा है। मन डाटे उसे कपड़ेसे उतार कर रख दिया। थोड़ी देरमें बाबूजी तश्तरी लेकर आये। यह भाग-दौड़ उसीके लिए थी। बोले 'देखो आज तुम लोगोंके लिए पर बेनेकी यह 'पस्टकराब' पकौनी बनायी है कि बस हाँ। पर देगची थोड़ी छोटी थी और छलनी कम इसी

कारण वह अन्दर तक नहीं जा पा रही थी, पर कोई बात नहीं, पक गया है।" क्या बताऊँ उस अपूर्व व्यंजनका स्वाद। उस पकौड़ीकी पहली विशेषता यह थी कि उसमें स्वादोंका आर्केस्ट्रा बज रहा था यानी मिठाई, नमकीन, मिर्चाई और खटाईका सम्मिलित स्वाद, दूसरी विशेषता थी कि एक तरफ तो ये अद्भुत पकौड़ियाँ कच्ची थीं, दूसरी तरफ बिल्कुल जली हुई। सब मिलाकर ऐसा मधुर स्वाद था कि बस 'समुझि मन ही मन रहिए।"

इसी तरह बाबूजीका कहना है कि अँचारमें मसाला और तेल होना चाहिए फिर चाहे कंकड़-पत्थर, लोहा-लक्कड़ कुछ भी डाल दो स्वादिष्ट अँचार हो ही जायेगा। इसी बातपर एक दिन हमने बाबूजीके साथ एकमत होकर मँसोड़ और आमड़ा अँचार बनाया। इसमें कोई शक नहीं कि वास्तवमें वह बहुत स्वादिष्ट बना था। यह दूसरी बात है कि माँ बुरी तरह नाराज हुई थीं कि कितना सारा मसाला उसमें नष्ट किया गया और कितने तेलका सत्यानाश हो गया।

खैर, तेल चाहे कितना भी नष्ट हुआ हो पर मेरी समझमें कोई बहुत नुक-सान नहीं हुआ क्योंकि उस नुकसानकी पूर्ति बाबूजी कर ही देते हैं। वह ऐसे कि अपने बालोंमें तेल बाबूजी महीनों नहीं लगाते। पर जब भी भूले भटके कभी तेल लगाकर दाढ़ी बना लेते हैं (क्योंकि दाढ़ी भी जरा कम ही बनाते हैं) तो उस दिन खूब 'टनन मनन' होकर 'गुप्प' बन बैठे रहते हैं। ताकि सभी उन्हें आते-जाते देख लें और कहें कि वाह! वाह! क्सी दिव्य छटा है। माँ प्रायः गुस्सा करती हैं कि 'औरोंको देखिए सब लोग कैसे तरीकेसे रहते हैं। साफ कपड़ा पहनते हैं ढंगसे बाल बनाते हैं और एक आप हैं कि बस न कभी तेल लगाते हैं और न साफ कपड़ा ही पहनते हैं'। रोज रोजका कहना था कि एक दिन आखिरकार गुस्सा आ ही गया और बाबूजी भर भर पहुँचे हमारे कमरेमें। उन दिनों मेरी तबीयत ठीक न थी। मैं एक 'टॉनिक' लिया करती थी। बाबूजीने समझा कोई बढ़िया तेल है। सो पूरी हथेली भरकर चुपाड़ लिया सिरपर और खूब जोर जोरसे रगड़ने लगे। दवामें लस ज्यादा थी सो बाल चिटचिट चिटचिट करने लगा। बाबूजीने मुझसे कहा "दत्त तो तुलू यह तेल कैसा चिटचिट चिटचिट कर रहा है?" मैं बीमार थी फिर भी हँसी रोक न पायी। बोली—"यह तो दवा थी। टॉनिक।"

"क्या?"

बाबूजी अजब हैरानीसे बोले—"कम्बू तो आ रही थी पर मैंने सोचा कोई 'मॉडर्न आयल' होगा।" वे चुपचाप राम राम करते बाथरूममें घुस गये

और साबुन लगाकर खूब मल-मलकर नहाया। फिर उन्होंने देखा तो पासमें तेलकी शीशी दिख गयी। इस बार बड़े इत्मीनानसे उन्होंने तेल लगाया। उनके मनमें सन्तोष था कि बालका रूखापन भी चला जायगा और उस टॉनिक की गन्ध भी। परम सन्तोषके साथ तेल मालिश करते जब बाहर आये तो उन्हें लगा कि कहींसे फिनायलकी गन्ध आ रही है। काफी अन्वेषणके बाद पता चला कि यह गन्ध उनके सिरसे आ रही है और उन्होंने इस बार सुगन्धित तेल समझकर फिनायल लगा ली है। और फिर न पूछिए कि क्या हँसी हुई, आसमानसे गिरे तो खजूरपर अटके! दवाई धोकर फिनायल लगा ली।

खर ऐसी घटनाएँ प्राय होती ही रहती हैं पर उसके लिए कोई खाना या गाना तो नहीं छोड़ सकता न? कम लोगोंको पता है कि बाबूजीको गानेका भी शौक है। इसमें कोई फर्क नहीं पड़ता कि सभी गानोंका एक ही राग होता है। मतलब यह कि बाबूजी एक अच्छे संगीत निर्माता भी हैं। जिन रागोंको लेकर लोग बड़े-बड़े मान करते हैं, रियाज करते हैं वे सब बाबूजीके पास आकर परम प्रेमसे 'एकलय' हो जाते हैं। उसमें कोई भेदभाव या अलगाव नहीं रहता। वे रवीन्द्र संगीतसे लेकर संस्कृतके श्लोक और हिन्दीके गीत एक ही रागमें गा लेते हैं।

बगीचा लगानेमें भी बाबूजी निपुण हैं। हालांकि उससे फलकी आशा नहीं रखते, क्योंकि 'गीता' में ऐसा ही कुछ भगवान्ने कह दिया है। पर माँसे यहाँ भी बच नहीं सकते। किसी-न किसी बातपर मतभेद होता ही रहता है।

साहित्यिक जगतके लिए कदाचित् यह नया समाचार है कि 'बाबूजी' एक कुशल और निपुण चित्रकार भी हैं। यह दूसरी बात है कि वे चित्र औरोंके लिए बोधगम्य हों या न हों पर बाबूजी तो बनाते ही रहते हैं। भला कौन 'मॉडर्न आर्टिस्ट' चित्र बनाना सिर्फ इसीलिए बन्द करेगा कि हमें या आपको समझमें नहीं आता। सो, बाबूजी भी चित्र बनाते ही रहते हैं और सदा ही आधुनिकतम कलाकारोंसे चार कदम आगे रहते हैं।

इस तरह बाबूजी शल्य चिकित्सासे लेकर पाकविद्या संगीत-कला, चित्रकला, उद्यान-कला आदि विविध विषयोंमें मगन हैं। उनके बच्चे सब विषयोंमें उनके विश्वस्त सहायक रहते हैं और माँ सबकी कठोर समीक्षिका। बाबूजी निर्विकार भावसे अपनी कला-साधनामें लगे रहते हैं। पर हैं वे विशुद्ध अफलाकांक्षी ही।



श्री द्विवेदीजी
साहित्य-साधना और व्यक्तित्व

सीताराम सेकसरिया

श्री द्विवेदीजीका जितना भी सम्मान हम कर सकें वह कर्तव्य-जैसा लगता है। यों तो वे अपने साहित्य और विद्वत्ताके द्वारा सदा सम्मानित रहेंगे, पर हम लोग उनके ज्ञान-द्वारा लाभान्वित हुए हैं, तथा समाजको उनकी विद्वत्ताका, उनके साहित्यका, और मुझे ऐसा लगता है कि उनके व्यक्तित्वका भी जो लाभ मिला है उसमें समाजका यह एक साधारण कर्तव्य है कि वह कुछ अंशोंमें उस ऋणसे उऋण हो, उस व्यक्तिके प्रति अपनी श्रद्धा, सम्मान, कृतज्ञता आदि प्रकट करके।

द्विवेदीजीके साहित्यके सम्बन्धमें साहित्यकार लोग लिखेंगे, मैं अपनेको साहित्यपर लिखनेका अधिकारी नहीं मानता। पर उनके व्यक्तित्वकी जो छाप मेरे मनपर प्रथम दिन प्रथम मिलनके समय पड़ी वह स्थायी और बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह प्रथम दर्शन बादमें अपनापेमें परिणत हो गया।

सन् १९३४ में अपने विद्यालयकी लड़कियोंको लेकर श्री बनारसीदासजी चतुर्वेदीके साथ शान्तिनिकेतन गुरुदेवके दर्शन करने गया। अन्य बातोंके अलावा गुरुदेवने कहा कि "मैं हिन्दीका एक चेयर विश्वभारतीमें करना चाहता हूँ जिसके लिए मेरे पास हिन्दीका एक बहुत ही बड़ा विद्वान् है। उनके सम्मानके लायक वेतन मैं नहीं दे पाता। श्री शिवप्रसादजी गुप्त इस स्थानके लिए मुझे साठ रुपया देते थे। वह भी इस वर्षसे बन्द हो जायेगा। मेरे पास जो सज्जन हैं वैसा आदमी खोजनेपर भी नहीं मिल सकता। वे तो विश्वभारतीके भाग्यसे यहाँ आ गये हैं।" यह परिचय था गुरुदेवका श्री द्विवेदीजीके सम्बन्धमें। जब हिन्दी जगतने उन्हें नहीं पहचाना था और उनका साहित्य भी सामने नहीं आया था। गुरुदेवकी सूझ और उनका ज्ञान तथा सबसे अधिक उनके हृदयकी विशालता, जो मुग्ध होकर गुणोंका आदर कर सकती थी, उसका अनुभव तो नजदीक रहनेवाले ही कर सकते हैं। मैंने तो इसके पहले श्री द्विवेदीजीका नाम भी नहीं सुना था, मिलनेकी तो बात ही क्या। पर इस परिचय और प्रथम मिलनमें मनमें एक ऐसा

भाव पैदा हुआ कि वह एक प्रकारसे अमिट-सा है। मेरी लड़कीने, जो उस समय चौदह वर्षकी थी, कहा कि "बाबूजी, गुरुदेव हिंदीके लोगोंको कहाँ जानते होंगे, इसलिए इतनी प्रशंसा कर दी।" पर वास्तवमें हमलोगोंको ज्ञान नहीं था उस समय श्री द्विवेदीजीके बारेमें।

हजारीप्रसादजीने विश्वभारती और गुरुदेवकी जो सेवा की शायद उसका ही प्रभाव है कि वे इतने सफल साहित्यकार बन सके। विश्वभारतीमें हिंदी भवनकी स्थापना भी इन्हीं सब बातोंको लेकर हुई और द्विवेदीजीकी सेवा-द्वारा इस भवनकी सार्थकता प्रमाणित होती गयी।

इसके बाद शान्तिनिकेतन जानेका अवसर अनेक बार आया। गुरुदेवकी कृपाका एक अंश प्राप्त होता रहा। द्विवेदीजीके साथ रहने, उठने-बैठने और बातें करनेका सुयोग मिलता रहा। द्विवेदीजीके व्यक्तित्वकी अनेक बातें हैं जो उनकी सरलता और हृदयकी विशालताको प्रकट करती है। विश्वभारतीकी सेवा करते समय उनके भीतरका साहित्यकार बहुत ही उन्नत हुआ। गुरुदेवकी महानताका उनके जीवनपर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। उस समय शान्तिनिकेतनमें बहुत उन्नत कलाकारोंका पारस्परिक सहयोग था। जैसे, आचार्य क्षितिमोहन सेन, आचार्य नन्दलाल बसु, आचार्य गुरुदयाल मल्लिक, आचार्य विधुशेखर शास्त्री आदि बड़े बड़े विद्वान्-साधक-सन्त चिन्तक लोगोंके निकटतम सम्पर्कमें उनकी साहित्य-साधना उन्नत होती रही। सबसे बड़ी बात है साहित्यकारकी मानस साधना। साहित्यके द्वारा समाजका मंगल ही उसका सच्चा सृजन है।

ऊपर जिन आचार्योंके नामोंका उल्लेख मैंने किया है उनको मैंने देखा भी है। उनके जीवनकी सरलता, सादगी, अध्यवसाय और निरभिमानता ही उनकी कला थी। उनका व्यक्तित्व प्रभावित करता था। आचार्य द्विवेदीजीने इन सबका सत्संग प्राप्त किया, और गुरुदेव रवीन्द्रनाथकी कृपा प्राप्त की। मैं क्या लिखूँ। मैं ऐसे लोगोंको जानता हूँ जिन्होंने इन व्यक्तियोंके सान्निध्यसे एक ऐसी दृष्टि, जो सत्यकी साधना कही जाती है, प्राप्त की।

आचार्य द्विवेदीजीके साहित्यकारका ही नहीं उनके भीतरके मानवका विकास भी इसी वातावरणमें हुआ। उनका व्यक्तित्व मुझे बहुत प्रभावशाली लगा। कई मौकोंपर इन तीससे ज्यादा वर्षोंके सम्पर्कमें अनेक प्रसंग आते रहे हैं। तब मेरे मनमें उनके प्रति प्रीति ही नहीं, एक श्रद्धा जगी है और उनके व्यक्तित्वने मोह लिया है। मैं समझता हूँ ऐसा केवल मेरे साथ ही नहीं, उनके अनेक मित्र-सहयोगी साथी और बड़ी संख्यामें शिष्य-वर्गके साथ हुआ होगा। द्विवेदीजीके द्वारा हिन्दीकी सेवा दीर्घकाल तक होती रहे—यही प्रार्थना है।

आचार्य द्विवेदीके शब्दोंमें जब अपनेको भूल गया।

● ●
विवेकी राय

'धन्य हो आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी !' मैंने वास्तविक स्थितिका भान होनेपर श्रद्धासिक्त मुग्ध भावसे कुछ चौंककर कहा, पर वहाँ आचार्यजी कहाँ थे ? वे तो स्मृतिपर 'नाचै रे रूपम' छाये हुए थे। अलबत्ते एक बूढ़ा हँसिया लाठी और रस्सी लिये सामने आमके पेड़की जड़पर बैठा था। उसने समझा हमें ही कुछ कह रहे हैं।

"हमार नाव त जगजीवन ह। केके खोजत बानी बबुआ जी ?' बूढ़ेने हमारी ओर आँखें टाँगकर कहा।

मगर मैं क्या उत्तर देता ? उसे कैसे समझाता—एक और ही 'जगजीवन' के जादूमें मैं भूला बना हूँ। शायद उसने भी पीछेकी ओर हँसनेवाली औरतोंकी तरह हमें पागल ही समझा।

बात उन दिनोंकी है जब अभी केवल साहित्यका नाम भर जाना था और साहित्यका विद्यार्थी होने जा रहा था। ग्राम पिपरा (बलिया) में स्वाध्याय प्रेमी एक अध्यापक थे श्री वासुदेवसिंहजी। नयी-नयी पुस्तकोंकी खोजमें प्राय छुट्टियोंमें उनके यहाँ जाता। वहाँ खूब बैठकी जमती। कई और लोग आते। मुख्य चर्चाका विषय अध्यात्म था जिसके सिलसिलेमें अरविन्द, गान्धी, तुलसी और कबीर आदिपर चर्चा होती।

एक दिन श्री वासुदेवसिंहजीने कहा, "कबीरपर एक बहुत सुन्दर नयी पुस्तक आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीने लिखी है जो शान्तिनिकेतनमें प्राध्यापक हैं और बलिया जिलेके ही निवासी हैं।" उन्होंने फिर कहा, 'पुस्तक मैं पढ़ रहा हूँ और कबीरको समझनेके लिए इससे अच्छी कोई पुस्तक नहीं है। इसे पढ़कर ऐसा लगता है कि इसके पूर्व कबीरपर जो कुछ भी लिखा गया है वह कुछ नहीं लिखा गया है। लेखककी लेखनीमें जादू है। क्या जगदीश बाबू ?'

'अत्युत्कृष्ट लेखन' श्री जगदीश नारायण रायजी, जो उस समय एकमात्र

चीज़ अपनी हो जाती है।' 'कबीर' की महत्त्वपूर्ण पंक्तियों और अंशोंको किंतु मैंने रटा नहीं था। वास्तविकता यह थी कि वे स्वयं ही याद हो गये थे। आचार्य द्विवेदीकी शैलीका यह चमत्कार था। जो एक बार चित्तपर चढ़ा, फिसला नहीं। फिर वह एक भावुक अवस्था थी। एक गजबकी नशेवाली, उमंगवाली आयु थी।

मैंने चतुर्वेदीजीसे सगर्व कहा 'अब आप कबीरके बारेमें जो कुछ पूछिए बताऊँ। चाहे जुलाहा जातिके इतिहासके बारेमें, योग पद्धतिके बारेमें, चाहे कबीरके व्यक्तित्वके बारेमें कि मध्यकालमें ऐसे दुर्द्धर्ष व्यक्तित्ववाला कोई पैदा नहीं हुआ, एकदम [illegible], उग्र और बेपरवाह चाहे कबीरके रामके बारेमें अथवा उनकी उलटवाँसियोंके बारेमें।''

रातमें जमकर मेरा प्रवचन हुआ। मेरे मुखसे भर भर लच्छेदार विचारों तेजस्वी वाक्योंका निकलते देखकर चतुर्वेदीजी हक्का-बक्का हो गये। मैंने कहा, 'अब तो आप यह रहस्य जान ही गये होंगे कि किस सात-बरसमें इस प्रकार धाराप्रवाह बोलता हूँ?''

''हाँ, 'कबीर' को देखा है'' चतुर्वेदीजीने उत्तर दिया, 'मालूम होता है सारी पुस्तक कण्ठस्थ हो गयी है।'

मैंने कहा यह बात नहीं है, परन्तु अधिकांश स्थल मनपर छप गये हैं। समय गद्यकाव्य गद्यमें भी कविताकी तरह विचारोंका सुर अनुभूतियोंकी रमणीयता और व्यंजनाकी झनकार होती है। इसीलिए गद्य कवियोंकी कसौटी है। सूखी शब्दावलीमें प्राण पिरोना, अपने व्यक्तित्वको उसमें घोल देना और निर्जीव शब्दोंको सजीव बना देना ऐसी गद्य-कला है जो खींचती है और खींचती है तो चिपट जाती है। अनायास अपनी हो जाती है।

दूसरे दिन सुबह हम लोग पिपरा चले। जाड़ेका दिन था। गुलाबी धूप गदराये खेतोंपर फैली थी। हवामें सुखद ठण्डक थी। ''कुछ होता चले'—चतुर्वेदीजीने प्रस्ताव किया। मेरा प्रमोदोन्माद जग उठा—

'कहाँसे शुरू करूँ? अच्छा सुनिए कबीरका काव्य कविता करना उनका लक्ष्य नहीं था पर उनकी कवितामें ऊँची चीजें प्राप्त हैं।''

और मैं अब गाना और रुके बिनाके वाक्यमें नहीं बल्कि 'कबीर'के पन्नोंके बीचसे पढ़ रहा था कभी सरपट कभी फुदक-फुदककर और कभी रुककर। जब सचमुच रुकना तो पूछ लेता, 'कहिए ठीक है?'' मुझे स्वयं ऐसा लगने लगा कि बहुत बढ़िया बोल रहा हूँ। एकदम मस्त होकर बोल रहा हूँ। सब-कुछ भूल जाता हूँ। बाल-स्वभाव था, शायद यह गर्व भी उभरा कि चतुर्वेदीजीने

लिए तो मैं आचार्य द्विवेदी-जैसा ही हो गया! इस गर्वके परिणामस्वरूप मेरे बोलनेमें अभिनयात्मकता आ गयी। हाथ भाँज भाँजकर मैं ऐसे बोलता जैसे सच मुच दो चार हजारके मजमेमें मच मेरे हाथ है। मेरी इस दुर्बलताको चतुर्वेदीजी जान गये थे। अब इसे कुछ मनोरंजनके रूपमें लेने लगे थे। यद्यपि यह बात मुझे भी मालूम हो गयी तथापि मैं 'कबीर' पर अपने सिद्ध वक्तापनके विज्ञापनके इस अवसरको हाथसे जाने नहीं देना चाहता था।

याई था नहीं। रास्ता सुनसान था। आगे-आगे मैं और पीछे-पीछे चतुर्वेदीजी। पिपरा गाँव लगभग चार मील दूर है। जब आधी दूरी तय की जा चुकी तो मैं कबीरकी भाषापर 'बोल' रहा था—

'संस्कृत कूप जल्को छोड़कर उन्होंने भाषाके बहते नीरमें सरस्वतीको स्नान कराया। उनकी भाषामें बहुत सी बोलियोंका मिश्रण है, क्योंकि भाषा उनका लक्ष्य नहीं था। अनजानमें वे भावकी सृष्टि करते जाते थे।"

और जब बोलनेका सुर बँध गया तो मैं देश-कालसे ऊपर उठ गया। अब मैं था और आचार्य द्विवेदीसे उधार लिये गये कबीर थे। रास्तेमें जब कोई गैर आदमी मिलता तो हाथ मुँहकी मुद्राओंको कुछ संयमित कर लेता पर बोलना नहीं रुकता, क्योंकि श्रोता सदा मेरे पीछे-पीछे चुपचाप सुनता चला आ रहा था। कुछ दूर आगे चलकर ऐसा हुआ कि एक जगह रास्तेके किनारे कुछ औरतें घास काट रही थीं। जब मैं कुछ इधर ही था तभीसे वे मेरी ओर चौंक-चौंककर देखने लगीं। जब उनके पास आ गया तो वे हँसने लगीं और आपसमें एक-दूसरेकी ओर देखकर कुछ साँय-फूस करने लगीं। उनका इस प्रकार देखना हँसना और साँय फूस करना कुछ अजीब तरहका लगा। मैंने सोचा— गँवारिन हैं, क्या समझें? उस समय मैं बँधी मुट्ठियोंको हवामें भाँजकर बोल रहा था।

'कबीर भाषाके डिक्टेटर थे। भाषा जैसे उनके सामने लाचार-सी नजर आती है। उसमें हिम्मत नहीं कि इस मस्त फक्कड़की किसी फरमाइशको पूरा करनेसे इनकार कर दे। उसमें वे जो कुछ कहलवाना चाहते थे कहलवा लेते हैं। बन गया तो सीधे-सीधे नहीं तो दरेरकर।'

अन्तिम वाक्य कहते कहते मैंने हाथसे हवामें ही एक जबरदस्त दरेरा दिया और जब मेरी इस क्रियासे सामने आमके पेड़के ऊपर बैठे एक बूढ़ेकी आँखोंसे उसी कौतुक और हाथपर उसी हँसीका भान हुआ जो पीछे औरतोंमें देखा थी तो कुछ माथा ठनका। मैंने पीछे मुड़कर देखा।

'अरे? चतुर्वेदी??'

मेरे मुँहसे निकला और मैंने जाना कि अकेले पागलोंकी तरह हाथ भाँजते बक-बक करते मैं चला आ रहा हूँ और पीछे बहुत दूर एक जगह रास्तेपर ही चतुर्वेदीजी हँसते-हँसते लोट-पोट हैं।

बात यह हुई कि इस प्रकार अपने और श्रोताओंसे भी बेखबर होकर मुझे बोलते चलते देखकर चतुर्वेदीजीको मजाक सूझा और वे एक जगह रास्तेपर चुपचाप बैठकर सुरती मलने लगे। इधर मैं गफ्फुलहवास-सा अपना पाठ बोलता जैसे इस ब्रह्माण्डसे बेखबर प्रवचन चला आ रहा था। जब झटका लगा तो होश हुआ। अरे, मैं कबसे इस प्रकार बेहाल भाषण करता आ रहा था? अनायास हाथ जुड़ गये, सिर झुक गया और मैं बोल उठा—

'धन्य हो आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी!'

यह बात मेरी डायरीमें नोट है।



मरे बच्चेको गोदमें दबाये रहनेवाली बँदरिया मनुष्यका आदर्श नहीं बन सकती। परन्तु मैं ऐसा भी नहीं सोच सकता कि हम नयी अनुसन्धित्साके मोहमें चूर होकर अपना सरबस खो दें। कालिदासने कहा था कि सब पुराने अच्छे नहीं होते सब नये खराब ही नहीं होते। भले लोग दोनोंकी जाँच कर लेते हैं, जो हितकर होता है उसे ग्रहण करते हैं और मूढ़ लोग दूसरोंके इशारेपर भटकते रहते हैं।

— कल्पलता (पृ० ५)

जीवन-चित्र नखदर्पणमें

• •

हजारीप्रसाद द्विवेदी, (बचपनका नाम वैजनाथ द्विवेदी) श्रावण शुक्ल एकादशी सम्वत् १९६४ (१९०७ ई०) को जन्म। आरत दुबेका छपरा, ओझवलिया, बलिया, उत्तर प्रदेश। पिता श्री अनमोल द्विवेदी और माता श्रीमती ज्योतिष्मती। १९२७ ई० में श्रीमती भगवती देवीके साथ विवाह। सात पुत्र-पुत्रियां। संस्कृत महाविद्यालय काशीमें शिक्षा प्राप्त की। सन् १९२९ में संस्कृत साहित्यमें शास्त्री और १९३० में ज्योतिष विषय लेकर शास्त्राचार्यकी उपाधि पायी।

८ नवम्बर १९३० को हिन्दी शिक्षकके रूपमें शान्तिनिकेतनमें कार्यारम्भ। वहीं अध्यापन '३० से '५० तक। अभिनवभारती ग्रन्थमालाका सम्पादन, कलकत्ता १९४०–४६। बंगीय हिन्दी परिषद्‌में दो व्याख्यान सन् १९४० में तथा हिन्दी विद्यापीठ देवघर समावर्तन भाषण १९४० में ही। 'विश्वभारती' पत्रिकाका सम्पादन, (१९४१–४७)। अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलनके कराची अधिवेशन (१९४६) की साहित्य परिषद्‌के अध्यक्ष। अखिल भारतीय ओरिएण्टल कॉन्फ्रेन्स दरभंगा अधिवेशन (१९४८) के हिन्दी विभागके सभापति। हिन्दी भवन विश्वभारतीके संचालक १९४५–५० ई०। लखनऊ विश्वविद्यालयसे सम्मानार्थ डॉक्टर आव लिट्रेचरकी उपाधि १९४९ ई०में प्राप्त। सन् १९५० में काशी हिन्दू विश्वविद्यालयमें हिन्दी प्रोफेसर और हिन्दी विभागाध्यक्षके पदपर नियुक्ति। विश्वभारती विश्वविद्यालयकी एक्जीक्यूटिव काउन्सिलके सदस्य (१९५०–५३)। साहित्यके मर्मपर तीन व्याख्यान लखनऊ विश्वविद्यालयमें आयोजित १९५० ई० में। काशी नागरी प्रचारिणी सभाके अध्यक्ष (१९५२–५३)। बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटनामें हिन्दी साहित्यके आदिकालपर पांच व्याख्यान सन् १९५२ ई० में। प्रवासी बंग साहित्य सम्मेलनके पटना अधिवेशन (१९५२) के सम्पूर्ण भारतीय साहित्य विभागके सभापति। साहित्य

मेरे मुँहसे निकला और मैंने जाना कि अकेले पागलकी तरह हाथ भाँजते बक-बक करते मैं चला आ रहा हूँ और पीछे बहुत दूर एक जगह रास्तेपर ही चतुर्वेदीजी हँसते-हँसते लोट-पोट हैं।

बात यह हुई कि इस प्रकार अपने और श्रोताओंसे भी बेखबर होकर मुझे आगे चलते देखकर चतुर्वेदीजीको मजाक सूझा और वे एक जगह रास्तेपर चुपचाप बैठकर सुरती मलने लगे। इधर मैं ख्वाबुलहवास-सा अपना पाठ बोलता जैसे इस काण्डसे बेखबर पूर्ववत् चला आ रहा था। जब झटका लगा तो होश हुआ। अरे मैं कबसे इस प्रकार बेहोश भाषण करता आ रहा था? अनायास हाथ जुड़ गये, सिर झुक गया और मैं बोल उठा—

'धन्य हो आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी!'

यह बात मेरी डायरीमें नोट है।



मरे बच्चेको गलेमें दबाये रहनेवाली बँदरिया मनुष्यका आदर्श नहीं बन सकती। परन्तु मैं ऐसा भी नहीं सोच सकता कि हम नयी अनुसन्धित्साके नशेमें चूर होकर अपना सर्वस्व खो दें। कालिदासने कहा था कि सब पुराने अच्छे नहीं होते, सब नये खराब ही नहीं होते। भले लोग दोनोंकी जाँच कर लेते हैं, जो हितकर होता है उसे ग्रहण करते हैं और मूढ़ लोग दूसरोंके इशारेपर भटकते रहते हैं।

— कल्पलता (पृ० ५)

हजारीप्रसाद द्विवेदी, (बचपनका नाम बैजनाथ द्विवेदी) श्रावण शुक्ल एकादशी संवत् १९६४ (१९०७ ई०) को जन्म। आरत दुबेका छपरा, ओझवलिया, बलिया, उत्तर प्रदेश। पिता श्री अनमोल द्विवेदी और माता श्रीमती ज्योतिष्मती। १९२७ ई० में श्रीमती भगवती देवीके साथ विवाह। सात पुत्र-पुत्रियाँ। संस्कृत महाविद्यालय काशीमें शिक्षा प्राप्त की। सन् १९२९ में संस्कृत साहित्यमें शास्त्री और १९३० में ज्योतिष विषय लेकर शास्त्राचार्यकी उपाधि पायी।

८ नवम्बर १९३० को हिन्दी शिक्षकके रूपमें शान्तिनिकेतनमें कार्यारम्भ। वहीं अध्यापन '३० से '५० तक। अभिनवभारती ग्रन्थमालाका सम्पादन, कलकत्ता १९४०–४६। बंगीय हिन्दी परिषद्का सन् १९४० में तथा हिन्दी विद्यापीठ देवघर समावर्तन भाषण १९४० में ही। 'विश्वभारती' पत्रिकाका सम्पादन, (१९४१–४७)। अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलनके कराची अधिवेशन (१९४७) की साहित्य परिषद्के अध्यक्ष। अखिल भारतीय ओरिएण्टल कान्फ्रेन्सके अधिवेशन (१९४८) के हिन्दी विभागके सभापति। हिन्दी भवन विश्वभारतीके संचालक १९४५–५० ई०। सम्मानार्थ डॉक्टर आव लिट्रेचरकी उपाधि लखनऊ विश्वविद्यालयसे १९४९ ई०में प्राप्त। सन् १९५० में काशी हिन्दू विश्वविद्यालयमें हिन्दी प्रोफेसर और हिन्दी विभागाध्यक्षके पदपर नियुक्ति। विश्वभारती विश्वविद्यालयकी एक्जीक्यूटिव काउन्सिलके सदस्य (१९५०–५३)। साहित्यके मर्मपर तीन व्याख्यान लखनऊ विश्वविद्यालयमें आयोजित १९५० ई० में। काशी नागरी प्रचारिणी सभाके अध्यक्ष (१९५२–५३)। बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटनामें हिन्दी साहित्यके आदिकालपर पाँच व्याख्यान सन् १९५२ ई० में। प्रवासी बंग साहित्य सम्मेलनके पटना अधिवेशन (१९५२) के सम्पूर्ण भारतीय साहित्य विभागके सभापति। राष्ट्रिय

अकादमी दिल्लीकी साधारण सभा और प्रबन्ध समिति तथा हिन्दुस्तानी एकेडेमी इलाहाबाद और अनेक विश्वविद्यालयीय एकेडमी काउन्सिलोंके सदस्य। नागरी प्रचारिणी सभा काशीके हस्तलेखोंकी खोज (१९५२) तथा साहित्य अकादेमीसे प्रकाशित नेशनल बिब्लियोग्रफी (१९५४) के निरीक्षक। रवीन्द्र भारती, वाराणसी (१९५३) तथा अखिल भारतीय-हिन्दी परिषद् (१९५५) के अध्यक्ष। राजभाषा आयोगके राष्ट्रपति मनोनीत सदस्य (१९५५)। अलीगढ़ विश्वविद्यालयमें कबीरपर व्याख्यान सन् १९५५ में। १९५७ में राष्ट्रपति-द्वारा 'पद्मभूषण' उपाधिसे सम्मानित। १९६०-६७ पंजाब विश्वविद्यालय चण्डीगढ़में हिन्दी प्रोफेसर और विभागाध्यक्ष। सम्प्रति वहीं टैगोर प्रोफेसरके रूपमें कार्यरत। सन् १९६२ में साहित्य अकादेमी-द्वारा टैगोर पुरस्कार।

रचनाएँ

सूरसाहित्य [इन्दौर हिन्दी साहित्य समिति द्वारा स्वर्ण पदकसे सम्मानित १९४० ई०], हिन्दी साहित्यकी भूमिका, कबीर [१९४७ ई० में हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा मंगलाप्रसाद पुरस्कार] प्राचीन भारतका कला-विलास [प्राचीन भारतके कलात्मक विनोद नामसे प्रकाशित], नाथ सम्प्रदाय (उत्तर प्रदेश सरकार-द्वारा पुरस्कृत) बाणभट्टकी आत्मकथा (काशी नागरी प्रचारिणी सभा-द्वारा द्विवेदी स्वर्णपदकसे सम्मानित) अशोकके फूल, विचार और वितर्क, कल्पलता, हिन्दी साहित्यका आदिकाल, हिन्दी साहित्य: उद्भव और विकास (उ० प्र० पुरस्कार) मध्यकालीन धर्म-साधना, साहित्यका साथी (साहित्यसहचर नामसे परिवर्धित प्रकाशित), साहित्यका मर्म, विचार प्रवाह, संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो, सन्देशरासक (सह सम्पादन) कालिदासकी लालित्य योजना, भारतीय नाट्य परम्परा, मृत्युंजय रवीन्द्र, चारुचन्द्रलेख, मेघदूत: एक पुरानी कहानी, नाथसिद्धोंकी बानियाँ, कुटज, प्रबन्ध चिन्तामणि (हिन्दी अनुवाद) प्रबन्ध कोश और पुरातन प्रबन्ध संग्रह (जैन संस्कृत कथाओंका अनुवाद, अप्रकाशित), रवीन्द्रकी अनेक बंगला कृतियोंके अनुवाद। लालित्य तत्त्व तथा पुनर्नवा (अप्रकाशित)।



इतिहास-दर्शन

*

द्विवेदीजीने स्पष्टतः विधेयवादी इतिहास-परम्परासे भिन्न प्रतिष्ठा की है। वे साहित्यकी विभिन्न प्रवृत्तियों और उनके मूल और वास्तविक स्वरूपका स्पष्ट परिचय देना ही अपना लक्ष्य घोषित करते हैं। वे अटकलबाजियों और अप्रासंगिक विवेचनाओं तथा नाम गिनानेकी प्रवृत्तिसे बचनेको भी आवश्यक समझते हैं यद्यपि यथावधि शोध-सामग्रीके परिणाम समाविष्ट करनेकी आवश्यकता मानते हैं। इस प्रकार द्विवेदीजी अन्यान्य शुक्लोत्तर साहित्येतिहासकारोंकी तुलनामें हिन्दीमें पहली बार —कदाचित् समस्त भारतीय भाषाओंमें सबसे पहले— आचार्य शुक्लके द्वारा प्रवर्तित विधेयवादी साहित्येतिहाससे भिन्न साहित्यिक साहित्येतिहास लिखनेके प्रथम अधिकारी सिद्ध होते हैं। साहित्यिक प्रवृत्तियों और परम्पराओंकी उद्गम मीमांसा उनकी इसकी पहली गृहीत प्रणाली रही है।

— नलिनविलोचन शर्मा

[साहित्यका इतिहास-दर्शन, पृ० ६४

इतिहास-लेखन और आचार्य द्विवेदी

रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव

इतिहास-लेखन : सिद्धान्त और स्वरूप

साहित्यका इतिहास-लेखक ज्ञान विज्ञानके अन्य क्षेत्रोंमें लिखनेवाले इतिहासकारों की भाँति ही एक इतिहासकार होता है। अन्तर है तो केवल इतना कि साहित्यका इतिहास-लेखक साहित्यिक कृतियोंके माध्यमसे उपलब्ध मानव जीवनके इतिहासको अपना मूलभूत लक्ष्य मानता है जब कि अन्य क्षेत्रोंके इतिहासकार अपनी विशिष्ट विषय परिधि—चित्रकला, मूर्तिकला, वाणिज्य, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, राजनीति शास्त्र इत्यादि—में अभिव्यक्त मानवजीवनके विकासको अपना आधार बनाते हैं। यही कारण है कि साहित्यका इतिहास-लेखक भी अन्य इतिहासकारोंकी भाँति पहले इतिहासकार है और बादमें साहित्यका आलोचक, भाषाविद अथवा पाठालोचक। ध्यान देनेकी बात है कि साहित्यका इतिहास, साहित्यका आलोचना-सिद्धान्त नहीं, न वह पाठालोचन (Textual criticism) है और न ही वह भाषाका इतिहास ही है। साहित्यका इतिहास-लेखक अपने लेखनके समय इनकी सहायता लेता है और एक तरहसे देखें तो बिना इस मददके वह अपने दायित्वका सही अर्थोंमें निर्वाह करनेमें असमर्थ रहता है। जबतक कृतियों का सही मूल्यांकन न हो जाये, उसमें अभिव्यक्त मानव जीवनका सही निरूपण सामने न आ जाये और उसकी साहित्यिक विशिष्टताओंपर समुचित प्रकाश न पड़ जाये, साहित्यका इतिहास लिखना ही सम्भव नहीं। इसी प्रकार रचनाओं के पाठोंकी प्रामाणिकता जबतक सिद्ध न हो जाये अथवा कृतियोंमें प्राप्त ऐतिहासिक सन्दर्भोंका समुचित निरूपण सामने न आ जाये प्रामाणिक और निर्विवाद इतिहास लिखा ही नहीं जा सकता। जिस भाषाके माध्यमसे साहित्यिक कृतियाँ अपना अभिव्यक्ति पाती हैं, उस भाषाका स्वर अपना इतिहास साहित्यके इतिहासके साथ जुड़ा होता है, अत जबतक भाषा और उसके इतिहासका ज्ञान न मिल जाये साहित्यका इतिहास-लेखन अपना ठोस आधार

बना ही नहीं सकता।

अतः साहित्यिक इतिहास-लेखनकी दो आवश्यक शर्तें-सी हैं। जबतक ये शर्तें पूरी नहीं हो जातीं, इतिहासका सही रूप सामने नहीं आ सकता। पहली शर्त है कि इसके पूर्व कि किसी साहित्य विशेषका इतिहास लिखा जाये—उस साहित्यमें उपलब्ध कृतियोंका विश्लेषण, उसके पाठोंका वैज्ञानिक परीक्षण और उस भाषाका, जिसमें साहित्य लिखा गया है, भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन सम्पन्न हो चुका हो। अगर यह काम पहले ही सम्पादित नहीं हो चुका है तो निश्चित ही इतिहासकार गलत स्थानपर, गलत ढगसे, गलत विषयपर बल देगा और तब इस गलती के लिए इतिहासकारको दोषी ठहराना या उसके इतिहासमें अविच्छिन्न धारा प्रवाहके अभावके लिए उसकी आलोचना करना सर्वथा अनुचित होगा। (आचार्य शुक्लके इतिहासकी समीक्षा करते समय आलोचक प्रायः इस तथ्यको भूल जाते हैं।) दूसरी शर्त है कि स्वयं इतिहासकारको साहित्य-शास्त्र, पाठालोचन और भाषा विज्ञानका समुचित ज्ञान होना चाहिए। अगर वह इनमें दीक्षित न हो तो अपना निर्णय लेनेमें वह न तो स्वतन्त्र रह पायेगा और न दुनियाको उचित सन्दर्भमें समझानेमें सफल ही हो पायेगा।

स्पष्ट है साहित्यका इतिहासकार, अन्य इतिहासकारोंकी भाँति एक विशिष्ट कार्य-क्षेत्र (इतिहास) का सदस्य होनेके बावजूद साहित्य शास्त्र, पाठालोचन और भाषा विज्ञानसे अपनेको असम्बद्ध रखकर अपने दायित्वका निर्वाह नहीं कर सकता। और यहींपर उसे एक बहुत बड़े खतरेसे अपनेको बचानेकी आवश्यकता पड़ती है। अपने कार्य-क्षेत्रकी सीमाका निर्धारित करते समय बहुत सम्भव है कि वह साहित्य और सामान्य संस्कृति, पाठालोचन और काव्य विभाजन, वैज्ञानिक आलोचक और सृजनात्मक साहित्यकार आदिकी विभाजक रेखाओंको अन्त तक पकड़नेमें सफल न हो पाये। यह ठीक है कि यह विभाजक रेखा स्वयमें पूर्ण रूपसे पूर्ण निर्धारित नहीं रहती और कहीं-कहीं तो वे एक दूसरेको इस प्रकार काटती आगे बढ़ती हैं कि उनकी अलग प्रकृति पहचान सकना नहीं आती। फिर भी जब इतिहास-लेखक एक बार अपनी शक्तिको पहचानकर कार्य-क्षेत्रकी सीमाका निर्धारण कर लेता है, यह विभाजन रेखा भी स्पष्ट-स्पष्टतर होता चलती है। भय रहता है तो केवल इस बातका कि कहीं साहित्य सिद्धान्त, पाठालोचन अथवा भाषा विज्ञानका उसका पक्ष पाण्डित्यका रूप न ले ले। सच तो यह कि उसका यह पाण्डित्य पक्ष सबल होकर बावजूद इतिहास-लेखनके समग्र मूल प्रवृत्तिके सन्दर्भमें जितना ही दबा रहे, उतना ही सफल इतिहासकी सृष्टि सम्भव है।

मूल प्रश्न यह है कि इतिहासका अपना कार्य-क्षेत्र क्या है? इतिहास-लेखन की कार्य सिद्धि कौन-सी है? क्या इतिहासकार तथ्योंका कालक्रमानुसार मात्र संकलन करता है अथवा उसका कार्य इन तथ्योंके विवरणके साथ उसकी व्याख्या भी है? और अगर व्याख्या उसकी कार्य-सिद्धिकी सीमाके भीतर है तब उसका आधार क्या है? क्या यह आधार व्यक्तिपरक है अथवा वह वस्तु-परक भी हो सकता है? क्या इतिहास-लेखन स्वयंमें एक कार्य-पद्धति (method) की माँग करता है अथवा भावपरक होनेके कारण वह केवल कल्पना रंजित कथा-संकलन है? साहित्यके इतिहासके कार्य-क्षेत्रको उचित सन्दर्भमें समझनेके लिए इन प्रश्नोंका पहले उत्तर पाना आवश्यक है।

इसमें सन्देह नहीं कि सम्प्रति विचारधारासे मनुष्य सदा प्रभावित होता रहा है। यही कारण है कि जब कभी भी मनुष्यने कालका परदा उठाकर विगत जीवनकी झाँकी लेनेका प्रयास किया वह निष्पक्षता एवं तटस्थताका निभा नहीं पाया, पिछली घटनाओंकी जब कभी आलोचना प्रत्यालोचनामें वह प्रयत्नरत हुआ, उस समय उसने अपने ही युगकी मान्यताके उपयोगको उचित समझा। इसलिए क्रोचेका मत है कि प्रत्येक इतिहास वस्तुतः सामसामयिक इतिहास होता है और क्रमिकके अनुसार इतिहासकार अपने युगके इतिहासको छोड़कर अन्य किसी युगका इतिहास लिखता ही नहीं। कॉलिंगउडका कथन है कि इतिहासका अध्येता स्वयं इतिहासकार होता है अतः इतिहास, इतिहासकारके स्वयंके दृष्टि विशेष-द्वारा मनन की गयी विगत घटनाओंकी अभिव्यक्तिके अतिरिक्त और कुछ नहीं है (Speculum Mentis, p 236)।

यह सत्य है कि इतिहास किसी आँखों-देखी घटनाका वर्णन नहीं होता। इतिहासकारको तो सकल मात्र रत हुए अन्तराशेष कतिपय तत्सम्बन्धी लिखित वृत्तान्त एवं स्फुट आख्यानोंका ही सहारा मिलता है। इन सूत्रोंसे पर्याप्त 'क्या हुआ'का तो ज्ञान प्राप्त हो जाता है पर वह घटना 'क्यों हुई', उसका उत्तर उस नहीं मिलता। अतः इतिहासकारका कार्य केवल वस्तुओंका देखनामात्र ही नहीं है अपितु उनके लिए वस्तुओंके 'पार जाना' भी आवश्यक है, जो कॉलिंगउडके मतानुसार पूर्वकल्पित कल्पनाके अभावमें सम्भव नहीं (Idea of history p 214)। साहित्यिक इतिहासमें इस कल्पनाका योगदान और भी महत्त्वपूर्ण हो उठता है। इतिहास-लेखनका एक कार्य प्रणाली (method) के रूपमें स्वीकार करनेके बाद, अविच्छिन्न भाग प्रवाह और कारणम्यताके अतिरिक्त जिस तत्त्वपर विलियम क० विम्सट और कर्नीय ब्रुक्स अधिक बल देते हैं वह है इतिहासकारकी दृष्टि विशेष। साहित्यका इतिहास उनके अनुसार बिना

किसी दृष्टिकोण विशेषके लिखा हा नही जा सकता। तटस्थ और वज्ञानिक दृष्टिकोणके आधारपर लिखा गया इतिहास, इतिहासके समवा सही अर्थोंमें निर्वाह हीं नहीं कर पाता (Literary criticism—A short history Indian Ed p ५ii)

ध्यान देनेकी बात है कि घटनाओंके पार जानेकी प्रक्रियामें कल्पना तत्वकी महत्ताको तो स्वीकार किया गया पर उस कल्पनाके स्वरूपकी कोई निश्चित आधारभूमि ढूँढनेका इन इतिहासकारोंने कोई प्रयत्न नहीं किया। परिणाम भी स्पष्ट है। प्रत्येक इतिहासकार घटनाओंको मनोवाछित दृष्टिसे देखनेका प्रयास करने लगा। फल यह हुआ कि एक ही घटना विभिन्न एकागी दृष्टिकोणोंसे देखनेके कारण एक उलझन सी बनकर रह गयी। वैज्ञानिक दृष्टिके अभावमें घटनाओंका सम्यक विवेचन नहीं हो सका। सबसे पहले द्वन्द्वात्मक प्रणालीके आधारपर ऐतिहासिक आलोचना पद्धतिने इन भ्रान्तियोंका निराकरण करते हुए कल्पनाका वास्तविक आधार ढूँढकर इतिहासको उसकी वास्तविकतामें देखनेका प्रयास किया। इसने भी इतिहासको 'व्याख्या' (Interpretation) के रूपमें स्वीकार किया और व्याख्याके लिए कल्पना-तत्त्वको उसका आवश्यक अंग माना पर कल्पनाके आधारको आजकी मान्य विचारधारामें न ढूँढकर, तत्कालीन सामाजिक अन्तर्गतियोंमें खोजनेका उसने प्रयास किया। इस प्रकार उसने इतिहास-लेखनको एक 'मेथड' के रूपमें अपनाया और उस 'मेथड'को वैज्ञानिकताके स्तरपर प्रतिपादित किया।

डॉ० इन्दलाल चटर्जीने अपने लेख—'इतिहासकी व्याख्या क्या हो मानव और दयानीके दृष्टिकोण' (अमृत बाजार पत्रिका २० मई १९५६) में यह दिखानेका प्रयास किया है कि सर चार्ल्स फर्थ आदि इतिहास लेखकोंने ऐतिहासिक आलोचना-पद्धतिके पहले ही इस सिद्धान्तका प्रतिपादन किया था कि इतिहासका उचित अध्ययन सामाजिक दृष्टिकोणसे ही होना सम्भव है क्योंकि इतिहास मूलरूपमें मानव-समाजके प्रवाहकी कथाके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। पर सच तो यह कि मानव-समाजके प्रवाहकी गतिका वह स्रोत कहाँ है जो समाजकी धाराको निरन्तर प्रवहमान बनानेमें समर्थ है—इसका फर्थ आदि विद्वान् अनुसन्धान नहीं कर सके। ऐतिहासिक आलोचना-पद्धतिने आज तकके इतिहास लेखनमें आनेवाली इन प्रमुख कमजोरियोंका निराकरण किया। पूर्ववर्ती इतिहासकारोंकी भाँति मनुष्यकी सामान्य प्रवृत्तियों एवं उद्देश्योंको ही किसी घटनाका मूल कारण न समझकर, उसने इन प्रवृत्तियों एवं उद्देश्योंके पीछे काम करनेवाले मूलस्रोतकी व्याख्याको अपना लक्ष्य बनाया। साथ ही,

इतिहासके निर्माणका श्रेय कुछेक व्यक्तियोंको उसने नहीं दिया वरन उसने सामाजिक व्यवस्था एवं तत्कालीन असंगतियोंका परिवर्तनके मूल कारणके रूपमें स्वीकार किया।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद यह बतलाता है कि विकासके प्रवाहमें एक समय ऐसा आता है जब वस्तु, भाव आदि विभिन्न सत्ताओंमें साम्यावस्था रहती है। यह वाद (थीसिस) की अवस्था है। कालान्तरमें इसके गर्भसे स्वयमेव आन्तरिक असंगतियाँ उत्पन्न हो उठती हैं जो अपनी पूर्वस्थितिके विरोधमें फलती-फूलती जाती हैं। असंगतियोंके इस विकासकी चरम-परिणतिको प्रतिवाद (ऐण्टीथीसिस) की संज्ञासे बोधित किया जाता है। जिस प्रकार अपने उत्ससे निकली सरिता पहले एक पतली रेखाके समान रहती है, पर आगे चलकर नदीके विस्तृत पाटका निर्माण कर लेती है उसी प्रकार ये असंगतियाँ भी समयके प्रवाहमें विकसित एवं विस्तृत होती रहती हैं। मात्रामें निरन्तर वृद्धि होते रहनेके कारण एक स्थिति ऐसी भी आती है जब वस्तुमें अचानक (*By leaps, catastrophe revolution*) गुणात्मक परिवर्तन होने लगता है उसी प्रकार जैसे जलके तापक्रमके बढ़ाने या घटानेसे वह वाष्प अथवा हिमखण्डके रूपमें अचानक परिवर्तित हो उठता है। वाद प्रतिवादके संघर्षसे आविर्भूत इस नूतन साम्यावस्थाको ही समन्वयवाद (सिन्थीसिस) कहते हैं। इस नव निर्मित साम्यावस्थाके गर्भसे भी कालान्तरमें नवीन असंगतियाँ उत्पन्न होने लगती हैं और इस क्रमकी निरन्तर आवृत्ति होती है।

इस विकासकी रेखाका स्वरूप वृत्ताकार परिक्रमाके रूपमें न होकर घुमावदार सीढ़ियों (spiral) की भाँति होता है। जब कोई वस्तु अपने विकास क्रममें पुनः पूर्वस्थितिपर पहुँचती है तो सम प्रतीत होनेवाली इन दो अवस्थाओंकी गत्यात्मक शक्ति (frequency) में अन्तर होता है। बादकी आवृत्ति पूर्ववर्त्तीकी तुलनामें अधिक शक्तिमान एवं ऊर्ध्वगामी होती है तथा विकासगत स्तरमें एक सीढ़ी ऊपर होती है। संस्कृति एवं सभ्यताके विकासमें भी इस प्रक्रियाको अच्छी तरहसे देखा जा सकता है।

यह बात ध्यान देनेकी है कि उत्तराधिकारके रूपमें प्राप्त सामाजिक व्यवस्था अपने पूर्वकी स्थितिसे भिन्न होते हुए भी उसकी ऋणी रहती है। अपने पूर्वकी व्यवस्थाको अपने बृहत्तर रूपमें अन्तर्भुक्त कर ही वह विकासकी अगली सीढ़ीपर अपना पग रखती है। पूर्वकी व्यवस्थाको तिलांजलि देकर नहीं अपितु उसे अपने नवीन रूपमें समाहित कर ही आनेवाली व्यवस्था अपनेको सम्यक् बनाती है। इसलिए इतिहासमें एक सुसम्बद्धता दिखलाई पड़ता है साहित्य

संस्कृति, सभ्यता एवं अन्याय विचारोंमें विशेषमें एकसूत्रता मिलती है। साहित्यके इतिहासके अध्ययनमें एकसूत्रताका निर्वाह एवं निदर्शन इसी रूपमें करना समीचीन होगा। कालका प्रत्येक वर्तमान बिन्दु अपने ऊपर भूत और भविष्य दोनोंका आतंरिक दबाव महसूस करता है और आलोचकके लिए जितना आवश्यक वर्तमान बिन्दुको पकड़ना है उतना ही इतिहासकारके लिए भूत और भविष्यके इस दबावको महसूस करना है। इसीलिए ट्रेवल्यनने अपनी पुस्तक 'इंग्लैण्डका सामाजिक इतिहास' की भूमिकामें स्पष्ट शब्दोंमें लिखा है कि किसी युगकी सच्ची तसवीर पानेके लिए आवश्यक है कि पुराने और नये—दोनों ही प्रकारके तत्त्वोंको अपने मस्तिष्कके सामने रखा जाय। अन्यथा होता यह है कि इतिहासकार नये तत्त्वोंको तो इतिहास-लेखनके समय अपने सामने रखता है पर चले आते पुराने तत्त्वों एवं उनके दबावको भुला करता है (see, Ed, 1946 p ५)।

समाजका इतिहास चाहे उसका रूप राजनैतिक आर्थिक, सामाजिक अथवा सांस्कृतिक हो, साहित्यके इतिहास-लेखनके लिए साधन रूपमें ही अपनाया जा सकता है। उसपर अधिक बल देना अथवा साहित्यके इतिहासके समानान्तर रखकर अपनी विवेचना प्रस्तुत करना वस्तुतः साहित्यके इतिहास-लेखनकी स्वस्थ दृष्टिसे अलग हटना है। यह पहले संकेत किया जा चुका है कि साहित्यका इतिहास लिखकर उस मनुष्यका इतिहास प्रस्तुत करता है जो साहित्यिक कृतियोंमें अपनी अभिव्यक्ति पा चुका रहता है। सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक अथवा सांस्कृतिक इतिहासका ज्ञान वस्तुतः साहित्यमें अभिव्यक्त इसी मनुष्यको उसके सही रूपमें समझनेके लिए आवश्यक है। साहित्यका इतिहास लेखक भी मनुष्य का ही इतिहास प्रस्तुत करता है पर वह उस मनुष्यको अपने लेखनका केन्द्र बनाता है जो साहित्यके द्वारा समाजके सामने अपना रूप प्रकट करता है और अगर इतिहासकार साहित्येतर विषयोंकी ओर मुड़ता है तो मात्र इसलिए कि वह उस मनुष्यको उसकी पूर्णतामें समग्र सब जिसके जटिल एवं संश्लिष्ट रूप को मात्र साहित्यिक रचनाओं द्वारा समझना प्रायः उसे असम्भव-सा प्रतीत होता है।

प्रायः इतिहास-लेखक यह भूल जाता है कि इतिहास स्वयमें एक प्रक्रिया है, मात्र तथ्योंका कालक्रमानुसार संयोजन नहीं। इतिहासको प्रक्रियाके रूपमें स्वीकार करनेका अर्थ है कि तथ्योंको 'घटनाके' रूपमें मानना जो कभी घटित हुआ था न कि जो कभी था। अतः इतिहासका सम्बन्ध वस्तुओं अथवा तथ्योंके काल-क्रम अथवा क्रमानुसार सूची अंकनमें उतना नहीं रहता जितना मानव

समाजकी उस विचारधारासे होता है जिससे सम्बद्ध होकर तथ्य अथवा वस्तु, अपने में एक 'घटना' (Event) बन जाती है। अत प्रत्येक साहित्यिक कृति साहित्य के इतिहास-लेखकके सामने एक जीवन्त संघटना (Living Structure) के रूपमें आती है जिसका उसके रचयिताने एक निश्चित समय और एक निश्चित स्थानपर अपने अनुभवोंके आधारपर सृजन किया और जिसके रूप एव वस्तु-पक्ष को निर्धारित करनेमें वह वातावरण निर्णायक-शक्तिके रूपमें काम करता रहा है जिसमें रचयिताने सांस ली थी। और जैसा रावट इ० स्पिलरने व्यक्त किया है कि प्रत्येक साहित्यिक कृति, एक जीवित संघटना इसलिए है कि उसमें कृतिकार-के व्यक्तित्व और उसके युगके वातावरणका क्रियात्मक योग तो है ही, पर इस व्यक्तित्व एव वातावरणके बावजूद स्वयं कृतिका भी अपना व्यक्तित्व एव वातावरण होता है। साहित्यके इतिहास-लेखककी मूल-दृष्टि कृतिके व्यक्तित्व एव वातावरणपर केन्द्रित रहती है, पर इसको समझनेके लिए उस ताने-बानेकी समझना आवश्यक होता है जिससे वह निर्मित होता है और निश्चय ही यह ताना-बाना कृतिकारका व्यक्तित्व और उसके युगका वातावरण होता है।[1]

स्पष्ट है इतिहास, अपने स्वरूपमें एक प्रक्रिया है, और इतिहासकार तथ्योंको यथातथ्य रूपमें न देखकर उन्हें एक घटना (Event) के रूपमें स्वीकार करता है पर यह भी निश्चित है कि इतिहास-लेखनके समय इतिहासकार इन घटनाओंको एक उचित सन्दर्भ (perspective) देनेके लिए भी बाध्य रहता है। इतिहासकार द्वारा दिये जानेवाले सन्दर्भ (perspective) और इतिहासकी वस्तु-सामग्री रूपमें प्राप्त घटनाओं (Events) के बीचके सम्बन्धपर पहले संकेत किया जा चुका है। यहाँ केवल यह जान लेना पर्याप्त होगा कि सन्दर्भ देनेके लिए इतिहासकारको अपनी कल्पनाको मर्यादित करना पड़ता है क्योंकि उसके अभावमें, व्यक्तिगत कल्पना-तत्त्वका, घटनाओंके सन्दर्भमें वस्तुगत (Objective) वर्णनात्मक विश्लेषण सम्भव है।

यहाँपर इस ओर भी संकेत कर देना उचित होगा कि साहित्यिक इतिहास शास्त्र दो पक्ष है जो आपसमें सम्बद्ध होकर भी अपनी कार्य प्रणालीमें एक-दूसरे-से सर्वथा अलग रहते हैं। साहित्यका इतिहासकार जब इतिहासके शोधकर्ताके रूपमें काम करता है उसका लक्ष्य 'तथ्यों'का सकलन और उनका परीक्षण-मात्र होता है। ज्यतक उसका कार्य-क्षेत्र एक शोधकर्ताकी दृष्टिसे इतिहासकी

1 Literary History in the Aims and Methods of scholarship in modern languages & literatures Ed by James—Thorpe New York—1963 p 43 55

सामग्रीके अनुसन्धान तक सीमित रहता है उसकी कार्य प्रणाली 'वैज्ञानिक' रहती है और वह एक निश्चित 'मेथड' को अपनाता दिखलाई पड़ता है। उसका दूसरा पक्ष है 'घटना के रूपमें तथ्योंकी व्याख्या करना और घटनाओंका उचित सन्दर्भ प्रदान करना। इतिहास लेखकको इस रूपमें वह साहित्यकारका धर्म धारण करता है और इस अर्थमें साहित्यका इतिहास-लेखक साहित्यकारकी कोटिमें आ पहुँचता है।

इतिहास-लेखनकी सिद्धान्त चर्चाके सन्दर्भमें आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीके इतिहास विषयक दृष्टिकोण एवं हिन्दी साहित्यके इतिहास-लेखनकी परम्परामें उनके अपने योगदानका अभीतक सही आकलन नहीं हो पाया है। उनके इस ऐतिहासिक योगदानको ठीकसे समझनेके लिए यह जरूरी है कि हम संक्षेपमें उस परम्परापर विचार कर लें जो उनकी 'हिन्दी साहित्यकी भूमिका' के पूर्व हिन्दी साहित्यके इतिहास लेखनके रूपमें देखनेको मिलती है।

द्विवेदी-पूर्व हिन्दी साहित्यका इतिहास

हिन्दी साहित्यके इतिहासके नामपर उपलब्ध ग्रन्थोंकी रचना-पद्धतिके क्रमिक विकासके अनुशीलनसे स्पष्ट हो जाता है कि १९४० तक आते-आते हिन्दी साहित्य का इतिहास उस पृष्ठभूमिका निर्माण कर चुका था जिसके आधारपर साहित्य का इतिहासपरक दृष्टिकोण अपने स्वरूपको स्थिर करनेमें सफल हो सका।

कहनेके लिए आ० रामचन्द्र शुक्लके 'हिन्दी साहित्यका इतिहास'के पूर्व भी इतिहास-ग्रन्थ* लिखे गये थे, पर सच्चे अर्थोंमें उन्हें इतिहासकी संज्ञा नहीं दी जा सकती। कालक्रमानुसार कवियोंके नामोंका एक स्थानपर ढेर लगा देने अथवा

*१ गार्सां द तासी इस्त्वार द ला लितेरात्यूर ऐंदुई ऐं हिन्दुस्तानी (१८३९)।
२ शिवसिंह सेंगर शिवसिंह सरोज (१८८३)।
३ डॉ० ग्रियर्सन मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ नॉर्दर्न हिन्दुस्तान (१८८९)।
४ मिश्रबन्धु मिश्रबन्धु विनोद (१९१३)।
५ मिश्रबन्धु नवरत्न (१९१०)।
६ एडविन ग्रीव्स ए स्केच ऑफ हिन्दी लिटरेचर (१९१७)।
७ एफ० ई० के० ए हिस्ट्री ऑफ हिन्दी लिटरेचर (१९२०)।
८ पदुमलाल पन्नालाल बख्शी हिन्दी साहित्य विमर्श (१९२३)।
९ रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्यका इतिहास (१९२९)।
१० बाबू श्यामसुन्दर दास भाषा और साहित्य (१९३०)।
११ सूर्यकान्त शास्त्री द हिन्दी ऑर हिन्दी लिटरेचर (१९३०)।

उनकी रचनाओंपर चलते ढंगसे टिप्पणियाँ लिख देने मात्रसे इतिहासके धर्मका निर्वाह नहीं हो जाता। स्वयं शुक्लजीने 'हिन्दी साहित्यका इतिहास' के प्रथम संस्करणके वक्तव्यमें लिखा है— "भिन्न भिन्न शाखाओंके हजारों कवियोंकी केवल कालक्रमसे गुथी उपयुक्त वृत्तमालाएँ साहित्यके इतिहासके अध्ययनमें कहाँतक सहायता पहुँचा सकती थीं?" पर इस तथ्यकी भी अवहेलना नहीं की जा सकती कि इन्हीं वृत्तमालाओंके कथ्यको आधार बनाकर आगे इतिहास ग्रन्थ लिखे गये। कवियोंकी जीवनी एवं उनकी कृतियोंके इस परिचयके अभावमें इतिहास लिखनेकी प्रवृत्ति दबी ही रह जाती, इसमें सन्देह नहीं। इतिहास ग्रन्थके निर्माणमें कवियों एवं उनकी कृतियोंके फुटकल-संग्रहोंका भी विशिष्ट महत्त्व है।

कवियों एवं उनकी कृतियोंका फुटकल संग्रह

नाभादास कृत 'भक्तमाल' और गोकुलनाथ रचित 'चौरासी वैष्णवनकी वार्ता' चरित-सम्बन्धी हिन्दी साहित्यके सर्वप्रथम ग्रन्थ हैं जिनमें कवियोंकी जीवनी एवं उनकी रचनाओंका फुटकल संग्रह मिलता है। इनमें साधु-सन्तोंके चरित्रकी असाधारण सामर्थ्य-शक्तिका परिचय देते हुए उनकी रचनाओंकी प्रशंसा की गयी है। नाभादास कृत 'भक्तमाल' की ही शैली एवं पद्धतिके अनुकरणपर रघुराजसिंहने केवल 'रामरसिकावली' (१८५७) नामक ग्रन्थकी रचना की। चरित एवं कृतियोंका प्रशंसात्मक विवरण, चार मुख्य काल— सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग के अनुसार विभाजित है। पहली बार कवियोंका वर्गीकरण काल विभाजनके आधारपर यहीं किया गया मिलता है। यद्यपि काल विभाजनकी यह पद्धति-वैज्ञानिक-पद्धतिके अनुरूप नहीं है।

इसके अतिरिक्त मुरलीराम रचित 'बघेल वंशागमविन्दु' (१८६३) हरिश्चन्द्र लिखित 'उत्तरार्द्ध भक्तमाल' (१८७७) राधाचरण गोस्वामी कृत 'नव भक्तमाल' (१८८६) भक्त-कवियोंके चरित एवं उनकी कृतियोंपर प्रकाश

१२ रमाशंकर शुक्ल हिन्दी साहित्यका इतिहास (१९३१)।
१३ कृष्णशंकर शुक्ल आधुनिक हिन्दी साहित्यका इतिहास (१९३४)।
१४ इन्द्रनाथ मदान मॉडर्न हिन्दी लिटरेचर (१९३७)।
१५ रामकुमार वर्मा हिन्दी साहित्यका आलोचनात्मक इतिहास (१९३८)।
१६ हजारीप्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्यकी भूमिका (१९४०)।
१७ लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय आधुनिक हिन्दी साहित्य (१९४१)।
१८ श्रीकृष्णलाल आधुनिक हिन्दी साहित्यका इतिहास (१९४२)।
१९ हजारीप्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य (१९५२)।

डाल्त हूं। 'भक्तमाल', 'चौरासी वैष्णवनकी वार्ता' आदि पूर्व ग्रंथोंकी वर्णित अधिकांश घटनाएँ साधु-सन्तोंकी पारलौकिक एवं अद्भुत दिव्य-शक्तिके ही परिचायक हैं। पर भारतेंदु एवं उनके बाद अन्य लेखकोंमें अपार्थिव एवं लोकोत्तर चरित्र लिखनेकी प्रवृत्ति कम पायी जाती है।

फ्रेंच में लिखा गया गार्सां-द-तासीका 'इस्त्वार द ला लितरातूर ऐंदुई एँ हिन्दुस्तानी (१८३९)' इतिहास-सम्बन्धी हिन्दी साहित्यकी प्रथम रचना मानी जाती है। प्रस्तुत ग्रंथमें हिन्दी एवं उर्दूके सत्तर कवियोंकी जीवनी उनके द्वारा रचित ग्रंथोंके परिचयके साथ सम्मिलित मिलती है। ध्यान देनेकी बात है कि कवियोंका वर्णन कालक्रमके अनुसार नहीं अपितु अँगरेज़ीके वर्णानुक्रमका सहारा लेकर किया गया है।

गार्सां-द-तासीके इतिहासग्रंथ-संग्रहमें अगर ७० कवियोंका संग्रह है तो शिव सिंह सेंगर रचित 'शिवसिंह सरोज' (१८८३) में कवियोंकी संख्या एवं महत्त्वके ऊपर पहुँच गयी है। कवियोंके जीवन चरित, उनका कविता-काल तथा कृतियोंके नामके साथ इसमें उत्कृष्ट पद्योंके उद्धरण भी प्राप्य हैं। कृतियोंकी साहित्यिक विवेचनाकी दृष्टिसे प्रस्तुत ग्रंथ काफी महत्त्वपूर्ण है। सच तो यह है कि इसी ग्रंथ को अपना आधार बनाकर संवत् १९४६ में ग्रियर्सनने 'माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑव हिन्दुस्तान' लिखा। मिश्रबन्धुओंके शब्दोंमें इनके पहले हिन्दी इतिहासका नहीं पता न था। (मिश्रबन्धु विनोद पृ० १६७) तथा "डॉ० ग्रियर्सनने अपने माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑव हिन्दुस्तानमें इसीका अनुवाद सा कर दिया है अथवा इसके आधारपर अधिकांश लिखा।" (मिश्रबन्धु विनोद पृ० १६७)।

ऐतिहासिक विकासका पुट

इतिहास-लेखनमें इस काल तक साहित्यिक कृतियोंकी आलोचना सुसम्बद्ध एवं सुविवेचित रूपपर नहीं मिलती। इस कार्यका शुभारम्भ मिश्रबन्धुओंने 'मिश्रबन्धु विनोद' (१९१३)के माध्यमसे किया। साहित्यिक महत्ता एवं काव्यकी उत्कृष्टताके आधारपर इस कृतिमें कवियोंकी भिन्न श्रेणियाँ बनायी गयी। प्रस्तुत कृतिमें साहित्यको शुद्ध साहित्यके रूपमें स्वीकार कर इतिहास लिखनेका प्रयास लक्षित होता है। साहित्यके मूल्यांकनको न तो देखनेका यहाँ प्रयास है और न उसे समाजके परिप्रेक्ष्यमें देखनेकी ही कोशिश की गयी है। हिन्दी साहित्यका काल विभाजन भी शुद्ध साहित्यिक दृष्टिसे ही किया गया है।

इस रचनामें लगभग ३८०० साहित्यकारोंके परिचयके साथ उनकी कृतियोंका

साहित्यिक विवेचन है। कुछ निश्चित साहित्यिक विशेषताओंके आधारपर हिन्दी-साहित्य को आठ कालोंमें वर्गीकृत किया गया है पर इतिहास-लेखनके लिए जो शैली अपेक्षित थी वह इस कृतिमें उपलब्ध नहीं। इसके रचयिता स्वयं इसे इतिहास-ग्रन्थके रूपमें स्वीकार नहीं करते। मिश्रबन्धुओंके अपने शब्दोंमें 'पहले हम इस ग्रन्थका नाम 'हिन्दी साहित्यका इतिहास' रखनेवाले थे परन्तु इतिहासकी गम्भीरता-पर विचार करनेसे ज्ञात हुआ कि हममें साहित्य इतिहास लिखनेकी क्षमता नहीं है।' (मिश्रबन्धु विनोद, पृ० ८)

लेकिन इतिहास न होते हुए भी इसमें इतिहासका पुट अवश्य है। इस विषयपर स्वयं मिश्रबन्धुओंके वचन उद्धरणीय हैं— परन्तु इसमें इतिहासका क्रम रखने एवं इतिहास सम्बन्धी सामग्री सन्निविष्ट करनेके कारण हमने इसका उपनाम हिन्दी साहित्यका इतिहास तथा कवि कीर्तन रखा है।' (मिश्रबन्धु विनोद, पृ० ६) रचयिताका प्रधान लक्ष्य इतिहास-लेखन नहीं था। प्रमुख साहित्यकार एवं उनकी कृतियोंका आलोचनात्मक परीक्षण एवं अज्ञात कवियोंका क्रमशः प्रकाशमें लाकर उनका संक्षिप्त परिचय देना ही उनका साध्य था। साधारण महिमा एवं प्रयोग नाम छोड़कर इतिहासका शुद्ध स्वरूप स्थिर रखना हम अनावश्यक समझते थे' (वही, पृ० ५) साहित्यिक विकासका धारामें कवियों के मापका आकलन न कर तथा इतिहासके शुद्ध स्वरूपको स्वीकार न करते हुए भी ये इतिहास-लेखनकी पद्धतिके अनुसरणकी ओर यदा-कदा प्रवृत्त अवश्य हुए हैं।

जो कुछ भी हो इस कृतिका अपना विशेष महत्त्व है क्योंकि इतिहासका इतिवृत्तात्मक विवेचन सबसे पहले इसी ग्रन्थमें देखनेको मिलता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीके अनुसार आगे चलकर जो कुछ भी इस दिशामें कार्य हुआ उसके प्रथम मार्गदर्शक और पुरस्कर्ता मिश्रबन्धु ही थे (हिन्दी-साहित्य पृ० ४१९)। मिश्रबन्धु विनोद' का 'पूरक नवरत्न' (१९१०) माना जा सकता है जिसमें नौ कवियोंका विस्तृत आलोचना प्रस्तुत करनेका मिश्रबन्धुओंका स्तुत्य प्रयास द्रष्टव्य है।

एडविन ग्रीब्सके 'ए स्केच आव हिन्दी लिटरेचर' (१९१७) एवं एफ० ई० के० के 'ए हिस्ट्री ऑव हिन्दी लिटरेचर' (१९२३) में साहित्यकारोंकी जीवनी एवं कृतियोंकी अपेक्षा साहित्यिक प्रवृत्तियोंपर अधिक ध्यान दिया गया है। पुन्नालाल पन्नालाल बख्शीको लेखनी द्वारा प्रसूत 'हिन्दी साहित्य विमर्श' (१९२३) निबन्ध-संग्रहके रूपमें है पर इस कृतिमें साहित्यिक प्रवृत्तियोंके विकासका जो निर्देश हमें प्राप्त होता है वह अपने पक्षकी रचनाओंसे अधिक

वैज्ञानिक एवं सन्तुलित है। एक-सौ छियानवे पष्ठकी इस कृतिमें साहित्यिक धाराओंके विकासका प्रदर्शन सफलतापूर्वक किया गया मिलता है।

पर हिंदी सहित्यकी विभिन्न प्रवृत्तियोंके साथ सामाजिक परिस्थितियोंके विवेचनकी प्रवृत्ति ग्रियर्सनकी रचना 'मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑव नॉर्दन हिंदुस्तान' (१८८९) में सर्वप्रथम मिलती है। साहित्य एवं समाज, दोनोंको अपनी दृष्टिमें रखकर 'शिवसिंह सरोज' की सामग्रीके आधारपर हिंदी साहित्य के इतिहासको लिखनेका ग्रियर्सनका प्रयास स्तुत्य है। एक कालकी निश्चित साहित्यिक विशेषताओं एवं सामाजिक परिस्थितियोंका ध्यानमें रखकर हिंदी साहित्यका वैज्ञानिक स्तरपर काल विभाजनका सर्वप्रथम प्रयत्न ग्रियर्सनने ही किया है।

इतिहास

इतिहासके रूपमें अबतक जितनी रचनाएँ मिलती हैं उनमें साहित्य एवं समाजके आंतरिक सम्बन्धोंकी विकास-गाथाको ढूँढनेका प्रयास नहीं के बराबर देखनेको मिलता है। साहित्यके मूलस्रोत क्या हैं और हिंदी साहित्यके विकासमें उनका योगदान क्या रहा है—इसका विवेचन यदा-कदा भूले-भटके ही किया गया है। साहित्यको अपनेमें पूर्ण माननेकी प्रवृत्तिने अबतक साहित्यको समाज सापेक्ष्य रूपमें ग्रहण करनेके लिए प्रेरित ही नहीं किया। अतः साहित्यके इतिहासका जो कुछ सामाजिक प्रवाहके परिप्रेक्ष्यमें देखनेका प्रयास हुआ उसमें समाज और साहित्यका कार्य-कारण सम्बन्ध बहुत ही कम देखनेको मिलता है।

सच तो यह कि इतिहासके रूपमें हिंदी साहित्यकी प्रवृत्तियोंका विश्लेषण शुक्लजीके पूर्व हुआ ही नहीं था। लगता है उस समय तक 'साहित्यका इतिहास' का अर्थ ही स्पष्ट नहीं था। शुक्लजीकी सूक्ष्म एवं मार्मिक दृष्टिसे यह बात छिपी नहीं रही। अतः इतिहास लिखनेके पूर्व साहित्यका इतिहास होता क्या है, इसी तथ्यपर उन्होंने प्रकाश डाला—'जब कि प्रत्येक देशका साहित्य वहाँकी जनता की चित्तवृत्तिका संचित प्रतिबिम्ब होता है तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्तिके परिवर्तनके साथ-साथ साहित्यके स्वरूपमें भी परिवर्तन होता चलता है। *आदिसे अंत तक इन्हीं चित्तवृत्तियोंकी परम्पराको परखते हुए* साहित्य परम्पराके साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही साहित्यका इतिहास' कहलाता है।" (हिन्दी साहित्यका इतिहास, पृ० १)

समाजके अन्तस्तलमें प्रवाहित होनेवाली विचारधाराकी पृष्ठभूमिपर ही साहित्यिक विकासका मूल रहस्य समझा जा सकता है। इतिहासके क्षेत्रमें साहित्य

एवं समाजका सम्बन्ध सुविवेचित ढंगसे सर्वप्रथम शुक्लजीके हिन्दी साहित्यका इतिहासमें ही मिलता है।

शुक्लजीके इतिहासके अनुकरणपर अनेक इतिहास लिखे गये। डॉ० रामविलास शर्माके शब्दोंमें 'शुक्लजीके बाद संक्षिप्त और सुबोध इतिहासोंकी बाढ़ आ गयी। कुछ बंगलामें इतिहास भी लिखे गये। इनमें ज्यादातर चोरीका माल है, शुक्लजीका निश्चित माल लेकर उसे सीधे करनेका व्यापार है। बहुत कम लोगोंने स्वतन्त्र अध्ययन करके हिन्दी साहित्यके इतिहासमें कुछ नया जोड़नेकी कोशिश की है।" (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृ० ३०)। यह कहना तो सर्वथा असत्य होगा कि इतिहासमें कुछ नवीन सामग्री जोड़नेका प्रयास ही नहीं हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि शुक्लजीकी इस महत्त्वपूर्ण रचनाके पश्चात् पुराने साहित्यकारोंकी नयी-पुरानी अनेक कृतियाँ प्रकाशमें आयीं, प्रामाणिक समझे जानेवाले अनेक ग्रन्थ जाली सिद्ध हुए और साहित्यके इतिहासके क्षेत्रमें कुछ नये अन्वेषण भी हुए पर इतिहास-लेखनके दृष्टिकोण और पद्धतिमें कोई नूतन क्रान्ति हुई हो (जैसा डॉ० रामकुमार वर्मा अपने 'हिन्दी साहित्यका आलोचनात्मक इतिहास'के निवेदनमें संकेत देते हैं)—ऐसी बात सामने नहीं आती। साहित्यके इतिहासका जो सन्दर्भ (perspective) शुक्लजीने दिया है वह अधूरा एवं त्रुटिपूर्ण होते हुए भी मौलिक था, और बादके इतिहास-लेखकोंने उनके कथनोंकी आवृत्ति एवं पुनरावृत्ति ही की, कुछ विस्तार देकर उन्हें सम्भवतः दोहराया ही। सन्दर्भकी दिशामें नया कुछ सामने नहीं आया।

शुक्लजीके इतिहासके पश्चात् जो इतिहास-ग्रन्थ सबसे अधिक हमारा ध्यान आकर्षित करता है वह है बा० श्यामसुन्दर दास कृत 'हिन्दी-साहित्य'। इस कृतिमें मिश्रबन्धुओंकी भाँति श्रेष्ठ समझे जानेवाले कवियों एवं उनकी कृतियोंकी विस्तृत विवेचना, अल्प ज्ञात कवियोंकी साहित्यिक विशेषताओंकी संक्षिप्त आलोचना तथा अज्ञात कवियोंको परिचयके साथ प्रकाशमें लानेका प्रयास नहीं है, न शुक्लजीके इतिहासके अनुकरणपर प्रत्येक साहित्यकारपर कुछ-न-कुछ लिखनेकी प्रवृत्ति ही पायी जाती है। पुस्तकके निवेदनमें श्यामसुन्दर दासने अपने दृष्टिकोणपर प्रकाश डालते हुए लिखा— 'जिस कालमें जैसी राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक परिस्थिति थी, उसके वर्णनके साथ उस कालके मुख्य प्रधान कवियोंका वर्णन भी रहे।' (हिन्दी-साहित्य निवेदन) अर्थात् कवियोंकी अपेक्षा विभिन्न कालोंकी साहित्यिक प्रवृत्तियोंके स्पष्टीकरणके लिए राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियोंका चित्रण ही विशेष

वैज्ञानिक एवं सन्तुलित है। एक-सौ छियानवे पृष्ठकी इस कृतिमें साहित्यिक धाराओंके विकासका प्रदर्शन सफलतापूर्वक किया गया मिलता है।

पर हिन्दी साहित्यकी विभिन्न प्रवृत्तियोंके साथ सामाजिक परिस्थितियोंके विवेचनकी प्रवृत्ति ग्रियर्सनकी रचना 'मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑव नादर्न हिन्दुस्तान' (१८८९) में सर्वप्रथम मिलती है। साहित्य एवं समाज, दोनोंको अपनी दृष्टिमें रखकर 'शिवसिंह सरोज' की सामग्रीके आधारपर हिन्दी साहित्यके इतिहासको लिखनेका ग्रियर्सनका प्रयास स्तुत्य है। एक कालकी निश्चित साहित्यिक विशेषताओं एवं सामाजिक परिस्थितियोंको ध्यानमें रखकर हिन्दी साहित्यका वैज्ञानिक स्तरपर काल-विभाजनका सर्वप्रथम प्रयत्न ग्रियर्सनने ही किया है।

इतिहास

इतिहासके रूपमें अबतक जितनी रचनाएँ मिलती हैं उनमें साहित्य एवं समाजके आन्तरिक सम्बन्धोंकी विकास-गाथाका उल्लेख प्रयास नहींके बराबर देखनेको मिलता है। साहित्यके मूलस्रोत क्या हैं और हिन्दी साहित्यके विकासमें उनका योगदान क्या रहा है—इसका विवेचन यदा-कदा भूले-भटके ही किया गया है। साहित्यको अपनेमें पूर्ण माननेकी प्रवृत्तिने अबतक साहित्यको समाज सापेक्ष्य रूपमें ग्रहण करनेके लिए प्रेरित ही नहीं किया। अतः साहित्यके इतिहासका जो कुछ सामाजिक प्रवाहके परिप्रेक्ष्यमें दर्शनका प्रयास हुआ उसमें समाज और साहित्यका कार्य-कारण सम्बन्ध बहुत ही कम देखनेको मिलता है।

सच तो यह कि इतिहासके रूपमें हिन्दी साहित्यकी प्रवृत्तियोंका विश्लेषण शुक्लजीके पूर्व हुआ ही नहीं था। लगता है उस समय तक 'साहित्यका इतिहास' का अर्थ ही स्पष्ट नहीं था। शुक्लजीकी सूक्ष्म एवं मार्मिक दृष्टिसे यह बात छिपी नहीं रही। अतः इतिहास लिखनेके पूर्व साहित्यका इतिहास क्या होता है उसी तथ्यपर उन्होंने प्रकाश डाला— जब कि प्रत्येक देशका साहित्य वहाँकी जनताकी चित्तवृत्तिका संचित प्रतिबिम्ब होता है तब यह निश्चित है कि जनताकी चित्तवृत्तिके परिवर्तनके साथ-साथ साहित्यके स्वरूपमें भी परिवर्तन होता चलता है। आदिसे अन्त तक इन्हीं चित्तवृत्तियोंकी परम्पराको परखते हुए साहित्य परम्पराके साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही 'साहित्यका इतिहास' कहलाता है।' (हिन्दी साहित्यका इतिहास, पृ० १)

समाजके अन्तस्तलमें प्रवाहित होनेवाली विचारधाराकी पृष्ठभूमिपर ही साहित्यिक विकासका मूल रहस्य समझा जा सकता है। इतिहासके क्षेत्रमें साहित्य

एवं समाजका सम्बन्ध सुविवेचित ढंगसे सर्वप्रथम शुक्लजीके हिन्दी साहित्यके इतिहासमें ही मिलता है।

शुक्लजीके इतिहासके अनुकरणपर अनेक इतिहास लिखे गये। डॉ० रामविलास शर्माके शब्दोंमें "शुक्लजीके बाद मिश्रित और सुबोध इतिहासोंकी बाढ़ आ गयी। कुछ वृहत्काय इतिहास भी लिखे गये। इनमें ज्यादातर चोरीका माल है, शुक्लजीकी निर्मित माल लेकर उसे साँचे बदलनेका व्यापार है, बहुत कम लोगोंने नये सिरेसे अध्ययन करके हिन्दी साहित्यके इतिहासमें कुछ नया जोड़नेकी कोशिश की है।" (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना पृ० ३०)। यह कहना तो सर्वथा असत्य होगा कि इतिहासमें कुछ नवीन सामग्री जोड़नेका प्रयास ही नहीं हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि शुक्लजीकी इस महत्त्वपूर्ण रचनाके पश्चात् पुराने साहित्यकारोंकी नयी-पुरानी अनेक कृतियाँ प्रकाशमें आयीं, प्रामाणिक समझे जानेवाले अनेक ग्रन्थ जाली सिद्ध हुए और साहित्यके इतिहासके क्षेत्रमें कुछ नये अन्वेषण भी हुए, पर इतिहास-लेखनके दृष्टिकोण और शैलीमें कोई नूतन उत्क्रान्ति हुई हो (जैसा डॉ० रामकुमार वर्मा अपने 'हिन्दी साहित्यका आलोचनात्मक इतिहास'के निवेदनमें संकेत देते हैं)—ऐसी बात सामने नहीं आती। साहित्यके इतिहासका जो सन्दर्भ (perspective) शुक्लजीने लिया है वह अधूरा एवं त्रुटिपूर्ण होते हुए भी मौलिक था, और बादके इतिहास-लेखकोंने उनके कथनोंकी आवृत्ति एवं पुनरावृत्ति ही की, कुछ विस्तार लेकर उनके सन्दर्भको दोहराया ही। सन्दर्भका विकास नया कुछ सामने नहीं आया।

शुक्लजीके इतिहासके पश्चात् जो इतिहास-ग्रन्थ सबसे अधिक हमारा ध्यान आकर्षित करता है वह है बा० श्यामसुन्दर दास कृत 'हिन्दी-साहित्य'। इस कृतिमें मिश्रबन्धुओंकी भाँति श्रेष्ठ समझे जानेवाले कवियों एवं उनकी कृतियोंकी विशद विवेचना, अल्प ज्ञात कवियोंकी साहित्यिक विशेषताओंकी संक्षिप्त आलोचना तथा अज्ञात कवियोंका परिचयके साथ प्रकाशमें लानेका प्रयास नहीं है, न शुक्लजीके इतिहासके अनुकरणपर प्रत्येक साहित्यकारपर कुछ-न-कुछ लिखनेकी प्रवृत्ति ही पायी जाती है। पुस्तकके निवेदनमें श्यामसुन्दरदासने अपने दृष्टिकोणपर प्रकाश डालते हुए लिखा—'जिस कालमें जैसी राजनीतिक धार्मिक सामाजिक परिस्थिति थी, उसके वर्णनके साथ उस कालके मुख्य प्रवर्तक कवियोंका वर्णन भी रहे।' (हिन्दी-साहित्य निवेदन) अर्थात् कवियोंकी अपेक्षा विभिन्न कालोंकी साहित्यिक प्रवृत्तियोंके स्पष्टीकरणके लिए राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियोंका चित्रण ही विशेष

रूपसे हो। साहित्यिक विचारधाराका जनताकी चित्तवृत्तिके साथ सामञ्जस्य दिखलाते हुए, समसामयिक सामाजिक स्थितिका साहित्यपर पड़े प्रभाव एवं साहित्यिक धाराके प्रभावको तीव्र एवं कुण्ठित करनेमें साहित्यकारके योगके आकलन आदिपर शुक्लजीकी अपेक्षा श्यामसुन्दर दासकी दृष्टि अधिक रही है। पर जैसा रूसी विद्वान अका० वरन्निकोवका कथन है, इतिहास-लेखनमें वस्तु एवं रूप (आइडिया एवं फॉर्म) के आन्तरिक सम्बन्धोंपर अपनी दृष्टि रखनेके उपरान्त भी श्यामसुन्दर दास, साहित्यकी विकासधाराके मूलस्रोतोंको ठीकसे पकड़ नहीं पाये हैं, साहित्यके विकासको वास्तुकला, चित्रकला, संगीत आदि अन्य कला विधाओंके विकासके सन्दर्भमें देखनेके बावजूद भी (और यह इतिहास लेखनमें सबसे पहला प्रयत्न था) उसमें अन्विति स्थापित करनेमें वे असमर्थ रहे हैं। (इण्डियन फाइलॉलोजी (रूसीमें) मास्को, १९५९, पृ० २७६-७८) बाबू साहबने भौतिकता तो इसमें भी दिखलायी थी कि हिन्दी साहित्यके विकासके साथ उन्होंने हिन्दी भाषाका भी इतिहास दिया पर साहित्यकी नयी चेतनाके साथ भाषाका रूप किस प्रकार बदलता है और बदली हुई भाषा-संवेदनाके आधारपर साहित्यिक विकसित मान मूल्योंको किस प्रकार समझा-परखा जाये, यह उन्हें स्पष्ट नहीं था।

जहाँतक शुक्लजीके इतिहासका प्रश्न है उसमें श्यामसुन्दर दासकी भाँति इन नयी पर अधूरी दृष्टियोंको अपनानेका प्रयास नहीं है। शुक्लजीके इतिहासकी सबसे बड़ी विशेषता है—उसका सुगठित रूप, इतिहासकारके रूपमें घटनाओंको उचित सन्दर्भ (perspective) देनेकी क्षमता। हिन्दी-साहित्यकी विचार-धाराको उचित सन्दर्भमें बाँधकर भी उसके परिप्रेक्ष्यमें कृतियोंकी आलोचना प्रस्तुत करनेकी दिशामें शुक्लजी अपने पूर्ववर्ती सभी इतिहास-लेखकोंसे आगे निकल गये हैं। पर ना शुक्लजीकी अपनी उपलब्धियाँ हैं वे ही उनकी सीमाएँ भी बन जाती हैं।

शुक्लजीने साहित्यको उस व्यापक जनताकी चित्त वृत्तियोंका संचित प्रतिबिम्ब तो माना पर उनके इतिहास-लेखनमें जनताका अर्थ शिक्षित जनसमूह तक ही सीमित रह गया है। अपने इतिहासके प्रथम संस्करणके वक्तव्य में शुक्लजीने अत्यन्त स्पष्ट स्वरोंमें कहा है परिस्थितियोंके अनुसार शिक्षित जनसमूहकी बदलती हुई प्रवृत्तियोंको लक्ष्य करके उन्होंने हिन्दी-साहित्यका इतिहास लिखा है। इस मान्यताके कारण परम्पराको ठीकसे आकलन न करनेके कारण ही शुक्लजी पूर्व-मध्ययुगका सही मूल्यांकन प्रस्तुत करनेमें असमर्थ सिद्ध हुए हैं। उनकी दूसरी सीमा थी—उनका अभिजात्य दृष्टिकोण। इतिहासका उन्होंने सन्दर्भ

ता दिया पर वह मूलतः भाववादी था। तीसरी सीमा, साहित्यके इतिहास और साहित्यकी समीक्षाके अन्तरको ठीकसे न समझना था। स्काट जेम्सने इन दोनोंके बीच जिस मूलभूत भेदकी ओर संकेत किया है (द मेकिंग ऑव लिटरेचर, पृ० २४), लगता है उससे परिचित होनेके बावजूद अपने इतिहास-लेखनमें उसका उचित रूपमें निर्वाह नहीं कर सके हैं। इसमें सन्देह नहीं कि उनके इतिहास तत्वकी अपेक्षा साहित्यिक समीक्षाके तत्त्व कहीं अधिक हैं। चौथी सीमा है साहित्यके मूल स्रोतको उचित सन्दर्भमें देखकर, फिर साहित्यके साथ उसके ठीक सम्बन्धोंकी जाँच-परखकी उपेक्षा। कहनेका अर्थ यह कि उनके इतिहासमें साहित्य एवं समाजका विशद वर्णन तो मिलता है पर साहित्य एवं समाजके कार्यकारणका पूर्णताके साथ आकलन नहीं मिलता और यही कारण है कि सामाजिक परिस्थितियों और साहित्यिक कृतियाँ एक साथ रखी जानेके बाद भी उनके इतिहासमें उनके बीच एक गहरी खाई-सी अनुभव होता है। उनके इतिहास-लेखनकी पाँचवीं प्रमुख सीमा है इतिहासको अविरल और अविच्छिन्न धारा-प्रवाहके रूपमें न देखना। शुक्लजी यह भूल जाते हैं कि साहित्यका इतिहास-लेखक भी मनुष्यका ही इतिहास प्रस्तुत करता है और हर व्यक्तिका वर्तमान एक ऐसा स्थिति-बिन्दु होता है जहाँ भूत और भविष्यका अपना दबाव महसूस किया जा सकता है। इस दबावका उचित सम्बन्ध वे प्रस्तुत नहीं कर सके इसीलिए युग की प्रमुख प्रवृत्तियोंके प्रतिनिधि कवियोंकी चर्चा करनेके बाद उन्हें हर खण्डके बाद एक फुटकल खाता भी खोलनेकी आवश्यकता पड़ी।

इतिहास-लेखन और आचार्य द्विवेदी

ऐसा लगता है कि शुक्लजीके इतिहास-लेखनकी इन सीमाओंको आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीने भलीभाँति अनुभव कर लिया था और उनसे मुक्त होकर ही उन्होंने 'हिन्दी साहित्यकी भूमिका' (१९४०) की रचना की। ध्यान देनेकी बात है कि हिन्दी साहित्यके इतिहासकी यह भूमिका है स्वयं पूर्ण इतिहास नहीं अतः इतिहास-लेखनका एक आदर्श रूपमें सामने रखनेकी कोशिश यहाँ अधिक है उसकी सामग्री जुटानेका कम। उन्होंने इसमें हिन्दी-साहित्यकी विकास-धाराको भारतीय चिन्तन-धाराके परिप्रेक्ष्यमें उचित सन्दर्भ (perspective) देनेकी कोशिश की है और शुक्लजीकी शिक्षित अथवा अर्द्धशिक्षित जनताके स्थानपर 'लोक-मानस' को प्रतिष्ठित करनेका प्रयास। उन्होंने वर्तमानको विकास-धाराका एक सहज बिन्दु माना है और किसी युगकी

प्रवृत्तियोंके आकलनके लिए उस तनावको भी अनुभव करनेकी कोशिश की है जो उसके मूल और भविष्यसे सम्बद्ध होनेके कारण उद्भूत होता है। वे भली भाँति समझ गये थे कि साहित्यका इतिहास लेखक भी कोरे साहित्यका नहीं वरन उस मनुष्यका इतिहास प्रस्तुत करता है जो साहित्यमें अपनी अभिव्यक्ति पाता है। साथ ही उनका आलोचक रूप, सजग और सचेत रहकर भी इतिहास-लेखनके समय दबा रहता है अतः व्यक्ति अथवा कृति विशेषकी महत्ता 'भूमिका' में सामने उभरकर नहीं आती जितना साहित्यके विकासकी सहज धाराकी अविच्छिन्न गति।

इतिहासको अविरल एवं अविच्छिन्न धारा प्रवाहके रूपमें देखनेकी दृष्टि सबसे पहले 'भूमिका' में ही देखनेको मिलती है। ऐतिहासिक समीक्षाकी जिस प्रणालीका उपयोग इसमें किया गया है वह इसके पूर्ववर्ती इतिहास-कृतियोंमें देखनेको नहीं मिलती। अबतक इतिहासको इतिहासकारकी दृष्टिसे न देखकर मूलतः मूल्यवादी आलोचककी दृष्टिसे ही देखनेका प्रयास हुआ था। पर इतिहास और आलोचनाका क्षेत्र स्पष्ट रूपसे भिन्न है इनके गुण धर्म, शिल्प-कौशल, प्रत्येक में तात्त्विक अन्तर होता है। द्विवेदीजीने आलोचककी दृष्टिसे नहीं अपितु इतिहासकारकी दृष्टिसे हिन्दी साहित्यके इतिहासका आकलन किया है। इसीलिए उनकी पुस्तक 'हिन्दी साहित्यकी भूमिका' में एक ही युगकी अनेक विचारधाराओंका परिचय, विभिन्न असंगतियों एवं अन्तर्विरोधी प्रवृत्तियोंका विश्लेषण, लोकवादी और समाज विरोधी मान्यताओंका विशद पर्यवेक्षण उपलब्ध है।

इतिहासको मानकर जिस परिधिकी आलोचना आजके सर्वमान्य आलोचकोंको मान्य है उसके तीन मुख्य आधार-स्तम्भोंकी ओर प्रसिद्ध इतिहासकार 'टेन'ने संकेत किया है। उसके अनुसार जाति (Race) परिवृत्त (Surrounding) और युग (Milieu) की विवेचनाके माध्यमसे ही किसी कृति या साहित्यके इतिहासपर पूर्ण प्रकाश डाला सम्भव है। (हिस्ट्री ऑव लिटरेचर) किसी भी जातिके इतिहासके अध्ययनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि वह अपने विकासके विभिन्न सोपानोंपर विभिन्न प्रवृत्तियों-द्वारा परिचालित हुआ है। साहित्यकारके लिए इन प्रवृत्तिका अतिक्रमण कर सकना एक प्रकारसे असम्भव है। साहित्यकारके विचार एवं भावनाकी कलात्मक अभिव्यक्तिके रूपमें मान्य साहित्यका अध्ययन भी युगमें व्याप्त इन्हीं प्रवृत्तियोंकी पृष्ठभूमिमें करना श्रेयस्कर होगा। क्योंकि जिस समाजसे वह रस-संचय करता है वह तो इन प्रवृत्तियोंके दायरेमें बँधा होता ही है स्वयं साहित्यकार, अपनी तमाम कल्पना-शक्तिके बावजूद उससे मुक्त नहीं हो पाता।

यह तो नहीं कहा जा सकता कि द्विवेदीजीकी इतिहास-सम्बन्धी मान्यताएँ टेन-द्वारा निर्णीत जाति, परिवेश और युगसम्बन्धी नियमोंकी अनुकृति हैं अथवा द्विवेदीजी टेन के विचारोंसे प्रभावित हैं, पर नाना विद्वानों-द्वारा व्यवहृत ऐतिहासिक विवेचनाकी समताके आधारपर उनमें एकरूपता अवश्य देखी जा सकती है। द्विवेदीजीकी आलोचना-परक यह वृत्ति उनकी पुस्तक कबीरमें विशेष रूपसे उभरी है। जातिगत विशिष्टताका विश्लेषण करते हुए उन्होंने कबीरकी वंशानुगत मान्यताओंकी ओर संकेत किया है (कबीर पृ० १४)। सहजयान वज्रयान नाथपन्थ साधु-सन्त आदि अनेक व्यक्तियोंके सम्पर्कसे निर्मित परिवेश-का उनके साहित्यपर क्या प्रभाव पड़ा है, इसकी भी विशद विवेचना उन्होंने प्रस्तुत की है (वही पृ० १५२)। साथ ही युगकी लोकमंगलकारी एवं समाज विरोधी प्रवृत्तियोंकी पृष्ठभूमिमें कबीर साहित्यका भी परखनेका उन्होंने प्रयास किया है। (वही, पृ० १८४)

शुक्लजीके इतिहासकी समीक्षा करते हुए डा० बड़थ्वालने भूमिका में पन्ल (सन् १९३९) में यह जोर देकर कहा था कि शुक्लजीके इतिहासका सबसे कमजोर अंश है उनका पूर्व मध्यकाल। उनके अनुसार शुक्लजी कबीर नानक आदि सन्त-कवियोंके साथ उचित न्याय नहीं कर सके हैं। वे यह बताने में अक्षम हैं कि क्यों निर्गुण भक्तोंका आन्दोलन निम्न-वर्गके लोगों-द्वारा उठाया गया और क्या कारण है कि वह उन्हीं तक सीमित रह गया, क्या शिक्षित वर्गके व्यक्तियोंका सम्मान उन्हें नहीं मिला और बादमें चलकर इस आन्दोलनने क्यों सम्प्रदाय (sect) का रूप ग्रहण कर लिया। (द्विवेदी-साहित्यमें इन प्रश्नोंका समुचित समाधान मिल जाता है और यह निश्चित ही उनकी ऐतिहासिक दृष्टि की सतर्कताका ही परिणाम है जिसने हिन्दीकी साहित्यिक धाराको भारतकी मूल चिन्तनधारासे जोड़कर देखनेका सर्वप्रथम सफल प्रयास इतिहास-लेखनके क्षेत्रमें रखा।

द्विवेदीजीने भारतकी मूल चिन्तनधाराका समर्थन मात्र नहीं की और न उन्होंने साहित्यके इतिहासको निस्सार रूपके आधारपर ही लिखनेकी शुक्ल पद्धति अपनायी। समाज और साहित्यके कृत्रिम सम्बन्धोंकी एवं प्रचलित रीतिसे हटकर उन्होंने साहित्यकी धाराको सांस्कृतिक विरासतके सन्दर्भमें देखनेकी कोशिश की। साहित्यके मूल्यांकन रूपमें जिस भारतीय चिन्तन-पद्धतिपर उन्होंने बल दिया वह उनकी दृष्टिमें किसी एक या दो उद्भट विद्वानोंके मस्तिष्क-की करामात नहीं है और न भारतीय दर्शनका मनु याज्ञवल्क्य नारद वशिष्ठ जीमूतवाहन विज्ञानेश्वर आदि स्मृतिकार एवं निबन्धकारोंके अपने वैयक्तिक

मानदण्डसे ही नापा जा सकता है। सच तो यह है कि युगकी परिस्थितियों एवं मानवकी समसामयिक आवश्यकताओंने समय-समयपर स्वयं तत्कालीन समाजमें प्रचलित असामयिक, नीति नियम, आचार-व्यवहार आदिमें परिवर्तनकी ओर समस्त समाजको समयानुकूल बनानेका आग्रह किया। प्रसिद्ध विद्वान काशीप्रसाद जायसवालके अनुसार विभिन्न धर्मशास्त्र, ब्राह्मणोंके मस्तिष्ककी उपज नहीं है अपितु वे अपने समयके गर्भसे उद्भूत हुए हैं (Manu and Yajnavalkya-pxx) स्मृतिकार एवं निबन्धकारोंकी कृतियोंको इस कार्यकी पूर्तिके साधनके रूपमें ही समझना चाहिए। द्विवेदीजीके अपने शब्दोंमें "मतों, आचार्यों, सम्प्रदायों और दार्शनिक चिन्ताओंके मानदण्डसे लोकचिन्ताको नहीं मापना चाहता, बल्कि लोकचिन्ताकी सापेक्षमें उन्हें देखनेकी सिफारिश कर रहा हूँ। (हिन्दी-साहित्य की भूमिका, पृ० ८)

इतिहासकारने अगर लोकचिन्ताकी इस स्वाभाविक विकासधाराका समुचित परिचय प्राप्त नहीं किया अथवा उसके परिप्रेक्ष्यमें साहित्यकी विकास रेखाका आकलन नहीं किया तो निश्चय ही उसकी कृतिमें कार्य-कारणकी परम्पराका उचित निर्वाह नहीं मिल सकता। द्विवेदीजीकी सूक्ष्म दृष्टिने भारतीय लोकचिन्तनके स्वाभाविक प्रवाहको अच्छी तरह परखा। यह उसीका परिणाम है कि प्रो० हैवेल्के इस मत—"मुसलमानी सत्ताके प्रतिष्ठित होते ही हिन्दू राज-काज से अलग कर दिये गये। दुनियाकी झंझटोंसे छुट्टी मिलते भी उनके धर्मकी ओर जो उनके लिए एकमात्र आश्रय स्थल रह गया था, स्वाभाविक आकर्षण पैदा हुआ'—का तीव्र विरोध किया। उनके अनुसार, भक्ति-काव्य अपने स्वाभाविक विकासका परिणाम था। यदि अगली शताब्दियोंमें भारतीय इतिहासकी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण घटना, अर्थात इस्लामका प्रमुख विस्तार न भी घटी होती तो भी वह इसी रास्ते जाता। उसके भीतरकी शक्ति उसे इसी स्वाभाविक विकासकी ओर ठेल दिये जाता। (हिन्दी साहित्यकी भूमिका, पृ० १५)

लोक चिन्ताकी मजबूत पकड़ने ही द्विवेदीजीको इतिहासको एक अविच्छिन्न धारा प्रवाहके रूपमें देखनेकी शक्ति प्रदान की है और इस सतत प्रवहमान धाराने उनकी मानवतावादी दृष्टिको ठोस आधार प्रदान किया है जिसके आधारपर साहित्यिक कृतियोंमें अभिव्यक्त मानव एवं उसकी चेतनाके विकासका सही सन्दर्भमें देखने परखनेमें वह सक्षम सिद्ध हुए हैं। द्विवेदीजीके अनुसार 'सृष्टि परम्परामें मनुष्यका विकास एक अद्भुत घटना है। वह इस सृष्टि प्रक्रियाकी सबसे उत्तम सबसे सुकुमार और सबसे शक्तिशाली और इसीलिए सबसे आश्चर्यप्रद और सबसे महत्त्वपूर्ण देन है। इसी विचार-पद्धतिको ऐतिहासिक दृष्टि

नाम दिया गया है।" (विचार और वितर्क, पृ० ३९) लेकिन द्विवेदीजीकी ऐतिहासिक-दृष्टि एवं विकासवादकी मान्यता डार्विनके विकासवाद (Theory of Evolution) के सिद्धान्तसे भिन्न है। जहाँ डार्विन, 'आत्मरक्षाके सिद्धान्त' और 'योग्यताके विकास'के न्यायका सहारा लेकर मानवके व्यक्ति रूपके विकासका सिद्धान्त सामने रखता है वहाँ द्विवेदीजीकी दृष्टि सदा मानवके समष्टि रूपकी ही अनुगामी रहा है।

"मनुष्यका खण्ड विच्छिन्न समझना खतरनाक है। सारा मनुष्य समाज एक है।" अपनी ऐतिहासिक समीक्षाके आधारपर निष्कर्ष निकालते हुए वे कहते हैं—'अगली मानवीय संस्कृति, मनुष्यकी समता और सामूहिक मुक्तिकी भूमिका-पर खड़ी होगी। इतिहासके अनुभव इसीकी सिद्धिके साधन बनकर कल्याणकर और जीवनप्रद हो सकते हैं। इस प्रकार हमारी वित्तगत उन्मुक्ततापर एक नया अंकुश बढ़ रहा है—व्यक्ति मानवके स्थानपर समष्टि मानवका प्राधान्य (विचार और वितर्क, पृ० १३) 'इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्य और उसकी मनुष्यता ही एकमात्र शाश्वत सत्य है। मनुष्य निरपेक्ष सभ्यता अथवा संस्कृति हवाई कल्पना मात्र है। देश और जातिकी विशुद्ध संस्कृति केवल बातकी बात है। शुद्ध है केवल मनुष्यकी दुर्दम जिजीविषा। वह गंगाकी अबाधित-अनाहत धाराके समान सब कुछ हजम करनेके बाद भी पवित्र है।" (अशोकके फूल, पृ० ८)

साहित्यके इतिहास-लेखनमें सिद्धान्त रूपमें शुक्लजीने संकेत दे दिया कि साहित्यका इतिहास काल-स्रोतमें बह आते हुए जीवन्त समाजकी विकास गाथाके अतिरिक्त और कुछ नहीं है पर उसे व्यावहारिक रूप सर्वप्रथम द्विवेदीजीने ही दिया। ग्रन्थकार और ग्रन्थ उस प्राणधाराको और इशारा ही करते हैं वे ही मुख्य नहीं हैं। मुख्य है वह प्राणधारा जो नाना परिस्थितियोंसे गुजरती हुई आज हमारे भीतर अपने आपको प्रकाशित कर रही है। साहित्यके इतिहासमें हम अपने-आपको ही पानेका सूत्र पाते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि द्विवेदीजीने न केवल साहित्यके इतिहास-लेखनके क्षेत्रमें नयी प्रणालीको अपनाया है वरन् हिन्दी-साहित्यके इतिहासको नया और उचित सन्दर्भ भी दिया है।

■

अपभ्रंशके अध्ययनमें द्विवेदीजीका योग

वीरेन्द्र श्रीवास्तव

राजशेखरने अपनी 'काव्यमीमांसा' में एक वाङ्मय-पुरुषकी कल्पना की थी जिसका संस्कृत मुख है, प्राकृत बाहु है, अपभ्रंश जघन है और पैशाच पाद है। आधुनिक हिन्दी वाङ्मयमें उस पुरुषको यदि साकार देखना हो तो वे हैं आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी। केवल थोड़ा-सा ही परिवर्तन अपेक्षित है कि पैशाचीकी जगह हिन्दीको रख दिया जाय। द्विवेदीजी शास्त्राचार्य हैं। उनकी जिह्वापर सदा विराजनेवाली गीर्वाण सरस्वती और उनकी कृतियोंमें व्याप्त देववाणी गरिमा उनके संस्कृत भाषाके गम्भीर अध्ययनकी साक्षी है। प्राकृत भाषाओंका अनुशीलन उनकी क्रमण्यता और जागरूकताका परिचायक है। वे अपभ्रंशके सहारे खड़े होकर हिन्दीमें अबाध गति रखते हैं। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश को आत्मसात कर वे हिन्दीपर पूर्ण आधिपत्य पानेमें समर्थ हैं। राजशेखरके आधारपर ही द्विवेदीजीने राजमण्डपमें कविसभाका वर्णन करते हुए अपनी 'हिन्दी साहित्यकी भूमिका' में लिखा है—"वेदिकापर राजाका आसन होगा। उसके उत्तरकी ओर संस्कृत भाषाके कवि बैठेंगे। यदि एक ही आदमी कई भाषाओंमें कविता करता हो तो जिस भाषामें वह अधिक प्रवीण हो उसी भाषा का कवि उसे माना जायेगा। जो कई भाषाओंमें बराबर प्रवीण है वह उठ-उठकर जहाँ चाहे बैठ सकता है। पूर्वकी ओर प्राकृत भाषाके कवि रहेंगे। पश्चिमकी ओर अपभ्रंश भाषाके कवि। दक्षिणकी ओर पैशाची भाषाके कवि।" आचार्यजी जैसे क्रान्तदर्शी पण्डितकी गति सभी भाषाओंमें एक सी है, अतः उन्हें अधिकार है कि वे जहाँ चाहें बैठ सकते हैं और पूजाके पात्र हैं।

भारतके पूर्वाञ्चल शान्तिनिकेतनमें १९३० से १९५० तक २० वर्ष रहकर उन्होंने जहाँ संस्कृत और हिन्दीका अध्ययन किया वहीं प्राकृत और अपभ्रंशका गम्भीर अध्ययन भी। आचार्य विधुशेखर भट्टाचार्य तिब्बती भाषाकी पोथियाँ में स्वयं पढ़ रहते थे और द्विवेदीजीको भी उसके अवगाहनका आनन्द देते थे।

आचार्य क्षितिमोहन सेनके सान्निध्यने उन्हें सिद्ध और सन्त साहित्यकी परम्परा-के अन्वेषण तथा अपभ्रंश साहित्यकी समालोचनामें प्रवृत्त किया। गुरुदेव रवीन्द्र-नाथ ठाकुरका वरदहस्त उन्हें सतत सारस्वत मार्गमें निर्विघ्न प्रगति देता रहा। उनके सम्पर्कमें प्राच्य भाषाएँ अपभ्रंश प्रसूत बंगलामें भी वे निष्णात हो गये। अनेक शोधार्थी उनके विविध भाषा-पाण्डित्यका लाभ उठाते रहे। डॉ० रामसिंह तोमरने, जो आजकल विश्वभारती शान्तिनिकेतनमें हिन्दी विभागके अध्यक्ष हैं, अपने प्रबन्ध 'प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य' में आचार्यजीका स्मरण इस प्रकार किया है— आचार्य डॉ० हजारीप्रसादजी द्विवेदीकी छायामें रहकर लेखकने दस वर्ष शान्तिनिकेतनमें अध्ययनको चालू रखा। आचार्य द्विवेदीजीने लेखककी अनेक प्रकारसे सहायता की है।'

पूर्वप्रदेशमें 'अधीतमध्यापितमर्जितं यशः' कर तथा उसके साहित्यका रसास्वादन कराकर द्विवेदीजी फिर अपनी शिक्षाभूमि वाराणसीकी ओर मुड़े जहाँ उन्होंने निष्कारण षडङ्ग वेदका अध्ययन किया था, विशेषतः ज्योतिषका। मध्यदेशकी इस विख्यात नगरीके काशी हिन्दू विश्वविद्यालयमें हिन्दी विभागका अध्यक्ष रहकर उन्होंने हिन्दीके सर्वांगीण अध्ययनकी ओर अपने छात्रोंमें रुचि जगायी, दामोदर पण्डितने भी काशीके राजकुमारोंको ११ वीं १२ वीं शताब्दीकी लोकभाषा पढ़ानेके लिए उक्तिव्यक्ति प्रकरण की रचना सम्भवतः की थी। द्विवेदीजीने भी अपने योग्य शिष्योंमें अपभ्रंश भाषाके सम्यक् अनुशीलन करनेकी प्रेरणा दी। डॉ० शिवप्रसाद सिंहने 'कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा' अपने गुरुवर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीको श्रद्धापूर्वक भेंट की है। उन्होंने लिखा है— 'आचार्य द्विवेदीजीने इस निबन्धके लिए विषय तय किया, निर्देश दिया और पढ़ा-बताया, पाठके एक-एक शब्दको उन्होंने देखा सुना, अस्वस्थ रहनेपर भी उन्होंने जिस उत्साहसे यह सब-कुछ किया वह उनके स्नेह-वात्सल्यका परिचायक है, इसे कृतज्ञता प्रकट करके ओछा करनेकी धृष्टता मैं नहीं कर सकता।' डॉ० नामवर सिंहने 'हिन्दीके विकासमें अपभ्रंशका योग' पुस्तक अपने गुरुवर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीको समर्पित की है। अपभ्रंशपर इस स्तरके लेखकका प्रबन्ध 'अपभ्रंश भाषाका अध्ययन' १९६५ में प्रकाशित हुआ। लेखकने आचार्यजीका स्मरण किया है—"काशी हिन्दू विश्वविद्यालयमें रहते हुए डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदीने मुझे बहुत पहले अपभ्रंशका अध्ययन करनेके लिए परामर्श दिया था और पाठ्य-सामग्रीका स्मरण याद करायी थी। उनकी कृतियोंसे भी मुझे निस्सन्देह सहायता मिली है। एतदर्थ मैं उनका अनुगृहीत हूँ।" हिन्दीमें अपभ्रंश भाषाका भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन करनेके लिए ये तीन ग्रन्थ उपलब्ध हैं और

तीनोंमें आचार्यजीकी छाया है।

द्विवेदीजी कारणवश काशी हिन्दू विश्वविद्यालयको छोड़कर पंजाब विश्वविद्यालयके हिन्दी विभागाध्यक्ष बनकर चण्डीगढ़ चले गये। वे इस प्रकार प्राच्य देश और मध्यप्रदेश (जिसमें उदीच्य संस्कृतिका भी प्रभुत्व आ गया था) की साहित्यिक और सांस्कृतिक गतिविधियोंसे न केवल परिचित होकर अपितु उनके संचालनमें भी हाथ बँटाकर पश्चिम देशमें आ विराजे। शौरसेनी अपभ्रंश से सम्बद्ध पश्चिमी हिन्दी जिसपर पंजाबीका भी प्रभाव है आपके स्वानुभवका विषय बनी। वहाँ आपने पंजाबमें विखरी गुरुमुखी लिपिमें लिखी हिन्दी रचनाओंके उद्धारका उपक्रम किया। अब 'टैगोर प्राफेसर' पदपर आसीन होकर वे कला और संस्कृतिक परिवेशमें भाषाओंका और व्यापक अध्यापन कर रहे हैं। वे पहले शान्तिनिकेतनमें अहिन्दीभाषियोंको हिन्दी सिखाते रहे और उनकी कठिनताओंको समझकर उनका समाधान करते रहे। अब कभी कभी एतदर्थ दक्षिण की यात्रा कर आते हैं और अहिन्दीभाषियोंमें हिन्दीके प्रति प्रेम और निष्ठा जगाते हैं। इस तरह पूर्व उत्तर पश्चिम, दक्षिण जहाँ भी वे रहे हैं या यात्रा करते रहे हैं संस्कृत, प्राकृत अपभ्रंश और हिन्दी भाषाओंकी परम्पराके प्रमुख व्याख्याता रहे हैं।

द्विवेदीजीने स्वयं अपभ्रंश भाषाके सम्बन्धमें अपने विचार 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में विशेषतः उसके द्वितीय अध्यायमें, तथा 'हिन्दी साहित्यका आदिकाल' में विशद रूपमें अभिव्यक्त किये हैं। उन्होंने 'हिन्दी साहित्यका आदिकाल' में अपभ्रंश भाषा और साहित्यका सारगर्भित 'प्रस्तावना' और 'आदिकाल में अपभ्रंश भाषा और साहित्यका सारगर्भित परिचय दिया है। पहली पुस्तक शान्तिनिकेतन और दूसरी काशी विश्वविद्यालय-कालकी देन है। अपभ्रंशके लोककाव्य संदेश रासक के पाठ-सम्पादनके सम्बन्धमें नागरी प्रचारिणी पत्रिकामें उनकी एक लेखमाला निकली थी। उसीको भूमिकाके रूपमें समाविष्ट करके उन्होंने अपने प्रिय छात्र आयुष्मान श्री विश्वनाथ त्रिपाठी (लेक्चरर, के० एम० कॉलेज, दिल्ली) के साथ संदेश रासक का नया विशिष्ट सम्पादन किया है। भूमिकामें पाठ-संशोधन करते हुए रासककी विशिष्ट शब्दावली और क्लिष्ट पदावलीपर अच्छा प्रकाश डाला गया है। त्रिपाठीजीने अपनी भूमिकामें रासककी अपभ्रंश भाषाका भी संक्षिप्त विवेचन किया है। यह ग्रन्थ उनकी चण्डीगढ़-यात्राका स्मारक है यद्यपि उसकी भूमिका काशीमें ही बन चुकी थी।

अपभ्रंश भाषाके सम्बन्धमें उनके विचारों और मान्यताओंका संक्षिप्त विवरण दे देना जरूरी है।

शान्तिनिकेतनसे शिवालिक

हिन्दी साहित्यके आदिकालका विवेचन और सीमा निर्धारण करते हुए यह प्रश्न उठता है कि अपभ्रंशको हिन्दीमें परिगणित किया जाये या उससे पृथक् और यदि उसकी पृथक् सत्ता स्वीकृत की जाय तो उसकी और हिन्दीकी सम्प्राप्तिका क्या नाम लिया जाये। हिन्दी साहित्यके इतिहासकार अपभ्रंशको आदिकालके साथ जोड़ते आये हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्लकी सम्मतिमें 'सिद्धोंकी उद्धृत रचनाओंकी भाषा देशभाषा मिश्रित अपभ्रंश अर्थात् पुरानी हिन्दीकी काव्यभाषा है। उन्होंने लिखा—"सिद्धोंमें सरह सबसे पुराने अर्थात् वि० सं० ६९०के हैं। अतः हिन्दी काव्यभाषाके पुराने रूपका पता हमें विक्रमकी सातवीं शताब्दीके अन्तिम चरणमें लगता है।" पुरानी हिन्दीका प्रयोग पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरीने चलाया था। उन्होंने साहित्यिक परिनिष्ठित अपभ्रंशको यही संज्ञा दी थी। सिद्ध साहित्यके मर्मज्ञ विद्वान् राहुल सांकृत्यायनने भी अपनी 'हिन्दी काव्यधारा'में ८वीं शताब्दीके सरहपादसे लेकर १३वीं शताब्दीके राजशेखर सूरि तककी अपभ्रंश कविताओंको पुरानी हिन्दीमें सम्मिलित किया। आचार्य द्विवेदी इस मतसे सहमत नहीं। उन्होंने 'हिन्दी साहित्य' में प्रतिपादित किया कि यह विचार भाषाशास्त्रीय और वैज्ञानिक नहीं है। भाषाशास्त्रके अर्थमें, जिसे हम हिन्दी (खड़ी बोली, ब्रजभाषा, अवधी आदि) कहते हैं वह इस साहित्यिक अपभ्रंशसे सीधे विकसित नहीं हुई है। व्यवहारमें पंजाबसे लेकर बिहार तक बोली जानेवाली सभी रूप भाषाओंको 'हिन्दी' कहते हैं। इसका कारण इस विस्तृत भूभागके निवासियोंकी साहित्यिक भाषाकी केन्द्राभिमुखी प्रवृत्ति है। गुलेरीजी इस व्यावहारिक अर्थपर जोर देते हैं। जहाँतक शास्त्रका प्रश्न है, गुलेरीजीका सुझाव पण्डितोंको मान्य नहीं हुआ है। अपभ्रंशको अब कोई पुरानी हिन्दी नहीं कहता। परन्तु जहाँतक परम्पराका प्रश्न है निःसन्देह हिन्दीका परवर्ती साहित्य अपभ्रंश-साहित्यसे क्रमशः विकसित हुआ है।'

वस्तुतः स्थिति यह है कि उपर्युक्त स्थापनाओं और विवेचनाओंमें कोई तात्त्विक अन्तर नहीं। गुलेरीजी भी केन्द्राभिमुखी प्रवृत्ति अर्थात् शौरसेनी अपभ्रंशकी प्रमुखताके आधारपर ही पुरानी हिन्दी नाम रखते हैं। उसे परवर्ती हिन्दी कहिए या द्विवेदीजीका आशय 'पूर्ववर्ती अपभ्रंश'। गुलेरीजीने लिखा था— अपभ्रंश कहाँ समाप्त होता है और पुरानी हिन्दी कहाँ आरम्भ होती है, इसका निर्णय करना कठिन है किन्तु रोचक और बड़े महत्त्वका है। इन दो भाषाओंके समय और देशके विषयमें कोई स्पष्ट रेखा नहीं खींची जा सकती। कुछ उदाहरण ऐसे हैं जिन्हें अपभ्रंश भी कह सकते हैं, पुरानी हिन्दी भी। यद्यपि दो भाषाओंके बीच भाषाशास्त्रीय विभाजक रेखा खींचना कठिन है तथापि आचार्य

द्विवेदीने यह प्रयत्न अवश्य किया कि अपभ्रंश और हिंदीमें स्पष्ट रेखा खींच दी जाये। उन्होंने हेमचन्द्र-द्वारा निर्धारित 'परिनिष्ठित' और ग्राम्य' अपभ्रंशका भेद स्वीकार किया और लिखा—'इस (ग्राम्य)में 'रासक' 'डोम्बिका' आदिकी श्रेणीके लोकप्रचलित गेय और अभिनेय काव्य लिखे जाते थे। यह भाषा परिनिष्ठित अपभ्रंशसे आगे बढ़ी हुई (एडवान्स्ड) बतायी जाती है। इसमें बौद्धोंके पद और दोहे, प्राकृत पैंगलमें उदाहृत अधिकांश पद्य, सन्देश रासक आदि रचनाएँ लिखी गयी हैं। वस्तुतः यही भाषा आगे चलकर आधुनिक देशी भाषाओंके रूपमें विकसित हुई है।' इसी आगे बढ़ी हुई के लिए 'अग्रसरीभूत अपभ्रंश भाषा का व्यवहार द्विवेदीजीने 'कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा की भूमिकामें किया है। अग्रसरीभूत अपभ्रंश भाषा'को व 'सन्देशरासक, वर्णरत्नाकर', 'कीर्तिलता' और प्राकृतपैंगल' की वंशीधररचित टीकामें प्रयुक्त 'अवहट्ट'का पर्यायवाची शब्द मानते हैं। कीर्तिलताके विषयमें उन्होंने लिखा है—"इसमें (अवहट्ठ) या अग्रसरीभूत अपभ्रंश भाषाका नमूना प्राप्त होता है।" 'हिन्दी साहित्य के लेखनकालमें (सन् १९५२) वे अग्रसरीभूत अपभ्रंश का 'अवहट्ट' कहनेमें कुछ सकोच अनुभव करते रहे हैं। १४वीं शताब्दीके संस्कृतके दो पण्डितों अर्थात् विद्यापति और ज्योतिरीश्वरने इस भाषाको 'अवहट्ठ' कहा है। इसीलिए कुछ विद्वानोंने परिनिष्ठित अपभ्रंशसे आगे बढ़ी हुई भाषाको अपभ्रंश न कहकर अवहट्ठ कहना शुरू किया है। परन्तु भाषाशास्त्रियोंने यह नाम अभीतक स्वीकृत नहीं किया है।" परिनिष्ठित अपभ्रंश और अग्रसरीभूत अपभ्रंश कहिए या केवल अपभ्रंश और अवहट्ट कहिए—वस्तुतत्त्वमें कोई अन्तर नहीं पड़ता, परन्तु एक बात अत्यधिक उल्लेखनीय निकल आती है कि हिन्दीकी अव्यवहित पूर्ववर्ती संधिभाषा अवहट्ट (अग्रसरीभूत अपभ्रंश) है जिसके साहित्यका विवेचन हिन्दी साहित्यके आदिकालमें किया जाना चाहिए। द्विवेदीजीने ऐसा किया भी है। उन्होंने १०वीं शताब्दीसे पूर्व परिनिष्ठित अपभ्रंशकी स्थापना की है और १०वीसे १४वीं शताब्दीके अग्रसरीभूत अपभ्रंशको आदिकालका अंग मान लिया है। वे लिखते हैं—'दसवींसे चौदहवीं शताब्दी तकके समयमें लोकभाषामें लिखित जो साहित्य उपलब्ध हुआ है उसमें परिनिष्ठित अपभ्रंशसे कुछ आगे बढ़ी हुई भाषाका रूप दिखाई देता है। इसलिए दसवींसे चौदहवीं शताब्दीके उपलब्ध लोकभाषा साहित्यको अपभ्रंशसे थोड़ी भिन्न भाषाका साहित्य कहा जा सकता है।"

'हिन्दी साहित्य' के उपर्युक्त कथनको 'हिन्दी साहित्यके आदिकाल' में निम्न शब्दोंमें अंकित किया गया है—'इस प्रकार दसवींसे चौदहवीं शताब्दीका काल

शान्तिनिकेतनमें शिवाशिव

जिसे हिन्दीका आदिकाल कहते हैं, भाषाकी दृष्टिसे अपभ्रंशका ही बढ़ाव है। इसी अपभ्रंशके बढ़ावको कुछ लोग उत्तरकालीन अपभ्रंश कहते हैं और कुछ लोग पुरानी हिन्दी। अप्रसरीभूत या उत्तरकालीन अपभ्रंशका आधार तो 'ग्राम्य अपभ्रंश या लोकभाषा' है परन्तु उसकी एक बड़ी विशेषता है संस्कृत तत्सम शब्दोंके प्रयोगकी प्रवृत्ति जो हिन्दीमें भी गृहीत हुई है। इस तथ्यकी ओर द्विवेदीजीने अपने प्रायः सभी ग्रन्थोंमें ध्यान खींचा है। दामोदरके उक्ति-व्यक्ति प्रकरण में ज्योतिरीश्वरके वर्णरत्नाकर में और विद्यापतिकी कीर्तिलता तथा कीर्तिपताका के गद्य भागमें संस्कृत तत्सम शब्दोंका प्रचुर प्रयोग है। १२वीं शताब्दीके राजा विजयसिंहके दमोह जिलेमें प्राप्त हिन्दी शिलालेखका पृष्ठ २२ पर उद्धरण देते हुए द्विवेदीजीने हिन्दी साहित्यका आदिकाल में लिखा है—

"यह स्पष्ट रूपसे बताता है कि पद्यकी भाषा अपभ्रंश ही थी किन्तु बोल-चालकी भाषामें संस्कृत-तत्सम शब्द आने लगे थे और उनका प्रभाव पद्यकी भाषापर भी पड़ रहा था।"

इसी प्रकार ऊपरके विवेचनसे द्विवेदीजीकी निम्न मान्यताएँ प्राप्त होती हैं :

१. अपभ्रंश भाषाके दो भेद हैं—(अ) परिनिष्ठित और (आ) ग्राम्य।

२. ग्राम्य अपभ्रंशके आधारपर 'अप्रसरीभूत अपभ्रंश या अवहट्टका विकास हुआ है। वह लोकभाषाश्रित है।

३. अप्रसरीभूत अपभ्रंशका काल १०वीं शताब्दीसे १४वीं शताब्दी है उससे पूर्व परिनिष्ठित अपभ्रंशका युग है।

४. अप्रसरीभूत अपभ्रंश भाषा हिन्दी काव्यके साथ आदिकालमें विकसित हो सकता है।

५. अप्रसरीभूत अपभ्रंश में संस्कृत-तत्सम शब्दोंके प्रयोगकी प्रवृत्ति है। अवहट्टका समग्र भाषावैज्ञानिक अध्ययन द्विवेदीजीने उपस्थित नहीं किया है। पर साथ उनके निर्देशनमें उसका विश्लेषण किया है जैसा पहले कहा जा चुका है।

परिनिष्ठित अपभ्रंश भाषा वह है जिसका विवेचन हेमचन्द्र त्रिविक्रम लक्ष्मीधर आदि वैयाकरणोंने किया है और जिसमें स्वयम्भू पुष्पदन्त आदिकी रचनाएँ हैं। अपभ्रंश भाषाके सम्बन्धमें द्विवेदीजीके निष्कर्ष जो सामान्य सम्मत हैं हिन्दी साहित्यकी भूमिका में निम्न रूपमें दिये गये हैं :

१. अपभ्रंश भाषा सन् ईसवीके प्रथम शतकमें आभीरी भाषाके नामसे लक्ष्य की गयी थी और भारतवर्षके पश्चिमोत्तर प्रान्तोंमें बोली जाती थी।

आभीरोंका विशेष प्रकारका स्वर-वैचित्र्य और उच्चारण प्रावण्य इसका प्रधान लक्षण था। यद्यपि यह आभीरी नामसे पुकारी गयी, पर थी आर्यभाषा ही।

२ सन ईसवीकी छठी शताब्दीमें साहित्य सृष्ट हो चुका था, जिसे भामह और दण्डी-जैसे आलंकारिकोंने उल्लेख योग्य समझा। अब भी यह आभीराम विशेष रूपसे सम्बद्ध मानी जाती थी। अनुमान है कि आभीरोंके हाथमें राज्य सत्ता आनेके साथ इसमें काव्य लिखे जाने लगे।

३ ९वीं शताब्दीमें यह जन-साधारणकी भाषा समझी जाने लगी और इसका विशेष सम्बन्ध केवल आभीर आदिम ही है यह धारणा जाती रही। अबतक यह सौराष्ट्रसे मगधतक फैल चुकी थी। तत्तत स्थानोंके अपभ्रंशोंमें निश्चय ही भेद रहे होंगे पर काव्यके लिए आभीरोंद्वारा प्रोत्साहित भाषा ही साधारण भाषा मान ली गयी थी।

११वीं शताब्दीमें आलंकारिकों और वैयाकरणोंने लक्ष्य किया था कि अपभ्रंश कोई एक भाषा नहीं है बल्कि स्थान भेदसे अनेक प्रकारकी है। अर्थात यहाँ तक आकर अपभ्रंशका व्यवहार लोकभाषाके अर्थमें होने लगा था।

लोकभाषा ही 'अग्रसरीभूत अपभ्रंश'का रूप लेती है यह हम देख चुके हैं। द्विवेदीजीने हिन्दीकी मूलभूत अपभ्रंश भाषाका स्वरूप और उसका हिन्दीसे लगाव स्पष्ट करके ही हिन्दी साहित्यके इतिहासकी नींव रखी है।

अन्तमें 'संस्कृतप्राकृतापभ्रंश भाषात्रय प्रतिबद्ध प्रबन्धालोचन निपुणान्तःकरण आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीकी षष्टिपूर्ति सुखद हो और वे न केवल 'शतायुर्वै पुरुष'की सामान्य उक्तिको पूरा करें अपितु 'भूयश्च शरदः शतात्' तक चिरायु होकर तीनों भाषाओंमें पष्ट हिन्दी भाषाकी सेवा करते रहें यही कामना है।

अपभ्रंश और हिन्दीके सम्बन्धपर द्विवेदीजीके भाषाशास्त्रीय विचार

• •

कैलाशचन्द्र भाटिया

'अपभ्रंश' और हिन्दीका अटूट सम्बन्ध है। मध्यकालीन आर्यभाषाके विकासके तृतीय सोपान 'अपभ्रंश' से ही आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएँ विकसित हुई हैं। हिन्दीके विकासमें अपभ्रंशका महत्त्वपूर्ण योगदान है। अपभ्रंशका शब्दार्थ है—विकृत भ्रष्ट अशुद्ध वह जो अपने निश्चित रूप या स्थानसे गिर गया हो। किसी आदर्श भाषाकी परिनिष्ठित शब्दावलीसे इतर रूप ही 'अपभ्रंश' कहलाते हैं। महाभाष्यकार पतंजलिने 'अपभ्रंश' शब्दका प्रयोग 'असाधु' शब्दोंके लिए किया है किसी भाषा विशेषके लिए नहीं। भामह दण्डी आदि आलंकारिकोंने भाषात्रयमें हमेशा अपभ्रंशको सम्मिलित किया है। काव्यालंकारमें [१।१६] में 'प्राकृत संस्कृत चैतद् अपभ्रंश इति त्रिधा' लिखकर भामहने सर्वप्रथम प्राकृतके साथ-साथ अपभ्रंशको मान्यता प्रदान की है। श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरीने तो अपभ्रंशको ही पुरानी हिन्दी नाम दिया है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीके चिन्तनका क्षेत्र मुख्यतः हिन्दी साहित्यका आदिकाल रहा है अतएव अपभ्रंश और हिन्दीके पारस्परिक सम्बन्धपर आपके विचार अनेक साहित्यिक कृतियों भाषणों तथा निबन्धोंमें बिखरे पड़े हैं।

'प्राकृत और अपभ्रंश' की समस्या उठते ही आपने बड़े स्पष्ट शब्दोंमें घोषित किया यह बात स्मरण रखने योग्य है कि यद्यपि प्राकृतमें लिखे गये काव्योंके बाद ही अपभ्रंश भाषामें काव्य लिखे गये परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि प्राकृत नामकी कोई भाषा पहले बोली जाती थी और अपभ्रंश नामकी भाषा बादमें बोली जाने लगी। असलमें अपभ्रंश लोकमें प्रचलित भाषाका नाम है जो नाना काल और नाना स्थानमें नाना रूपोंमें बोली जाती थी और बोली जाती है। शुरू-शुरूमें इसको आभीरोंकी भाषा जरूर माना जाता था, पर बादमें चलकर यह लोक भाषाका ही नामान्तर हो गया। वररुचिके प्राकृत प्रकाशमें उस युगकी भाषाके साहित्यिक रूपका वर्णन है। लोक प्रचलित भाषा कुछ

और ही थी। भाषाशास्त्रियोंने लक्ष्य किया है कि अपभ्रंश नामक उत्तरकालीन काव्य भाषामें ऐसे बहुत-से प्रयोग पाये जाते हैं जो वास्तवमें वररुचिके महाराष्ट्री शौरसेनीके प्रयोगोंकी अपेक्षा प्राचीनतर हैं। उदाहरणार्थ, 'कहा' या व्रजभाषा का 'कह्यो' प्रयोग उत्तरकालीन अपभ्रंश 'कहिउ' से निकला है। इसके अपभ्रंश और प्राकृत भेदोंकी तुलना की जा सकती है—अपभ्रंश 'कदिघो' या 'कधिदो' मागधी कधिदे' या 'कहिद' महाराष्ट्र 'कहिओ' और उत्तरकालीन अपभ्रंश 'कहिउ। स्पष्ट ही पुराने अपभ्रंश रूप कधिदो' और 'कहिदो' महाराष्ट्री रूपों से पुराने हैं।"[1]

हिन्दी भाषाके क्रमिक विकासकी दृष्टिसे अपभ्रंश तथा संधिकालीन युगकी अनेक साहित्यिक कृतियाँ महत्त्वपूर्ण हैं जिनमें जैन साहित्य, 'प्राकृतपैंगलम्', सन्देश रासक तथा 'बौद्ध गान ओ दोहा' ली जा सकती हैं। 'बौद्ध गान ओ दोहा' शीर्षकसे जो अपभ्रंश साहित्य महामहोपाध्याय प० हरप्रसाद शास्त्रीने प्रकाशित कराया उसको प्राचीन बंगला कहा गया। इसपर टिप्पणी करते हुए आचार्यजीने लिखा है—'इनके दोहोंकी भाषामें परिनिष्ठित या स्टैण्डर्ड अपभ्रंशके रूप ही मिलते हैं, पर पदोंमें पूर्वी प्रदेशके भाषाके चिह्न भी मिल जाते हैं।"

इस कालके ही एक ग्रन्थ 'सन्देश रासक' का तो बादमें आचार्यजीने सुसम्पादित संस्करण तैयार किया जिसमें 'पाठ-भेदकी समस्याओंका निराकरण द्विवेदीजीने अपने 'अपभ्रंश ज्ञान के आधारपर ही किया है। उदाहरणके लिए २।२४ में 'पहु णिहइ' लिया जा सकता है जिसमें 'पहु' का प्रभु के स्थानपर 'पथ' अर्थ द्विवेदीजीको उचित प्रतीत हुआ

मुझे लगता है कि यहाँ पहु = प्रभु नहीं, पहु-पथ होना चाहिए। 'निअ'का अर्थ जोहना, देखना प्राकृतमें मिलता है। हेम० ४-१८१। हेमचन्द्रने अपभ्रंशके एक दोहेमें मग्गु निअन्त। = मार्ग देखती हुई बाट जोहती हुई। प्रयोग दिखाया है—

> पहिया दिट्ठी गोरडी दिट्ठी मग्गु निअन्त।
> अंसूसासेंहि कंचुआ, तितुव्वाण करन्त॥

(पथिक, गोरी दिखी ?', 'दिखी मार्ग जोहती हुई और कंचुकोंको आँसुके भिगोकर उच्छ्वासोंसे सुखाती हुई।) निअ का अकार ही महाप्राणमें रूपान्तर हो गया है। अपभ्रंशमें ऐसा प्राय हो जाता है। मग्गु निअन्त, 'पहु

1 हिन्दी साहित्यकी भूमिका, सन् १९४८ ई०, पृ० २७-२८।

निहइ' 'एक ही मुहावरेके दो रूप हैं। इसीलिए यहाँ अर्थ करना चाहिए 'पथ निहारती हुई खड़ी थी, बाट जोह रही थी इत्यादि।'"[1]

'अपभ्रंश' नामसे प्रसिद्ध भाषा क्या सचमुच लोक भाषा थी? इस प्रश्नका उत्तर भी इस प्रकारसे दिया गया है। 'अपभ्रंश'का सबसे पुराना उल्लेख भी केवल कालिदासके विक्रमोर्वशीयमें ही नहीं मिलता, उससे भी बहुत पुराने कालमें मिलता है। भारतीय नाट्य-शास्त्रमें यद्यपि अपभ्रंश नामक भाषाका उल्लेख नहीं है पर लोक भाषाके नमूने हैं। भरत मुनिने लक्ष्य किया था कि इन लोगोंका आधिक्य जिन प्रदेशोंमें था—अर्थात् सिन्धु, सौवीर और हिमा- [illegible] उकार-बहुला भाषा जनसाधारणमें प्रचलित हो चली थी। भाषाशास्त्रियोंमें से बहुत लोगोंका अनुमान है कि यह उकार-बहुला भाषा अपभ्रंश-से मिलती-जुलती होगी।

आगे चलकर शास्त्रकारोंका यह स्पष्ट निर्देश भी पाया जाता है कि काव्यमें आभीर आदिकी भाषाको अपभ्रंश कहते हैं। दण्डी (काव्यादर्श १-३६)। यह स्मरण रखनेकी बात है कि यह केवल बोलीका विवरण नहीं है पर काव्य-भाषाका ब्यौरा है। दण्डीने यह भी कहा है कि संस्कृत काव्योंमें सर्ग होते हैं, प्राकृतमें सन्धि और अपभ्रंशमें आसार आदि। इससे इतना तो पर्याप्त स्पष्ट है कि दण्डीके युगमें अपभ्रंश भाषामें काव्य होने लगे थे। इन काव्योंके रचयिता बड़े-बड़े विद्वान् और दार्शनिक गण ही नहीं थे बल्कि साधारण जनता भी थी जिसे दण्डीने आभीर प्रभृति कहा है। जान पड़ता है, आभीरोंकी भाषा ही उस युगके पण्डितोंकी दृष्टिमें अपभ्रंशका उत्तम नमूना थी। परवर्ती कालके सभी पण्डित नाटकके आभीर पात्रोंके मुखसे अपभ्रंश बोलवानेका निर्देश करते हैं। पर यह समझना ठीक नहीं है कि अपभ्रंश केवल आभीरों या अहीरोंकी ही भाषा था। भरत मुनिने शुरू-शुरूमें इस नवागत जातिके लोगोंके मुँहसे जिस प्रकारकी भाषाको उच्चरित होते सुना उसे अपभ्रंश-जैसा कोई नाम न देकर एक जाति-विशेषकी भाषा बताया था पर शीघ्र ही ये अहीर भारतके पश्चिमी और मध्य भागमें प्रधान हो उठे। इस प्रकार जो भाषा भरतके युगमें केवल एक जातिकी भाषा थी वह धीरे-धीरे सारे देशकी भाषा हो उठी। देशभाषाकी वह विशेषता जो आभीरोंके संसर्गसे प्राप्त हुई थी वही प्रधान हो गया और भाषाका साधारण रूप तत्काल प्रचलित प्राकृत ही रही। अपभ्रंशमें उस प्राकृतका एक खास प्रकारका स्वर वैचित्र्य और उच्चारण प्राचुर्य प्रधान हो उठा। इनका मूल

---

१ संदेश रासक मार्च १९६०, पृ० ११-१२।

काव्य बहुत-कुछ अपभ्रंशकी प्रकृतिका था और आज वह जिस रूपमें मिलता है वह उसका अत्यन्त विकृत रूप है। असलमें अपभ्रंश भाषामें काव्य रचना चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी तक होती रही, यद्यपि इसके बहुत पहले ही उसने नयी भाषाको स्थान दे दिया था।[1]

आचार्य द्विवेदीने बड़े स्पष्ट शब्दोंमें निष्कर्ष रूपमें लिखा है कि "हिन्दीमें दो प्रकारकी भिन्न भिन्न जातियोंकी दो चीजें अपभ्रंशसे विकसित हुई हैं

१ पश्चिमी अपभ्रंशसे राजस्तुति, ऐहिकतामूलक शृंगारी काव्य, नीति विषयक फुटकल रचनाएँ और लोकप्रचलित कथानक।

२ पूर्वी अपभ्रंशसे निर्गुनिया सन्तोंकी शास्त्रनिरपेक्ष उग्र विचारधारा, झाड़ फटकार, अक्खड़पना, सहज शून्यकी साधना, योग-पद्धति और भक्तिमूलक रचनाएँ[2]।"

इस सम्बन्धमें द्विवेदीजीकी दूसरी महत्त्वपूर्ण कृति है 'हिन्दी साहित्यका आदिकाल'। यह पुस्तक वस्तुतः द्विवेदीजीके पाँच शोधपरक व्याख्यानोंका संग्रह है। प्रथम व्याख्यानमें ही आदिकालीन भाषाकी समस्याको आपने उठाया है। हिन्दीके उत्तरकालीन कवियोंकी भाषामें तत्सम शब्दकी समस्या भी आपने उठायी है

'विधुवदनीमें बनी' परम्परा प्राप्त शब्द है और 'चन्द्रवदनि'में वदनि नये घुमावकी सूचना देता है। 'लोयन मायन'में 'लोयन' पुरानी स्मृतिका चिह्न है और 'भवविमोचन लोचन'में 'लोचन' नये प्रभावका द्योतक है। 'मैन-सर'में 'मैन' पुरानी विरासत है और 'मदनमोहन'में मदन नया अतिथि है। स्पष्ट ही दसवींसे तेरहवीं शताब्दी तककी बोलचालकी भाषामें संस्कृत-तत्सम शब्दोंका प्रयोग बढ़ने लगा था। इन कुछ शताब्दियोंमें अपभ्रंशसे मिलती-जुलती भाषा पद्यका वाहन बनी रही और गद्यकी भाषा तत्सम बहुल होती गयी। कीर्तिलतामें इसकी स्पष्ट सूचना मिलती है। धीरे धीरे तत्सम शब्दों और उनके नये उद्भव रूपोंके कारण भाषा बदली-सी जान पड़ने लगी और चौदहवीं शताब्दीके बाद यह बदल ही गयी। इसके पूर्व अपभ्रंश और देश्य मिश्रित अपभ्रंशकी प्रधानता बनी रही। इस प्रकार दसवींसे चौदहवीं शताब्दीका काल, जिसे हिन्दीका आदिकाल कहते हैं भाषाकी दृष्टिसे अपभ्रंशका ही बढ़ाव है। इसी अपभ्रंश

१ हिन्दी साहित्यकी भूमिका, सं० फरवरी १९४८ ई० पृ० २२-२३-२४-२५ और २७।
२ वही, पृ० ३६।

बढ़ावको कुछ लोग उत्तरकालीन अपभ्रंश कहते हैं और कुछ लोग पुरानी हिन्दी।"

इस पुरानी हिन्दीके कुछ पुराने नमूने शिलालेखोंमें मिल जाते हैं। बारहवीं शताब्दी तक निश्चित रूपसे अपभ्रंश भाषा ही पुरानी हिन्दीके रूपमें चलती थी, यद्यपि इसमें नये तत्सम शब्दोंका आगमन शुरू हो गया था। गद्य और बोलचालकी भाषामें तत्सम शब्द मूल रूपमें रखे जाते थे, पर पद्य लिखते समय उन्हें तद्भव बनानेका प्रयत्न किया जाता था। यद्यपि गद्यकी और बोलचालकी भाषामें तत्सम शब्दोंका प्रचार बढ़ने लगा था पर पद्यमें अपभ्रंशका ही प्राधान्य था। इसलिए इस कालको अपभ्रंश-कालका बढ़ाव कहना उचित ही है।[1]

द्वितीय व्याख्यानमें अपभ्रंशके तत्कालीन दो उपरूपोंकी द्विवेदीजीने चर्चा की है—

एक तो शिष्ट जनकी अपभ्रंश भाषा जिसका व्याकरण स्वयं हेमचन्द्राचार्यने लिखा था और जो प्रधानरूपसे जैन पण्डितोंके हाथों सँवरती रही। यह बहुत कुछ प्राकृत और संस्कृतकी भाँति ही शिष्टभाषा बन गयी थी।

दूसरा ग्राम्य अपभ्रंश भाषा जो सम्भवतः चलती जबान थी। भाषाशास्त्रकी दृष्टिसे यह अधिक अग्रसर हुई भाषा है। सन्देशरासक इसी प्रकारके अपभ्रंशमें बारहवीं-तेरहवीं शताब्दीमें—अर्थात् लगभग उसी समय जब पृथ्वीराज रासो लिखा जा रहा था—रचित हुआ था। इसकी भाषा बोलचालके अधिक नजदीक थी।[2]

इसी व्याख्यानमें आगे विस्तृत रूपसे अपभ्रंश तथा हिन्दीके पारस्परिक सम्बन्धकी बात बतायी गयी है।

फिर पंचम व्याख्यानमें अपभ्रंशके छन्दोंकी चर्चा की गयी है 'आजका प्रिय छन्द दोहा हिन्दीको अपभ्रंशसे ही विरासतमें मिला है। जब-जब कोई जाति नवीन जातियोंके सम्पर्कमें आती है तब तब उसमें नयी प्रवृत्तियाँ आती हैं नयी आचार-परम्पराका प्रचलन होता है नये काव्य-रूपोंकी उद्भावना होती है और नये छन्दोंमें जनचित्त मुखर हो उठता है। नया छन्द नये मनोभावकी सूचना देता है। श्लोकका उदय नयी साहित्यिक भावकी सूचना है। यह बताता है कि संवेदनशील कविचित्तमें नये युगके उषःकालकी किरण नवीन जागरणका सन्देशा दे चुकी है। इसी प्रकार गाथाका उदय दूसरी सूचना है दोहेका तीसरी'।[3]

---

१ हिन्दी साहित्यका आदिकाल, तृतीय सं० १९६१ पृ० २२-२३-२४।
२ वही। पृ० ४२।
३ हिन्दी साहित्यका आदि काल पृ० ९७।

"जैसे श्लोक लौकिक संस्कृतका, गाथा, प्राकृतका प्रतीक हो गया है उसी प्रकार दोहा अपभ्रंशका। सच बात तो यह है कि जहाँ दोहा है वहाँ संस्कृत नहीं, प्राकृत नहीं, अपभ्रंश है। दोहा अपभ्रंश भाषाकी प्रकृतिके अनुसार [illegible] छंदके रूपमें है। यह छंद नवीं दसवीं शताब्दीमें बहुत लोकप्रिय हो गया था। इस छंदमें नयी बात यह है कि इसमें तुक मिलाये जाते हैं। संस्कृत, प्राकृतमें तुक मिलानेकी प्रथा नहीं थी। दोहा, वह पहला छंद है जिसमें तुक मिलानेका प्रयत्न हुआ और आगे चलकर कभी ऐसी अपभ्रंश कविता नहीं लिखी गयी जिसमें तुक मिलानेकी प्रथा न हो। इस प्रकार अपभ्रंश भाषा केवल नवीन छंद लेकर ही नहीं आयी बिलकुल नवीन साहित्यिक कारीगरी लेकर आविर्भूत हुई।"[1]

एक बात यहाँ और स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि हिन्दी साहित्यके आदि कालमें जो आचार्यजीने पृष्ठ १८ पर लिखा था कि 'सही बात यह है कि चौदहवीं शताब्दी तक देशी भाषाके साहित्यपर अपभ्रंश भाषाके उस रूपका प्राधान्य बना रहा है जिसमें तद्भव शब्दोंका ही एकमात्र राज्य था। इस बीच धीरे धीरे तत्सम-बहुल रूप प्रकट होने लगा था। नवीं दसवीं शताब्दीसे ही बोलचालकी भाषामें तत्सम शब्दोंके प्रवेशका प्रमाण मिलने लगता है और १४वीं शताब्दीके प्रारम्भसे तो तत्सम शब्द निश्चित रूपसे अधिक मात्रामें व्यवहृत होने लगे। क्रियाएँ और विभक्तियाँ तो ईषत् विच्छिन्न या परिवर्तित रूपमें बनी रहीं पर तत्सम शब्दोंका प्रचार बढ़ जानेसे भाषा भी बदली-सी [illegible]ली। भक्तिके नवीन आंदोलनने अनेक लौकिक जन-आंदोलनों[illegible] है। 'मन-सा[illegible] पकड़ा दिया और भागवत पुराणका प्रभाव बहुत व्यापक [illegible]ति है। रूपाकर मनकी दृढ़ प्रतिष्ठाने भी बोलचालकी भाषामें और सांस्कृत-तत्सम शब्दसम शब्दोंके प्रवेशका सहारा लिया। तत्सम शब्दोंके एकाएक मिलती-जुलती भाषा एकात्मक नवीन रूपमें प्रकट हुई यद्यपि [illegible] [illegible]ती गयी ही। दसवींसे [illegible] और ६।" उसकी पुन चौदहवीं शताब्दीके काव्यका साहित्य अपभ्रंश प्रधान मा[illegible] [illegible] पुष्टि करते हुए डॉ० शिवप्रसाद सिंहके शोध प्रबन्ध 'सूर[illegible]पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य'की भूमिकामें लिखा है 'मुझे प्रसन्नता है कि [illegible]प्रसादजीने तत्कालीन साहित्यकी भाषाका जो मन्थन किया है उससे यह वक्त[illegible]व्य और भी पुष्ट और समर्थित हुआ है।'[2]

१ वही पृ० १००।
२ डॉ० शिवप्रसाद सिंह 'सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य', १९५८ ई०, भूमिका।

द्विवेदीजीने अपने शोधपरक ग्रन्थों, भाषणोंसे इतर व्याख्यान निबन्धों
में अपभ्रंश और हिंदीके सम्बन्धपर यत्र-तत्र प्रकाश डाला है। इस दृष्टिसे
ज्वलन्त समस्या 'य' तथा 'व' श्रुतिपर अपभ्रंशके परिवेशमें विचार अर्थात्
बाद शोधपत्रसे लिखित व्याख्यानमें प्रकट किया है
'हिन्दीमें य श्रुतिके प्रयोगके लिए दो प्रकारके विचार हैं। इन विचारोंसे
चालित होकर ही दो प्रकारकी लेखन शैली प्रतिष्ठित हुई। एक पक्ष उच्चारणमें
य' की श्रुति मात्रा स्पष्ट और अधिक मात्रामें है इसलिए उसमें य का लिखा
जाना आवश्यक है किन्तु गए' या गई'में यह श्रुति अस्पष्ट और अल्प मात्रामें
है या नहीके बराबर है। इसलिए इन पक्षोंमें य' का लिखा जाना उचित
नहीं है। दूसरा पक्ष कहता है कि गया में-से तो हम य' श्रुतिको हटा नहीं सकते
और बहुवचन या स्त्रीलिंग रूप अकारको लेकर ही निर्धारित हुआ है।
वस्तुतः दोनों ही पक्षोंमें कुछ सचाई है। अपभ्रंश कवितामें हाँ य श्रुति
के लिखनेकी शिथिलता दिखाई देने लगती है। दो स्वर वर्णोंका एक-साथ रहना
अपभ्रंशमें निषिद्ध नहीं है। ऐसा अपभ्रंशका दोहा शायद ही मिले जिसमें
कहीं-न-कहीं दो स्वर वर्ण एक साथ न मिल जाते हों। हिन्दीमें भी चाहे वह
पुरानी हो या नयी दो स्वर वर्णोंका एक-साथ अवस्थान निषिद्ध नहीं है केवल
शब्दके मध्यमें जब दो स्वर साथ साथ आते हैं तब तो य श्रुति या व श्रुतिका
कुछ स्पष्ट रूप दिखाई देता है। संस्कृतमें जो 'मयन' रूप बनता है उसमें य'
श्रुति आ जाती है और उसका स्पष्ट उल्लेख भी कर दिया जाता है। इस प्रकार
शब्द मयन और आगे चलकर और भी घिसकर मैन बन जाता है। किन्तु
उपजै और बिनसै में य श्रुतिका कोई चिह्न नहीं दिखाई देता। वस्तुतः
इस विषयमें अपभ्रंश और हिन्दी दोनों ही संस्कृतकी परम्परासे अलग हो गयी
हैं। अपभ्रंशके पुराने लेखकोंने य श्रुतिके नियमोंपर अधिक ध्यान नहीं दिया।
कहीं लोअण' और कहीं लोयन पाठ मिल जाया करता है। क प्रत्ययान्त रूप
अपभ्रंशमें अकारान्त हो जाता है। कहीं इनके लिखनेमें य श्रुतिका प्रयोग मिल
जाता है और कहीं नहीं मिलता। कहनेका मतलब यह है कि य' श्रुति अपभ्रंश
कवितामें ही अस्पष्ट हो उठी थी। अपनी रुचिके अनुसार लेखक लोग कहीं य
बना देते थे कहीं छोड़ देते थे। जन लेखक प्राय य श्रुतिके पक्षपाती हैं।
वस्तुतः अपभ्रंशकी प्रवृत्ति य श्रुतिको निश्चित रूप देनेके बहुत पक्षमें नहीं है।'[1]
उपर्युक्त उद्धरणों एवं विवेचनोंसे स्पष्ट हो जाता है कि इस दिशामें आचार्य
हजारीप्रसादजीका योगदान उल्लेखनीय है।

---

१ कुंभ, १९६६ ई० पृ० ११-६७।

हिन्दी साहित्यका आदिकाल

• •

विश्वनाथ त्रिपाठी

हिन्दी साहित्यके प्रथम वैज्ञानिक इतिहासकार आचार्य रामचन्द्र शुक्लने हिन्दी साहित्यका इतिहास की प्रारम्भिक पंक्तियोंमें ही साहित्यके इतिहासके सम्बन्धमें अपनी धारणा स्पष्ट कर दी है—'जबकि प्रत्येक देशका साहित्य वहाँकी जनताकी चित्त-वृत्तिका संचित प्रतिबिम्ब होता है तब यह निश्चित है कि जनताकी चित्त वृत्तिके परिवर्तनके साथ साथ साहित्यके स्वरूपमें भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदिसे अन्त तक इन्हीं चित्त वृत्तियोंकी परम्पराको परखते हुए साहित्य परम्पराके साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही 'साहित्यका इतिहास' कहलाता है। जनताकी चित्त वृत्ति बहुत-कुछ राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थितिके अनुसार होती है। अतः कारण स्वरूप इन परिस्थितियोंका किंचित दिग्दर्शन भी आवश्यक होता है।' शुक्लजीके इस कथनमें दो-टूक स्पष्टता ही नहीं बल्कि इतिहास सम्बन्धी दृष्टिकोणकी वैज्ञानिकता और आधुनिकता भी है। साहित्येतिहास सम्बन्धी यह धारणा आज भी उपयुक्त और वैज्ञानिक कही जायेगी।

इतिहासके प्रथम संस्करणके वक्तव्यमें भी शुक्लजीने इतिहास सम्बन्धी धारणा व्यक्त की है। वे कहते हैं, 'शिक्षित जनताकी जिन जिन प्रवृत्तियोंके अनुसार हमारे साहित्यके स्वरूपमें जो जो परिवर्तन होते आये हैं जिन जिन प्रभावोंकी प्रेरणासे काव्यधाराकी भिन्न भिन्न शाखाएँ फूटती रही हैं, उन सबके सम्यक निरूपण तथा उनकी दृष्टिसे किये हुए सुसंगत काल विभागके बिना साहित्यके इतिहासका सच्चा अध्ययन कठिन दिखाई देता था।'' (प्रथम संस्करणका वक्तव्य)।

इसके थोड़ा ही आगे वे शिक्षित जनताकी प्रवृत्तियोंपर फिर बल देते हुए कहते हैं—'पाँच या छः वर्ष हुए छात्रोंके उपयोगके लिए मैंने कुछ संक्षिप्त नोट तैयार किये थे जिनमें परिस्थितिके अनुसार शिक्षित जनसमूहकी बदलती हुई प्रवृत्तियोंको लक्ष्य करके हिन्दी साहित्यके इतिहासके कालविभाग और रचनाकी

भिन्न शाखाओंके निरूपणका एक सच्चा ढाँचा खड़ा किया गया था।"
(प्रथम संस्करणका वक्तव्य)

ध्यान देनेकी बात है कि शुक्लजीके प्रथम और दूसरे तथा तीसरे उद्धरण में थोड़ा अन्तर है। प्रथम उद्धरणमें वे साहित्यको जनताकी चित्त-वृत्तिका संचित प्रतिबिम्ब मानते हैं और उसमें परिवर्तनका कारण 'जनताकी चित्तवृत्तिमें परिवर्तन' बताते हैं जब कि जिस पद्धतिसे उन्होंने 'हिन्दी साहित्यका इतिहास' लिखा था उसे प्रकट करते हुए वे शिक्षित जन समूहकी बदलती हुई प्रवृत्तियों की बात करते हैं। इनके इन वाक्योंमें अन्तर्विरोध नहीं है लेकिन आग्रहमें अन्तर साफ दिखलाई पड़ता है।

जनता और शिक्षित जनता में अन्तर है। शुक्लजीके अपने ही वक्तव्योंसे प्रकट है कि साहित्य यद्यपि जनताकी चित्त-वृत्तिका संचित इतिहास होता है किन्तु उन्होंने जो नोट तैयार किये थे वे शिक्षित जनताकी प्रवृत्तियोंपर आधारित थे। आगे हम देखेंगे कि शुक्लजीके इस दृष्टिकोणने उनके इतिहासको विशेषकर आदिकाल और भक्तिकालको कम प्रभावित नहीं किया है।

शुक्लजीने अपने इतिहासमें जहाँ-तहाँ अशिक्षित या अर्धशिक्षित शब्दोंका प्रयोग किया है उन्हें यदि ढूँढा जाय तो यह तथ्य आश्चर्यजनक रूपसे प्रकट होता है कि इनका प्रयोग उन्होंने वीरगाथाकाल और भक्तिकालपर लिखते समय नाथ सिद्धों और ज्ञानाश्रयी धाराके निर्गुण कवियोंके ही सन्दर्भमें किया है। कुछ उदाहरण देना अप्रासंगिक न होगा—

वज्रयानी सिद्धान्त निम्न श्रेणीकी प्रायः अशिक्षित जनताके बीच किस प्रकारके भावोंके लिए जगह निकाली यह दिखाया जा चुका है (पृ० २०)।

सामान्य अशिक्षित या अर्धशिक्षित जनतापर इनकी बानियोंका प्रभाव इसके अतिरिक्त और क्या हो सकता था' इत्यादि (पृ० ६१)।

"संस्कृत बुद्धि संस्कृत हृदय और संस्कृत वाणीका वह विकास इस शाखा (ज्ञानाश्रयी) में नहीं पाया जाता जो शिक्षित समाजको अपनी ओर आकर्षित करता पर अशिक्षित जनता और निम्न श्रेणीकी जनतापर इन सन्त महात्माओंका बड़ा भारी उपकार है' (पृ० ७१)।

'भक्ति या विनयके कीर्तन-सा' मात्र साखी भागमें कहे गये हैं (गुरु नानकके द्वारा), क्योंकि समान अशिक्षितोंपर प्रभाव डालनेके लिए टेढ़े मेढ़े रूपकोंमें नहीं" (पृ० ८८)।

शुक्लजी एक ओर निर्गुण सम्प्रदायकी ज्ञानाश्रयी धाराका सम्बन्ध अर्ध-शिक्षितों और अशिक्षितोंसे जोड़ते हैं तो सगुण भक्ति आन्दोलनके प्रवर्तक

सम्बन्धमें उनकी ये पंक्तियाँ भी ध्यान देने योग्य हैं—

"ऊपर जिस अवस्थाका दिग्दर्शन हुआ है, वह सामान्य जन-समुदायकी थी। शास्त्रज्ञ विद्वानोंपर सिद्धों और जोगियोंकी बानियोंका कोई असर न था वे उधर पड़े अपना कार्य करते जा रहे थे। पण्डितोंके शास्त्रार्थ भी होते थे, दार्शनिक खण्डन मण्डनके ग्रन्थ भी लिखे जाते थे। विशेष चर्चा वेदान्तकी थी। ब्रह्मसूत्रोंपर, उपनिषदोंपर, गीतापर, भाष्योंकी परम्परा विद्वन्मण्डलीके भीतर चली चल रही थी जिसमें परम्परागत भक्ति मार्गके सिद्धान्त पक्षका कई रूपोंमें नूतन विकास हुआ," (पृ० ६२)।

स्पष्ट है कि आचार्यने नाथ सिद्धोंकी और ज्ञानाश्रयी कवियोंकी रचनाओंका सम्बन्ध अशिक्षित अर्धशिक्षित और सामान्य जन-समुदायसे जोड़ा है जब कि भक्तिमार्गके नूतन विकासका सम्बन्ध विद्वन्मण्डलीसे जोड़ा है।

शुक्लजीके इतने वक्तव्योंको उद्धृत करनेका तात्पर्य यह है कि भक्तिकालके उद्भव सम्बन्धी उनकी धारणाके पीछे उनका जो दृष्टिकोण था उसे समझा जा सके।

भक्तिकालके पूर्व जो धार्मिक साहित्य था, वह साम्प्रदायिक और अशिक्षितोंको प्रभावित करनेके लिए रचा गया था और भक्तिमार्गका नूतन विकास ब्रह्म-सूत्रों उपनिषदों और गीताके भाष्योंसे हुआ था फिर भक्तिकाल आदिकालका स्वाभाविक विकास कैसे हो सकता था—नहीं हो सकता था।

आदिकालमें जो सच्चा और शुद्ध साहित्य था वह तो वीरतापरक था। फिर वीरताका विकास भक्ति में कैसे हुआ। शुक्लजीको इसका कारण ढूँढनेमें दिक्कत नहीं पड़ी। वीरगाथा-कालके वीर तो पराजित हो गये और जनता उनकी पराजयसे निराश हो गयी। फिर निराशासे भक्तिकी धारा स्वभावतः फूट पड़ी। "देशमें मुसलमानोंका राज्य प्रतिष्ठित हो जानेपर हिन्दू जनताके हृदयमें गौरव, गर्व और उत्साहके लिए वह अवकाश न रह गया। उसके सामने ही उनके देवमन्दिर गिराये जाते थे, देवमूर्तियाँ तोड़ी जाती थीं और पूज्य पुरुषोंका अपमान होता था और वे कुछ भी नहीं कर सकते थे। इतने भारी राजनीतिक उलट-फेरके पीछे हिन्दू जन-समुदायपर बहुत दिनों तक उदासी-सी छायी रही। अपने पौरुषसे हताश जातिके लिए भगवानकी शक्ति और करुणाकी ओर ध्यान ले जानेके अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?" (पूर्व मध्यकाल सामान्य परिचय)

भक्तिका सम्बन्ध राजनैतिक पराजयसे जोड़ देनेसे नाथ सिद्धोंका साहित्य भक्तिके विकासकी दृष्टिसे सम्बन्धहीन हो गया। विचित्र बात है कि जो भक्त

कवि मुसलमानों-द्वारा पराजित होनेके कारण निराश होकर भगवानकी शरणमें गये थे उन्होंने मूलसे भी कभी इसलाम या मुसल्मानोंका विरोध या उनकी निन्दा नहीं की है। वे इस विषयमें अत्यन्त उदार हैं। और फिर सूफी कविता भी तो भक्तिके अन्तर्गत मानी गयी है। सूफी कवि मुसलमान थे उनके हृदयमें मुसल्मानोंकी विजयसे क्योंकर निराशा छा गयी? फिर सारी बातें एक तरफ रख दी जायें तब भी यह विश्वास करना कठिन है कि निराशा और पराजय वह उदारता सहृदयता और अनन्त स्वाभिमान दे सकता है जो भक्ति आन्दोलनका मूल स्वर है और जिसके अभावमें भक्ति साहित्य-जैसे साहित्यकी रचना असम्भव था।

आज भक्तिकालके उद्गमपर यह बहस खतम-सी हो चुकी है और अब गुक्लजीके एतद्विषयक विचारोंकी सीमाओंको लगभग स्वीकार कर लिया गया है और यह 'हिन्दी साहित्यकी भूमिका' के प्रकाशनसे सम्भव हुआ है। भूमिका आज प्रकाशित होनेवाली भारी भरकम पुस्तकोंकी तुलनामें काफी छोटी और पतली पुस्तक है। पुस्तकके प्रारम्भमें एक पृष्ठ प्रकाशककी ओरसे है और एक ही पृष्ठ लेखकका प्राक्कथन या उपोद्घात नहीं, निवेदन है। लेकिन पुस्तकके प्रारम्भके ही एक-दो छोटे-छोटे पैराग्राफोंमें जो दृढ़ता और स्पष्टता दिखलाई पड़ती है वह आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीकी भी अन्य कृतियोंमें दुर्लभ है

आजसे लगभग हजार वर्ष पहले हिन्दी साहित्य बनना शुरू हुआ था। इन हजार वर्षोंमें हिन्दी भाषी जन-समुदाय क्या सोच-समझ रहा था इस बातकी जानकारीका एकमात्र साधन हिन्दी साहित्य ही है। एक यह कि हिन्दी साहित्य एक हतदर्प पराजित जातिकी सम्पत्ति है, इसलिए उसका महत्त्व उस जातिके राजनीतिक उत्थान-पतनके साथ अङ्गाङ्गि भावसे सम्बद्ध है और दूसरा यह कि ऐसा न भी हो तो भी वह एक निरन्तर पतनशील जातिकी चिन्ताओंका मूर्त प्रतीक है जो अपने आपमें कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता। मैं इन दोनों बातोंका प्रतिवाद करता हूँ मैं इसलामके महत्त्वको भूल नहीं रहा हूँ लेकिन जोर देकर कहना चाहता हूँ कि अगर इसलाम नहीं आया होता तो भी इस साहित्यका बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है। (भूमिका पृ० २)।

इस उद्धरणमें कुछ बातें रेखांकित की जा सकती हैं—

१ जनसमुदाय जो सोच-समझ रहा था हिन्दी साहित्य उसकी जानकारीका साधन है।

२ हिन्दी साहित्य हतदर्प पराजित जातिकी सम्पत्ति नहीं है और अगर

इसलाम नहीं आया होता तो भी हमारा साहित्य करीब-करीब वैसा ही रहता जैसा है।

बातें कहनेके लिए तीन हैं, लेकिन ज़रा-सी ही गहराईसे सोचनेपर पता चल जाता है कि ये तीनों वक्तव्य परस्पर पूरक हैं और एक ही सूत्रकी तर्कपूर्ण परिणति है। सूत्र है, साहित्य जन समुदायके विचारोंको सोचने समझनेका साधन है, यानी साहित्य जन-समुदायकी अभिव्यक्ति है। आश्चर्यजनक समानता है 'हिन्दी साहित्यका इतिहास' और 'हिन्दी साहित्यकी भूमिका' की प्रारम्भिक पंक्तियोंमें। शुक्लजी और द्विवेदीजी—दोनों शुरूमें ही 'जनता' या 'जन-समुदाय' की बात करते हैं—लेकिन इतिहास-लेखनकी पद्धतिमें अन्तर है। इतने सारे उद्धरण जो ऊपर दिये गये हैं उनसे स्पष्ट है कि शुक्लजी साहित्यको शिक्षितोंकी अभिव्यक्ति मानते हैं व साहित्यका अधिकारी भी शिक्षितोंको ही मानते हैं—हमने देखा है कि जो साहित्य अर्धशिक्षितों अशिक्षितों और सामान्य जन समुदाय को प्रभावित करनेके लिए लिखा गया था वह उन्हें पसन्द नहीं है।

उद्देश्य यहाँ शुक्लजी और द्विवेदीजीके वक्तव्योंको उद्धृत करनेका किसीको उन्नीस बीस बताना नहीं है बल्कि उनकी साहित्येतिहास सम्बन्धी धारणाओं और उनके इतिहास-लेखनकी आधारभूमि समझनेका प्रयास करना है। मुझे नहीं मालूम कि अभीतक हिन्दी साहित्यके किस आलोचक और इतिहासकारने शुक्लजीको द्विवेदीजीसे अधिक श्रद्धापूर्वक स्मरण किया है। "हिन्दी साहित्यका सचमुच ही क्रमबद्ध इतिहास पं० रामचन्द्र शुक्लने 'हिन्दी शब्द सागरकी भूमिका' के रूप में सन् १९२९ ई० में प्रस्तुत किया। शुक्लजीने प्रथम बार हिन्दी साहित्यके इतिहासको कविवृत्त संग्रहकी पिटारीसे बाहर निकाला। पहली बार उसमें श्वासप्रश्वासका स्पन्दन सुनाई पड़ा। पहली बार वह जीवन्त मानव विचारके गतिशील प्रवाहके रूपमें दिखाई पड़ा," (आलोचना पृ० २) तथा "भारतीय काव्यालोचन शास्त्रका इतना गम्भीर और स्वतन्त्र विचारक हिन्दीमें तो दूसरा हुआ ही नहीं अन्यान्य भारतीय भाषाओंमें भी हुआ है या नहीं ठीक नहीं कह सकते—शायद नहीं हुआ," (पृ० १४६,)। कहना न होगा कि शुक्लजीके बारेमें द्विवेदीजीके ये वाक्य एक तरफ और ऊपर लिखी गयी और चीज़ें एक तरफ। जहाँतक मूर्ति बनाकर पूजनेका सवाल है यह काम या तो साहित्यिक पण्डे ही कर सकते हैं या साहित्यिक दूकानदार ही। महान साहित्यकारको श्रद्धा और सहानुभूति देनेका नहीं, समझनेकी ज़रूरत होती है अस्तु।

'हिन्दी साहित्यकी भूमिका' भक्तिकालके उदयकी परिस्थितियों और उसका

उचित सम्भ प्रस्तुत करती है। भक्तिकालीन साहित्यमें जिस उदार लोक दृष्टि के दर्शन होते हैं उसके विकासकी कहानी प्रस्तुत करती है यह। और इस उदारता और विश्वबन्धुत्वका सम्बन्ध राजनैतिक पराजय और निराशासे न जोड़कर रूढ़िवादिता और जड़शास्त्रीयताके विरुद्ध उन विविध धार्मिक आन्दोलनसे जोड़ती है जिनका सम्बन्ध इस देशके जन-समुदायसे था। भक्तिकालीन साहित्य यदि लोकवादी और उदार है तो उसका कारण यह है कि वह हिन्दी भाषाके साधारण जन-समुदायकी भावनाओंकी अभिव्यक्ति करता है। 'भूमिका' के पहले अध्यायका शीर्षक है 'भारतीय चिंताका स्वाभाविक विकास'। 'प्रतिवाद' स्वाभाविक विकास' में विद्यमान है। 'साहित्येतिहास सम्बन्धी अपनी कोई धारणा गुप्त ही प्रकट किये बग़ैर आचार्य द्विवेदीने इतिहास लेखनकी वह पद्धति अपनायी है जिसे शुक्लजीने 'हिन्दी साहित्यका इतिहास' के प्रारम्भमें परिभाषित किया है। द्विवेदीजीकी इन पंक्तियोंको देखिए—"इस प्रकार महायान सम्प्रदाय या यों कहिए कि भारतीय बौद्ध सम्प्रदाय सन् ईसवीके आरम्भसे ही लोकमतकी प्रधानता स्वीकार करता गया। सन् ईसवीके हजार वर्ष बाद तक यह अवस्था सभी सम्प्रदायों, शास्त्रों और मतोंकी हुई। मुसलमानी समगसे उनका कोई सम्पर्क नहीं है। हजार वर्ष पहलेसे व ज्ञानियों और पण्डितोंके ऊँचे आसनसे नीचे उतरकर अपनी असली प्रतिष्ठा-भूमि लोकमतकी ओर आ रहे थे। उन्होंकी स्वाभाविक परिणति इस रूपमें हुई। उसी स्वाभाविक परिणतिका मूर्त प्रतीक हिन्दी साहित्य है। मैं इसी रास्ते साथनेका प्रस्ताव करता हूँ। मतों, आचार्यों, सम्प्रदायों और दार्शनिक चिंताओंके मानदण्डसे लोक चिन्ताको नहीं मापता बल्कि लोक चिंताकी अपेक्षा में उन्हें देखनेकी सिफारिश कर रहा हूँ।" (भूमिका पृ० ८)

यानी वे भक्ति-साहित्यके विकासको लोकचिंताकी स्वाभाविक परिणति माननेकी सिफारिश कर रहे हैं। लेकिन आचार्य द्विवेदीका यह वक्तव्य केवल भक्ति-साहित्यके विषयमें नहीं है। वस्तुतः यह उनका साहित्येतिहास सम्बन्धी दृष्टिकोण है। भक्ति-साहित्यपर यहाँ इतना बहस करके उनके इतिहासदृष्टिकोणका परिचयमात्र दिया गया है। साहित्यका इतिहास भी मूलतः मानव इतिहास है। राजनैतिक इतिहास, आर्थिक इतिहास, धार्मिक इतिहास—सभी प्रकारके इतिहास अपने-अपने क्षेत्रमें मनुष्यकी विकास-यात्राका अध्ययन करते हैं। इन सभी अध्ययनोंका केन्द्र मनुष्य है। साहित्यका केन्द्र भी मनुष्य ही है। इसलिए जब हम साहित्यके इतिहासकी बात करते हैं तो वस्तुतः हमारा उद्देश्य साहित्यके माध्यमसे अभिव्यक्त किसी विशिष्ट देश-कालके मनुष्य

वे ही इतिहाससे होता ह। और मनुष्यका अर्थ सामूहिक मनुष्यसे होता ह।
शिक्षित और अशिक्षितका अन्तर करना इस क्षेत्रमें बहुत खतरनाक ह। एक
तो वे हमेशा एक दूसरेको प्रभावित करते रहते ह और इन वर्गोंके बीच कोई
अभेद्य दीवार नही होती, दूसरे प्रत्येक वर्गकी स्थिति—उसकी भाव स्थिति भी
उसके चारो ओरके समाज और परिवेशसे निर्मित और निश्चित होती ह। इस
लिए सामान्य जन-समुदाय और शिष्ट या विशिष्ट जन समुदायका यह अन्तर
करना साहित्यके अध्ययनके लिए बहुत समीचीन नही ह।

भक्ति साहित्यको पूर्ववर्ती साहित्यका स्वाभाविक विकास सिद्ध करनेके लिए
भक्ति-काल पूर्व हिन्दी साहित्य यानी आदिकालका अध्ययन आवश्यक था। द्विवेदी
जीने आदिकालका जो विशद और गम्भीर अध्ययन किया ह उसकी शुरुआत
भूमिका' में ही हो गयी थी। पता नही लोगोके ध्यानमें यह बात आयी ह कि
नही कि वस्तुत हिन्दी साहित्यका आदिकाल' और हिन्दी साहित्यकी भूमिका
दोनो मिलकर एक पूर्ण ग्रन्थ बनते ह। और 'भूमिका' का प्रथम अध्याय 'भारतीय
चिन्ताका स्वाभाविक विकास उस पूर्ण ग्रन्थकी 'सिनाप्सिस' ह।

भक्तिकालीन साहित्य यदि निराशा और पराजयका साहित्य नहीं ह तो
हमें इसके पूर्वकी उन प्रवृत्तियोंकी खोज और विवेचना करनी होगी, जिनकी
स्वाभाविक परिणति भक्ति साहित्य या परवर्ती साहित्यमें हुई। इसके लिए हम
आदिकालपर विचार करना पड़ेगा—आचार्य द्विवेदी इस भूमिकापर आदि
कालीन साहित्यपर विचार प्रारम्भ करते ह। उन्हें आदिकालीन साहित्यकी
प्रवृत्तियोंमें उन सूत्रोंकी खोज करनी ह जिनका विकास लोकवाणी भक्ति साहित्य
- हुआ।

और इसके लिए उन्हें हिन्दी साहित्यके जन्मसे भी पहलेकी दस शताब्दियों
। यात्रा करनी पड़ी ह। इस लम्बी यात्रापर चल निकलनेके पीछे गय मनोवृत्ति
। वह यह कि जो उपेक्षित और साधारण या महत्त्वहीन समझा जा रहा ह उसे
वस्तुत महत्त्वहीन और उपेक्षणीय न समझनेकी मनोवृत्ति। ऊपर स्थित मनुष्य
को ही नहीं बल्कि समूचे या सामूहिक मनुष्यको जाननेकी मनोवृत्ति ह। इसीलिए
कभी व कहते ह कि "लोक प्रचलित बातोंको कोरी गप्प कहकर उड़ा देनेकी
सामर्थ्य नहीं संचित कर पाया हूँ," कभी कहते हैं कि 'इस अपरम्पार-पुराना
प्रकाशित करने योग्य जो भी चिनगारी मिल जाये उसे सावधानीसे जिला रखना
कर्तव्य ह क्योंकि यह बहुत बड़े आलोककी सम्भावना लेकर आयी होती ह
उसके पटमें करुण उस युगके रसिक हृदयकी धड़कनका ही नहीं, केवल सुशिक्षित
चित्तके मथन और सुचिन्तित वाग्व्यापारका ही नहीं, बल्कि उस युगके सम्पूर्ण
शान्तिनिकेतनसे शिवालिक

मनुष्यको उद्भासित करनेकी क्षमता छिपी होती है।" (आदिकाल पृ० २७)

ज्ञात है कि सम्पूर्ण मनुष्यको समझनेकी कोशिश करनेवाला व्यक्ति समाज के किसी वर्गकी उपेक्षा नहीं करेगा। इसीलिए द्विवेदीजीने नाथ सिद्धोंकी वानियों और शुक्लजी-द्वारा अविवेच्य, घोषित कर दिये गये साहित्यकी उपेक्षा नहीं की है। मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि द्विवेदीजीने उपेक्षितकी महत्ता ही है उन्होंने उस महत्ताकी खोज की है। उस साहित्यका एक ऐसा पक्ष अवश्य विद्यमान है जो अपने युगके एक बहुत बड़े मानव-समुदायकी आशा-आकांक्षाओंका प्रतिनिधित्व करता है। नाथ और सिद्ध कवि चाहे जितनी रहस्यमय या साम्प्रदायिक बातें करते हों लेकिन जब वे जाति-पाँतिका विरोध करते हैं ऊँच-नीचके भेदको अस्वीकार करते हैं और समाजकी नीची समझी जानेवाली जातियोंके प्रति आग्रह पूर्वक अपनी सहानुभूति देते हैं तब वे स्पष्ट रूपसे इस संसारकी बातें करते हैं और मनुष्यताका एक सामान्य मार्ग निकालते हैं। धर्म या सम्प्रदायका नाम देख कर ही चौंक पड़ना और उन्हें साहित्यकी कोटिसे बहिष्कृत कर देना सहृदयता नहीं है। मनुष्यताका प्रश्न शिक्षा और अभिजात्य प्रश्नसे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। सरहपा ब्राह्मण वर्णमें उत्पन्न हुए थे। उन्होंने शास्त्रोंका सम्यक् अध्ययन भी किया था। वे अपने समयके प्रसिद्ध शिक्षापीठ नालन्दामें अध्यापन भी कर चुके थे। इतना होनेपर भी यदि उन्होंने अपने समयमें शाग कन्याको सहचरी बनाया और अपनी रचनाओंमें भी जातिप्रथाका खण्डन किया तथा उपेक्षितोंके प्रति तीव्र सहानुभूतिके कारण और मानव-मात्रके लिए अपने हृदयकी अपार करुणाके कारण। महायानकी इस करुणाने यदि इतना मूर्त और लौकिक रूप धारण किया तो न उस समाजके लिए अहितकर समझना चाहिए न साहित्यके लिए। द्विवेदीजीने इस विषयमें स्पष्ट करते हैं कि जाति-वर्णके भेदसे जर्जरीभूत इस देशमें जो कोई भी महासाधक आया है उसने यह प्रथा तोड़नेका... है। एक बहुत-से प्राचीन ग्रन्थ हैं जिनमें जाति भेदका बड़ा बलपूर्वक खण्डन किया गया है। सच्ची बात यह है कि समाजके सभी सदस्योंको और विभिन्न विरोधी व्यक्तियोंकी तरह कवि भी यथार्थकी भूमिपर खड़े होकर समकालीन व्यवस्थाकी त्रुटियोंपर आघात करता है। नाथ सिद्धोंकी कविताओंमें यदि यह प्रहार किया गया है तो उन अभिव्यक्तियोंपर रोक लगानेकी कोशिश न करके उन्हें सच्चे युग करुणाजनित और सत्यनिष्ठ किन्तु महत्त्वपूर्ण अभिव्यक्ति मानना अधिक समीचीन होगा। जाति-पाँतिकी प्रथापर प्रहार और वर्णाश्रम व्यवस्थाकी उपेक्षाकी परम्परा—यह विकास ही भक्तिकालीन क्रान्तिका मौलिक और उदार बनाता है। कबीर जिन्होंने समाज और संस्कृति तथा

बन्दर-भारुआकी भगवान्का जो स्नेह साहचय मिला है उसमें कहीं-न-कहीं इन नाथ सिद्धोंका भी योगदान है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी साफ कहते हैं—"बौद्ध धर्म क्रमशः लोकधर्मका रूप ग्रहण कर रहा था और उसका निश्चित चिह्न हम हिन्दी साहित्यमें पाते हैं। इतने विशाल लोकधर्मका थोड़ा पता भी यदि यह हिन्दी साहित्य दे सके तो उसकी बहुत बड़ी सार्थकता है। (पृ० १०)

वस्तुतः साहित्यका मूल स्रोत साहित्य नहीं, जीवन होता है। जीवन कोई गोल मोल या समग्र और एकरूपमें न आनेवाली चीज नहीं है। यद्यपि वह इतना विविध रूपी और कभी-कभी इतना परस्पर विरोधी अवश्य है कि अपने बारेमें विस्तारपूर्वक भ्रममें मन्तव्यों पैदा कर दे। जीवनका मतलब जीवनके सभी पक्ष। इनमें-से कोई भी पक्ष साहित्य सृजनकी प्रेरणा दे सकता है। सच्ची बात यह है कि जैसे फल्म पक नहीं लगता वैसे साहित्यने साहित्य नहीं पैदा होता। धर्म यदि भारतीय जीवनका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व रहा है तो शुद्ध साहित्य की प्रेरणा क्या नहीं दे सकता? आचार्य शुक्लको तो बादमें प्रकाशित होनेवाली जैन कवियोंकी रचनाएँ देखनेको नहीं मिली थीं। लेकिन बादमें लोग शुक्लजीकी दुहाई दे देकर धर्मको साहित्यका विरोधी कहने लगे। धर्म प्रेरित रचनाओंको असाहित्यिक माननेवाले यह भूल ही गये कि सूरदास और तुलसीदासकी रचनाएँ भी धर्म प्रेरित हैं। हिन्दी साहित्यका आदिकाल में द्विवेदीजीने "नाथ" ऐसे ही लोगोंका सम्बोधित करते हुए लिखा है—'धार्मिक साहित्य होनेमात्रसे कोई रचना साहित्यिक कोटिसे अलग नहीं की जा सकती। यदि ऐसा समझा जाने लगे तो तुलसीदासका 'रामचरितमानस' भी साहित्य क्षेत्रमें अविवेच्य हो जायगा और जायसीका पद्मावत भी साहित्य सीमाके भीतर नहीं घुस सकेगा।

द्विवेदीजीने जैनियोंकी धर्मप्रेरित और लौकिक कथाओंपर आधारित रचनाओंका सम्बन्ध सूफी रचनाओंसे जोड़ा है। लोक प्रचलित कहानियोंको आधार बनाकर उन्हें अपनी इच्छानुसार किसी रंगमें रंग देनेकी परम्परा उन काव्यमें तो मिलती ही है, उसका विकास आगे भी दिखाई पड़ता है। धनपाल रचित 'भविष्यत्त कथा' का कथानक देखा जाय तो पता चलता कि वह आद्योपान्त लौकिक है। वह कथा बिल्कुल ही वैसी जैसी कि 'सिंहासन बत्तीसी' या कोई दूसरी लोकप्रचलित परम्परित कथा या मिरगावत-पद्मावत या चित्रावलीकी कथा। विशेषता केवल यह है कि भविष्यदत्त विपत्तिसे छुटकारा पाता है जिनकी पूजा करनेके कारण। उसका सफलताका कारण यह भी है कि उसकी माँ श्रुतपंचमीका व्रत रखती है। ऐसी कथाओंमें कथानक और उसकी सार्थकता पूर्णतः सुरक्षित रहती है। यही बात हम सूफी काव्योंमें भी पाते

है। ये कवि भी लोक प्रचलित परम्परागत भारतीय कथाओंको आधार बना कर काव्य रचते हैं। चन्दावत 'मिरगावत' पद्मावत इत्यादिकी कहानियाँ तत्कालीन जनतामें प्रचलित थीं। उनमेंसे कइयोंके लोक प्रचलित रूप तो आज भी मिलते हैं। चाँदा और लोरिककी जिस प्रेम-कथाका आधार बनाकर मौलाना दाऊदने १४वीं शतीमें चन्दायन या चन्दावत की रचना की। उसके कई रूप आज भी जनतामें प्रचलित हैं। सूफियोंने किया केवल यह है कि ऐसी कथाओंको सूफी अभिप्रायोंसे युक्त कर दिया है। सो जैनियों-द्वारा रचित कथाओं और सूफियोंकी प्रेम कथाओंमें समानता स्पष्ट है वे एक ही कोटि-की रचनाएँ हैं।

जैनियोंकी धर्म प्रेरित रचनाओं और सूफी काव्योंमें ही समानता नहीं है। परवर्ती वैष्णव रचनाओंमें भी कुछ जैन रचनाओंका विकास देखा जा सकता है। कुछ जैन रचनाएँ कुछ तिथियोंपर व्रत या उपवास रखनेका उपदेश देनेके लिए या लोक प्रचलित कहानियोंपर आधारित हैं। भविष्यदत्तकी माँ श्रुतपंचमीका उपवास रखती थी—इसका उल्लेख अभी हुआ है। पुष्पदन्तकी प्रसिद्ध रचना 'णायकुमार चरिउ' या नागकुमार चरित नागकुमारके चरितके माध्यमसे श्रुतपंचमी व्रत रखनेका माहात्म्य बताती है। नागकुमारके बड़ी लगन चाहता वह ले मोमतीका सतम अनिच्छ था। नागकुमारने मादियों ता मुनि पिहिताश्रवसे उसे बताया कि पूर्वजन्ममें तूने श्रुतपंचमीका व्रत रखा था, उसीका यह फल है। अनन्तनाथ हो ईश्वरदासकी लिखी हुई एकादशी कथा' इसी प्रकारकी रचना है जिसमें एकादशी व्रतके माहात्म्यसे कथार पात्रोंको सफलता मिलती है। कथानक साधारण है उसे केवल हल्का-सा मोड़ देकर धार्मिक बना दिया जाता है। जो जो कथाएँ शुद्ध लौकिक हैं उन्हें भी सुनने और पढ़नेसे पुण्य तो होता ही है। सन्देशरासक अपभ्रंश कवि अब्दुररहमान द्वारा रचित शुद्ध लौकिक काव्य है लेकिन कविने उसे पढ़ने सुननेवालोंकी सफलताकी कामना तो प्रकट ही कर दी है 'तम पढ़त सुणत यह जयउ अणाइ अणतु"।

सूफी काव्यों—विशेषतः 'पद्मावत' के सम्बन्धमें कथानककी ऐतिहासिकता और अनैतिहासिकताका प्रश्न अक्सर उठाया जाता रहा है। आचार्य शुक्लने पद्मावतके कथानकपर इस दृष्टिसे गम्भीरतापूर्वक विचार किया था। वे इस निर्णयपर पहुँचे थे कि पद्मावतके कथानकमें अलाउद्दीनका चित्तौरपर चढ़ाई करने तथा उससे सम्बद्ध अंश ऐतिहासिक हैं और शेष अंश कविकी कल्पनाकी उपज है। इतिहासगत तथ्य और कल्पनाके इस मिश्रणको किसी एक

कवि या रचनाकी विशेषता न मानकर प्राचीन भारतीय-साहित्यकी एक मुख्य प्रवृत्ति माना है। और इसी प्रसंगमें उन्होंने मध्यकालीन साहित्यमें प्रयुक्त कथानक रूढ़ियोंके अध्ययनपर भी बल दिया है। भारतीय साहित्यमें एक-दो नहीं अनेक काव्य और अनेक कथा-कहानियाँ मिलेंगी जिनमें ऐतिहासिक व्यक्तिको निजन्धरी व्यक्तित्व बना दिया जाता है। मैं नहीं जानता कि अन्य देशोंके साहित्यमें भी यह प्रवृत्ति इतनी मात्रामें मिलती है कि नहीं लेकिन भारतीय साहित्यकी तो यह एक प्रमुख विशेषता प्रतीत होती है। विक्रमादित्य कालिदास, अकबर, गोरखनाथ मत्स्येन्द्रनाथ कबीर इन सबके साथ कितनी कहानियाँ गढ़कर चस्पाँ कर दी गयी हैं। इन सबके साथ जो कहानियाँ गढ़ी गयी हैं उनकी विशिष्ट कोटियाँ हैं। दूरकी बात जाने दें हमारे समयके ही जीवित महान व्यक्तियों—के साथ कितनी कथाएँ गढ़कर जोड़ दी गयी हैं। नेहरूजीके विषयमें यह किंवदन्ती कि उनके कपड़े पेरिसमें धुलते थे वे अत्यन्त एहतियातके साथ पहनते थे, कितने विश्वासके साथ कही और सुनी जाती है। मनोरंजक बात तो यह है कि स्वयं नेहरूजीने इन किंवदन्तियोंका खण्डन किया है लेकिन भारतीय मानस है कि यह अपनी चिराचरित विशेषताको छोड़नेको तैयार नहीं है। सो तथ्यके साथ कल्पनाका यह मिश्रण भारतीय साहित्यकी प्रवृत्ति तो है ही। वस्तुतः भारतीय जन-समुदायकी प्रवृत्ति है जो साहित्यमें प्रतिफलित और अभिव्यक्त हुई। इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है। आश्चर्य तो तब होता जब यह साहित्यमें न दिखलाई पड़ती। आचार्य द्विवेदीने चूँकि साहित्यको व्यापक सामूहिक मानव-जीवनके सन्दर्भमें, साहित्यिक प्रवृत्तियोंको देखा है इसलिए उनकी दृष्टि इस ओर गयी है। वे 'पृथ्वीराज रासो और पद्मावत में प्रयुक्त कथानक रूढ़ियोंकी चर्चा करते हुए लिखते हैं

पृथ्वीराज रासो और पद्मावत' भी ऐतिहासिक व्यक्तियोंके नामसे सम्बद्ध काव्य हैं। परन्तु अन्यान्य ऐतिहासिक काव्योंकी भाँति मूलतः इनमें भी ऐतिहासिक और निजन्धरी कथाओंका मिश्रण रहा होगा। ऐतिहासिक चरितका लेखक सम्भावनाओंपर अधिक बल देता है। सम्भावनाओंपर बल देनेका परिणाम यह हुआ है कि हमारे देशके साहित्यमें कथानकको गति और घुमाव देनेके लिए कुछ ऐसे अभिप्राय बहुत दीर्घकालसे व्यवहृत होते आये हैं, जो बहुत थोड़ी दूर तक यथार्थ होते हैं और जो आगे चलकर कथानक-रूढ़िमें बदल गये हैं। चित्तौरके राजा रत्नसिंहने सिंहलद्वीपकी राजपुत्रीसे विवाह हुआ था या नहीं इस ऐतिहासिक तथ्यसे कुछ लेना-देना नहीं है हुआ हो तो बहुत अच्छी बात है न हुआ हो तो होनेकी सम्भावना तो है ही। राजाके राजकुमारीसे विवाह

नहीं होगा तो किससे होगा ? शुक नामक पक्षी थोड़ा-बहुत मानव-वाणीका अनुकरण कर लेता है और भी तो कर सकता था। जितनी शक्ति उसे प्राप्त है उसमें अधिककी सम्भावना तो है ही। ऋषिके वरदानसे वह शक्ति बढ़ सकता है, ऋषिके शापसे पतित गन्धर्व यदि सुआ हो गया हो तो पुनर्जन्मके संस्कार उसको क्या ममन बना सकते हैं। जब ये सम्भावनाएँ हैं तो क्या न उसे सकल शास्त्र विचक्षण सिद्ध कर दिया जाये। इस प्रकार सम्भावना-बलपर और इनके कारण बहुत-सी कथानक रूढ़ियाँ इस देशमें चल पड़ी हैं। (आदिकाल पृ० ८०)

इस लम्बे उद्धरणको पढ़ते समय सहृदय पाठक इसकी शैलीसे अवश्य प्रभावित होगा। शैलीमें भारतीय जीवनकी सहजता है और तर्क बिल्कुल उसी ढंगसे दिये गये हैं जिस ढंगसे भारतका सामान्य आदमी सोचता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीकी यह बड़ी शक्ति है, सारे पाण्डित्य और शास्त्रज्ञानको क्षण भरमें दबाकर सहज और सामान्य आदमीकी तरह वस्तुओंको देख और सोच पानेकी शक्ति। उन विद्वानों और बुद्धिजीवियोंकी शक्ति बहुत क्षीण हो जाती है जो सामान्य व्यक्तिकी तरह सोच नहीं पाते। विडम्बना यह है कि शास्त्र आधारित होते हैं सामान्य जीवनके पर्यवेक्षणपर और उन्हींको पढ़कर शास्त्रज्ञ विद्वान सामान्य जीवनको देख पानेकी शक्ति खो देते हैं। शास्त्र चाहे जितने सुव्यवस्थित क्यों न हों जीवनसे पीछे ही रहेंगे—जो कुछ हमारे इर्द गिर्द हो रहा है वह सिद्धान्त और शास्त्रसे आगेका है। जबकि कई शास्त्रज्ञ हैं जो इस नित्य सर्जित निर्मजित होते रहनेवाले जीवनको किताबी पन्नोंमें समझना चाहते हैं। उस विद्वान्‌का योगदान सचमुच ही महत्त्वपूर्ण होता है जो शास्त्रज्ञ होते हुए भी शास्त्रों और किताबी दुनियाकी इस सीमाको पहचानते हैं। द्विवेदीजी इस सीमाको न केवल पहचानते हैं बल्कि उसे लाँघ भी लेते हैं। कबीरदासने उन पोथी पढ़-पढ़कर मरनेवाले पण्डितोंको ढाई आखर पढ़नेकी सलाह दी तो वस्तुतः उन्होंने प्रत्यक्ष जीवनमें जो घट रहा है उसीको देखनेकी सलाह दी थी। सिद्धोंका सहज मार्ग भी जड़शास्त्रीयताके प्रति विद्रोह था।

सामान्य जीवनके पर्यवेक्षणके आधारपर किसी निष्कर्ष तक पहुँचनेकी पद्धति वैज्ञानिक और आधुनिक है। वर्तमानके आधारपर अतीतका पुनर्निर्माण करना केवल साहित्येतिहास ही नहीं ज्ञानकी शाखाओंकी भी स्वीकृत पद्धति हो चली है। भौतिक विज्ञान तो पर्यवेक्षणपर आधारित ही है। नृतत्त्व शास्त्र और भाषाविज्ञानमें भी उपलब्ध सामग्रीको मूलाधार बनाकर पूर्वस्थिति तक पहुँचा जाता है। इस पद्धतिका सर्वोत्तम उदाहरण भाषाविज्ञानमें तुलनात्मक पद्धति

(कॅम्परटिव मेथड) और आन्तरिक पुर्ननिर्माण (इण्टरनल रिकॅन्स्ट्रक्शन) है जहाँ उपलब्ध सामग्रीको इकट्ठा करके फिर उन्हींके आधारपर पूर्वस्थिति तक पहुँच जाता है। यात्रा निश्चितसे अनिश्चितकी ओर सम्भव है। अनिश्चितसे यात्रा शुरू करनी कैसे सम्भव है जब वहाँ हम पहुँचे ही नहीं हैं। इसीलिए वह पद्धति जिसमें हम किसी चीजकी व्याख्या हम वेदोंसे शुरू करते हैं अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण है। वर्तमानसे चलना शुरू करें तो हम शायद वेदोंतक पहुँच भी जायें लेकिन शुरुआत ही वेदोंसे करेंगे तो वहाँ न पहुँच सकेंगे। अपने कालके जीवनका पर्यवेक्षण और शास्त्रीयता और पाण्डित्यकी जड़ न हिलने देना इस वैज्ञानिक पद्धतिके प्रयोग कर पानेकी पहली शर्त है। आचार्य द्विवेदीकी सहजता और लोक-चेतना तथा सामान्य मनुष्य बन रहनेकी शक्तिने उन्हें वैज्ञानिक इतिहासकार बनाया है। इस तथ्यको जान लेनेपर ही उनकी मानवतावादिता सहजता और सामान्य बन रहनेकी प्रवृत्तिका मर्म ठीक समझमें आता है। मा कथानक रूढ़ियोंकी दृष्टिसे आदिकालीन साहित्यको देखनेका आग्रह उस कालके मनुष्यकी दृष्टिसे देखनेका आग्रह है। और उस कालके मनुष्यकी दृष्टि उन्हें अपने कालके मनुष्यसे मिली है।



> साहित्यका इतिहास पुस्तकों, उनके लेखकों और कवियोंके उद्भव और विकासकी कहानी नहीं है। वह वस्तुतः अनादि-काल प्रवाहमें निरन्तर प्रवहमान जीवित मानव-समाजकी ही विकास-कथा है। ग्रन्थ और ग्रन्थकार, सम्प्रदाय और उनके आचार्य उस परम शक्तिशाली प्राणधाराकी ओर सिर्फ इशारा भर करते हैं।
>
> —हमारे पुराने साहित्यके इतिहासकी सामग्री

शान्तिनिकेतनमें शिवालिक

भक्तिकाव्य : गवाक्ष और दृष्टि

शिवप्रसाद सिंह

हिन्दीका भक्तिकाव्य अपनी रस-स्निग्धमयी भावधारा और बहुविध जीवनकी अनुभव-सम्पदाके कारण सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मयमें एक विशिष्ट स्थान रखता है। इसीको लक्ष्य करके रविबाबूने कहा था कि 'हिन्दीके भावुक-कवियोंने जिस रस वैचित्र्यका विकास किया उसमें असाधारण विशिष्टता है। वह विशेषता यह है कि एक साथ कविकी रचनामें उच्चकोटिकी साधना और अनुपम कवित्वका एकत्र मिलन सर्वत्र दिखाई पड़ता है जो अन्यत्र दुर्लभ है।' (सुन्दर-ग्रन्थावलीका प्राक्कथन) किन्तु यह विशिष्ट रस-वैचित्र्यपूर्ण साहित्य बहुत दिनों तक भस्मावृत ही पड़ा रहा। कुछ तो इस कारण कि हमने भक्तिकाव्यके अध्ययनको समुचित परिप्रेक्ष्य नहीं दिया और कुछ इस कारण कि हमारा प्रयत्न बहुत-कुछ वीचि विक्षोभको ही तल मानकर उसीमें सन्तुष्ट रहनेका बहाना करता रहा। भक्तिकाव्य अतीतके पुरातत्त्वोंकी तरह दुर्बोध होता गया। उसे समझनेके लिए हमने दर्शनों-की भीड़ इकट्ठी कर ली। तरह-तरहके साम्प्रदायिक शास्त्रों और दर्शनोंकी कतारें खड़ी करके हमने कुहासेका ही ढेर किया। प्रसादजीके शब्दोंमें

> 'सब कहते हैं 'खोलो खोलो, छवि देखूँगा जीवन धन की।'
> आवरण स्वयं बनते जाते, हैं भीड़ लग रही दर्शन की॥'

आचार्य द्विवेदीके सामने इस भक्तिकाव्यको समझने और समझानेकी जो समस्या थी उसकी दो प्रतिपत्तियाँ थीं। पहली तो यह कि भक्तिकाव्यके पढ़ने और समझनेके लिए अध्येताकी व्यक्तिगत तैयारी साधन साधना अथवा शक्ति और दूसरा पक्ष ऐसे पारदर्शी गवाक्षका निर्माण तथा दृष्टिका वह परिप्रेक्ष्य जो भक्तिकाव्यसे अस्पष्ट धूमिल, सदसद् आवरणको भेदकर उसके सच्चे वास्तविक रूप दिखा सके। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीने इन दोनों आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए जो असाधारण साधना, जो स्वाध्याय और जो तपश्चरण किया है, उसने न केवल हिन्दी साहित्यको एक अद्भुत प्रभापूर्ण और गरिमामय साहित्यिक व्यक्तित्व प्रदान किया बल्कि उनके प्रकाशमें उनकी पारदर्शी दृष्टिके आलोकमें मध्य

कालीन-साहित्यके अनुशीलनसे जनताको सभी प्रकारके कुहेलिका-जालको चीरकर भक्तिकाव्यके वास्तविक रूपको देखनेका अवसर मिला। द्विवेदीजीने भक्तिकाव्य को देखनेके लिए जिस गवाक्षका निर्माण किया उसका उससे पूर्णतः सायुज्य स्थापित हो गया और इसीलिए आधुनिक हिन्दी पाठकके लिए द्विवेदीजी स्वयं एक पारदर्शी गवाक्ष बन गये।

भक्तिकाव्यके अध्ययनके लिए जिस प्रकारका व्यक्तित्व चाहिए, वह द्विवेदीजीको पूर्णरूपसे प्राप्त है। सांस्कृतिक उदार, मानवतावादी पारग व्यक्तित्व। द्विवेदीजीने प्राचीन साहित्य और दर्शनका गम्भीर अध्ययन किया है। उनके अध्ययनके क्षेत्रकी विविधता किसे आश्चर्यचकित नहीं कर देती। प्राचीन उनकी आँखोंके सामने एक अखण्ड जीवित सत्ताके समान उपस्थित होता है। साहित्य शास्त्र, पुराण इतिहास, तन्त्र मन्त्र ज्योतिष, दर्शन पुरातत्त्व आदि इसी जीवित सत्ता को विभिन्न दृष्टिकोणोंसे समझनेका प्रयत्न करते हैं। द्विवेदीजी इनके माध्यमसे प्राचीनको खण्डशः विश्लिष्ट करके, पुनर्योजित करके और कभी-कभी पुनर्निर्मित करके उसकी समग्र व्याप्ति और तलस्पर्शी गहराईका समग्रतः सफल हुए हैं। यह पाण्डित्य उनके लिए कभी भार नहीं हुआ। भारके बोझसे दबकर गतिमें वे हो रहते हैं जो तन्मय नहीं हो पाते। पण्डितजीका पाण्डित्य उनके व्यक्तित्वकी अद्भुत रासायनिक प्रक्रियाके कारण उनकी मन बुद्धिका सहज अंग हो गया है। उन्होंने प्राचीनको इस रागात्मकताको अपनी आत्मामें उतार लिया है इसी कारण भक्तिसाहित्यके गूढ़ गहनस्तर कवियोंके दुर्बोध उद्गार उनके निकट अपना सारा रहस्य स्वयं खोल देते हैं। उन्होंने एक स्थानपर लिखा है कि "यह भगवत् प्रेम इन्द्रिय-ग्राह्य विषय नहीं है मन और बुद्धिको भी अतीत समझा गया है। इसका आस्वादन केवल आचरण द्वारा ही हो सकता है।' और इस साहित्यको समझ भी वही सकता है जो इस ज्ञानको शब्दजालमें बाँधकर सिर्फ ज्ञान रखनेका पाप ही न करे, बल्कि इसे अपने व्यवहारमें यथासम्भव उतार भी सके।

भक्तिकाव्यके अध्ययनके लिए सरस और अविकारी व्यक्तित्वकी दूसरी अनिवार्यता सहिष्णुता और सम्भ्रमता है जिसके बिना भक्तिसाहित्यका अध्ययन तरह-तरहके पूर्वाग्रहोंका शिकार बन जाता है। द्विवेदीजीके व्यक्तित्वमें इस औदार्यपूर्ण समग्र भाव-चेतनाका पग पग परिचय दिखाई पड़ता है। उनके निकट क्षुद्र सीमाएँ स्वयं ही व्यर्थ रही हैं। वे सर्वोच्च जातिमें उत्पन्न होकर भी जाति पाँतकी विभेद-ग्रन्थियोंसे मुक्त रहे। उनके लिए भक्त-कविका आर्य गुरुमुख मरा, मानव-सुलभ-वासनाओं आनन्दात्मक हृदय ज्यादा महत्त्वपूर्ण रहा। उनकी

बाह्य कलेवरगत स्थूल साम्प्रदायिकता नहीं ।

उनके व्यक्तित्वकी तीसरी विशेषता है रचनात्मक प्रतिभा । जो कुछ मिल सका है, उसीमे सन्तुष्ट न होकर जो होना चाहिए उसके प्रति उनकी अटूट आस्था है । वे इसी कारण भग्नावशेषोंके ढाँचेको देखकर उनपर बने हुए, किन्तु सम्प्रति अदृश्य विशाल भवनोंकी पुनः रचना कर सकते हैं । व्यक्तित्वका यह पारसगुण मध्यकालीन अथवा प्राचीन साहित्यकी पुनर्निर्मितिका अद्भुत शक्ति समन्वित है । इसी गुणने द्विवेदीजीको वह शक्ति प्रदान की है कि वे अस्पष्ट प्राचीन और धुँधले मध्यकालको एक सही-सवादी इतिहास चेतनाके समग्र रूपके साथ भलीभाँति जोड़ लेते हैं । भक्ति चेतनाको रचनात्मक धरातलपर उपस्थित करनेके प्रयत्नमें हिन्दीको भट्टिनी सुचरिता महामाया चन्द्रलेखा और नानी माता-जैसे चरित्र प्रदान किये ।

द्विवेदीजीके इस व्यक्तित्वका विकास काशीके शास्त्रीय आर्य वातावरणमें हुआ, और इसका पूर्ण पल्लवन उस बंगालमें जो आधुनिक भारतीय पुनर्जागरणकी जन्मभूमि रहा । भारतीय पुनर्जागरण यूरोपीय रेनेसाँसे कई दृष्टियोंमें भिन्न और कहीं अधिक भास्वर प्रवाह था । इसमें धार्मिक आन्दोलनोंके साथ वैज्ञानिक और औद्योगिक विकासके आधारकी प्रतिष्ठा तो थी ही राष्ट्रीयता और मानवतावादी दृष्टिका एक नया उन्मेष भी साथ ही था । यह आन्दोलन एक ओर राममोहन राय रामकृष्ण परमहंस और उनके मिशन केशवचन्द्र सेन ब्रह्मसमाज आदि धार्मिक व्यक्ति और संस्थाओंसे प्रेरित था जिसके मूलमें भारतीय आध्यात्मिकताकी पुनर्स्थापन शक्ति थी तो दूसरी ओर इस आन्दोलनमें कालजयी सौन्दर्यबोध और अबाध मानवताकी अप्रतिहत विजययात्राका मन्त्र देनेवाले रवि ठाकुर और उनके पूरे परिवारका अद्भुत सारस्वत संयोग भी था । इस वातावरणमें द्विवेदीजीके व्यक्तित्वको जैसे अपनी रुचिका क्षेत्र मिल गया और उन्होंने अपनी प्रतिभा कल्पनाशक्ति और श्रम-साधनाके बलपर इस नये वातावरणसे जीवनशक्ति और प्रेरणा लेकर अपने भीतर एक ऐसे व्यक्तित्वका निर्माण किया जो हिन्दी साहित्यके लिए सामान्य रूपमें और भक्ति काव्यके लिए विशेषतः एक अद्भुत पारदर्शी गवाक्ष बन गया ।

भारतीय पुनर्जागरणके वातावरणमें साँस लेनेवाले औद्योगिक विकास और वैज्ञानिक प्रक्रियामें आस्था रखनेवाले आध्यात्मिक धर्म साधनाओंसे ममता रखनेवाले, राष्ट्रीयता और विश्व मानवतावादकी अभ्यर्थना करनेवाले आलोचकको यह जानकर बड़ा आघात पहुँचा कि हमारे समूचे साहित्यको लोग हारी हुई

हतदर्प जातिका साहित्य समझते हैं। यह आघात कितना तीव्र था, इसका अनुमान निम्न पंक्तियोंसे लगाया जा सकता है :

"दुर्भाग्यवश हिन्दी साहित्यके अध्ययन और लोकचक्षु गोचर करनेका भार जिन विद्वानोंने अपने ऊपर लिया है वे भी हिन्दी साहित्यका सम्बन्ध हिन्दू जातिके साथ ही अधिक बताते हैं और इस प्रकार अनजान आदमीको दो प्रकारसे सोचनेका मौका देते हैं—एक यह कि हिन्दी साहित्य एक हतदर्प पराजित जातिकी सम्पत्ति है, इसलिए उसका महत्त्व उस जातिके राजनीतिक उत्थान पतनके साथ अगांगिभावसे सम्बद्ध है और दूसरा यह कि ऐसा न भी हो तो भी वह एक पतनशील जातिकी चिन्ताओंका मूर्त्त प्रतीक है, जो अपने-आपमें कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता।"[1]

इस आरोपका सबसे बड़ा दुष्परिणाम यह था कि हम अपने पूरे भक्तिकाव्य को जिसे हिन्दीका स्वर्ण युग कहते हैं इस्लामी आक्रमणसे संत्रस्त जातिकी दीनताका इजहार मान लेते हैं। इसीलिए द्विवेदीजीने काफी ज़ोर देकर कहा कि 'यदि इस्लाम न भी आया होता तो इस साहित्यका बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है और कुछ देरके लिए मान भी लें कि हमारा पूरा साहित्य एक हतदर्प जातिकी सम्पत्ति है तो भी इस साहित्यका अध्ययन एक आवश्यक वस्तु हो जाती है क्योंकि दस सौ वर्षों तक दस करोड़ कुचले हुए मनुष्योंकी बात भी मानवताकी प्रगतिके अनुसन्धानके लिए केवल अनपेक्षणीय ही नहीं अवश्य ज्ञातव्य वस्तु है।'[2]

हिन्दी साहित्यके विषयमें यह एक नयी दृष्टि थी एक विश्वासपूर्ण आस्थावान आत्मगौरवमयी मर्मी दृष्टि जिसने हमारे सम्पूर्ण दृष्टिकोणमें आमूल-चूल परिवर्तन उपस्थित कर दिया। भक्तिकाव्यका अध्ययन अबतक साहित्यशास्त्रके बँधे-बँधाये लक्षणों और तरीकोंके आधारपर किया जा रहा था। भक्तिकाव्यको तत्कालीन सामाजिक संघर्षोंके सच्चे प्रतिफलनके रूपमें रखकर समझने परखनेका प्रयत्न नहीं किया गया था। इस दृष्टिकोणकी दो कोटियाँ थीं दोनों परस्पर विरोधी किन्तु एक-दूसरेकी पूरक। पहली यह कि हिन्दी साहित्यके उन पक्षोंको सही ढंगसे उभारना और आलोकित करना जो हमारी वस्तुपूर्ण परम्पराके रिसीन-छिन्न प्रसंग जोड़कर और विकसित परम्पराको आगे संवृत करते हैं और दूसरी यह कि उन पक्षोंकी उचित छानबीन करना जो हमारी संस्कृति और

---

१ हिन्दी साहित्यकी भूमिका पृष्ठ २।

२ वहीं।

सभ्यताके अधःपतनकी कहानी कहते हैं और उन्हें इस प्रकार अनुसन्धानका विषय बताना चाहिए कि वे उन कारणोंका सही रूप दिखा सकें जो हमारे विनिपात के लिए उत्तरदायी हैं और उनसे यदि भविष्यके लिए मानव विकासकी यात्रामें कुछ सहायता मिल सके तो उसका भी उचित निर्देश दे देना ताकि उनसे बचा जा सके। मध्यकालीन साहित्यमें सद् असद् उचित-अनुचित, मृत जीवित, रूढ और स्पंदित प्रणालियोंका ऐसा सम्मिलन दिखाई पड़ता है कि सच्चा अनुसन्धानके भी वहाँ प्रायः डिग जाते हैं। द्विवेदीजीने इस दिशामें दो आलोक स्तम्भ कायम किये। पहला यह कि साहित्यका एकमात्र उद्देश्य मनुष्य है। साहित्य उसके लिए साध्य नहीं साधन है।

'मनुष्य ही साहित्यका लक्ष्य है'' शीर्षक निबन्ध द्विवेदीजीके दृष्टिकोणकी पूरी व्याख्या कर देता है। उन्होंने पहली पंक्तिमें ही लिखा है— 'मैं साहित्यको मनुष्यकी दृष्टिसे देखनेका पक्षपाती हूँ।' वे मनुष्यकी सार्वभौम सत्ता मानते हैं साहित्य इसके हितमें नियोजित साधन है साध्य नहीं। 'जो वाग्जाल मनुष्यको दुर्गति हीनता और परमुखापेक्षितासे बचा न सके जो उसकी आत्माको तेजोदीप्त न बना सके जो उसके हृदयको परदुःखकातर और संवेदनशील न बना सके उसे साहित्य कहनेमें मुझे संकोच होता है।'[1]

साधन रूपमें साहित्यका अध्ययन क्यों? इसलिए कि हम अपने प्राचीन और नवीन साहित्यके द्वारा अपनी आधुनिक समस्याओंका समाधान ढूँढनेका प्रयत्न करते हैं। उन्होंने साहित्यकारोंका उत्तरदायित्व शीर्षक निबन्धमें इसी बातका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि 'प्रधान बात है हमारी आधुनिक समस्याएँ। साहित्य अगर उनके लिए उपयुक्त अध्ययन-सामग्री नहीं उपस्थित करता तो वह बेकार है।'[2]

पहली मानवतावादी दृष्टि है और दूसरी उपयोगितावादी। इन दोनों दृष्टियोंका उनके व्यक्तित्वमें इस प्रकार संयोजन है कि दोनोंको अलग करके देखना प्रायः कठिन हो जाता है। इस प्रकारके दृष्टिकोणवाले प्रायः बड़े धरातलपर एक साथ स्थित प्रतीत होते हैं और इसी कारण सम्भवतः ऐसे ज्ञानियोंकी आलोचनाएँ भी विभिन्न धरातलीय हुआ करती हैं। जो लोग इस समग्र भाव चेतनाके असली स्वरूपको नहीं पहचानते वे द्विवेदीजीसे तरह-तरहकी आशाएँ रखते हैं और बहुत प्रयत्नों और आग्रहोंके बावजूद अपनी रुचिकी पूर्ति न देखकर वे आक्रामक हो उठते हैं। कभी उपयोगितावादी अनाप्त प्रसन्न

1 अशोकके फूल, पृ०, १५६।
2 वही पृ० १५१।

और सन्तुष्ट होकर उनसे एकांगी यथार्थके अतिवादी रूपकी स्वीकृति माँगी जाती है, कभी उनके मानवतावादको दक्षिणपंथी विचारधाराका पर्याय मानकर उनसे वामपंथी विचारोंके सक्रिय विरोधकी माँग की जाती है। कभी वे धर्म-संस्थानोंमें साम्प्रदायिक साहित्यपर भाषण देनेके लिए बुलाये जाते हैं जहाँ बाह्याचार और कर्मकाण्ड पूजित होता है, तो कभी सुधारवादी धर्म-सभाओंके सभापतिके लिए आमन्त्रण आता है, जहाँ सहज जीवनकी विरोधी रूढ़ियोंकी धज्जियाँ उड़ायी जाती हैं। मैं यह नहीं कहता कि परस्पर विरोधोंमें प्रतीत होनेवाले ये पक्ष द्विवेदीजीके व्यक्तित्वमें नहीं हैं। हैं किन्तु ये खण्ड हैं बाह्य व्यक्तित्वके परस्पर भिन्न प्रतीत होते हुए टुकड़े, जिन्हें सँजोकर, रासायनिक प्रक्रियामें अविरल बनाती हुई, एक तारमें गूँथती हुई अन्तस् समग्र भाव चेतना है जो उनके पूरे व्यक्तित्वमें अनुस्यूत है और उसे उपर्युक्त दो आलोक स्तम्भोंके प्रकाशमें भलीभाँति देखा जा सकता है।

उन्होंने इन्हीं दोनों उद्देश्योंको दृष्टिमें रखकर भक्तिकालका अध्ययन किया है। वे लिखते हैं— 'इस देशमें हिन्दू हैं, मुसलमान हैं, ब्राह्मण हैं, चाण्डाल हैं, धनी हैं, गरीब हैं—विरुद्ध संस्कारों और विरोधी स्वार्थोंकी विराट वाहिनी है। इसमें पद-पदपर गलत समझे जानेका अन्देशा है, प्रतिक्षण विरोधी स्वार्थोंके संघर्षमें पिस जानेका डर है, संस्कारों और भावावेशोंका शिकार हो जानेका अन्देशा है, परन्तु इन समस्त विरोधों और संघातोंमें बड़ा और सबको छापकर विराज रहा है मनुष्य। इस मनुष्यकी भलाईके लिए आप अपने-आपको निःशेष भावसे देकर ही साधक हो सकते हैं।'[1] भक्तिकाव्यके अध्ययनमें भी यही तथ्य मूल आधारकी तरह विद्यमान है। जो भक्त, सन्त या सिद्ध अपने निजी स्वार्थों, संस्कारों और भावावेगोंको तोड़कर जितना ही ऊपर उठा है, उसने विराट मनुष्यके सामने अपनेको विसर्जित कर देनेमें जितनी अधिक निष्ठा दिखाई है, द्विवेदीजीकी श्रद्धा और प्रशंसाका वह उसी अनुपातमें पात्र बन सका है। दलित द्राक्षाकी तरह निचुड़कर अपने आराध्यके चरणोंमें समर्पित होनेवाले प्रत्येक भक्त कविको उन्होंने समझा और सराहा है।

ज़ाहिर है कि इस दृष्टिकोणको माननेवाला व्यक्ति उन सभी सीमाओंको अनुचित मानेगा जो मनुष्य मनुष्यके बीच उपयुक्त भेद-बुद्धिको जगाती हैं। इसी कसौटीपर कसनेपर हमें मालूम होगा कि उन्हें क्या सगुण निर्गुण, जाति-वर्णगत, परम्परा-अपरम्परा आदि घेरोंमें स्वाभाविक चिढ़ है। उन्हें यह सहन नहीं होता

---

१ मनुष्य ही साहित्यका लक्ष्य है 'अशोकके फूल,' पृ० १८९।

कि लोग कबीरकी कटूक्तियोंको उनके मुसलमानी खूनका जोश कहें। ऐसे लोगों-का जवाब देते हुए वे कहते हैं—"ये उक्तियाँ कुछ जँचती सी नहीं जान पड़ती। जाति-वर्ण भेदसे जर्जरीभूत इस देशमें जो भी महासाधक आया है उसे यह प्रथा खटकी है।"[1] और तब अचानक मानवतावादी आलोचकके सामने अपने समाज-में आधुनिक युगमें पिसते हुए असंख्य व्यक्तियोंकी भीड़ खड़ी हो जाती है जो तथाकथित नीच जातिमें उत्पन्न होकर अस्पृश्य हो बैठे हैं। और वे मृदु किन्तु दृढ़ भाषामें कहते हैं—'ऐसे बहुतसे प्राचीन ग्रंथ हैं, जिनमें जाति-भेदको उड़ा देनेपर जोर दिया गया है। पर संस्कृतकी पुस्तकें साधारणतः ऊँची जातियोंके लोगों द्वारा लिखी गयी हैं जिसमें लेखक तटस्थ विचारककी भाँति रहता है। स्वयं नीचे कहे जानेवाले वंशमें उत्पन्न नहीं होनेके कारण उनमें भुक्तभोगीकी तीव्रता और उग्रता नहीं होती। सहजयान और नाथपंथके अधिकांश साधक तथाकथित नीच जातियोंमें उत्पन्न हुए थे, अतः उन्होंने इस अकारण नीच बनानेवाली प्रथाको दार्शनिक तटस्थताके साथ नहीं देखा। कबीरदासादिके बारेमें भी यही बात ठीक है।"[2]

सन्त साहित्यके अध्ययनकी सबसे बड़ी उपलब्धि शायद यही है कि उन्होंने इसके आधारपर मनुष्य और मनुष्यके भेदको मिटानेवाली शक्तियोंका पता लगाया। भारतीय समाजमें पहलेसे चला हुआ जातिवाद और इसलामी आक्रमणके बाद उत्पन्न हिन्दू मुसलिम समस्या आज भी उतनी ही ज्वलन्त है। इन समस्याओंको धर्म और अध्यात्मके आधारपर सुलझानेका प्रयत्न सन्त कवियोंने किया था, परन्तु वे पूर्ण सफल नहीं हुए। उनकी असफलताके कारण भी द्विवेदीजीने ढूँढ़े हैं और उनकी ओर हमारा ध्यान भी आकृष्ट किया है। उन्होंने अपने निबन्ध 'भारतवर्षकी सांस्कृतिक समस्या' (अशोकके फूल) में इन पहलुओंपर बड़ी गहराईसे विचार किया है। जातिवादकी प्रथा अथवा हिन्दू-मुसलिम एकताकी समस्याओंको वे साध्य नहीं साधन ही मानते हैं। साध्य तो बृहत्तर मनुष्यता ही है, और इसको दृष्टिमें रखकर जो भी प्रयत्न हों सब, उसे सराहा ही जायेगा। सन्त साहित्यने इस दिशामें जो कार्य किया उसके महत्त्वकी ओर द्विवेदीजीका यह संकेत कितना सामयिक और समाधान था। मध्य कालीन धर्मसाधनामें यह प्रश्न बार-बार उभरकर सामने आया और जातियोंकी समस्यापर प्रामाणिक और उपस्थित करके नया प्रकाश डाला गया।

कबीरके आलोचक उन्हें इस नामी जातिमें प्रेरित कहकर ही सन्तुष्ट नहीं हो

[1] हिन्दी साहित्यकी भूमिका, पृ० ३२।
[2] हिन्दी साहित्यकी भूमिका, पृ० ३२।

जात बल्कि काफी सूक्ष्म मतान्यास पूरी निर्गुण परम्पराका ही विदेश बहकर इन्हें बहिष्कृत कर देना चाहते हैं। द्विवेदीजीने इसीको लक्ष्य करके कहा—"यदि कबीर आदि निर्गुण मतवादी सन्तोंकी वाणियोंकी बाहरी रूपरेखापर विचार किया जाये तो मालूम होगा कि यह सम्पूर्णतः भारतीय है। और बौद्ध धर्मके अन्तिम सिद्धों और नाथपन्थी सिद्धोंसे इनका सीधा सम्बन्ध है।"[1] इस प्रकारके आरोपोंके जालमें निरन्तर निर्गुण सन्त साहित्य एक दूसरे वाग्वितण्डामें जा फँसा। आलोचकोंने विभिन्न दार्शनिक धारणाओंका पैमाना लेकर इनके साहित्यकी तौलना आरम्भ किया। बात बढ़ती गयी, और कबीरादिमें तत्कालीन भाषा शैलीकी अस्पष्टता तो थी ही, उनपर विचारधाराओंकी अस्पष्टता का इतना बड़ा आरोप लादा गया कि कुछ लोग चुपके-चुपके इन्हें 'साहित्येतर' भी कहने लगे। गोया कबीरादि कवि न होकर दर्शनके व्याख्याता थे। एक एक शब्दके पीछे माथापच्ची होती रही, लम्बे लम्बे घाट बना-बनाकर कुण्डलिनी और चक्र समझाये जाते रहे। इस कुहेलिकामें जो तत्त्व थे, वे और भी अधिक अस्पष्ट होते गये। लोग भूल से गये कि निर्गुण सन्तोंने आन्तरिक प्रेमकी गहराई पर जोर दिया था। वे मानते थे कि प्रेम आत्माकी वस्तु है, प्रदर्शन और दिखावे की नहीं। "इस रसका जिसने पाया है वही जानता है। इस प्रेम-लीलामें भक्त के समान भगवान भी उत्सुक हैं। जिसने प्रेमके क्षेत्रमें भगवानका योग पाया है, वस्तुतः वही योगी है। इस प्रेमकी ज्वालामें जलकर ही भगवान्‌ने अनाहत संगीतकी तरह इस सुन्दर सृष्टिकी रचना की है।"[2] कबीरपर व्यक्त द्विवेदीजीके विचारोंने सन्त साहित्यको नवीन दृष्टिसे बढ़नेकी प्रेरणा दी। सन्त साहित्य गूढ़ पहेली और सन्ध्याभाषामें अभिव्यक्त कूट साहित्य की सीमासे निकलकर एक जीवन्त समाजकी संघर्षपूर्ण परिस्थितियोंका सजीव चित्रण कहे जानेका अधिकारी हुआ। सन्त या भक्ति साहित्यके अध्येताओंको उस युगके जीवन और मान्यताओंसे स्वीकार करके ही चलना होगा। जो उस युगकी विचार पद्धति और प्रवृत्तियोंसे परिचित नहीं हैं वे कभी भी इनके साहित्यके साथ न्याय नहीं कर सकते।

द्विवेदीजीने इस भक्ति भावनाको विराट् जन-आन्दोलन बताया है और ग्रियर्सनके इस कथनको स्वीकार किया है कि "... धर्म ज्ञानका नहीं, भावावेशका विषय हो गया था। यहाँसे हम साधना और प्रेमोल्लासके देशमें जाते हैं और ऐसी आत्माओंका साक्षात्कार करते हैं जो काशीके दिग्गज पण्डितोंकी जातिके नहीं बल्कि जिनकी समता मध्ययुगके यूरोपियन भक्त बर्नर्ड ऑव क्लेयरवाक्स,

१ हिन्दी साहित्यकी भूमिका पृ० ३१।
२ वही, पृ० ४०।

थॉमस ए० कम्पिन और सेण्ट थेरसाके हैं।' किन्तु ग्रियर्सनने 'इस साधना और प्रेमोल्लासके नये देशको माननेवाले आल्वारोंमें जोड़कर तथा इस मूलमें ईसाइयतकी प्रेरणा मानकर इस समूचे काव्य एवं भक्तिका क्रिश्चियनिटीके साथ जोड़नेका प्रयत्न किया। और द्विवेदीजीने इन प्रवृत्तिमूलक कुतर्कों और हानिकर विचारोंका सटीक और सप्रमाण उत्तर देनेके लिए ही भारतीय चिन्ताका स्वाभाविक विकास व्यापक वृहद् निबन्ध लिखा। उन्होंने स्पष्ट कहा कि ऐसे प्रयत्न अत्यन्त उपहासास्पद हैं। और यह कहना तो और भी उपहासास्पद है कि जब मुसलमान हिन्दू मन्दिरोंको नष्ट करने लगे तो निराश होकर हिन्दू लोग भजन भावमें जुट गये।'[1] वस्तुतः भक्तिकाव्यका मुसलमानी आक्रमणकी प्रतिक्रिया या उसका प्रकारान्तर देन मानकर हम ग्रियर्सन तथा उनके दूसरे सहधर्मियोंके उस तर्कका ही बल देते रहे हैं जो भक्तिका आकस्मिक उदयकी वस्तु मानकर इसका सम्बन्ध ईसाइयतसे जोड़ता रहा है। इन विदेशी लेखकोंने यह सब-कुछ एक दूषित अभिप्रायसे किया यह कह देना ही उनके आरोपोंका उत्तर तो नहीं हो जाता। जबतक हम अपने भक्तिकाव्यको पूरी भारतीय परम्परासे सप्रमाण और साधार रूपमें नहीं जोड़ते इस तरहके लाञ्छन सहने ही पड़ते। द्विवेदीजीने बड़े परिश्रमसे इस त्रुटित शृङ्खलाको जोड़ा और प्रत्येक भारतीयको इस महान् काव्य-परम्पराको अपना समझनेका गौरव प्रदान किया।

भक्तिकाव्यके सम्यक् आकलनके लिए मध्यकालीन धर्म साधनाओंका उचित आकलन भी आवश्यक था। मध्यकालमें नाना प्रकारके धर्मों सम्प्रदायों और मतवादोंका सम्मिश्रण था। यह धर्म-साधना कई स्तरोंपर, कई प्रकारके प्रभावोंसे उत्प्रेरित होकर, परस्पर घात प्रतिघातसे उच्छलित होती हुई चलती रही है। दसवीं शताब्दीमें वैदिक-अवैदिक, भारतीय-अभारतीय नास्तिक-आस्तिक कई प्रकारकी धर्म साधनाएँ मिल-जुलकर एक नये लोकधर्मका निर्माण कर रही थीं। किन साधनाओंमें किन पूर्ववर्ती विचारधाराओंके अवशेष हैं और किनमें भविष्यमें विकसित होनेवाले रूपोंके बीजाङ्कुर वर्तमान हैं—ये प्रश्न विशेष अध्ययनकी आवश्यकता रखते थे। बहुत-से लोग भक्तिकाव्यके नीति-उपदेशों विधि निषेधोंसे ऊब जाते हैं। उन्हें यह साहित्य नीरस और शास्त्र जैसा प्रतीत होने लगता है। ऐसे लोगोंको ही लक्ष्य करके उन्होंने लिखा—'भक्ति-शास्त्रकी मर्यादाको न समझनेवाले इन बातोंसे ऊब जाते हैं। वे भूल जाते हैं कि इस युगका साहित्य केवल साहित्य नहीं है बल्कि जनतामें बद्धमूल साधना-पद्धतिका प्रतिफलन भी

---

१ हिन्दी साहित्यकी भूमिका, पृ० ४४।

है। उसका यह दूसरा पहलू ही अधिक महत्त्वपूर्ण है।[1] मध्यकालीन धर्म साधनामें द्विवेदीजीने इन्हीं महत्त्वपूर्ण पहलुओंको स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया है।

भक्ति काव्यके सम्बन्धकी यह दूरव्यापी त्रिविध वीक्षण (Three Dimensional) प्रक्रिया है। मनुष्य साहित्य और धर्म इसके तीन पहलू हैं। किन्तु यह व्यापकता और विस्तार एक खास प्रकारकी गहराईकी माँग करता था क्योंकि भक्तिकाव्यके सामने केवल सन्निहित विचार धाराओंके ठीक-ठीक समझनेकी ही कठिनाई नहीं थी उनके अभिव्यक्ति-माध्यमको भी जानने और परखनेकी आवश्यकता थी। भक्तिकाव्यकी पारिभाषिक शब्दावली, सम्प्रदाय प्रचलित आगम रूढ़ियाँ तात्कालिक कवि समय कथनशैली, शास्त्रार्थोंमें प्रयुक्त होनेवाली पद्धतियाँ, भाषा, छन्द राग रागिनियाँ और लोकप्रचलित तथा शास्त्रानुमोदित नानाप्रकारके कायरूप एवं ऐसी सूक्ष्म तलस्पर्शी रूढ़ियाँ प्रतीकोंमें थे जो इनकी बाह्य कलेवरगत और आन्तरिक सभी प्रकारकी विशेषताओंको खोल-खोल कर दिखा सके। यह प्रश्न भक्तिकाव्यके सभी पाठकों, आलोचकों अनुसन्धित्सुओंके सामने खड़ा था किन्तु इसका उत्तर वही दे सकता था जो प्राचीन वाङ्मयके एकाधिक अंगोंसे परिचित हो जो भारतीय संस्कृतिका मर्मज्ञ हो, जो विभिन्न प्रकारके सांस्कृतिक अन्तरावलम्बनके पहलुओंका ठीक समझता हो जो वैदिक, पौराणिक बौद्ध जैन पांचरात्र वैष्णव पाशुपत शैव कापालिक नाथ सिद्ध आदि धर्म-साधनाओंके सभी पक्षोंसे अवगत हो जो संस्कृत प्राकृत पालि, अपभ्रंश, अवहट्ट तथा नव्य भारतीय आर्यभाषाओंमेंसे एकाधिकका जानकार हो। और यह काम यदि इतिहास पुरुषने द्विवेदीजीके हाथोंमें सौंपा तो ठीक ही किया। द्विवेदीजीने अपने इस कर्त्तव्यका निर्वाह जिस सफलता और पूर्णताके साथ किया, इससे हिन्दी भक्ति काव्यका प्रत्येक पाठक परिचित है। हिन्दी साहित्यकी भूमिका' और उसका परिशिष्ट नाथ सम्प्रदाय कबीर सूर-साहित्य तथा अनेक निबन्ध संग्रहोंमें संकलित एतद्विषयक निबन्ध, 'प्राचीन भारतके कलात्मक विनोद आदि कृतियाँ इसी प्रश्नके समाधानका प्रयत्न करती हैं। मैं यहाँ उनके द्वारा व्याख्यात प्रत्येक [illegible] अलग अलग परिचय नहीं देना चाहता। सिर्फ कबीर पढ़नेवाले पाठक भी उनके इस अतुल परिश्रम और निष्ठाको देखकर आश्चर्यचकित रह जाते हैं। यह इस सवालकी सूक्ष्मवीक्षण (माइक्रोस्कोपिक) शक्ति है जो भक्तिकाव्यके तत्व

[1] हिन्दी साहित्यकी भूमिका, पृष्ठ ७६।

एक पक्षकी विश्लेषणात्मक गवेषणाका कार्य करती है, और इनकी उपलब्धियोंके रूपमें उस सामग्रीका संचयन करती है जिसके आधारपर निर्दिष्ट कौशल प्रक्रिया का पूरा सम्भार खड़ा होता है।

यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि सामग्रीकी उपलब्धि ही साहित्यकी समरस-सन्तुलित व्याख्या नहीं कर सकती। इस पूरी सामग्रीको उसके सही परिवेशमें नियोजित करने, इसके जीवन्त स्पन्दित अंशसे भविष्यको जोड़ने, कूटस्थ रूढ़ परम्पराके टूटते रूपकी ओर इशारा करनेके लिए लेखककी आत्मामें ऐतिहासिक प्रक्रियाका सम्यक् बोध होना चाहिए। बिना इस बोधके महत्त्वपूर्ण सामग्री-सकलन एक शब्दकोशका रूप धारण कर लेगा, जीवित विचारधाराका क्रमबद्ध इतिहास न हो सकेगा और आज तो द्विवेदीजीका व्यक्तित्व ही ऐतिहासिक प्रक्रियाका पर्याय हो गया है। इस प्रक्रियाकी ही शक्ति है कि उनके सभी प्रकारके सृजनमें एक अन्तर्निहित सन्तुलन और एकसूत्रता दिखाई पड़ती है। यह प्रक्रिया उन्हें अवान्तरमें बह जानेसे रोकती है, कल्पनाकी अतिशयताको संयमित करती है, व्यक्तिरुचिका परिसीमन करती है और उनके सम्पूर्ण दृष्टिकोणको आधुनिक और पूर्ण वैज्ञानिक बनाये रखती है।



लाखों वर्गमीलमें फैले हुए हजारों वर्षके इस भारतवर्षकी साहित्यसाधना इतनी विराट्, इतनी जटिल और इतनी गम्भीर है कि उसकी प्राचीन और नवीन चिन्ताओं पर सहजमें फैसला सुना देना हिमाकत भर है।

—साहित्य सहचर

सन्त साहित्यके अध्ययनमें द्विवेदीजीका योग

● ●

वासुदेव सिंह

सामान्यतया 'सन्त साहित्य' से तात्पर्य उन निर्गुनियाँ साधकोंकी रचनाओंसे लिया जाता है, जो समस्त बाह्याडम्बरोंका विरोध करते हुए आत्मशुद्धिके लिए प्रयत्नशील थे। जिनकी दृष्टिमें ईश्वर एक अनन्य और सर्वव्यापक था, जिनके लिए गुरु गोविन्दसे भी बड़ा था और जिनकी दृष्टिमें भक्तिके क्षेत्रमें ऊँच-नीच या छूत-अछूतका कोई अर्थ नहीं था। द्विवेदीजीके सन्दर्भमें मैं इस 'सन्त साहित्य' के अन्तर्गत हिन्दीके कबीर तथा अन्य निर्गुणमार्गी आराधकोंके अतिरिक्त महायानी सिद्धों, नाथयोगियों और जैन मर्मी कवियोंको भी रखना चाहता हूँ क्योंकि द्विवेदीजीने भारतीय चिन्ताका स्वाभाविक विकास खोजते हुए, इनमें अविच्छिन्न और अटूट सम्बन्ध देखा है।

यह 'सन्त साहित्य' ही नहीं पूरा भक्तिकाव्य विवादका विषय रहा है। मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलनके उद्भवपर विचार करते समय किसीने उसे मुसलिम शासनके अत्याचारकी प्रतिक्रिया कहा, किसीने उसे ईसाई-प्रभावापन्न माना, किसीको उसमें निराश और हतदर्प जातिकी कुण्ठाग्रस्त वाणी सुनाई दी और किसीको पलायनवादी स्वर। द्विवेदीजीके पूर्व जो हिन्दी साहित्यके इतिहास-ग्रन्थ लिखे गये उनमेंसे (शुक्लजीको छोड़कर) कुछमें सामग्री संकलन-मात्र था, कुछमें उसका वर्गीकरण अथवा तथ्योंका क्रमबद्ध विवरण। शुक्लजीने अवश्य जनताकी चित्तवृत्तिके अनुसार विभिन्न प्रवृत्तियोंके अध्ययन तथा मूल्यांकनकी सराहनीय चेष्टा की। किन्तु उन्होंने भी उन तमाम तत्त्वों और प्रभावोंकी उपेक्षा की जिनकी स्वाभाविक परिणति था हिन्दीका भक्तिकाव्य। यही नहीं उनको इस स्वर्णयुगीन साहित्यके मूलमें मुसलमानी प्रभावकी प्रतिक्रिया भी दिखाई पड़ी।

इस प्रकार मध्यकालकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना—भक्ति आन्दोलन—के साथ न्याय नहीं हो सका था। द्विवेदीजीने इसका अध्ययन नयी मान्यताओंसे,

समाजशास्त्रीय उदार वैज्ञानिक दृष्टिसे किया। यह दृष्टि उन्हें मिली है रवीन्द्र और क्षितिमोहन सेनके सम्पर्कमें इतिहास जीवविज्ञान मनोविज्ञान नृतत्त्व शास्त्र पुरातत्त्व आदि विभिन्न विषयोंके अध्ययनमें वैदिक पौराणिक बौद्ध, जैन, वैष्णव शैव कौल-कापालिक नाथ योगी सहजिया सिद्धों आदि धर्मों और सम्प्रदायोंकी सम्यक् जानकारीमें और प्राचीन आर्य भाषाओंसे लेकर नव्य भारतीय आर्य भाषाओंमें पारंगत होनेसे। वह स्वयं इस बातका अनुभव करते हैं कि 'हिन्दी साहित्यका इतिहास लिखनेके पहले निम्नलिखित साहित्यों की जाँच कर लेना बड़ा उपयोगी होगा जिनकी अच्छी जानकारीके बिना हम न तो भक्तिकालके साहित्यको समझ सकेंगे और न वीरगाथाकाल या रीतिकाल को–१ जैन और बौद्ध अपभ्रंशोंका साहित्य २ काश्मीरके शैवों और दक्षिण तथा पूर्वके तान्त्रिकोंका साहित्य ३ उत्तर और उत्तर-पश्चिमके नाथोंका साहित्य ४ वैष्णव आगम, ५ पुराण, ६ निबन्ध-ग्रन्थ, ७ पूर्वके प्रच्छन्न बौद्ध वैष्णवोंका साहित्य ८ विविध लौकिक कथाओंका साहित्य।'[1] कहनेकी आवश्य कता नहीं कि द्विवेदीजीका विशाल मानस-पट उपयुक्त साहित्यके गहन अध्ययनसे निर्मित हुआ है। इसलिए वे हिन्दी भक्ति साहित्यको समूची प्राचीन भारतीय परम्पराकी एक स्वाभाविक रूपमें जोड़ सके मध्यकालीन साहित्यिक चेतनाको अस्वाभाविक आकस्मिक रूपमें नहीं, जातिकी स्वाभाविक चेतनाके रूपमें देख सके और प्रो० हेवल तथा ग्रियर्सन-द्वारा प्रचारित मिथ्या धारणाओंका खण्डन कर सके। उनका स्पष्ट मत है कि 'अगर इस्लाम नहीं आया होता तो भी इस साहित्यका बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।'[2]

उन्होंने अपनी उपस्थापनाको प्रमाणित करनेके लिए हिन्दी साहित्यके उद्भवके एक सहस्राब्दी पूर्वकी साहित्यिक और धार्मिक परम्पराओं और विश्वासोंका इतिहास प्रस्तुत किया और दक्षिणके वैष्णव आन्दोलनसे हिन्दी भक्ति-साहित्यका सम्बन्ध-सूत्र जोड़ते हुए वह इस निष्कर्षपर पहुँचे कि 'ईसवीके हजार वर्ष बाद सभी सम्प्रदाय शास्त्र और मत लोकमतकी प्रधानता स्वीकार करने लगे थे। उसीकी स्वाभाविक परिणतिकी मूर्त प्रतीक हिन्दी साहित्य है।'[3]

भक्तिकाव्यके सम्बन्धमें उत्पन्न उक्त विवादोंके कारण सन्त साहित्यका सहानुभूतिपूर्वक अध्ययन नहीं हो सका। यही नहीं उनकी जो उपेक्षा हुई उसके लिए आचार्य रामचन्द्र शुक्लकी पूर्वप्रयुक्त मान्यता भी उत्तरदायी है। जब

---

१ अशोकके फूल, पृ० ८१।

२ हिन्दी साहित्यकी भूमिका पृ० २।

३ हिन्दी साहित्यकी भूमिका, पृ० ८।

उन्होंने यह निर्णय दे दिया कि "इस शाखा (ज्ञानाश्रयी शाखा—यह नाम भी शुक्लजीका दिया हुआ है) की रचनाएँ साहित्यिक नहीं हैं—फुटकल दोहा या पदोंके रूपमें है, जिनकी भाषा और शैली अधिकतर अव्यवस्थित और ऊटपटाँग है।" तथा "निर्गुण सन्त और सिद्ध कवि साम्प्रदायिक और धर्मचालित अधिक थे। उनमें सामाजिक सद्भावना और सहृदयताकी कमी थी और उनकी बानीमें लोकधर्मकी अवहेलना छिपी हुई थी"—तो उसका दूरव्यापी प्रभाव पड़ा। शुक्लजीका व्यक्तित्व विराट था। प्रायः लोग उन्हींके विचारोंका अंधानुसरण करते रहे और सहजयानी सिद्धों, नाथ योगियों, जैन कवियों, हिन्दी सन्त कवियों, विशेष रूपसे कबीर आदिको उन्हींके चश्मेसे देखा जाता रहा, उनपर तरह तरहके आरोप लगाकर उन्हें साहित्य-सीमासे निर्वासित करनेका प्रयत्न तक होता रहा। यहाँतक कि अब भी ऐसे पण्डित विद्यमान हैं, जो निःसंकोच यह कहते हैं कि "कबीरकी रचना उपदेश तो देती है पर भावोंमेंय नहीं लाती। उनके उपदेशोंको अत्यन्त ऊँचा मानकर भी उसे 'साहित्य' या 'काव्य' कहनेमें बहुतोंको संकोच होता है।" संक्षेपमें, इन सन्तोंपर निम्नलिखित आरोप लगाये जाते रहे हैं —

१ जैन, सिद्ध व सन्त कवि साम्प्रदायिक व धर्मचालित थे। उनकी रचनाएँ काव्यकी परिधिमें नहीं आतीं।
२ सन्त साहित्य गूढ़ और अस्पष्ट है।
३ उसमें लोकधर्मकी उपेक्षा की गयी है।
४ यह पतनशील जातिकी चिन्ताधारा मात्र प्रतीत है।
५ निर्गुनियाँ सन्तों विशेष रूपसे कबीर की जाति-पाँत विरोधी प्रवृत्ति, अवतारवाद और मूर्तिपूजा खण्डनकी चेष्टा 'मुसल्मानी जोश' या 'दम्भ' मात्र है।
६ कबीर प्रच्छन्न रूपमें इसलामका प्रचार कर रहे थे।
७ कबीरदास शास्त्रज्ञानहीन और सुनी-सुनाई बातोंको गढ़नेवाले थे।
८ वे ज्ञानाश्रयी थे, प्रेम अथवा भक्ति इनका कोई लगाव न था।
९ इनकी भाषा 'सधुक्कड़ी' 'अव्यवस्थित' और बेमेल खिचड़ी है।

सन्त साहित्यके अध्ययनमें आचार्य द्विवेदीजीका सबसे महत्त्वपूर्ण योग दान यही है कि उन्होंने उपर्युक्त सभी आरोपोंका सप्रमाण और सतर्क शैलीमें खण्डन किया और समूचे सन्त साहित्यको नये परिप्रेक्ष्यमें देखनेकी दृष्टि दी।

जैन साहित्य मूलतः धार्मिक साहित्य है। जैन कवियोंने छिटफुट शृंगार अथवा लौकिक आख्यानोंको अपना धार्मिक और आध्यात्मिक साहित्यकी रचना-

में ही अधिक रुचि ली है, यद्यपि लौकिक साहित्य भी उनके द्वारा कम मात्रा-में नहीं लिखा गया है। इन कवियोंमें कुछकी साम्प्रदायिक मनोवृत्ति जैन मुनियों और धर्माचार्योंकी संकीर्णता और उपलब्ध सामग्रीके भी समुचित अध्ययनके प्रति रुचिके अभावके कारण उनके साथ न्याय नहीं हो सका। हिन्दी साहित्यके इतिहासमें उन्हें उचित स्थान तक न मिल सका। शुक्लजीने तो मात्र धार्मिक रचनाएँ कहकर साहित्यके इतिहाससे इनको निकाल देनेका प्रस्ताव किया।

किन्तु आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीने भाण्डागारोंमें बन्द विपुल सामग्री-को निकालकर हिन्दी साहित्यमें जबरदस्ती ठूँसनेके आरोपकी उपेक्षा करते हुए स्वयं इस साहित्यका सहानुभूतिपूर्वक अध्ययन किया और दूसरे लोगोंको इस ओर आकृष्ट किया। सम्भवतः उन्होंने सर्वप्रथम यह घोषणा की कि इनमें कई रचनाएँ ऐसी हैं जो धार्मिक तो हैं किन्तु उनमें साहित्यिक सरसता बनाये रखनेका पूरा प्रयास है। धर्म वहाँ कविको केवल प्रेरणा दे रहा है। स्वयम्भू चतुर्मुख पुष्पदन्त और धनपाल जैसे कवि केवल जैन होनेके कारण ही काव्य-क्षेत्रसे बाहर नहीं चले जाते। धार्मिक साहित्य होने-मात्रसे कोई रचना साहित्यिक कोटिसे अलग नहीं की जा सकती। यदि ऐसा समझा जाने लगे तो तुलसीदासका रामचरितमानस भी साहित्य क्षेत्रमें अविवेच्य हो जायगा और जायसीका पद्मावत भी साहित्य-सीमाके भीतर नहीं घुस सकेगा।[1]

उन्होंने ८ १वीं शताब्दीके जैनमर्मी सन्त योगीन्दु मुनि तथा अन्य जैन सन्त कवियोंमें वही विशेषताएँ—बाह्याचारका विरोध, चित्तशुद्धिपर जोर देना, शरीरको ही समस्त साधनाओंका आधार समझना और समरसी भावसे स्वसंवेद्य आनन्दका उपभोग—सहज निरञ्जन जो तत्कालीन योगियों और तान्त्रिकोंमें पायी जाती थी और जो परम्परा बादमें कबीर आदि निर्गुण सन्त साधकोंमें ज्योंकी त्यों चली आयी है। उनका विश्वास है कि 'अगर उनकी रचनाओंके ऊपरसे जैन विशेषण हटा दिया जाय तो वे योगियों और तान्त्रिकोंकी रचनाओंसे बहुत भिन्न नहीं लगेंगी। वे ही शब्द, वे ही भाव और वे ही प्रयोग घूम-फिरकर उस युगके सभी साधकोंके अनुभवमें आया करते थे।'[2]

जैन कवियोंके अतिरिक्त द्विवेदीजीने सहजयानी सिद्धों और नाथयोगियोंके साहित्यपर भी गम्भीरतापूर्वक विचार किया है। नाथ सम्प्रदाय 'नाथ सिद्धों

---

१ हिन्दी साहित्यका आदिकाल, पृ० ११।
२ मध्यकालीन धर्मसाधना पृ० ४४।

की बानियां' (सम्पादित), 'मध्यकालीन धर्म साधना' और 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' इसके प्रमाण ग्रंथ हैं। 'नाथ सम्प्रदाय'में आचार्य द्विवेदीने नाथ सिद्धोंकी साधना-पद्धति, हठयोग, योगियोंका समय, पिण्ड और ब्रह्माण्ड आदिका विश्लेषण करते समय अपनी तलस्पर्शिनी गहन दृष्टिका परिचय दिया है। यहां उनका समीक्षकके अतिरिक्त गवेषक रूप भी सामने आया है। उनके मतसे इन योगियोंका भी तत्कालीन सामाजिक व्यवस्थापर दूरव्यापी प्रभाव पड़ा। "गोरखनाथने निर्मम हथौड़ेकी चोटसे साधु और गृहस्थ दोनोंकी कुरीतियोंका चूर्ण विचूर्ण कर दिया। लोकजीवनमें जो धार्मिक चेतना पूर्ववर्ती सिद्धोंसे आकर उसके पारमार्थिक उद्देश्यसे विमुख हो रही थी, उसे गोरखनाथने नया प्राणशक्तिसे अनुप्राणित किया।"[1] 'नाथ सिद्धोंकी बानियों'में चौबीस नाथ सिद्धोंकी रचनाएँ संग्रहीत की गयी हैं। इसकी भूमिकामें द्विवेदीजीने चौरंगीनाथ, नागार्जुन, चर्पटीनाथ, कणेरीजी, जालंधरीपाव, अजयपाल, लक्ष्मणनाथ घोड़ाचोली, दत्तजी और पृथ्वीनाथ आदि नाथयोगियोंपर अत्यन्त श्रम और न्यायपूर्वक नयी सामग्री प्रस्तुत की है।

द्विवेदीजी-द्वारा इस अध्ययनसे दो तथ्य विशेष रूपसे प्रकाशमें आये हैं १ अपने अन्तरमें मध्यकालीन धर्मसाधनाका पूरा रहस्य छिपाये हुए कतिपय पारिभाषिक शब्दों (सहज, शून्य, निरंजन अवधू, नाद, बिन्दु, खसम घरनी समरसी भाव और महासुख आदि) को समझनेका आधार मिला है। इन शब्दोंकी व्युत्पत्ति इतिहास विभिन्न सम्प्रदायोंके सन्दर्भमें इनके नूतन अर्थ आदिकी प्रामाणिक विवेचना प्रस्तुत की गयी है। २ हिन्दी सन्त काव्यको नूतन परिप्रेक्ष्यमें समझनेमें सहायता मिली है। उसके सम्बन्धमें प्रचलित भ्रान्तियोंका निरसन हुआ है। कबीर तथा अन्य सन्तोंने जिस निर्मम ढंगसे हिन्दू विधि विधानों—जप माला छापा तिलक तीर्थाटन आदि बाह्याचार तथा पुस्तकीय ज्ञानसे परमात्म प्राप्तिका विरोध व सत्य व्यक्त किया था उससे उन्हें मुस्लिम धर्म प्रचारक सनातन धर्म निन्दक और न जाने क्या-क्या कहा जाने लगा था। द्विवेदीजीने सिद्धों और योगियोंकी रचनाओंसे अनेक अंश उद्धृत करते हुए यह प्रमाणित किया कि कबीर आदिने जो कुछ कहा वह न नया था, न अभारतीय। कबीरसे भी अधिक तीखी और चकनाचूर कर देनेवाली भाषामें इन सिद्धों व योगियोंने बाह्य विधानोंका खण्डन किया था। 'क्या भाव, क्या भाषा क्या अलंकार क्या छन्द क्या पारिभाषिक शब्द सर्वत्र वे ही कबीर

---

१ नाथ सम्प्रदाय, पृ० १८८।

दासके मार्गदर्शक हैं। कबीरकी ही भाँति ये साधक नाना मतोंका खण्डन करते थे, सहज और शून्यमें समाधि लगानेको कहते थे। सहजयानी सिद्धों और नाथ-पंथी योगियोंकी अक्खड़पना कबीरमें पूरी मात्रामें है।'[1]

किन्तु इससे यह भ्रम नहीं हो जाना चाहिए कि कबीर या अन्य निर्गुनियाँ सन्तोंमें मौलिक दृष्टिका अभाव था अथवा वे सिद्धों व योगियोंके अन्धानुकर्ता थे। वस्तुतः ये सन्त, विशेष रूपसे कबीर सिद्धों और योगियोंकी परम्परामें होते हुए भी सर्वथा उनके अनुगामी नहीं थे। उनके पास एक ऐसी मणि थी जो न योगियोंमें थी, न सहजिया सिद्धोंमें। वह थी भक्ति। वह योगियोंके पास नहीं था पण्डितोंके पास नहीं थी काजियोंके पास नहीं थी। इस परमाद्भुत रत्नको पाकर कबीर कृतकृत्य हो रहे।[2] वस्तुतः कुछ विद्वानोंने इन सन्तोंको 'ज्ञानाश्रयी' कहकर इस धारणाको बलवती किया कि इनका भक्ति या प्रेमसे कोई सम्बन्ध न था। वे शुष्क और नीरस उपदेष्टा मात्र थे। मनुष्य-मनुष्यके बीच जो रागात्मक सम्बन्ध है वह उनके द्वारा व्यक्त न हुआ। इस प्रकारकी धारणाका एक कारण यह भी था कि ये सन्त जिस निर्गुण तत्वकी चर्चा करते थे, उसकी भक्ति कैसे सम्भव है? इस प्रतीत होनेवाले अन्तर्विरोधको दूर करनेके लिए द्विवेदीजीने 'निर्गुण' शब्दकी व्याख्या की है, सन्तोंके आराध्य और वेदान्तियोंकी अद्वैत सत्ताको अलगाया है और कबीरके राम व पुराणोंके ब्रह्मका अन्तर स्पष्ट किया है। कबीरके निर्गुण राम और वेदान्तियोंके पारिभाषिक निर्गुण ब्रह्ममें जो मौलिक भेद है उसे स्पष्ट करते हुए वह इस निष्कर्षपर पहुँचे हैं कि कबीर निर्गुणसे केवल एक निषेधात्मक भाव ग्रहण करते हों सो बात नहीं है। वस्तुतः वे भगवानको सत्व रज और तमोगुणोंसे अतीत मानते हैं। और इसी गुणातीत रूपको 'निर्गुण' शब्दसे प्रकट करते हैं।[3] कबीरका यह त्रिगुणातीत द्वैताद्वैतविलक्षण, भावाभावविनिर्मुक्त अलख अगोचर अगम्य प्रेमपारावार भगवान 'दार्शनिक' शास्त्र ज्ञानगम्यसे परे है तार्किक बहसके ऊपर है पुस्तकी विद्यासे अगम्य है प्रेमसे प्राप्य है अनुभूतिका विषय है सहज भावसे भावित है।[4]

भक्तिकाव्यका सगुण निर्गुण और पुनः भेदोंके दो-दो उप विभाग कर देनेसे और इनमें केवल अन्तर खोजनेका परिणाम यह हुआ कि प्राय यह माना जाने

---

१ हिन्दी साहित्यकी भूमिका पृ० ३१-३२।
२ कबीर, पृ० ११८।
३ कबीर, पृ० १२२।
४ कबीर पृ० १२७।

लगा कि इन विभिन्न धाराओंमें कोई मेल न था। एकका जन्म दूसरेके विरोधमें हुआ था। सगुण और निर्गुण मतावलम्बियोंके संस्कार, सामाजिक परिवेश, मान्यताएँ और लक्ष्य भिन्न होनेके कारण, दोनों ऐसी दो समानान्तर रेखाओंके समान थे, जो कहीं नहीं मिलतीं। यद्यपि द्विवेदीजी भी यह मानते हैं कि दोनों सम्प्रदाय साधना-पद्धति, आचार-विचार, विश्वास-सिद्धान्त आदिमें एक-दूसरेसे अलग थे। "एकका मार्ग समझौतेका था, दूसरेका विद्रोहका, एक शास्त्रका अनुयायी था, दूसरा अनुभवका अवलम्बी, एक श्रद्धाको प्राथमिकता देता था, दूसरा ज्ञानको। किन्तु प्रेम दोनोंका ही मार्ग था, सूखा ज्ञान दोनोंको अप्रिय था, केवल बाह्याचार दोनोंमें से किसीको सम्मत नहीं था, आन्तरिक प्रेम निवेदन दोनोंको इष्ट था, अहैतुक भक्ति दोनोंकी काम्य थी, आत्म-समर्पण दोनोंके साधन थे, भगवानकी लीलामें दोनों ही विश्वास करते थे।"[1] इस प्रकार द्विवेदीजीने भक्तिकालीन विभिन्न सम्प्रदायों और मतोंके मूलमें निहित समान तत्त्वोंकी छानबीन करके यह सिद्ध कर दिया कि ये नाना पन्थ भले ही बहुसंख्यक रहे हों, वे अपनेको श्रेष्ठ सिद्ध करनेके लिए दूसरेकी निन्दा और विरोध भी करते रहे हों, किन्तु कहीं-न-कहीं जाकर ये सभी एक दूसरेसे मिल जाते थे, कोई ऐसा सूत्र था, जो अन्ततः सबको एकमें बाँधे हुए था।

कबीर तथा अन्य साधक 'सन्त' रूपमें अपने समयमें ही प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे किन्तु उन्हें 'कवि' माननेमें अब भी बहुतोंको संकोच होता है। इस सम्बन्धमें मेरा विनम्र निवेदन यह है कि कविकी कसौटी क्या है? काव्यके लक्षण क्या हैं? क्या काव्यकी सार्थकता या सीमा हाव-भाव वर्णनमें, संयोग वियोगकी बाह्य एवं अन्तर्दशाओंके निरूपणमें, ओजगुणसम्पन्न वीर रसात्मक आख्यानोंमें, आश्रयदाताओंके विरुदगानोंमें, प्रेमगीतोंमें और सामयिकताकी अभिव्यंजनामें ही है? क्या साहित्यकी सीमा शरीर ही है? आत्मासे उसका कोई सम्बन्ध नहीं? अथवा धार्मिक रचना होनेसे ही क्या कोई कृति या कवि साहित्य-परिधिसे निकाल दिये जाने योग्य हो जाता है? यदि साहित्यको केवल भौतिक सुख-दुःखों अथवा इन्द्रियानुभूतिकी अभिव्यक्तिका माध्यम मान लिया जायगा तो इससे न केवल साहित्यका, वरन् हमारा भी काफी अकल्याण होगा। साहित्यकी सार्थकता जागतिक प्रपंचोंसे उत्पन्न समस्याओंके भावात्मक निरूपणमें ही नहीं है। इन प्रतीत होनेवाले द्वन्द्वोंसे भी एक बड़ी सत्ता है, जिसकी अनुभूति इन्द्रियों-द्वारा सम्भव नहीं। वह अतीन्द्रिय है। किन्तु उसकी अनुभूतिका सुख इन्द्रिय-सुखसे भी व्यापक और स्थायी है। जिस ब्रह्मानन्दका अनुभव योगी साधक

---

१ मध्यकालीन धर्म साधना, पृ० ९२।

बल्पर करता है, कवि उसीका रसास्वादन अपनी साधनाके बल्पर करता है और उसे वाणी देनेकी चेष्टा करता है। ऐसे अतीन्द्रिय आनन्दकी अभिव्यंजना भी साहित्यका लक्ष्य है। रवीन्द्रनाथने काव्यकी सार्थकता इसी अभिव्यंजना साधनामें मानी है। द्विवेदीजीके शब्दोंमें "छोटीसे छोटी वस्तुमें उसकी विभिन्नता और क्षुद्रताके बावजूद एक ऐसा सत्य है जो सारी वस्तुओंमें समान रूपसे पाया जाता है। उसीको रवीन्द्रनाथ 'एक' कहते हैं। जहाँ इस 'एक' के साथ किसी वस्तुका सामंजस्य है वही सौन्दर्य है और कला है।"[1] कबीर तथा अन्य सन्तोंने इसी 'एक' की साधना की है और उसे अपनी वाणीका विषय बनाया है। उन्होंने कबीरकी वाणियोंमें अनन्य-साधारण जीवन रस भर दिया है। इसी व्यक्तित्वके आकर्षणको सहृदय समालोचक सँभाल नहीं पाता और रीझकर कबीरको कवि कहनेमें सन्तोष पाता है।[2]

जहाँतक इन सन्तोंकी भाषा या शिल्पका प्रश्न है यह सभी जानते हैं कि ये साधक (सुन्दरदासको छोड़कर) अधिक पढ़े लिखे नहीं थे। कबीरने मसि कागद भी स्पर्श नहीं किया था। उन्हें छन्द ज्ञान भी नहीं था। इसलिए इनके काव्यमें भाषा या रूपगत सौन्दर्य खोजना अथवा उसमें अलंकार छन्द आदिकी बारीकियोंकी आशा करना न्यायसंगत न होगा। यही नहीं उन्होंने कविताके लिए कविता नहीं लिखी थी। काव्य उनके लिए साधन था साध्य नहीं। रीति कालीन कवियोंके समान शब्द-कौशल अथवा उक्ति-वैचित्र्य या भंगीभणितिके द्वारा सामन्तोंका मनोरंजन भी उनका इष्ट नहीं था। उनके लिए कविता भावोंके अभिव्यक्तीकरणका माध्यम-मात्र थी। और इस दृष्टिसे वे पूर्ण सफल रहे हैं। वस्तुतः भाषाकी दृष्टिसे ये सन्त सच्चे लोकनायक थे। उन्होंने लोकभाषामें अपनी बात कही है। वे भाषाको बहते नीरके समान सर्वजनसुलभ देखना चाहते थे। उनकी भाषा ठेठ खिचड़ी नहीं है अपितु समूचे उत्तर भारतकी जनभाषाओंका प्रतिनिधित्व करती है। जहाँतक भाषाकी शक्तिका प्रश्न है, इन्होंने अरूप अलख और अगोचर ब्रह्मको रूप और वाणी दी है। उसे अभिधा द्वारा व्यक्त करना सम्भव नहीं। इन सन्तोंने उसका ध्वनन किया है। यह ध्वनि या व्यंजना ही काव्यकी उत्तम शक्ति है। कबीरके सम्बन्धमें द्विवेदीजीका मत है कि आज तक हिन्दीमें ऐसा जबर्दस्त व्यंग्य लेखक पैदा ही नहीं हुआ। उनकी साफ चोट करनेवाली भाषा

---

[1] साहित्य सहचर, पृ० ५६।
[2] कबीर, पृ० २२७।

बिना कहे भी सब-कुछ कह देनेवाली शैली और अत्यन्त सादी, किन्तु अत्यन्त तेज प्रकाशन भंगी अनन्य साधारण है।'[1] यही नहीं, "भाषापर कबीरका जबरदस्त अधिकार था। वे वाणीके डिक्टेटर थे। जिस बातको उन्होंने जिस रूपमें प्रकट करना चाहा है उसे उसी रूपमें कहलवा लिया बन गया तो सीधे सीधे नहीं तो दरेरा देकर। भाषा कुछ कबीरके सामने लाचार-सी नजर आती है।'[2]

इस प्रकार द्विवेदीजीने सन्त काव्यको समूची भारतीय परम्पराकी एक अनिवार्य और स्वाभाविक कड़ीके रूपमें देखते हुए उसे साहित्य-क्षेत्रमें उसी प्रकार प्रतिष्ठित किया जिस प्रकार सूर, तुलसी अथवा जायसीको आचार्य रामचन्द्र शुक्लने।



अध्यापक जीवनका एक बड़ा भारी अभिशाप यह है कि आपको ऐसी सैकड़ों बातोंको पढ़ना-पढ़ाना पड़ेगा जिसे आप न तो हृदयसे स्वीकार करते हैं और न साहित्यके लिए हितकर मानते हैं। यहाँ आदमीको आपा खोकर ही सफलता मिलती है।

—आलोचनाका स्वतन्त्र मान

---

१ कबीर पृ० १६४।
२ कबीर, पृ० २१७।

नाथ-साहित्यके अध्ययनमें द्विवेदीजीका योग

नागेन्द्रनाथ उपाध्याय

नाथ सम्प्रदाय, साधना, दर्शन और साहित्यके आधुनिक ढंगके अध्ययनका आरम्भ सबसे पहले अँगरेजीमें ही हुआ। सबसे पहले 'इन्साइक्लोपीडिया ऑव रिलिजन ऐण्ड एथिक्स' में नाथोंसे सम्बन्धित कई लेख लिखे गये। सबसे पहला व्यवस्थित और विस्तृत प्रयत्न अँगरेजीमें जी० डब्ल्यू० ब्रिग्सने किया। उनका ग्रन्थ 'गोरखनाथ ऐण्ड कनफटा योगीज' के नामसे १९३८ में प्रकाशित हुआ। फिर हिन्दीमें कई लेख लिखे गये। लोगोंने स्वीकार किया कि बौद्ध सिद्धों और नाथ सिद्धोंका सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ है। कुछ लोगोंने तो और आगे बढ़कर यह भी घोषणा कर दी कि नाथ-सम्प्रदाय तान्त्रिक बौद्ध मतके वज्रयानका एक उपयान है। गोरखनाथका पूर्वनाम तो रमणवज्र था ही, वे पहले बौद्ध थे ही, फिर बादमें उन्होंने शैवमत स्वीकार किया। यही कारण है कि नेपालके बौद्ध लोग धर्मत्यागी गोरखनाथको अश्रद्धाकी दृष्टिसे देखते हैं। इस प्रकारकी स्थापनाओंको पुष्ट रूप देनेके लिए महापण्डित राहुल सांकृत्यायनने बहुत-सी सामग्री जुटायी। उन्होंने रत्नाकर जोपम कथाका प्रमाण प्रस्तुत किया और तारानाथके इतिहास-ग्रन्थको बड़े विश्वासके साथ उद्धृत किया। उन्होंने वज्रयानके तत्त्वोंका विकास नाथसाधनामें नहीं दिखाया, फिर भी गोरखनाथादिको बौद्ध घोषित करनेके साथ ही उन्होंने नाथ सम्प्रदायको वज्रयानसे विकसित माना। हिन्दीके प्रारम्भिक इतिहासकारोंने बिना तथ्यों और प्रमाणोंकी परीक्षा किये ही यह स्वीकार कर लिया कि नाथों और बौद्धोंकी परम्परा एक थी। यह भी मान लिया गया कि जालन्धरनाथ बौद्ध थे तथा वे ही नाथोंके भी आदिनाथ थे। जब हिन्दीके विवेचक हिन्दी सन्त साहित्यके विभिन्न पारिभाषिक शब्दोंकी परम्पराकी खोजमें दत्तचित्त हुए तो उन्हें एक ही रास्ता दिखाई पड़ा कि गोरखनाथादि बौद्ध सिद्धों और हिन्दीके तथाकथित निर्गुणी सन्तोंके बीचकी कड़ी हैं। (गोरखबानी की भूमिका)। यह बात डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वालने कही और पं० अयोध्या

बिना कहे भी सब-कुछ कह देनेवाली शैली और अत्यन्त सादी, किन्तु अत्यन्त तेज़ प्रकाशन भंगी अनन्य साधारण है।"[1] यही नहीं, "भाषापर कबीरका जबदस्त अधिकार था। वे वाणीके डिक्टेटर थे। जिस बातको उन्होंने जिस रूपमें प्रकट करना चाहा है, उसे उसी रूपमें कहलवा लिया बन गया तो सीधे सीधे नहीं तो दरेरा देकर। भाषा कुछ कबीरके सामने लाचार-सी नज़र आती है।"[2]

इस प्रकार द्विवेदीजीने सन्त काव्यको समूची भारतीय परम्पराकी एक अनिवार्य और स्वाभाविक कड़ीके रूपमें देखते हुए उसे साहित्य-क्षेत्रमें उसी प्रकार प्रतिष्ठित किया, जिस प्रकार सूर, तुलसी अथवा जायसीको आचार्य रामचन्द्र शुक्लने।

■

अध्यापक जीवनका एक बड़ा भारी अभिशाप यह है कि आपको ऐसी सैकड़ों बातोंको पढ़ना पढ़ाना पड़ेगा जिसे आप न तो हृदयसे स्वीकार करते हैं और न साहित्यके लिए हितकर मानते हैं। यहाँ आदमीको आत्मा खोकर ही सफलता मिलती है।

—आलोचनाका स्वतन्त्र मान

---

१ कबीर पृ० १६४।
२ कबीर, पृ० २२०।

नाथ साहित्यके अध्ययनमें द्विवेदीजीका योग

• •

नागेन्द्रनाथ उपाध्याय

नाथ सम्प्रदाय, साधना, दर्शन और साहित्यके आधुनिक ढंगसे अध्ययनका आरम्भ सबसे पहले अंग्रेजोंने ही किया। उनमें पहले 'इन्साइक्लोपीडिया ऑव रिलिजन एण्ड एथिक्स' में नाथोंसे सम्बन्धित कई लेख लिखे गये। सबसे पहला व्यवस्थित और विस्तृत स्थापन अंग्रेजोंमें जी० डब्लू० ब्रिग्सने किया। उनका ग्रंथ 'गोरखनाथ एण्ड कनफटा योगीज' के नामसे १९३८ में प्रकाशित हुआ। फिर हिन्दीमें कई लेख लिखे गये। इन्होंने स्वीकार किया कि बौद्ध सिद्धों और नाथ-सिद्धोंके सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ हैं। कुछ लोगोंने तो और आगे बढ़कर यह भी धारणा बना ली कि नाथ-सम्प्रदाय तान्त्रिक बौद्ध मतके वज्रयानका एक रूपान्तर है। गोरखनाथका पूर्वनाम तो रमणवज्र था ही। वे पहले बौद्ध थे ही फिर बादमें उन्होंने शैवमत स्वीकार किया। यही कारण है कि नेपालके बौद्ध लोग धर्मद्रोही गोरखनाथको अश्रद्धाकी दृष्टिसे देखते हैं। इस प्रकारकी स्थापनाओं-के पक्ष में इनके लिए महापण्डित राहुल सांकृत्यायनने बहुत-सी सामग्री जुटायी। उन्होंने रत्नाकर जोपम कथाका प्रमाण प्रस्तुत किया और तारानाथके इतिहास-ग्रन्थको बड़े विश्वासके साथ उद्धृत किया। उन्होंने वज्रयानके तत्त्वोंका विकास नाथसाधनामें नहीं दिखाया, फिर भी गोरखनाथादिको बौद्ध घोषित करनेके साथ ही उन्होंने नाथ सम्प्रदायको वज्रयानसे विकसित माना। हिन्दीके प्रारम्भिक इतिहासकारोंने बिना तथ्यों और प्रमाणोंकी परीक्षा किये ही यह स्वीकार कर लिया कि नाथों और बौद्धोंकी परम्परा एक थी। यह भी मान लिया गया कि गोरखनाथ बौद्ध थे तथा वे ही नाथोंके भी आदिनाथ थे। जब डाक्टर बड़थ्वाल हिन्दी सन्त साहित्यके विभिन्न पारिभाषिक शब्दोंकी परम्पराके खोजमें प्रवृत्त हुए तो उन्हें एक ही रास्ता दिखाई पड़ा कि गोरखनाथादि बौद्ध सिद्धों और हिन्दीके तथाकथित निर्गुणी सन्तोंके बीचकी कड़ी हैं। (गोरखबानीकी भूमिका)। यह बात डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वालने कही और पं० अयोध्या

सिंह उपाध्यायने इस समर्थन प्रदान किया। इसके बाद सन्तोंके साहित्यका
विवेचन करनेके लिए बौद्ध और नाथ सिद्ध-साहित्यका विवेचन अपरिहार्य
हो गया। आजके अध्ययनकी स्थितिको देखते हुए अब हमें पिछले अध्ययन
अपरिपक्व-से मालूम पड़ते हैं। कारण यह है कि पिछले अध्ययन भारतीय
साधना, संस्कृति दर्शन और सम्प्रदायोंके विकासको बिना ध्यानमें रखे ही किये
गये थे।

द्विवेदीजीके नाथ सम्प्रदाय और संत साहित्य सम्बन्धी ग्रन्थोंको देखनेसे
अध्ययन सम्बन्धी उनकी दृष्टिकी विविधता, जैसे ऐतिहासिक पुरातात्त्विक
सांस्कृतिक, भाषावैज्ञानिक साहित्यिक, साधनात्मक आदि, स्पष्ट हो जाती है।
द्विवेदीजी संस्कृत वाङ्मयके प्रकाण्ड पण्डित हैं। इसीलिए जब भी वे आधुनिक
भारतीय आर्यभाषा और साहित्यका पर्यालोचन करने लगते हैं तो उनकी दृष्टि
अनायास ही अतीतके साहित्य, दर्शन साधना आदिकी अनुद्घाटित कड़ियों तक
दौड़ जाती है। फलतः शब्दोंके नये अर्थ, साधना और दर्शनकी नयी जीवन्त
परम्परा पुष्ट रूपमें प्रत्यक्ष हो जाती है। इसीलिए भूमिका प्रस्तुत करनेमें
द्विवेदीजी बहुत-से विद्वानोंकी अपुष्ट और सर्वथा कल्पित स्थापनाओंको झकझोर
देनेमें समर्थ हो सके। शुक्लजीने अपनी आलोचना-पद्धतिमें और अपने इतिहास
ग्रन्थमें भी लोकजीवन और लोकमंगलपर बहुत जोर दिया है। लेकिन साहित्य
आलोचनात्मक विवेचन तथा शोधके क्षेत्रमें व्यापक लोकजीवन, लोकश्रुति लौकिक
संस्कार, विश्वासादिका किस प्रकार उपयोग हो सकता है और उसमें कैसे-कैसे
रत्नोंका उद्घाटन हो सकता है यह द्विवेदीजीके 'नाथ सम्प्रदाय' और 'कबीर'
नामक ग्रन्थोंमें प्रकट हुआ। शुक्लजीने जिस लोकजीवन और लोकमंगलको महत्त्व
दिया था, उसका भावपक्ष ही काव्यके लिए विवेच्य समझा गया। कवि और
काव्यके विभिन्न रहस्योंको उद्घाटित करनेके लिए सामान्य लोकजीवनकी रूढ़ियों,
रीतियों, विश्वासों, संस्कारों और परम्पराओंकी छानबीन उन्होंने नहीं की।
उन्होंने कविको, उसके व्यक्तित्व और जीवनको समझने और समझानेके लिए
उसके समयकी और उसके पूर्वकी धार्मिक सामाजिक, साधनात्मक और दार्शनिक
परिस्थिति और परम्पराको उतना महत्त्व नहीं दिया। दूसरे उनकी दृष्टि भी
स्मृतिसमर्थित व्यवस्था और अन्य क्षेत्रोंमें भी रूढ़ियोंमें बँधी हुई थी। यही कारण
है कि इस परम्परा और रूढ़िसे पृथक् रहकर अपनी ही शक्तिसे जीवित रहनेवाली
संस्कृति, साधना और साहित्यकी आलोचना और परीक्षा वे आलोचकके तादात्म्य
के साथ नहीं कर सके। उन्होंने विभिन्न साम्प्रदायिक और मतमतान्तरीय संघर्षों
क्रिया प्रतिक्रियाओं, विभेदों, विशिष्टतापरक लक्षणोंकी भी परीक्षा और शोध

शान्तिनिकेतनसे शिवालिक

नहीं की। इस सब बातोंका कारण यह था कि वे काव्य और साहित्यके लिए काव्यशास्त्रीय और साहित्यशास्त्रीय निकषको ही आवश्यक और उपयोगी मानते थे। उन्होंने भक्तिकी जो परिभाषा अपने सूरदास ग्रन्थमें स्थिर की, वह भी उनकी दृष्टि और आग्रह विशेषकी ही परिचायिका है। ऐसा स्पष्ट होता है कि, जैसे यह परिभाषा और साहित्यशास्त्रीय मानदण्ड तुलसीदासको ही ध्यानमें रखकर स्थिर किये गये हैं। शुक्लजीके विविध ग्रन्थोंके प्रकाशित हो जानेके बाद द्विवेदीजीके जो ग्रन्थ प्रकाशित हुए, उनसे यह स्पष्ट हुआ कि इन्होंने अपने ग्रन्थोंमें अधिक उदार साहित्यिक दृष्टि विकसित कर, और अधिक व्यापक मानदण्डको समाहित कर उनके प्रकाशमें कवि और काव्यका मूल्यांकन किया है। हिन्दी साहित्यकी भूमिकाके निवेदनमें उन्होंने लिखा भी है— ऐसा प्रयत्न किया गया है कि हिन्दी साहित्यको सम्पूर्ण भारतीय साहित्यसे विच्छिन्न करके न देखा जाय।"

नाथों और सन्तोंकी रचनाओंके बारेमें द्विवेदीजीने जो कुछ लिखा है उससे यह बात प्रमाणित हो जाती है कि द्विवेदीजी इन रचनाओंका मूल्यांकन केवल काव्यशास्त्रीय दृष्टिसे ही नहीं करते। वे उसका मूल्यांकन काव्यरूप छन्द, शब्दकोश भाषा, धर्म, भावना और दर्शनकी भी दृष्टिसे करते हैं। वे यह मानते हैं कि नाथों और सन्तों, दोनोंकी रचनाओंका इन क्षेत्रोंमें अपना योगदान है। शुक्लजीने आदिकालीन साहित्यमें जहाँ चारणों और भाटोंके साहित्यका महत्त्व स्थापित किया वहीं द्विवेदीजीने बौद्ध सिद्धों और नाथोंके साहित्यका महत्त्वस्थापन किया। द्विवेदीजीकी नाथ और सन्त साहित्य सम्बन्धी दृष्टिकी तीन विशेषताएँ स्पष्टतया दिखाई पड़ती हैं। पहली तो यह कि यह आधुनिक शोधकी प्रवृत्तिसे सम्पन्न है। दूसरी विशेषता यह है कि भारतीय धर्मसाधनाके अन्धकाराच्छन्न और अनुद्घाटित पक्षों एवं तत्त्वोंको प्रकाशित करनेका श्रेय उन्हें मिला है। और तीसरी विशेषता यह कि काव्यमें प्रकाशित होनेवाले कविके व्यक्तित्व और उसके रचनात्मक तत्त्वोंका विश्लेषण सम्भव हो सका जिससे साहित्येतिहासलेखनमें प्रथम बार कवि और उसके व्यक्तित्व की महत्ता स्थिर हुई। हिन्दी साहित्यमें गोरखनाथ और कबीरदासके व्यक्तित्व को स्थापित करनेका श्रेय द्विवेदीजीको ही है।

नाथ सम्प्रदायके सम्बन्धमें द्विवेदीजीने एक स्वतन्त्र ग्रन्थ ही लिखा है, लेकिन उसके सम्बन्धमें बहुत पहलेसे ही सोचने-समझते रहे हैं। आपने हिन्दी साहित्यकी भूमिका नामक ग्रन्थमें अपना यह विचार दिया कि नवीं-दसवीं शताब्दियोंमें नेपालकी तराइयोंमें शैव और बौद्ध साधनाओंके सम्मिश्रणसे

नाथपन्थी योगियोंका नया सम्प्रदाय उठ खड़ा हुआ।" इस कथनका अर्थनिरूपण इस विषयके द्विवेदी पुराने लेखकोंके कथनोंको ध्यानमें रखकर करना चाहिए जिसके अनुसार गोरखनाथ मूलतः बौद्ध थे और बादमें शैव हो गये। शुक्लजीने भी (१९२९ में) यह घोषणा कर दी थी कि "गोरखनाथके नाथपन्थका मूल भी बौद्धोंकी यही वज्रयान शाखा है। चौरासी सिद्धोंमें गोरखनाथ (गोरक्षनाथ) भी गिन लिये गये हैं। पर यह स्पष्ट है कि उन्होंने अपना मार्ग अलग कर लिया।' राहुलजीके दिये हुए प्रमाणोंपर शुक्लजीने कुछ और बातें भी कहीं जो आजकलके अध्ययनकी दृष्टिमें अप्रामाणिक कही जायेंगी—"नाथपरम्परामें मत्स्येन्द्रनाथके गुरु जालन्धरनाथ माने जाते हैं। सब बातोंपर विचार करनेसे हमें ऐसा प्रतीत होता है कि जालन्धरने सिद्धोंसे परम्परा अलग की और पंजाबकी ओर चले गये।" मत्स्येन्द्रके गुरु जालन्धर थे, यह भ्रम रत्नाकर जोपम कथाको प्रमाण मान लेनेके कारण हुआ। इस प्रमाणसे यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया गया है कि जालन्धरनाथ ही आदिनाथ हैं और नाथोंकी परम्परा आदिनाथसे ही चलती है। ऐसी स्थितिमें और आगे विचार करनेपर यह बात भी माननी पड़ेगी कि कृष्णपा या काहुपा मत्स्येन्द्रनाथके गुरुभाई थे। लेकिन आज द्विवेदीजीके प्रामाणिक विवेचनसे यह बात साफ हो गयी है कि मत्स्येन्द्र और जालन्धर दोनों ही समसामयिक थे तथा दोनोंकी साधनपद्धतियाँ भिन्न थीं और गोरखनाथ मत्स्येन्द्रनाथके और कृष्णपाद जालन्धरपादके शिष्य थे। नाथ सम्प्रदायकी कोई भी परम्परा जालन्धरनाथको मत्स्येन्द्रनाथका गुरु नहीं मानता। द्विवेदीजीने जो यह बात कही है कि "नाथयोगियोंका नया सम्प्रदाय नेपालमें शैवों और बौद्धोंके सम्मिश्रणसे उठ खड़ा हुआ, इसका अर्थ केवल यही लगाया जा सकता है कि नाथोंकी साधनामें बौद्धोंकी या कुछ बंगाली सहजानी जैसी साधनाएँ भी किसी न किसी प्रकार छिन्न-भिन्न विभिन्न अनेक सम्प्रदायोंके संगठनके बाद नाथ सम्प्रदायमें सरकती हुई चली आयी हैं। लेकिन द्विवेदीजीसे पूर्व यह प्रकट न हो सका था कि गोरखनाथने विभिन्न शैव-अशैव सम्प्रदायोंका संगठन नाथ सम्प्रदायमें किस तरह किया था।

प्रारम्भमें हिन्दी साहित्यके इतिहास-लेखनमें निर्गुणी सन्तोंका विचार करते समय यह मत व्यक्त किया गया था कि निर्गुणी लोगोंकी जाति-पाँति तोड़नेकी प्रवृत्ति मुसलमानोंके प्रभावके कारण है। द्विवेदीजीने इसे भ्रम बतलाया और स्पष्ट ही उन्होंने बौद्ध सिद्धों और नाथ सिद्धोंकी परम्पराकी ओर संकेत करते हुए कहा—'यदि कबीर आदि निर्गुणमतवादी सन्तोंकी वाणियोंकी बाहरी रूपरेखापर विचार किया जाय तो मालूम होगा कि यह सम्पूर्णतः भारतीय है और बौद्ध धर्म

वे अंतिम सिद्धों और नाथपंथी योगियोंके पदादिसे उनका सीधा सम्बन्ध है। उन्होंने बौद्ध सिद्धों और विशेषकर सरहपादकी वाणीकी परीक्षा कर अक्खड़ता, आडम्बर छुआछूत-जातिपाँति आदिकी प्रवृत्तियोंके विरोधकी भारतीय परम्परा सिद्ध कर दी। इसी प्रकार पारिभाषिक शब्द छन्द, पद रचना रागनिबद्धता दोहा चौपाई शैली, गुरु महिमा, पिण्डब्रह्माण्डवाद आदि प्रवृत्तियोंके विषयमें उन्होंने कहा कि ये सभी सहजयानियों वज्रयानियों, तांत्रिकों नाथपंथियोंमें समान भावसे मयाप्त हैं। 'हिन्दी साहित्यकी भूमिका' में द्विवेदीजीने भक्तिकालीन भावाविशेषका विचार करते समय नाथ सम्प्रदाय और सहजयान दोनोंका साथ-साथ उल्लेख किया है। अपने अगले ग्रन्थमें द्विवेदीजीने नाथ सम्प्रदायको मूलतः शैव ही माना है बौद्ध नहीं। उनके भूमिका नामक ग्रन्थमें दो-तीन बातें और ध्यान देने योग्य हैं—उन्होंने सधाभाषा, उलटवाँसी और दृष्टकूटका सम्बन्धनिरूपण करते हुए यह निष्कर्ष निकाला कि यह प्रवृत्ति बहुत पुरानी है। परम्पराका विस्तार बताते हुए उन्होंने नाथोंकी अमृतवाणी और सूरदासके दृष्टकूटकी तरहके उदाहरण पृथ्वीराजरासो में भी दिखाये। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि द्विवेदीजीने इसमें गोरखनाथकी शिष्य-परम्पराका भी विचार किया है जो अभीतक नहीं हुआ था। उन्होंने लिखा—गोरखनाथके कई शिष्य थे—बालनाथ, हालीपाव, मालीपाव आदि। हालीकपाव या हाड़िपा, हाड़ी नामक अन्त्यज जातिमें उत्पन्न हुए थे। पहले ये बौद्ध थे, बादमें नाथपंथी हो गये थे। इन्हींका एक और नाम जालन्धरनाथ था। उनके अगले ग्रन्थमें जालन्धरनाथके गोरखका शिष्य होनेकी बात नहीं आयी है। तीसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यहाँ नाथों शैवयोगके विभिन्न पारिभाषिक शब्दोंकी शास्त्रीय आधारपर व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। डॉ० बड़थ्वालने संत साहित्यमें प्रयुक्त होनेवाले विभिन्न पारिभाषिक शब्दोंके स्रोतोंका वर्गीकरण तो किया था किन्तु उन शब्दोंके विकासात्मक सूक्ष्म अर्थोंका विचार नहीं किया। द्विवेदीजीने शून्य जैसे शब्दोंका विस्तारसे विचार किया। उन्होंने कबीरादिके व्यक्तित्व निर्माणके लिए उत्तरदायी जुगी आदि जातियोंका समाजवैज्ञानिक और जनगणना सम्बन्धी तथ्योंके आधार पर तत्कालीन समाज रचना और परिवर्तनका विवरण प्रस्तुत किया।

उपर्युक्त पुस्तकमें ही द्विवेदीजीने यह संकेत कर दिया था कि नाथ सम्प्रदाय और तत्प्रभूत जातियोंने कबीरको प्रभावित किया था। बादमें कबीरको इस रूपमें नवधर्मान्तरित इसी जुगी जातिसे मिला। डॉ० बड़थ्वालने पहले यह अवश्य बताया था कि कबीर किसी प्राचीनतया कोरी किन्तु तत्कालीन जुलाहा कुलके थे जो मुसलमान होनेके पहले जोगियोंके अनुयायी था। द्विवेदीजीने बड़

विस्तारसे इस तथ्यको उद्घाटित सिद्ध किया कि जोगी जाति नाथयोगियोंसे सम्बद्ध थी। इसके लिए उन्होंने रिजली और बेन्सको प्रमाण रूपमें उद्धृत किया है। द्विवेदीजी कोरीके मुसलमानी रूपको जुलाहा नहीं मानते। उन्होंने डॉ० बड़थ्वालके इस मतको भी अस्वीकार किया है कि सामाजिक प्रतिष्ठाके लिए ही यह धर्मान्तर हुआ था। उनका अनुमान है कि मुसलमानोंके आनेके पहले इस देशमें एक ऐसी श्रेणी वर्तमान थी जो ब्राह्मणोंसे असन्तुष्ट थी और वर्णाश्रमके नियमोंकी कायल नहीं थी। नाथपन्थी ऐसे ही योगी थे। अन्यत्र उन्होंने यह भी संकेत किया है कि शैवोंके लकुलीश पाशुपत आदि सम्प्रदाय वर्णाश्रम व्यवस्थाको मान्यता नहीं देते थे। वे वस्तुतः अत्याश्रमी अथवा अतिवर्णाश्रमी थे। वे मुख्य रूपसे संन्यासी ही होते थे, लेकिन बादमें राजनीतिक-सामाजिक परिस्थितियोंके परिवर्तनसे उनके सम्प्रदायके अन्तर्गत अत्याश्रमी और अवर्णाश्रमी गृहस्थोंका भी वर्ग विकसित होने लगा। "उन दिनों नाथमतावलम्बी गृहस्थ योगियोंकी एक बहुत बड़ी जाति थी जो न हिन्दू थी न मुसलमान। वस्तुतः ये जातियाँ एक जमानेमें आश्रमभ्रष्ट होनेके कारण वर्णाश्रम व्यवस्थाके बाहर पड़ गयी थीं। जोगी नामक आश्रमभ्रष्ट घरबारियोंकी यह जाति सारे उत्तर और पूर्व भारतमें फैली थी। जातिभेद और ब्राह्मणकी श्रेष्ठताके प्रति इनकी कोई सहानुभूति नहीं थी। ये आसपासके बृहत्तर समाजमें नीच और अस्पृश्य थे। मुसलमानोंके आनेके बाद ये धीरे धीरे मुसलमान होते रहे। पंजाबसे लेकर बंगाल तकके प्रदेशोंमें नाना जातियोंने सामूहिक रूपसे इस्लाम धर्म ग्रहण किया।" नाथ सम्प्रदायसे सम्बद्ध जातियोंके धर्मान्तरकी प्रक्रियाका विस्तृत विवेचन कर द्विवेदीजीने केवल कबीरपर ही नहीं अपितु अलीरजा, सैयद सुल्तान, मुहम्मद शफी मुरशिद आदि [illegible] नयी दृष्टिसे विचार करनेकी प्रेरणा दी और यह संकेत किया कि इन बंगके कवियोंका तत्कालीन संस्कृति, समाज और साहित्यमें वैलक्षण्य स्पष्टतया बहुत महत्त्वपूर्ण है।

हिन्दीमें भक्तिकालके संत साहित्यकी भूमिकाके लिए यद्यपि नाथ साहित्य और सम्प्रदायकी चर्चा कई बार हो चुकी थी किन्तु नाथोंके दर्शन, साधना और साम्प्रदायिक सिद्धान्तोंका सुन्दर विवेचन नहीं किया गया था। पं० रामचन्द्र शुक्लने अपने इतिहासमें नाथोंके साधना और ज्ञानगत [illegible] जो संकेत किये थे। वे पर्याप्त भ्रामक थे— योगियोंकी इस हिन्दू-मुसलमान वज्रयानियोंके अश्लील और बीभत्स विधानोंसे अपनेको अलग रखा यद्यपि निर्गुनियोंकी भावनाके कारण कुछ शृंगारमयी बानी भी नाथपन्थके किसी ग्रन्थ ([illegible]) में मिलती है। आरम्भसे पतंजलिके उक्त लक्ष्य ईश्वर प्राप्तिको लेकर हठयोगका

प्रवर्तन किया।" यद्यपि शुक्लजीने नाथोंकी अन्तस्साधना, ईश्वरवादिता, परमात्मा-की अनिर्वचनीयता, नास्तिकताके खण्डन आदिकी ओर भी संकेत किया है तथापि उपर्युक्त कथनकी त्रुटियाँ भी छोटी नहीं हैं। यह तो ठीक है कि नाथोंने वज्र-यानियोंके अश्लील विधानोंसे अपनेको अलग रखा किन्तु वे यह नहीं बतला सके कि वज्रयानकी महज़ाली-जैसी भावनाएँ नाथमार्गमें कैसे स्थान पा गयी। प्रत्युत इसी तरहकी बातको स्पष्ट करनेमें वे 'शक्तिसंगमतन्त्र' को नाथपन्थी ग्रन्थ कह गये। यह ग्रन्थ नाथ सम्प्रदाय अथवा पन्थका प्रमाणग्रन्थ नहीं है। गोरक्षसिद्धान्त संग्रह-जैसे ग्रन्थोंमें इस ग्रन्थके उद्धरण अवश्य हैं लेकिन केवल इसी आधारपर नाथ सम्प्रदायका ग्रन्थ उसे घोषित नहीं किया जा सकता। नाथयोगका स्वरूप और लक्ष्य पातंजल योगसे भिन्न है। उसका लक्ष्य है कायसिद्धि और नाथस्वरूपमें अवस्थान। लेकिन शुक्लजीने पातंजल योगकी ईश्वरप्रणिधिको नाथ सम्प्रदायका लक्ष्य बताया। नाथ सम्प्रदायके जितने ग्रन्थ उपलब्ध हैं उनके आधारपर यह कहा जा सकता है कि पातंजल योगके ईश्वरका स्थान नाथ सिद्धान्तके परम शिवसे बहुत नीचे है। (इसमें कोई सन्देह नहीं कि नाथ सम्प्रदाय पूर्णतया ईश्वरवादी है और वज्रयान और सहजयान अनीश्वरवादी)। द्विवेदीजीके नाथ सम्प्रदाय साधना और दर्शन सम्बन्धी विवेचनसे उपर्युक्त बातें प्रकट होती हैं।

इस विवेचनका मूल परिणाम स्वाभाविक था कि नाथोंके उन पारिभाषिक शब्दोंके मर्म खुल जाते जिनका बहुत प्रयोग परवर्ती सन्तोंने किया। द्विवेदीजीने हठयोग, महाकुण्डलिनी, उसकी अवस्थाओं, कुण्डलिनीजागरण, षट्चक्र, सहस्रार, शून्यचक्र, ब्रह्मरन्ध्र, नाडियाँ, नादबिन्दु, कायासाधन, षट्कर्म, खेचरी मुद्रा, अमरवारुणी, सामरस्य, उन्मनी आदि शब्दोंका शास्त्रीय विवेचन तो किया ही, निरंजन, शून्य, सहज, किन्तु खसम आदि शब्दोंका विस्तृत विचार पहली बार किया। यद्यपि सारे शास्त्रीय और प्रामाणिक विवेचन नाथमार्गके आधार थे किन्तु इनके विवेचनका लक्ष्य सन्त काव्यमें प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दोंके मर्म खोलना था। पारिभाषिक शब्दोंके अर्थविकास सम्बन्धी इस विवेचनने नाथ और सन्त साहित्यके अध्ययनको सुकर कर दिया और इसमें भी एक प्रकारकी ऐतिहासिक रोचकता उत्पन्न कर दी।

सैद्धान्तिक साधनात्मक और अर्थनिरूपणात्मक इस विवेचनने सहज ही सन्तोंकी शब्दावलीका स्वरूप उपस्थित कर दिया। द्विवेदीजी बौद्ध अपभ्रंश साहित्यके भी पण्डित हैं अतः बौद्ध सिद्धोंके दोहों और चर्यापदोंमें प्रयुक्त होनेवाली सन्धाभाषा और शैलीका उन्हें पूरा ज्ञान था। इसलिए सन्तोंकी उलटी चर्चा, सन्तोंकी उलटबाँसियों और बौद्ध सिद्धोंकी सन्धाभाषाको परम्परा एक सिद्ध

करनेमें उन्हें कोई कठिनाई नहीं हुई। योगशास्त्रके सांकेतिक शब्दों, प्रतीकोंका विस्तारसे विवेचन कर उन्होंने नाथों और सन्तोंकी शैलीका वैलक्षण्य उद्घाटित किया। इससे उलटबाँसियोंकी दुरूहता भी दूर हुई। अपने कबीर नामक ग्रन्थमें उन्होंने कुछ और अधिक शब्दोंका विवेचन किया और उसके साथ ही बौद्ध, शैव और जैन योगोंकी समशील प्रवृत्तियों और अर्थोंकी ओर संकेत किया।

ब्रिग्सके जिस ग्रन्थकी ओर ऊपर संकेत किया है उसमें लेखकने कनफटा योगियोंके सम्प्रदायपर तो साम्प्रदायिक परम्परासे प्राप्त सामग्रीपर विस्तारसे विचार किया है किन्तु सिद्धान्त और साधना आदिपर सामग्री नगण्य-सी है। जो थोड़ा बहुत विचार है उसके लिए ब्रिग्सने प्रमाण-ग्रन्थ 'गोरक्षशतक' माना है। उस समय और भी प्रामाणिक ग्रन्थ उपलब्ध थे। फिर भी ब्रिग्सने उन्हें विवेच्य नहीं समझा। परिणाम यह हुआ कि ब्रिग्सका तत्सम्बन्धी कार्य अधूरा, एकपक्षीय और अप्रामाणिक रहा। उन्हें सम्भवतः संस्कृतके शैव शाक्त और तन्त्र साहित्यका भी पता नहीं था। इस कार्यके एक वर्ष पूर्व (१९३७ ई० में) डॉ० मोहनसिंहने अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ 'गोरखनाथ ऐण्ड मेडिवेल हिन्दू मिस्टिसिज्म' प्रकाशित कराया था। इसमें उन्होंने 'मछीन्द्र गोरख बोध' नामकी हिन्दी रचनाको प्रामाणिक माना और उसका अँगरेजीमें अनुवाद भी प्रस्तुत किया। योगसाधनाको भारतीय रहस्यवादके रूपमें तो स्वीकार किया जाता रहा है लेकिन गोरखनाथके योगसम्बन्धी रहस्यवादपर यह पहला ग्रन्थ था। ब्रिग्स ने भी एक महत्त्वपूर्ण कार्य यह किया कि सम्प्रदायगत विश्वासों, रीति रिवाजों संस्कारों क्रियाओं और तथ्योंका विशाल और सम्पन्न भण्डार उन्होंने प्रस्तुत कर दिया। द्विवेदीजीने इन सारी सामग्रियोंकी भलीभाँति परीक्षा की और नाथ सम्प्रदायके शास्त्रीय और प्रामाणिक ग्रन्थोंके आधारपर नये सिरेसे सिद्धान्त साधना और दर्शनका विवेचन किया। पहलेके लेखकोंको संस्कृत प्राकृत अपभ्रंशमें लिखित जैन बौद्ध शैव शाक्त आदिका साहित्य हस्तगत नहीं था और न उनकी दृष्टि ही सहज व्यापक भूमिकामें नाथोंकी रचनाओंका दर्शन करनेमें समर्थ थी।

अपने ग्रन्थ नाथ सम्प्रदाय में बहुतसे प्रमाण देकर द्विवेदीजीने यह सिद्ध किया है कि मत्स्येन्द्रनाथका सिद्धामृत मार्ग ही आगे चलकर नाथ सम्प्रदायके रूपमें विकसित हुआ। उन्होंने बताया है कि मत्स्येन्द्र लिखित 'कौलज्ञाननिर्णय'में अनेक कौल समाम योगिनी कौल मतका भी उल्लेख है। गोरक्षसिद्धान्त संग्रहके अनुसार कौलमार्ग अवधूतमार्ग है और शाक्त तन्त्र भी नाथानुयायी है। नाथ सम्प्रदायके प्रचारकोंकी अपनी मान्यताओंसे यह मालूम होता है कि तान्त्रिकोंका कौल मार्ग और कापालिक मत नाथानुयायी हैं।' इन आधारोंपर द्विवेदीजीने तापर्दर्शियोंका यह

दावा ठीक माना है कि कौलाचार उनके अपने आचार्यों-द्वारा उपदिष्ट मार्ग है। त्रिपुरामतके आचार्यगण स्वयं अपनेको नाथमतानुयायी मानते हैं। दूसरी ओर काश्मीरके कौलमार्गमें मत्स्येन्द्रनाथको बड़ी श्रद्धाके साथ स्मरण किया गया है। जालन्धरनाथ कापालिक थे और कान्हूपाद उनके शिष्य थे। गोरखनाथ-द्वारा संगठित नाथ सम्प्रदायमें वामारग नामका एक अद्धाप सम्प्रदाय भी है जिसका सम्बन्ध कान्हूपासे माना जाता है। द्विवेदीजीने त्रिग्मक आधारपर यह भी बताया है कि जालन्धरनाथ औघड़ थे जब कि मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ कनफटा कहलाते थे। नाथपंथियोंका मुख्य सम्प्रदाय गोरखनाथी योगियोंका है जिन्हें साधारणतः कनफटा और दर्शनी साधु कहा जाता है। नाथ सम्प्रदायमें और भी बहुत-से तत्कालीन प्रचलित उप-सम्प्रदायोंका संगठन हुआ जिससे नाथ सम्प्रदायका पर्याप्त विस्तार हो गया। द्विवेदीजीने बहुतसे स्रोतोंकी परीक्षा कर विस्तारसे इन उपसम्प्रदायोंका विवेचन किया। वेश, विश्वास आदिके विवरणोंके साथ गृहस्थ नाथमार्गियोंका वर्णन परवर्ती सन्तोंके अध्ययनके लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

सम्प्रदायके पुराने सिद्धोंका विचार करते समय द्विवेदीजीने नवनाथों और चौरासी सिद्धोंकी विभिन्न सूचियोंकी भली भाँति परीक्षा की। इनमें तीन सूचियाँ विशेष महत्त्वपूर्ण हैं—हठयोगप्रदीपिकाकी सूची, वर्णरत्नाकरकी सूची, राहुल सांकृत्यायन द्वारा प्रदत्त सस्क्य विहारकी सहजयानी सिद्धोंकी सूची। द्विवेदीजीने वर्णरत्नाकरकी सूचीको नाथसिद्धोंकी सूची माना है। उन्होंने इसी तरहकी और कई सूचियों और परम्पराओंकी तुलनात्मक समीक्षा कर यह निष्कर्ष निकाला है कि नाथ सम्प्रदायके मूल चार आचार्य मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ, जालन्धरनाथ और कानिपा हैं क्योंकि इनके नाम सभी सूचियोंमें मिलते हैं। उन्होंने कुल मिलाकर १३७ सिद्धोंकी सूची तैयार की है लेकिन उनका यह भी कहना है कि उनमें-से कई अभिन्न-से जान पड़ते हैं। उदाहरणार्थ काह्न, कण्हपी, करणिपा, कानफेनाथ आदि एक ही सिद्धके नामके उच्चारण भेदसे भिन्न रूप हैं। इस ग्रन्थमें उन्होंने उपर्युक्त चार नाथ सम्प्रदायाचार्योंका विस्तृत परिचय पहली बार विभिन्न प्रामाणिक ग्रन्थोंके आधारपर दिया है। मत्स्येन्द्रनाथके परिचयमें उन्होंने बहुत-सी स्थापनाओंकी विसंगतियोंको स्पष्ट किया और निष्कर्ष निकाला है कि मत्स्येन्द्रनाथ और मीननाथ दोनों ही व्यक्ति अभिन्न हैं। मीन नामधारी सिद्ध एक-दूसरे सिद्ध हैं। इसके लिए उन्होंने बहुत-से प्रमाणोंपर युक्तिसंगत विचार भी किया है। द्विवेदीजी महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्रीके इस मतको ठीक मानते हैं कि मत्स्येन्द्रनाथ कभी बौद्ध थे ही नहीं। उन्होंने मत्स्येन्द्रनाथ विषयक कथाओंकी परीक्षा कर निर्णय निकाला कि मत्स्येन्द्रनाथ ९वीं शताब्दीके मध्यभागमें वर्तमान थे। जालन्धरपाद उनके

समसामयिक थे। मत्स्येन्द्र चन्द्रगिरि नामक स्थानमें पैदा हुए थे जो कामरूपसे बहुत दूर नहीं था। शुरू-शुरूमें वह एक प्रकारकी साधनाका व्रत ले चुके थे, परन्तु बादमें किसी ऐसे आचारमें जा फँसे थे जिसमें स्त्रियोंका साहचर्य प्रधान था और यह आचार ब्रह्मचर्यमय जीवनका परिपन्थी था। वे जिस स्थानमें इस प्रकारके नये आचारमें व्रती हुए थे, वह स्थान स्त्रीदेश या कदलीदेश था जो कामरूप ही हो सकता है। इस मायाजालसे उनका उद्धार उन्हींके प्रधान शिष्य गोरखनाथने किया और एक बार फिर वे अपने पुराने मार्गपर आ गये।

जहाँतक मत्स्येन्द्रनाथके साधनमार्गका प्रश्न है, वे पहले सिद्ध या सिद्धामृत मार्गके अनुयायी थे बादमें कामरूपमें वाममार्गी साधनामें प्रवृत्त हुए और वहाँसे कौलज्ञान अवतारित किया। फिर उनके प्रधान प्रवीण शिष्य गोरखनाथने उन्हें उद्बुद्ध किया और परिणामस्वरूप वे पुनः सिद्धामृत मार्गके अनुयायी बने। यह सिद्धामृत मार्ग पूर्ण ब्रह्मचर्यपर आश्रित था। इसमें स्त्रीसंग पूर्ण रूपसे वर्जित था। डा० बागची द्वारा सम्पादित ग्रन्थियोंमें-से कौलज्ञान निर्णय और कौलावली निर्णय मत्स्येन्द्रके बादके प्रवर्तित योगिनीकौल मतके व्याख्या-ग्रन्थ हैं। दूसरी ओर अकुलवीरतन्त्रको देखनेसे ऐसा लगता है कि मत्स्येन्द्रने इस ग्रन्थमें सिद्धामृतमार्गका विवेचन किया है। इस तन्त्रका स्वर गोरक्षसंहितामें पूरी तरहसे मिलता है। इसके विपरीत डा० बागचीने तान्त्रिक बौद्ध मतों और योगिनी कौल मतकी तुलना कर यह बताया है कि दोनोंमें कई समान बातें मिलती हैं जैसे सहजपर जोर देना, बाह्याचारका विरोध, कुलक्षेत्र और पीठोंकी चर्चा, वज्रीकरणका प्रयोग, पञ्चपवित्र आदि पारिभाषिक शब्दोंका प्रयोग। इनके आधारपर डॉ० बागचीने यह निश्चय किया कि मत्स्येन्द्रकी इस साधनाका सम्बन्ध बौद्ध साधनासे अवश्य था। इस मतकी समीक्षा करते हुए द्विवेदीजीने एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात कही है— इस बातमें तो कोई सन्देह ही नहीं कि जिन दिनों मत्स्येन्द्रनाथका प्रादुर्भाव हुआ था उन दिनों बौद्ध और ब्राह्मण तन्त्रोंमें बहुत-सी बातें मिलती-जुलती रही होंगी। द्विवेदीजीकी [illegible] इसी मान्यताके आधारपर हिन्दी-साहित्यके इतिहासकी बहुत-सी गुत्थियाँ सुलझायी जा सकती हैं। द्विवेदीजीने और आगे बताया कि ऊपरकी पाँच बातें बौद्ध तन्त्रोंमें मिलती अवश्य हैं, पर शैव तन्त्रोंमें भी उन्हें खोज निकालना कठिन नहीं है। पर यह कहना बहुत कठिन है कि जिन तन्त्रों या उपनिषदोंमें ये शब्द आये हैं वे बौद्ध तन्त्रोंसे बादके ही हैं परन्तु नाथ परम्पराकी सभी पुस्तकोंके अध्ययनसे ऐसा ही लगता है कि पुराना सिद्धमार्ग योगपरक था और पंचमकारों या पञ्चपवित्रोंकी व्याख्या उसमें शुद्ध रूपकके रूपमें ही हुआ करती

तो कोई भौतिक लाभ हो ऐसा करनेसे उन्हें रोक सका है।

ऐसे स्वच्छ एवं अनाविल साहित्यको भी सदियों तक भस्मावृत रहना पड़ा, यह एक विचित्र विडम्बना है। रत्न तभी रत्न है जब जौहरी उसे रत्न मानकर उसका मूल्यांकन करे, वरना वह भी पत्थरका एक ठीकरा ही है। परन्तु इससे रत्नकी रत्नसुलभ विशेषतामें कोई फर्क नहीं आता, जब भी पारखी उसे हाथमें लेता है वह अपना रत्नत्व ग्रहण कर लेता है। यही बात मध्ययुगके लगभग पाँच सौ वर्षोंके साहित्यके लिए भी लागू होती है। इसका परखनेवाला व्यक्तित्व असाधारण तथा विज्ञानमय होगा तभी काम चल सकता है। उसमें यदि अनेक व्यक्तित्वोंका समवेत स्वरूप अन्तर्निहित हो और जो एक दार्शनिक तन्त्र-मन्त्र, योगशास्त्र मनन, समस्त प्राचीन एवं अर्वाचीन साधनामूलक वाङ्मयके विश्व कोशस्वरूप व्यक्तित्वको लेकर सर्वांग सन्तुलित विवचनके क्षेत्रमें अवतरित हुआ हो वही इस विशद साहित्यके साथ यथोचित न्याय कर सकता था। संयोग वशात् आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीमें सभी वांछित योग्यताएँ वर्तमान हैं और साथ ही उनमें आवश्यकतानुसार शोधकी प्रवृत्ति तथा कारयित्री एवं भावयित्री दोनों प्रकारकी प्रतिभाओंका समन्वय भी है।

द्विवेदीजीने अपनी बहुमुखी चाक्षुषता एवं अनवरत साधना-द्वारा मध्य कालीन हिन्दी साहित्यके अन्धकाराभिभूत क्षेत्रको प्रकाशित किया है। उन्होंने अत्यन्त कण्टकाकीर्ण मार्गपर चलकर जो पथ प्रशस्त किया उसपर आजका एक बड़ा साहित्यान्वेषक एवं विवेचकवर्ग बेखटके चला आ रहा है। द्विवेदीजीने स्वयं तो जो किया वह किया ही साथ ही अपने प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष मार्गदर्शन द्वारा अनेक ऐसे शिष्य-प्रशिष्यवर्गको उसी दिशामें नियोजित कर दिया जिधर जानेमें अभी कुछ समय पूर्व तक विद्वद्वर्ग भ्रान्तिजन्य उपेक्षा अथवा भयसे कतराता फिरता था। आज विभिन्न विश्वविद्यालयोंमें सन्त और भक्ति साहित्य पर जितना शोध-काम हो रहा है उतना शायद किसी भी युगके साहित्यपर सम्भव नहीं हो पाया है। इसका श्रेय निस्सन्देह द्विवेदीजीको ही है। उन्होंने इस क्षेत्रमें प्राचीन काव्यका नया मूल्यांकन करके और विभिन्न काव्यधाराओंके उद्भव और विकासके सम्बन्धमें प्रचलित भ्रान्तियोंका निराकरण करके— नयी दिशाओंकी ओर निर्देश किया। यह इतनी बड़ी देन है जो मध्यकालीन भक्ति-साहित्यकी विवेचना एवं शोधकी भित्तिपर ध्रुवतारेकी भाँति प्रकाशित तथा अपने स्थानपर अटल है।

यह साहित्य जो बहुत समयतक अज्ञात रहा, जिसका एक बड़ा अंश दीमकों या अन्य विनाशक तत्त्वोंके पेटमें समा गया शेष अंश तत्तद् सम्प्रदायानुयायी

अविद्याग्रस्त महन्तों या उत्तराधिकारियों-द्वारा अन्तःप्रेरणा रहित भावसे अक्षत जल, पुष्प-नैवेद्य-द्वारा केवल पूजित होता रहा और जिसमें निहित मानवके प्रकाशको नाना प्रकारकी भ्रान्तियोंने आकर आच्छन्न कर लिया उसे अपनी पारदर्शी दृष्टि-द्वारा खोज निकालना तथा अध्ययन विवेचनके कष्टसाध्य कार्यको सम्पन्न करना अपने-आपमें बहुत बड़ा कार्य है। इस क्षेत्रमें द्विवेदीजीने अकेले ही इतना काम किया है जितना कदाचित् विद्वानोंका एक बड़ा समूह भी मिलकर न कर पाता। दूसरी कठिनाई यह थी कि जो कवि सभी प्रकारकी रूढ़ियों और बन्धनोंको झटककर फेंक देनेके लिए कटिबद्ध थे उनकी निबन्ध वाणियोंको दर्शन या काव्यशास्त्रके सिद्धान्त विशेषके साँचेमें बैठानेका प्रयास बहुत दिनोंसे होता आया था। यह प्रयास ही अपने-आपमें बड़ा उपहासास्पद सिद्ध हो गया। अतः द्विवेदीजीको दूसरा महत्त्वपूर्ण काम जो करना पड़ा वह था उक्त साहित्यको समग्र दृष्टिसे विवेचित करनेके उचित वातावरणका सृजन, जिसे उन्होंने बड़ी योग्यतासे सम्पन्न किया। इस कार्यके लिए उन्होंने साहित्य-जगत्‌में अपने अनेक निबन्धोंको प्रकाशित कराया परन्तु उनके 'कबीर'ने सर्वाधिक प्रसिद्धि प्राप्त की।

भक्तिकाव्यका अधिकांश ऐसे कवियोंकी कृति है जो जन्मना अभिजात नहीं थे अतः विद्वान् क्षेत्रमें एकाधिकार सम्पन्न कुलीनवर्ग कृति और कृतिकार दोनों को प्रश्रय न दे सका। यदि कभी कुछ कहा भी गया तो अतिशय श्रद्धाभिभूत होकर या उपेक्षा भावसे परन्तु ये दोनों बातें स्वस्थ दृष्टिकी सूचक नहीं हैं क्योंकि दोनोंमें एकांगिताका दोष वर्तमान है। जाति-पाँतके कृत्रिम विभाजनको सन्त कवियोंने कभी भी स्वीकार नहीं किया। भक्तोंकी, हरिजनोंकी एक ही जाति होती है—'जाति पाँति पूछे नहीं कोइ, हरि को भजे सो हरि का होई।' कबीरने जो जाति पूछनेवालोंको ललकारते हुए कहा था—

जाति न पूछो साधु की, पूछ लीजिए ग्यान।
मोल करो तलवार की, पड़ी रहन दो म्यान॥

'भक्त भक्ति भगवन्त, गुरु चतुरनाम वपु एक' कहकर भक्त कवि नाभादासजीने भी हरि और हरिके जनोंकी सजातीयताका ही समर्थन किया है। मानवतावादी दृष्टिकोणका पोषण करनेवाले द्विवेदीजी भी साहित्यको समष्टिगत मानव जीवनका प्रतिबिम्ब मानते हैं। उनका विराट् मानव एक समग्र इकाई है जो किसी भी वर्ग वर्ण, धर्म, सम्प्रदाय और राष्ट्रके मानवकृत सामाओंसे विभक्त नहीं है। साहित्य भी वही सार्थक है जो मानव जीवनमें प्रेम, भक्ति और सौन्दर्यका सृजन करता है, आपसमें भेद-बुद्धि उत्पन्न करनेवाला साहित्य सत्साहित्य नहीं हो सकता।

इतिहास-दर्शन

हिंदीका कोई भी भक्त कवि, चाहे वह जिस धारासे सम्बद्ध हो, या तो भक्त है या कवि दार्शनिक कोई नहीं है। यहाँतक कि तुलसीदास, नन्ददास और सुन्दरदासकी जो दार्शनिक ज्ञानके क्षेत्रमें अपेक्षाकृत पर्याप्त प्रबुद्ध थे, कृतियोंका भी विश्लेषण किसी विशिष्ट दर्शनके सिद्धान्तोंके आधारपर नहीं किया जा सकता। कविताका क्षेत्र हृदय-पक्ष है और दर्शनका बुद्धि-क्षेत्र। दोनोंका एक दूसरेके क्षेत्रमें अनधिकार प्रवेश अधिक दूर तक नहीं हो सकता। पूर्ववर्ती समीक्षकोंने दार्शनिक मूल्योंके आधारपर कबीरादि भक्त कवियोंकी कृतियोंका विवेचन करनेका व्यर्थ प्रयास किया था और अपने विशेष साँचेमें उन्हें फ़िट न होते देख उपहास जो मनमें आया कह दिया था। द्विवेदीजीने इस प्रवृत्तिका प्रत्याख्यान मुक्त मानकर राय दी है कि उनकी कृतियोंमें यदि कोई विशेष दार्शनिक सिद्धान्त मिल रहा हो तो उसको एक सीमा तक ही पानेकी अपेक्षा रखनी चाहिए, क्योंकि इन कवियोंको दार्शनिक कहलानेकी साध नहीं थी।

सन्त कवियोंके जाति-पाँति विरोधी उद्गारोंमें इस्लामकी आशंका गन्ध पाकर उन्हें श्रुति-सम्मत हरि भक्ति-पथका विरोधी, समाज भंजक तथा धर्मोपदेशकोंके मिथ्या दम्भसे युक्त माना गया था। कुछ विद्वानोंने उनकी इस प्रवृत्तिको मुसलमानी धर्म प्रचारका हथकण्डा भी बताया था। द्विवेदीजीने इन मान्यताओंका बड़े जोरदार तर्कोंके साथ खण्डन किया है। उन्होंने अनेक प्रमाणोंके आधारपर सिद्ध किया है कि उक्त प्रवृत्ति बौद्ध सिद्ध-साहित्य और नाथ-साहित्यमें पहलेसे ही वर्तमान थी। सहजयान और नाथपन्थके अधिकांश साधक तथाकथित नीच जातियोंमें उत्पन्न हुए थे अतः इस अकारण नीच बनानेवाली प्रथाको उन्होंने दार्शनिक तटस्थताके साथ कभी नहीं देखा। यहाँतक कि उच्चवर्गके विचारकोंतकने इस व्यवस्थाके प्रति रोष व्यक्त किया है। अश्वघोष, सरहपा मत्स्येन्द्रनाथ, कणेरीपाव और चौरंगीनाथ इसके उदाहरण हैं। यहाँतक कि 'जाति ३ दगे जारित इस देशमें जो कोई महामारी आयी है, उनमें यह प्रथा सबसे बड़ी है।'[1]

भक्त कवियोंकी युगचेतना और उनके सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्यको दृष्टिमें न रखनेके कारण ही अनेक प्रकारकी भ्रान्तियाँ अस्तित्वमें आयी। कई समय आलोचकोंने भक्ति-साहित्यको एक हताश पराजित जातिकी सम्पत्ति और एक निरन्तर पतनशील जातिकी चिन्ताओंका मूर्त प्रतीक मान लिया था। यह एक ऐसी बात थी जो समीक्षकोंके सन्तुलनको बड़े हो चमत्कार किये दे रही थी।

---

१ हिन्दी साहित्यकी भूमिका, पृ० २८।

द्विवेदीजीने सर्वाधिक जोरदार प्रहार इसीपर किया। उन्होंने स्पष्ट शब्दोंमें घोषित किया 'मैं इन दोनों बातोंका प्रतिवाद करता हूँ और अगर ये बातें मान भी ली जायें तो यह कहनेका साहस करता हूँ कि फिर इस साहित्यका अध्ययन करना नितान्त आवश्यक है क्योंकि दस सौ वर्षों तक करोड़ों कुचले हुए मनुष्योंकी बात भी मानवताकी प्रगतिके अनुसन्धानके लिए केवल उपयोगी ही नहीं बल्कि ज्ञातव्य वस्तु है।'[1] वे सर्वप्रथम विद्वान हैं जिसने इस युगके साहित्यको व्यापक धार्मिक और मूलतः ऐतिहासिक पृष्ठभूमिमें परखनेका प्रयास किया। वे इस विश्वासको दृढ़तापूर्वक मानकर चले थे कि मध्यकालकी प्रत्येक प्रवृत्तिका बीजारोपण किसी-न-किसी प्रकार पूर्ववर्ती कालमें भी हो चुका था। "विक्रमकी छठी शताब्दीके बादसे जो तान्त्रिक प्रभाव भारतीय सभ्यताके ऊपर पड़ा वह परवर्तीकालके सन्तों या निर्गुण भक्तोंकी साधनाके रूपमें प्रकट हुआ,"[2] यह उनका निष्कर्ष था।

भक्ति-कालमें प्राप्त होनेवाली पारिभाषिक शब्दावली, काव्य-रूढ़ियाँ, राग-रागिनियाँ, अभिव्यक्ति-पद्धतियाँ, छन्द और काव्यरूप आदि अनेक ऐसी बातें हैं जिनके उद्गम और विकासकी कड़ी बौद्ध साहित्यसे सन्त साहित्य तक शृंखलाबद्ध रूपमें मिलाकर उन्हें एक ही परम्पराका अंग, सिद्ध कर देनेमें द्विवेदीजीको अद्भुत सफलता मिली है। वस्तुतः इस लक्ष्यकी पूर्तिमें उनका वैदिक, पौराणिक, बौद्ध, जैन, पांचरात्र-वैष्णव, पाशुपत, शैव, कापालिक, नाथसिद्ध आदि धर्म-साधनाओंके सभी पक्षोंसे अवगत होना तथा संस्कृत, प्राकृत, पालि, अपभ्रंश, अवहट्ट तथा अन्य भारतीय आर्यभाषाओंमें-से एकाधिकका ज्ञान बहुत हद तक सहायक हुआ।[3] द्विवेदीजीके समस्त विवेचनात्मक साहित्यमें उनका गवेषक रूप समीक्षकके रूपसे अधिक भास्वर दिखाई देता है। अपनी बहुमुखी शास्त्रज्ञताके कारण वे आलोच्यके प्रत्येक तत्त्वके मूलकी खोजमें बराबर प्रवृत्त दिखाई देते हैं। इस प्रकार उनकी समीक्षा उनकी गवेषणाका अनुमान-सी करती दिखाई देती है।

समीक्षाके क्षेत्रमें बहुत-से ऐसे लोग भी हैं जिन्हें प्राचीन या मध्यकालीन साहित्यके प्रति सहज ही अरुचि है। इसके मूलमें सम्भवतः इनकी अभिव्यक्ति

---

१ हिन्दी साहित्यकी भूमिका, पृ० १।
२ मध्यकालीन धर्म साधना, पृ० ८५।
३ आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : व्यक्तित्व और कृतित्व: सम्पादित डॉ० शिवप्रसादसिंहका लेख, पृ० ११६।

और भाषाकी आधुनिक दृष्टिसे क्लिष्टता ही कारणस्वरूप हो सकती है। प्रत्येक प्राचीनको हेय और नवीनको प्रशंसनीय या प्राचीनको अच्छा तथा नवीनको निन्दनीय माननेकी प्रवृत्तिको भी स्वस्थ दृष्टिकोणका द्योतक नहीं माना गया है। आजकी स्तम्भ विज्ञानवादी एवं बुद्धिवादी दृष्टिकी आलोचना करते हुए द्विवेदीजीका यह कथन मननीय है—

क्या अतीतको एकदम अस्वीकार करके भविष्यका हृदयहारी भवन निर्मित हो सकता है? क्या सन्तों और भक्तोंके पुराने साहित्यमें जो कुछ उपलब्ध होता है वह मृत विचारोंका भूत है या उसमें भी ऐसे प्राणवान तत्त्व हैं जो इस युगके विचाराघात जर्जर मानवको कुछ आशाका सन्देश दे सकते हैं। मैं यह नहीं कहता कि आप उनकी सारी बातें स्वीकार कर लें या यह कि आजके समूचे प्रयत्नको व्यर्थ समझकर उसी रास्ते चलने लगें पर मैं यह अवश्य चाहता हूँ कि उस समूचे चिन्तनको एकदम भुला न दिया जाय। उसमें भी सत्य है, उसमें भी प्रकाश देनेकी क्षमता है।'[1]

द्विवेदीजीका सर्वाधिक प्रिय विषय मध्यकालीन साहित्य ही है, जो दूसरा को अस्पष्ट या क्लिष्ट लगा है। इसका मुख्य कारण सम्भवतः यह है कि भारतवर्षका यह सुमुप्त मध्ययुग, जिसके गर्भसे हमारा आधुनिक युग उत्पन्न हुआ है, अनेक दृष्टियोंसे उन्हें बहुत महत्त्वपूर्ण प्रतीत हुआ है। इसको उन्होंने भारतीय जन जीवनका जीवन्त प्रतिबिम्ब माना है।[2] स्पष्ट है कि उनके विचारसे साहित्य जन-जीवनसे अलग कुछ भी नहीं है। वे साहित्यको केवल कल्पना विलास-मात्र न मानकर मनुष्यकी दृष्टिसे देखनेके पक्षपाती हैं। जो वाग्जाल मनुष्यको दुर्गति, हीनता और परमुखापेक्षितासे बचा न सके जो उसकी हृदयको परदुखकातर और संवेदनशील न बना सके उसे साहित्य कहनेमें उन्हें संकोच अनुभव होता है।[3] उनकी इस मानवतावादी कसौटीपर भक्ति साहित्य पूरी तरह खरा उतरा है अतः उन्हें प्रिय भी वही हुआ है। उनकी यह मान्यता विपक्षकी दृष्टि समाज पर कवित्व वशीकरणको जिस आज मान्य किया गया है, प्रथम न देकर अध्यात्म या निर्गुण मानवता पकड़कर चलती है।

सन्त कवियों सूफियों तथा कुछ अन्य भक्त कवियोंकी रचनाओंमें निहित

[1] अशोकके फूल पृ० ६१०।

[2] 'इस देशकी जनताको, उसके विश्वासोंको, धर्म-परिवर्तनके आन्दोलनोंको समझनेकी सामग्री इस कालके साहित्यमें प्रचुर मात्रामें उपलब्ध होती है। इसे समझे बिना भारतवर्षको हम ठीकसे नहीं समझ सकते।"—कल्पना पृ० १६०।

[3] कर इक रूप, पृ० १०१।

भावपक्ष एवं अभिव्यक्तिमें इस्लामी या ईसाई तत्त्वोंकी भी बड़ी तत्परतासे खोज-बीन हुई है। वर्ण-व्यवस्था, मूर्तिपूजा आदिके अवलम्बनके साथ किये गये विरोध और ज्ञान विरुद्ध सम्बन्धी निबन्धोंमें इस्लामका जोर या भावना-पद्धतिके अनुगमनकी बातको द्विवेदीजीने स्वीकार नहीं किया है। सन्त कवियोंको तो जाने दीजिए, सूफी कवियोंकी प्रबन्ध-पद्धति (जिसे मसनवी पद्धति कहा गया है) तथा छन्द, भाषा आदिको भी उन्होंने पूर्णतः भारतीय परम्परामें माना है। "मैं ऐसा करके इस्लामके महत्त्वको भूल नहीं रहा हूँ लेकिन जोर देकर कहना चाहता हूँ कि अगर इस्लाम नहीं आया होता तो भी इस साहित्यका बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।" उनके मतानुसार कथा तो स्पष्टतः लोकप्रचलित कथाओंसे ली गयी हैं, दोहे-चौपाईवाली पद्धति सन्तवानी और जन-साहित्यमें पहलेसे ही वर्तमान थी और भाषा अवधी है ही। सूफी कवि तो प्रत्येक दृष्टिसे उतने ही भारतीय हैं जितने सूर और तुलसी आदि भक्त हैं।[1] आलवारोंकी भक्ति-भावनाके स्वरूपमें, जो आगे चलकर समस्त भारतकी भक्ति-धारामें परिणत हुआ, डॉ० ग्रियर्सन प्रभृति कुछ विद्वानोंको ईसाइयतकी स्पष्ट छाप मिली। द्विवेदीजीने इन सभी मतोंका जिनमें विदेशी पद्धतिके आगमकी बात कही गयी है खण्डन किया है।[2] और यदि यह मान भी लिया जाये कि उक्त परम्पराके साहित्यमें कुछ विदेशी या अनाध्यात्मिक तत्त्वोंका भी प्रवेश हो गया है तो भी कोई अन्तर नहीं पड़ता। हमारा धर्म और साहित्य सर्वदा सार-ग्राही रहा है। इस सम्बन्धमें द्विवेदीजीका यह कथन भी उनके दृष्टिकोणको स्पष्ट कर देता है—'हम व्यर्थके इस झगड़ेमें न पड़ जायें कि कोई वस्तु वस्तुतः भारतीय या अभारतीय आध्यात्मिक या अनाध्यात्मिक है। जो कुछ अच्छी है तो वह भारतीय हो या न हो, आध्यात्मिक हो या न हो, ग्राह्य है।"[3]

आचार्य शुक्ल प्रभृति पूर्ववर्ती आलोचकोंने बौद्ध, जैन और नाथ साहित्यको 'असाहित्यिक और साम्प्रदायिक शिक्षा मात्र' मानकर विशुद्ध साहित्य-क्षेत्रसे धक्का देकर बाहर निकाल देनेकी राय दी थी परन्तु द्विवेदीजीने उक्त साहित्यको न केवल सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण बताया बल्कि शुद्ध साहित्य-

---

१ यदि इस भाँति निर्गुण मतवादी कवियोंकी बातोंपर ध्यानपूर्वक विचार किया जाये तो मालूम होगा कि यह सम्पूर्णतः भारतीय है और बौद्ध धर्मके अन्तिम सिद्धों और नाथपन्थी योगियोंके पदादिसे उसका सीधा सम्बन्ध है। —हिन्दी साहित्यकी भूमिका, पृ० ३८।

२ वही, पृ० ३८।

३ विचार और वितर्क, पृ० १६२।

के क्षेत्रमें प्रतिष्ठित भी किया। शुक्लजी धर्म या भक्तिको वैयक्तिक साधना तथा लोकधर्मका विरोधी मानते हैं। वे श्रुति-सम्मत ज्ञान, कर्म और भक्तिसे समन्वित रूपकी साधनाके प्रशंसक हैं परन्तु द्विवेदीजीकी दृष्टिमें वह वैयक्तिक साधना और वह व्यक्ति महान् है जो निजी स्वार्थों और संस्कारोंसे ऊपर उठकर आराध्यके समक्ष अपना सर्वस्व समर्पित कर देता है। डॉ० शिवप्रसाद सिंहके शब्दोंमें — 'दीपकी शिखाकी तरह निखरकर अपने आराध्यके चरणोंमें समर्पित करनेवाले प्रत्येक भक्त-कविको उन्होंने समझा और सराहा है।'[1]

मध्यकालीन भक्ति साहित्यके अनुशीलन और उसमें निहित तत्त्वोंके सम्यक् विवेचनके लिए मुख्यतः तीन आवश्यकताओंकी पूर्ति आवश्यक थी—१ प्रकाशित तथा अप्रकाशित उपलब्ध साहित्यमें डूबनेकी लगन, २ विवेच्यकालीन सामाजिक, धार्मिक तथा मानसिक परिस्थितियोंका यथार्थ ज्ञान, ३ इनके पारम्परिक अध्यात्म चिन्तनके परिवेशमें व्यक्ति, कृति तथा विचारोंके परीक्षणकी क्षमता। स्पष्ट है कि एकमात्र द्विवेदीजी ही इन सभी वांछित आवश्यकताओंको एक साथ पूरा कर सके। उनके व्यक्तित्वकी त्रिवेणीमें शास्त्र, चिन्तन और दृष्टिकोण—इन तीनों धाराओंका अद्भुत संगम है। शान्तिनिकेतनके सौम्य शान्त मन्दिरमें महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री, आचार्य क्षितिमोहन सेन तथा गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोरके सतत सान्निध्य एवं मार्गदर्शनमें द्विवेदीजीकी उपरोक्त तीनों शक्तियोंका क्रमशः विकास होता गया। भगवती सरस्वतीको कबीरकी भेंट चढ़ाकर उन्होंने अपनी आराधनाकी वास्तविकताको प्रमाणित किया। काशीके सारस्वत संस्कार एवं परिवारके ज्योतिषसे परिवेष्टित विद्या विनय-सम्पन्न द्विवेदीजीका पाण्डित्य अपने-आपमें अद्वितीय हो उठा है।

भक्ति-साहित्यका एक दशमांश ही अभीतक प्रकाशित हो पाया है जिसमें कुछेक प्रमुख कवियोंको छोड़कर शेषकी रचनाएँ केवल भक्ति-भावसे प्रेरित होकर ही प्रकाशित की गयी हैं जिनके सम्पादन सङ्कलन आदिमें वैज्ञानिक दृष्टिकोणका सर्वथा अभाव है। इस साहित्यमें भक्ति, शान्ति और वैराग्यकी प्रधानता होनेके कारण ललित काव्य-सुलभ रसात्मकताका स्पष्ट अभाव होता है। जिससे फलस्वरूप रसान्वेषी पाठक नाक भौं सिकोड़ते हुए उसमें अरुचि ही दिखाते हैं। जिन मठों या मन्दिरोंके स्वामियोंके यहाँ उनके तथा इतर सम्प्रदायसे सम्बद्ध वाणियाँ पड़ी हुई हैं उन्हें प्रकाशमें लाने या विद्वानोंको उनकी ओर आकर्षित करनेकी दिशामें उनके द्वारा प्रायः कोई तत्परता नहीं

[1] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : व्यक्तित्व एवं साहित्य, पृ० १११

दिखाया गया। इसके लिए साधनोंकी कमी नहीं थी, कमी थी इच्छा शक्तिकी। जो कवि अन्धकारके गहन आवरणको भेदकर प्रकाशका दर्शन कर सके वे अपने काव्यगत वैशिष्ट्य एवं अभिव्यक्ति-लालित्यके कारण ही, उसमें उनके सम्प्रदायानुयायियोंका योगदान नगण्य ही रहा है। अपनी अथक शोध-वृत्तिके कारण द्विवेदीजीने इस क्षेत्रमें भी आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की। साहित्यान्वेषणमें संलग्न विचारक यह भली भाँति जानते हैं कि यदि किसी प्रकार हस्तलिखित वाणियाँ प्राप्त भी हो जायँ तो लिपिकी अस्पष्टता, अक्षर मात्रा और पृष्ठोंमें त्रुटित, अव्यवस्थित और भाव भाषामें अव्यक्त कृतियोंका मनन विवेचन तथा उनके सम्बन्धमें विविध तथ्योंका उद्घाटन कितना कठिन कार्य है। जब प्रकाशित साहित्यके सम्बन्धमें ही अनेक भ्रान्तियोंके लिए स्थान हो सकता है तो विशाल अप्रकाशित अंशका कहना ही क्या ?

आचार्य शुक्लजी तथा उनके अनुगामी समीक्षकोंने कबीर और उनके व्यक्तित्वसे प्रभावित सन्तोंकी भाषाको सधुक्कड़ी, व्यक्तित्वको फक्कड़, काव्यको अकाव्य, भक्तिको ज्ञान सहजसाधनाको हठयोग छन्दको लय-ताल-तुक मात्रादि दोषोंसे युक्त, साहित्यिकरूपको समाज सुधारक तथा उपदेशक रूपको रूढ़िभंजक आदि कहकर ऐसा तिरस्कृत किया कि सन्त-साहित्य ही नहीं बल्कि उसके साथ सगुण साहित्यका भी एक बड़ा अंश उपेक्षित सा हो गया। शास्त्रानुमोदित कसौटियोंपर खरे न उतरनेके कारण ये कवि तुक्कड़ और फक्कड़ मात्र रह गये। इस स्थितिमें द्विवेदीजीकी शास्त्रज्ञानमें संयमित स्वच्छन्दतावादी समीक्षा दृष्टिने सर्वथा मौलिक मार्ग प्रशस्त किया। उन्होंने भक्त-कवियोंकी अनलंकृत सहज भाषा, सहज साधना और व्यक्तित्वकी सहजताकी भूरि भूरि प्रशंसा की तथा उसे ही साधना और भाषाके क्षेत्रकी श्रेष्ठताका मानदण्ड बताया। उनके कथनानुसार "जिन लोगोंने गहन साधना करनेके लिए अपनेको सहज नहीं बना लिया है वे सहज भाषा नहीं पा सकते। व्याकरण और भाषाशास्त्रके बलपर यह भाषा नहीं बनायी जा सकती, काव्योंमें प्रयुक्त शब्दोंके अनुपातपर इसे पकड़ा नहीं जा सकता। कबीरदास और तुलसीदासको यह भाषा मिली थी। महात्मा गान्धीको भी यह भाषा मिली क्योंकि वे सहज हो सके। अगर इन लायक बन्तु है तो भाषा स्वयं सहज हो जायेगी।"[1]

आलोच्य साहित्यको उन्होंने केवल हिन्दी साहित्यकी सीमाओंमें ही न देखकर उसे समस्त भारतीय वाङ्मयकी विकासात्मक कड़ीके रूपमें देखा है। यही

---

१ अशोकके फूल, पृ० १७६।

कारण है कि उन्होंने ललित साहित्यको एक व्यापक परिभाषाके अन्तर्गत ग्रहण किया है, जबकि आचार्य शुक्ल प्रभृति समीक्षकोंने विशुद्ध साहित्यको धर्मोपदेश या योगशास्त्र विषयोंसे सर्वथा अलग समझा है। इस सम्बन्धमें द्विवेदीजीका उनसे स्पष्ट मतभेद है। अपनी इसी विशिष्ट मान्यतासे प्रेरित होकर उन्होंने हिन्दीके उद्भवकालके समय ह्रासोन्मुख परन्तु लोकपक्ष समन्वित बौद्ध धर्म विशेषतः सहजयानके साहित्यकी सराहना की है। वहाँ उन्हें भाषा, व्यक्तित्व और अभिव्यक्तिकी सहजताके साथ लोकमंगलकारी साधकोंकी एक कड़ी जगती मिल जाती है। उनके विचारसे मध्यकालीन भक्ति साहित्यको समझनेके लिए परवर्ती शाक्त, जैन, बौद्ध, शैव, और वैष्णव साधनाके वाममार्गीय मार्गोंका परिचय अत्यन्त लाभप्रद है। बिना ऐसा किये आलोच्यकालमें दृष्टिगोचर होनेवाले ब्राह्मण और अब्राह्मण मतोंमें ओत-प्रोत गतिशील हुए विभिन्न धाराओंकी प्रवृत्तियोंका ठीक ढंगसे विवेचन सम्भव नहीं है। 'मध्यकालीन धर्म-साधना'में संकलित एतद्विषयक अपने कई निबन्धोंमें उन्होंने इस तथ्यका भली भाँति समर्थन किया है।

भक्ति-काव्यकी निर्गुण काव्यधाराके अन्तर्गत ज्ञानमार्गी या ज्ञानाश्रयी कहे जानेवाले विभाजनको भी द्विवेदीजीने स्वीकार नहीं किया है। उनके मतानुसार वे कवि प्रेममार्गी अधिक हैं, ज्ञानमार्गी कम। इसी प्रकार उन्हें 'एकेश्वरवादी,' 'अनीश्वरवादी' या 'अद्वैतवादी' कहना भी उनकी दृष्टिसे युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि वे इनमें-से एक भी नहीं थे। अतः द्विवेदीजीने साधना-मूलक प्रवृत्तियोंको ध्यानमें रखते हुए केवल दो मार्गोंका ही नामनिर्देश किया है—१ योगमूलक साधनाएँ, २ भक्तिमूलक साधनाएँ। प्रथम विभाजनकी पृष्ठभूमिको समझानेके लिए उन्होंने हिन्दी साहित्यकी भूमिकाके अन्तर्गत बौद्ध धर्मसे लेकर सन्तमत तकका विकासात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। इस सन्दर्भमें शंकर और कुमारिल-द्वारा बौद्ध धर्मका उन्मूलन करनेकी दिशामें किये गये प्रयासों और जादू टोटका तक ही सीमित महायानकी अन्तिम परिणतिका बड़ा ही अन्वेषणपरक परिचय उन्होंने दिया है। इसी प्रकार वज्रयान तथा सहजयानका हिन्दूमतोंमें घुलना, नाथपन्थका आविर्भाव तथा विकास और सन्त मतोंमें इन दोनों परम्पराओंके समन्वयपर 'नाथ सम्प्रदाय' द्वारा उन्होंने भली भाँति प्रकाश डाला है। योगमूलक साधनाओंकी आचार विचार सम्बन्धी मान्यताओंको स्पष्ट करनेके लिए उन्होंने तन्त्रमत, कुण्डलिनी शक्ति, षट्चक्र, इड़ा पिंगला-सुषुम्ना, नाद बिन्दु स्फोट, पञ्चम, सहजसमाधि, उन्मुनिरहनी, पाखण्ड, मन प्राण भूतादि पंचतत्त्व, पिण्ड-ब्रह्माण्ड, शिव शक्ति सामरस्य, अनभै, शुद्धपद, शब्दसाधना, शक्ति बीज मन्त्र, सुरति निरति, यन्त्र मन्त्र-तन्त्र, हठयोग योगांग, सम्प्रदाय

असम्प्रज्ञात समाधि, आसन-मुद्रा-बन्ध, प्रत्याहार प्राणायाम, अजपागायत्री नाडी-शुद्धि, छह प्रकारका समाधियोग, लय योग, शब्द ब्रह्म और सुरति योग आदि विशिष्ट नानापक्षी एवं गुह्य साधनात्मक आचारोंको समझाना द्विवेदीजीको आवश्यक प्रतीत हुआ है। उन्होंने 'कबीर,' 'नाथ सम्प्रदाय', 'हिन्दी साहित्यकी भूमिका', 'मध्यकालीन धर्मसाधना' और 'सहज साधना' नामक ग्रन्थों द्वारा इन जटिल विषयोंपर विद्वत्तापूर्ण प्रकाश डालकर बौद्ध, नाथ और सन्त परम्पराके साहित्यमें प्रवेशका साधन सुलभ कर दिया है।

रागात्मिका भक्ति-परम्पराओंको समझानेके लिए भी उन्होंने कम प्रयास नहीं किया है। उन्होंने अपने विभिन्न प्रयास इस पद्धतिसे सम्बद्ध विषयों यथा— 'अवतारवाद', 'गोपियाँ और श्री राधा', 'लीला और भक्ति', 'लीलाका रहस्य', 'राधाका स्वरूप', 'गीत गोविन्दकी विरहिणी राधा', 'विद्यापतिकी विरहिणी राधा', 'चण्डीदासकी विरहिणी राधा', 'सूरदासकी राधा', 'वैष्णव कवियोंकी रूपोपासना', 'रागानुगा एवं वैधी भक्ति', 'निर्विशेष-सविशेष भगवद्रूप' 'नवधाभक्ति,' 'उज्ज्वलरस', 'कृष्ण भक्तों और रामभक्तोंका विशिष्ट दृष्टिकोण' प्रभृति शीर्षक निबन्धोंमें बड़ी ही स्पष्टतासे प्रकाश डाला है। इस प्रकार योग ज्ञान और भक्तिमार्गके शास्त्रसे अपने पाठकको अवगत कराकर भक्ति-साहित्यके अध्ययनका काम सरल बना दिया है।

आलोच्य साहित्यके अनुसन्धान, प्रकाशन, अध्ययन, मूल्यांकन और पाठ सम्पादन आदिके क्षेत्रमें द्विवेदीजीका स्थान वही है जो महाभारतकालमें द्रोणाचार्य और भीष्मपितामहका था। अभी उनमें और भी अधिक पानेकी आशा है। अतः जिज्ञासु वर्ग अपने स्वार्थकी पूर्तिके लिए यदि उनकी दीर्घायुकी कामना करे तो इसे उचित ही मानना चाहिए।

मैं ऐसा साहित्यको मनुष्यकी दृष्टिसे देखनेका पक्षपाती हूँ। जो वाग्जाल मनुष्यको दुर्गति, हीनता और परमुखापेक्षितासे बचा न सके, जो उसकी आत्माको तेजोद्दीप्त न बना सके, जो उसके हृदयको परदुःखकातर और संवेदनशील न बना सके उसे साहित्य कहनेमें मुझे संकोच होता है।

—अशोकके फूल

साहित्यके इतिहासकी सांस्कृतिक व्याख्या

• •

रघुवंश

१९वीं शताब्दीके यूरपमें आधुनिक ऐतिहासिक दृष्टिपर बहुत बल दिया जाने लगा था। इससे पहले यूरपमें इतिहास-लेखनकी समृद्ध परम्परा थी और उसके बारेमें अनेक धारणाएँ और सिद्धान्त विवेचित किये जा चुके थे। इतिहास चिन्तनके क्षेत्रमें बहुत-कुछ ऊहापोह किया गया था। परन्तु अभीतक इतिहासका अध्ययन अतीतकी घटनाओंका ज्ञान, उनके क्रमको पहचानने कार्य-कारणकी शृंखलाको खोजनेके लिए किया जाता था। अधिकसे अधिक उसके अध्ययनका उपयोग अतीतके कार्य-कारणके आधारपर अपने लिए कुछ परिणाम निकालने, घटना-क्रमको बढ़ानेवाली गलतियोंसे बचने, उसकी असंगतियों, विरोधाभासों और क्षतियोंको परखने और बचनेके लिए माना गया था। यह अलग बात है कि इतिहास क्रममें एक ही प्रकारकी गलतियों, असंगतियों, असफलताओं और परिणामोंको देखकर कहा जाता रहा है कि इतिहास अपने आपको दुहराता है।

वस्तुतः इस शताब्दीमें इतिहासके क्रमको ऊर्जस्वित प्रवाहके रूपमें देखा गया, और उस समय राष्ट्र समाज और मानवताके नये निर्माणकी जो कल्पनाएँ और विचारधाराएँ सक्रिय हो रही थीं उन्होंने इससे शक्ति ग्रहण की। इतिहास की दृष्टिका यह उपयोग नया था और राजनीति, समाज रचना आर्थिक-व्यवस्था धार्मिक-क्रान्तिके लिए अनेक क्षेत्रोंमें किया गया यहाँतक कि अध्ययन मनन और चिन्तनके सभी क्षेत्रोंपर इसका गहरा प्रभाव देखा जा सकता है। परिणाम स्वरूप समस्त मानवशास्त्रों और भौतिक विज्ञानोंको भी ज्ञान-क्षेत्र और ज्ञान समूहके रूपमें मानवकी धारावाहिक परम्परा और ऐतिहासिक क्रममें रखनेका प्रयत्न किया गया। इस ऐतिहासिक दृष्टिने उन्नीसवीं शताब्दीके मानववादको विकसित तथा पुष्ट करनेमें जिस प्रकार सहयोग दिया है उसी प्रकार मानवताकी विभिन्न दृष्टियोंने अपने-अपने पक्षमें इस ऐतिहासिक दृष्टिका उपयोग भी किया।

उन्नीसवीं शतीके चिन्तकोंने इतिहासके प्रवाहको एक बुद्धिगम्य सोद्देश्य और साधक शक्तिके रूपमें निरूपित करनेकी चेष्टा की। इतिहासका वस्तुपरक

तटस्थताके साथ ग्रहण करनेकी प्रवृत्ति इनकी प्राय नही रही। इतिहासकी क्रमिक साहित्य व्याख्या करनेमें अथवा प्रयोजन खोजनेमें मानवीय दृष्टि प्रधान हो जाती है और यह उस युगकी व्यापक मानववादी भावनाके अनुकूल भी था। ह्यूम और ब्रैडले-जैसे विचारकोंमें कोई इतिहासकी वस्तुपरकतापर आस्था नहीं रखते, ह्यूम (एसे ऑन मिरेकिल्स) भौतिक प्रकृतिके नियमोंका उल्लंघन करनेवाली अतीतकी घटनाओंको विश्वसनीय नही मानता और ब्रैडले अतीतका उसी सीमा तक विश्वसनीय स्वीकार करता है जिस सीमा तक उसकी हमारे वर्तमान अनुभवोंसे अनुरूपता है।

इस शतीमें मानव प्रकृतिकी धाराप्रवाहिकता, शाश्वतता और सार्वभौमिकता को स्वीकार किया गया साथ ही कई प्रकारसे उसके विकास-क्रमको भी प्रतिपादित करनेकी चेष्टा की गयी। अत इतिहासकी मूल विषयवस्तु मानवीय गतिविधि होनेके नाते ऐतिहासिक व्याख्याके पीछे भी अन्तत मानवीय प्रकृतिके ही साधारण सिद्धान्तोंको माना गया। मानवीय प्रकृतिकी हमारी परिकल्पना अनुभवपर आश्रित है और अनुभव विस्तारके साथ वह बदल भी सकती है। मानवीय व्यवहारमें तर्कसंगत तथा स्वाभाविकके बारेमें हम जो धारणा बनाते हैं इस प्रकारकी मानवीय व्याख्याओंपर उनका रंग और प्रभाव पड़ता है।

मानववादी दृष्टिके साथ कई विचारकोंने इतिहासकी व्याख्याके आधारमें नैतिक और आध्यात्मिक विश्वासोंको स्वीकार किया है। इसका यह परिणाम भी निकलता है कि ऐतिहासिक चिन्तन मात्र अतार्किक मनोभावोंसे सम्बद्ध है और इतिहासकी हर व्याख्या अनिवार्यत इतिहासकारके मनोभावसे प्रभावित होगी। इस प्रकार इस युगमें अतीतको अपनी भावनाओं, महत्त्वाकांक्षाओं और आशाओंके अनुरूप देखनेकी चेष्टा की गयी और इतिहासकी गति तथा शक्तिको किसी निश्चित मानवीय विधानके पूरा करनेके उद्देश्यसे विरचित किया गया। १०वीं शतीके पहले भी इतिहासकी गति और उसके प्रवाहमें प्रयोजन देखा गया था, पर उसका दृष्टिकोण इतिहासमें ईश्वरीय विधानको देखना था। सन्त आगस्टीनके 'ईश्वरके नगर (सिटी ऑव गॉड) में इसी ईसाई सृष्टि सिद्धान्तका ऐतिहासिक प्रतिपादन है, वाल्तेयर 'विश्व इतिहासपर अभिभाषण' (डिस्कोर्स ऑन युनीवर्सल हिस्टी) में इसी मूलभावको आधार लिया गया है और विको 'नया विज्ञान' (न्यू साइंस) में इसी दृष्टिसे इतिहासकी व्याख्या प्रारम्भ की गयी है। परन्तु १०वीं शतीके विचारकोंने इतिहासकी व्याख्याको मुख्यत मानवाभिमुख किया यह उनका प्रमुख योग है।

हजारीप्रसाद द्विवेदीकी इतिहासके बारेमें धारणा इस मानववादी दृष्टिसे

अत्यधिक प्रभावित रही है। यूरपके कुछ विचारकोंके मतोंके साथ इनकी चर्चा करनेसे यह स्पष्ट हो जायेगा। काण्ट इतिहासको बुद्धिगम्य योजनाके साथ अग्रसर स्वीकार करता है और यह भी स्वीकार करता है कि उसका लक्ष्य नैतिक तत्वके द्वारा समर्थित भी है। सम्पूर्ण मानवताकी उच्चतर स्थितिकी ओर बढ़ानेमें ही इतिहासकी सार्थकता है। प्रकृति या विधाता (काण्टके लिए पर्याय जैसे शब्द) व्यक्तिकी भलाईका उत्सर्ग करके भी एक लम्बी विकास योजनामें संलग्न है। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि १९वीं शतीमें डार्विनके विकासवादने भी काफी प्रभाव जमाया था। द्विवेदीजी प्रकृतिसे मनुष्य तकके क्रमका विकासकी दृष्टिसे स्वीकार करते हैं और साथ ही इस क्रमके सोद्देश्य होनेमें भी उनका विश्वास है—"प्रकृति अपने प्रयोगोंमें कृपण कभी नहीं रही है। उसने बरबादीकी कभी परवाह नहीं की। दस वृक्षोंके लिए वह दस लाख बीज बनानेमें कभी कोताही नहीं करती। यह क्या सब व्ययको अंधता है, सुस्पष्ट योजनाका अभाव है या हिसाब न जाननेका दुष्परिणाम है? कौन बतायेगा कि किस महान उद्देश्यकी प्राप्तिके लिए प्रकृतिने इतनी बरबादी सही है?

रवीन्द्रनाथ ठाकुरकी व्यापक मानवतावादी भावनाका द्विवेदीजीपर गहरा सधान रहा है क्योंकि उन्होंने गुरुदेवसे चिन्तनके क्षेत्रमें गहरी प्रेरणा प्राप्त की है। साथ ही समन्वयात्मक दृष्टिके कारण इनमें भौतिकवादी, प्रत्ययवादी और नैतिकतावादी सभी कोटिके मानववादियोंके विचार प्रतिबिम्बित देखे जा सकते हैं पर यह सब उन्होंने अपने चिन्तनके स्तरपर विकसित किया है। हक्सले अपनी पुस्तक 'मानवताके दार्शनिक इतिहासकी परिकल्पना' (आइडियाज फॉर ए फिलासफिकल हिस्ट्री ऑव मनकाइण्ड) में ठेठ बौद्धिक होनेके बजाय कल्पनाशील और भावशील मनुष्यको अधिक ग्राह्य इतिहासकार माना है, अपनी तार्किक प्रतिभासे अधिक उसे अपनी सहजानुभूतिपर विश्वास होना चाहिए। हर्डरने स्वीकार किया है कि समस्त विश्व एक ही सयोजित कार्यकारी शक्तिसे अनुप्राणित है और ये शक्तियाँ साहचर्यकी शक्तियाँ आत्मशक्तिके उन्नयनके लिए प्रयत्नशील हैं। इस प्रकार यह इन शक्तियोंकी ऐतिहासिक प्रक्रियाको खोजके साथ इतिहासके सामान्य प्रयोजनको स्वीकार करता है और उसे एक नैतिक धुमावके साथ मानवताके उत्कर्षके रूपमें प्रतिपादित करता है। हजारीप्रसाद द्विवेदी *मनुष्यकी जययात्राको बार-बार उद्घोष करते हुए साहित्यके इसी उद्देश्यको स्वीकार करते हैं – मनुष्यकी जययात्रा! क्या मनुष्यने किसी अज्ञात शत्रुको परास्त करनेके लिए अपना दुर्द्धर रथ जोता है? मनुष्यकी जययात्रा! मुझे यह वाक्य मनमें बल देता है। जीवतत्व फिर अविशुद्ध भावसे उचित*

अवसरकी प्रतीक्षामें बैठा था। अवसर पाकर उसने समस्त जड शक्तिके विरुद्ध विरोध करके सिर उठाया—नगण्य तृणांकुरके रूपमें। सृष्टिके इतिहासमें यह एकदम अघटित घटना थी। अबतक महाकर्ष (ग्रेविटेशन पावर) के निराट वेगको रोकनेमें कोई समर्थ नहीं हो सका था। जीवतत्त्व प्रथम अपनी ऊर्ध्वगामिनी वृत्तिकी अदना ताकतके बलपर इस महाकर्षको अस्वीकार कर सका। तबसे एक कोशमें अनेक कोशोंके जटिल संघटनमें, कर्मेन्द्रियोंसे ज्ञानेन्द्रियोंकी ओर ज्ञानेन्द्रियसे मन और बुद्धिकी तरफ संकुचित होता हुआ मानवात्माके रूपमें प्रकट हुआ।" द्विवेदीजीने इस प्रकार प्रकृतिके विकासमें प्रयोजन माना है मनुष्यके इतिहासके क्रमको जययात्राके रूपमें देखा है। इसमें मानववादमें उनका अटूट विश्वास ही प्रकट होता है।

इतिहास-सम्बन्धी धारणाओंपर उस युगके दार्शनिक चिन्तनका गहरा प्रभाव था। हीगलने 'इतिहास-दर्शनपर भाषण' में विश्वकी रचना प्रक्रियाको तर्कसंगत और बुद्धिगम्य माना है, उसके लिए प्रकृति और आत्म-तत्त्व न केवल तार्किक प्रत्ययके अनुकरण हैं वरन् ये उसीके विकास हैं। इतिहास-दर्शन तत्त्ववादका ही अंग है। वस्तुतः उसके लिए इतिहास दर्शनकी समस्या अनुभवके एक खास क्षेत्रमें तार्किक प्रक्रियाका योजना है। इतिहासके क्रममें तर्क कार्यशील है और जो तर्कसंगत है वही सत्य है। ऐतिहासिक प्रक्रियामें कार्यशील तर्कका प्रदर्शन उसके क्रमशः स्पष्टीकरण ही माना जायेगा। हीगलने समस्त संसारके इतिहासकी प्रक्रियाको एक तथा समान उद्देश्यकी ओर प्रेरित मानते हुए हर राष्ट्रका विशिष्ट योग माना है। इस स्थितिमें प्रत्येक राष्ट्रकी अपनी प्रतिभा होती है और उसका अपना विशिष्ट सिद्धान्त होता है जो उसके धर्म, राजनीतिक संस्थाओं, आचरण संहिता, न्यायकी पद्धति, यहाँतक कि कला और विज्ञानमें भी प्रतिफलित होता है। हजारीप्रसाद द्विवेदीने संस्कृतिकी व्याख्यामें इतिहासकी इसी दृष्टिको स्वीकार किया है—"मनुष्य दिन दिन अपने महान् लक्ष्यके नजदीक पहुँचता जायगा। सामान्य मानव संस्कृति ऐसा ही दुर्लभ लक्ष्य है। मेरा विश्वास है कि प्रत्येक देश और जातिने अपनी ऐतिहासिक परम्पराओं और भौगोलिक परिस्थितियोंके अनुसार उस महान् लक्ष्यके किसी पहलूका अवश्य साक्षात्कार किया है।' द्विवेदीजीकी विचारधारामें काण्टकी दृष्टि अन्तर्भुक्त है कि इतिहासके प्रयोजनको सिद्ध करनेके लिए विधाता मानव प्रकृतिके बुरे पक्षका भी उपयोग कर लेता है और हीगलकी यह धारणा भी कि इतिहासकी महान् योजनाकी तर्कशीलता मानवीय आकांक्षाकी सहायतासे अग्रसर होती है।

द्विवेदीजी इतिहासकी प्रक्रियामें व्यक्तिकी भूमिकाको कुछ-कुछ हीगलके

समान स्वीकार करते हैं। महापुरुष इतिहासके इस निश्चित क्रमको गति देनेके लिए हैं, वे अपने व्यक्तिगत उत्कर्षके साथ (अनेक बार अपने महान पतनमें) इतिहासके प्रयोजनको सिद्ध करते हैं। हीगलके अनुसार उनको सामान्य नैतिक मानदण्डपर नहीं परखना चाहिए, वरन उनपर विचार करते समय इस व्यापक सन्दर्भको ध्यानमें रखना चाहिए। वस्तुतः मानववादकी सामाजिक व्याख्याका स्वरूप यहींसे स्पष्ट होने लगता है। द्विवेदीजीकी सामाजिक दृष्टिका आधार भी यह माना जा सकता है। इतिहासकी व्याख्याको इस रूपमें साध्यके आधारपर साधनोंका भी न्यायोचित मान लिया जाता है, यह अवश्य है कि यहाँ नैतिक समर्थनको महत्त्व प्राप्त है। इतिहासकी तार्किकताको प्रदर्शित करनेके लिए घटनाओंकी केवल बौद्धिक व्याख्या पर्याप्त नहीं है, वरन् उनके क्रममें नैतिक समर्थन ही आवश्यक है। मूलतः द्विवेदीजी भी सच्ची नैतिक इकाई अलग-अलग व्यक्तिको न मानकर सम्पूर्ण नैतिक संघटनको स्वीकार करते हैं। इस प्रकार व्यक्तिकी नैतिक चेतनाके स्थानपर समस्त समाजकी भलाईकी भावनापर आधारित नैतिक चेतनाका महत्त्व दिया गया।

स्वाधीनताकी भावनाकी दृष्टिसे भी द्विवेदीजी हीगलके समीप पड़ते हैं। सामाजिक नैतिकताके साथ वे स्वाधीनताको स्वीकार करते हैं। इतिहासका लक्ष्य इसी स्वाधीनताको क्रमशः उपार्जित करते जाना है। स्वाधीनता अनियन्त्रित जीवन नहीं है और प्राकृतिक अधिकारोंका सिद्धान्त भी इस रूपमें सही नहीं है। व्यक्तिके उन्नयन और विकासके साथ सामाजिक प्रगति और उन्नतिका भाव गहरे स्तरपर जुड़ा हुआ है। द्विवेदीजीकी इतिहास-सम्बन्धी दृष्टिका सम्बन्ध एक स्तरपर निश्चयवादियोंसे भी है क्योंकि उन्होंने इनके समान सामाजिक गत्यात्मकता और अनुभवात्मक पद्धतिको स्वीकार किया है। द्विवेदीजीने इतिहासकी प्रक्रियाको समझनेमें व्यापक मानवीय प्रकृतिको समझनेकी चेष्टा की है, और राजनीति, अर्थनीति, समाजशास्त्र, धर्मशास्त्र आदिके साथ इतिहासको परखनेकी चेष्टा की है। मार्क्सकी समाजवादी दृष्टि और अर्थव्यवस्थाके प्रति आकर्षित होते हुए भी द्विवेदीजीने युगविशेषके सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवनमें निरन्तर घटित होनेवाली प्रक्रियाको स्वीकार किया है। और उसमें एक गहरा नैतिक और व्यापक मानवीय प्रयोजन स्वीकार किया है, जो मार्क्सवादी आर्थिक वर्ग-संघर्षकी द्वन्द्वात्मकतासे भिन्न है और प्रायः हीगलके अधिक निकट है।

आगे इतिहासकी समस्त प्रक्रियाको सांस्कृतिक सन्दर्भमें रखकर देखते समय द्विवेदीजी अपनी व्यापक मानववादी सीमामें ही रहते हैं। वे दार्शनिककी

स्पेंगलर, टवायनबी, सारोकिन, बर्दिएफ, श्रोएदर, पापर तथा श्वाइत्जर आदि इतिहासके दार्शनिकोंकी भाँति इतिहासकी प्रक्रियाको मूलतः सांस्कृतिक मानते हैं। अपने विचारोंमें भिन्न होते हुए भी ये सभी विचारक इतिहासका अध्ययन संस्कृतियोंके जन्म, विकास, ह्रास, उत्थान और पतनके रूपमें स्वीकार करते हैं। इस स्तरपर द्विवेदीजी इतिहासकी गतिको संस्कृतियोंके क्रमके माध्यमसे अग्रसर मानते हैं और पिछले मानववादी इतिहासके चिंतनोंसे प्रेरित तथा प्रभावित होते हुए भी इन संस्कृतिवादियोंके विचारोंको यत्र-तत्र प्रतिफलित करते हैं। उनमें मानववादियोंकी अटूट आस्था है कि मानव इतिहास अंततः मनुष्यको आगे बढ़ानेमें संलग्न है, पर साथ ही अनेक विकासवादियोंके नियतिवादका आभास भी उनके विचारोंमें आ गया है। यद्यपि उनके नियतिवादमें भौतिक जड़ताके स्थानपर भाव तथा अनुभवमूलक गत्यात्मकता परिलक्षित होती है। सफल प्रयोजन और उद्देश्यके साथ आगे बढ़ती हुई मानवता सांस्कृतिक ऊँचाइयोंपर चढ़ती जा रही है। इस प्रकार क्रमसे क्रम लक्ष्यकी निश्चित स्थिति द्विवेदीजी स्वीकार करते हैं।

कई विचारक संस्कृतियोंकी उत्पत्ति, विकास, वृद्धि और नाशके क्रमको मानते हैं। दानिलेव्स्कीने संस्कृतिका जीवन-क्रम जीवधारियोंके शरीरके समान माना है। विस्तृत विकास कालके बाद एक संक्षिप्त परिकाल आता है और उसके बाद संस्कृति विनष्ट हो जाती है। इस रेखात्मक विकास ह्रास क्रमके विपरीत स्पेंगलरने वृत्तात्मक विकास ह्रास क्रम स्वीकार किया है। स्पेंगलरने संस्कृतियोंको जीवन-समूहका मानव इतिहास माना है और यह दृष्टि द्विवेदीजीमें भी परिलक्षित होती है। स्पेंगलरने मनुष्यके व्यक्ति और सामाजिक जीवनमें साम्य माना है और मानव विकासको एक अदम्य असीम प्रवाहके रूपमें देखा है—'जल राशिके अपार विस्तारपर अनन्त तरंगमालाएँ क्रीड़ा करती हैं। इसपर जहाँ-तहाँ प्रकाशकी तीखी किरणें झलकती हैं और तरंगोंके शाश्वत तरयमें अस्पष्ट और अदृश्य हो जाती हैं। इसी प्रकार जातियाँ, कबीले, पार्टियाँ, वर्ग, समाज आदि प्रकट होते हैं और अधिक प्रभावके पश्चात मानवताके प्रवाहमें विलीन हो जाते हैं।'' द्विवेदीजीको मानव-संस्कृतिका अदम्य तथा असीम प्रवाह स्वीकार है, लेकिन वे स्पेंगलरकी भाँति मानवप्रवाहके तलपर महान संस्कृतियोंके तरंगवृत्तोंके विलीन हो जानेको स्वीकार नहीं करते वरन टवायनबी तथा सारोकिनके दृष्टिकोणके अधिक निकट हैं। टवायनबी संस्कृतियोंके ह्रासकी स्थितिको उनका विनाश नहीं मानता है, अपनी इस अवस्थामें ये संस्कृतियाँ अन्य समसामयिक संस्कृतियोंसे सम्पर्क स्थापित करती हैं और इस प्रकारके पारस्परिक सम्पर्कमें पुनर्जागरणकी प्रक्रिया चलती है।

टवायावा—दोनो सस्कृतियोके अनेक वृत्त स्वीकार करते है, पर जब कि स्पेंगलर सस्कृतियोकी अलग-अलग जीवन लीला मानता है, टवायनबी ह्रासकी स्थितिसे सस्कृतियोके पुनरुत्थानको स्वीकार करता है और इस स्तरपर वह सारोकिनके समान मानव-सस्कृतिको अखण्ड और अद्वैत सत्य मान लेता है। मानव-सस्कृतिकी अविरल अजस्र धारा युगोसे सारे ससारके देशोको आप्लावित कर रही है, पर देश कालके अनुसार उसके अनेक रूप देखे जाते है। यहाँ सस्कृतिको जिस व्यापक, सार्वदेशिक और सार्वकालिक प्रवाहके रूपमे निरूपित किया गया है, वह द्विवेदीजी द्वारा निर्धारित सामान्य मानव सस्कृति है—"मै सस्कृतिको किसी देश विशेष या जाति विशेषकी अपनी मौलिकता नही मानता। मेरे विचारसे सारे ससारके मनुष्योकी एक ही सामान्य मानव सस्कृति हो सकती है। यह दूसरी बात है कि वह व्यापक सस्कृति अबतक सारे ससारमे अनुभूत और अगीकृत नही हो सकी है।"

अन्तत द्विवेदीजीकी सास्कृतिक दृष्टिम सामाजिक सन्दर्भका विशेष महत्त्व है जिसे उन्होने सामाजिक मानववादीके रूपमे स्वीकार किया है, और इस स्तरपर उनकी समता सोरोकिनके इस सामाजिक-सास्कृतिक दृष्टिकोणसे की जा सकती है—'सस्कृति उन मूल्यो, आदर्शों और स्थापनाओका समूह है जिसके अनुसार मनुष्य अपने जीवनकी रीति और शैलीका निर्माण करते है। मनुष्य अपने जीवनमें जिन तथ्योको सत्य शिव और सुन्दर मानते हैं उनसे सस्कृतिका स्वरूप निर्मित होता है अत यह एक मानसिक विकासकी प्रक्रिया है। चूंकि समाजमें रहकर ही मनुष्य इस विकासमें अग्रसर होता है, अत सस्कृति सामाजिकतामें घुल मिल जाती है।' द्विवेदीजीका यह कथन इसी बातको ध्वनित करता है कि 'मनुष्यकी श्रेष्ठ साधनाएँ ही सस्कृति हैं। इसकी अस्पष्टताका कारण यही है कि अब भी मनुष्य इसके सम्पूर्ण और व्यापक रूपको देख नही सका है। ससारके सभी महान तत्त्व इसी प्रकार मानव चरित्रमें अस्पष्ट रूपसे आभासित होते है। उनका आभासित होना ही उनकी सत्ताका प्रमाण है।' आगे चलकर सस्कृतिके बारेमें द्विवेदीजीने व्यापक समन्वयशील दृष्टिका प्रतिपादन विस्तारके साथ भारतीय सस्कृतिके विवेचनमें किया है। इसका स्वरूप सोरोकिनके आत्म-समन्वय प्रधान सामाजिक-सास्कृतिक व्यवस्थामें परिलक्षित होता है।

ऊपरके समस्त विवेचनसे स्पष्ट हो जाता है कि हजारीप्रसाद द्विवेदी इतिहासको मूलत मानववादी दृष्टिसे देखते हैं। वह विकास क्रमको इतिहासकी गतिमें निहित मानते है। यह विकास मनुष्यको ऊँचीसे ऊँचा भूमिकाओकी ओर ले जा रहा है। और मानव इतिहासके समस्त प्रयत्न सस्कृतिके रूपमें स्वीकार

किये जाने चाहिए। वे संस्कृतियोंके क्रमको और उनके उत्थान-पतनको स्वीकार कर लेते हैं, पर साथ ही व्यापक संस्कृतिके धारावाहिक क्रमको भी मानते हैं और इस प्रकार उनके लिए संस्कृतिके विकासकी एक व्यापक और अखण्ड परम्परा है। उन्होंने संस्कृतियोंके पुनर्जन्म और पुनरुत्थानको माना है। वेदिएफ जैसे आधुनिक संस्कृतिके विचारकोंके समान द्विवेदीजीने संस्कृतिके शाश्वत तत्त्वको महत्त्व दिया है और सांस्कृतिक विभिन्नतामें ल्यव्वाय-जैसे विचारकोंके समान एकता प्रतिपादित की है।

हजारीप्रसाद द्विवेदीकी साहित्यके इतिहासकी दृष्टि उनके उपर्युक्त विचारों और धाराओंपर आधारित है। नलिनविलोचन शर्माने अपनी पुस्तक 'साहित्यका इतिहास-दर्शन' में माना है कि द्विवेदीजीने स्पष्टतः विधेयवादी शुक्ल-परम्परासे भिन्न प्रतिज्ञा की है क्योंकि वे "साहित्यकी विभिन्न प्रवृत्तियों और उसके मूल और आन्तरिक स्वरूपका स्पष्ट परिचय देना ही अपना लक्ष्य घोषित करते हैं।" वस्तुतः जैसा नलिनजीने स्वयं द्विवेदीजीके हिन्दी-साहित्य'से रीति-काव्यके रूप रखा उद्धृत करके स्वीकार किया है कि द्विवेदीजी अपनी प्रतिज्ञाका दृढतापूर्वक पालन नहीं कर सके हैं, द्विवेदीजीकी साहित्य इतिहासकी दृष्टि शुक्लजीसे इस स्तरपर भिन्न नहीं है। सम्भवतः नलिनजीने हिन्दीमें साहित्यिक साहित्येतिहासकी परम्पराके प्रारम्भकी दृष्टिसे ऐसा प्रतिपादित किया है, अन्यथा द्विवेदीजीकी मूल साहित्यके इतिहासकी दृष्टिका अनुसन्धान उनकी हिन्दी साहित्यकी भूमिकासे किया जा सकता है। हिन्दी-साहित्यकी भूमिकामें उन्होंने न केवल हिन्दी-साहित्यको भारतीय साहित्यसे सम्बद्ध करके देखा है वरन उसे सांस्कृतिक अभिव्यक्तिके रूपमें भारतीय संस्कृतिकी धारावाहिक परम्परासे जोड़ा है।

वस्तुतः रामचन्द्र शुक्ल और हजारीप्रसाद द्विवेदी दोनों साहित्यके इतिहासको मानवीय परिवेशमें रखकर देखते हैं और उस दृष्टिसे १९वीं शतीके विधेयवाद और ऐतिहासिकतासे प्रभावित हैं। शुक्लजीके अनुसार—"प्रत्येक देशका साहित्य वहाँकी जनताकी चित्तवृत्तिका संचित प्रतिबिम्ब होता है, वहाँकी जनताकी चित्तवृत्तिके परिवर्तनके साथ-साथ साहित्यके स्वरूपमें भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदिसे अन्त तक इन्हीं चित्तवृत्तियोंकी परम्पराको परखते हुए साहित्य परम्पराके साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही साहित्यका इतिहास कहलाता है। जनताकी चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थितिके अनुसार होती है। अतः कारण स्वरूप इन परिस्थितियोंका किंचित दिग्दर्शन भी साथ ही-साथ आवश्यक हो जाता है।" इसी प्रकार द्विवेदीजी भी स्वीकार करते हैं—"वास्तवमें हमारे अध्ययनकी सामग्री प्रत्यक्ष

मनुष्य है। आपने इतिहासमें इसी मनुष्यकी धारावाहिक जययात्राकी कहानी पढ़ी है साहित्यमें इसीके आवेगो उद्वेगों और लालसाओंका स्पन्दन देखा है, राजनीतिमें इसीकी लुका छिपीके खेलका दर्शन किया है, अर्थशास्त्रमें इसीकी रीढ़की शक्तिका अध्ययन किया है।" दोनो विचारक साहित्यके इतिहासको युग और समाजके परिवेशसे सम्बद्ध करके देखते हैं और मानववाद तथा लोककल्याण की भावनासे साहित्यको प्रेरित स्वीकार करते हैं। अन्तर केवल इस बातका है कि शुक्लजी साहित्यको युगीन जीवनकी क्रिया प्रतिक्रियाके रूपमें अथवा उसके प्रतिबिम्बके रूपमें स्वीकार करते हैं और द्विवेदीजी साहित्यको युग-जीवनकी सांस्कृतिक प्रक्रियाके रूपमें विवेचित करते हैं।

यह अन्तर भी कम महत्त्वका नहीं है। शुक्लजीके द्वारा प्रतिपादित युग और साहित्यका सम्बन्ध बाह्य अधिक है और धर्म, समाज, राजनीतिमें साहित्य का कारणपरक सम्बन्ध स्थापित किया गया है, उदाहरणके लिए भक्तिकालके युग जीवनसे उस युगके साहित्यका सम्बन्ध और रीतिकालके वातावरणका उसके साहित्यपर प्रभाव। परन्तु द्विवेदीजीने साहित्यको सांस्कृतिक अभिव्यक्तिके रूपमें व्याख्यायित किया है और इस स्तरपर साहित्य युगके बाह्यकी अपेक्षा उसकी रचनाशीलतासे सम्बद्ध हो जाता है। संस्कृति स्वतः युग विशेषकी विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण रचनात्मक उपलब्धि है, अतः जब साहित्यके इतिहासको उसके आधारपर विवेचित किया जायगा तब साहित्यको मात्र युगके सामाजिक राजनीतिक आर्थिक तथा धार्मिक जीवनकी प्रतिक्रिया न मानकर सारे युग जीवनकी रचनाशीलतासे सम्बद्ध करना पड़ेगा। यही बात द्विवेदीजीने अपनी 'हिन्दी साहित्यकी भूमिका' में भक्ति आन्दोलनकी लम्बी परम्पराके आधारपर भक्तिकाव्यके विवेचनामें प्रदर्शित की है। समस्त परम्परा और आन्दोलनके स्वरूपको प्रस्तुत करके भी द्विवेदीजीने भक्ति-काव्यके रचना-तत्त्वको अधिक उजागर करनेकी चेष्टा की है। एक भिन्न स्तरपर यह शुक्लजीके बारेमें भी कहा जा सकता है कि उन्होंने समस्त युगीन सामाजिक और राजनीतिक वातावरणसे प्रतिक्रियात्मक सम्बन्ध स्वतः हुए भी साहित्यको रचनात्मक माना है जो एक व्यतिक्रम है। सामाजिक मानववादके समान उन्होंने साहित्यमें लोकमंगलकी भावनाको अवश्य प्रतिपादित किया है पर कविता और काव्यके विवेचनमें उन्होंने यदि भारतीय काव्यशास्त्रके अनुसार काव्यके रचनात्मक स्वरूपका विवेचन गुण अलंकार, ध्वनि आदिके द्वारा किया है तो भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्रके समन्वयसे काव्यके भाव रस, प्रभाव और सौंदर्य सम्बन्धी व्याख्या की है। इस दृष्टिसे द्विवेदीजीने काव्य तथा साहित्यको आन्तरिक तथा सूक्ष्म

रचनात्मक मूल्य दृष्टिसे सम्बद्ध माना है, अत उनके कवि अथवा काव्यके विवेचन का शुक्लजीकी तुलनामें वस्तुपरककी अपेक्षा व्यक्तिपरक और भावात्मक स्तर है। यही कारण है कि संस्कृतके पण्डित होकर भी उन्होंने संस्कृत काव्यशास्त्रका प्रयोग अपनी व्यावहारिक समालोचनाओंमें नहीं किया है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

१ मैटले द प्रीसप्पोज़ीशन्स ऑव क्रिटिकल हिस्ट्री। २ ह्यूम इन्क्वायरी कन्सर्निंग ह्यूमन अण्डरस्टैण्डिंग। ३ हजारीप्रसाद द्विवेदी अशोकके फूल हिन्दी साहित्य और हिन्दी साहित्यकी भूमिका। ४ काण्ट द क्रिटीक ऑव जजमेण्ट। ५ हर्डर आइडियाज़ फॉर द फिलासफिकल हिस्ट्री ऑव मैनकाइण्ड। ६ हीगल लेक्चर्स ऑन द फिलोसफी ऑव हिस्ट्री। ७ सारोकिन सोशल फिलासफीज़ ऑव एन एज ऑव क्राइसिस। ८ स्पेंगलर द डिक्लाइन ऑव द वेस्ट। ९ टवॉयनबी सिविलिज़ेशन ऑन ट्रायल, आइडिया ऑव हिस्ट्री, ए स्टडी ऑव हिस्ट्री। १० मेंढिएक : दि मीनिंग ऑव डिप्टिवनेस दि मीनिंग ऑव हिस्ट्री। ११ क्रोचे कोन्फीगरेशन्स ऑव कल्चरल ग्रोथ। १२ पोपर दि पावर्टी ऑव हिस्टोरिसिज्म। १३ लवज्वाय दि ग्रेट चेन ऑव बीइंग, स्टडीज़ इन द हिस्ट्री ऑव आइडियाज़। १४ रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्यका इतिहास। १५ नलिनविलोचन शर्मा साहित्यका इतिहास दर्शन।

सन्तुलित दृष्टि

*

सन्तुलित दृष्टि वह नहीं है जो अतिवादिताओंके बीच एक मध्यम मार्ग खोजती है बल्कि वह है जो अतिवादिताओंकी आवेग तरल विचारधाराका शिकार नहीं हो जाती और किसी पक्षके उस मूल सत्यको पकड़ सकती है जिसपर बहुत बल देने और अन्य पक्षोंकी उपेक्षा करनेके कारण उस अतिवादी दृष्टिका प्रभाव बना है। सन्तुलित दृष्टि सत्यान्वेषीकी दृष्टि है।

—विचार और वितर्क पृ० २८३

आचार्य द्विवेदीकी दृष्टिमें लालित्य तत्त्व

• •

रमेश कुन्तल मेघ

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीने 'कालिदासकी लालित्य योजना' शीर्षक पुस्तकमें सौन्दर्यके इस महान् गायक कविके सौन्दर्यबोध तत्त्वपर सर्वप्रथम भारतीय मोनोग्राफ लिखा है। इसकी तुलना लेसिंगके 'लाओकून' तथा डच चित्रकार जान वर्मीअरपर लिखित थियोफिले थोरके मोनोग्राफसे की जा सकती है। इस कृतिके माध्यमसे लेखकने अपने सौन्दर्यशास्त्रीय (एस्थेटिक) दर्शनके भी इतस्ततः स्फुट किन्तु स्पष्ट संकेत किये हैं। अतएव हम हजारीप्रसाद द्विवेदीके सौन्दर्यबोध तत्त्वपर यह मोनोग्राफ प्रस्तुत करेंगे।[1]

क

कला और साहित्य सम्बन्धी अनुशासन तथा अध्यात्मकी परिपूर्णता, कला एवं साहित्यको अखण्ड मानकर, उसके चिंतन एवं दर्शनमें होती है। रसदर्शनमें काव्य एवं नाट्यको अखण्ड माना गया, रीतिके अभ्यासमें अलंकार एवं वाणीको अखण्ड माना गया, ध्वनिमें शब्द एवं अर्थकी एकता स्थापित की गयी। जब हम अनेक ललित या सृजनात्मक कलाओंके संयोगमें एक समाहित इकाई प्राप्त करते हैं तब हमें इनकी मूलभूत एकता, एकान्वित कलानुभव एवं वैश्विक कला-भाषा, एक सार्वभौम मनुष्य तथा एक संश्लिष्ट जीवन-दर्शनकी झाँकी मिलने लगती है। वस्तुतः सौन्दर्यबोधशास्त्रका चिन्तन एवं दर्शन इसी तत्त्वान्वेषण एवं

---

१ सौन्दर्यशास्त्री आचार्य द्विवेदी सौन्दर्यबोधशास्त्र (एस्थेटिक्स) पर एक स्वतन्त्र पुस्तक भी लिख रहे हैं जिसके प्रकाशनके बाद ही उनके लालित्य-सम्बन्धी दर्शनका सही सांगोपांग स्वरूप निखर सकेगा। फिलहाल हम उनकी निम्नलिखित सामग्रीको ही प्रमुख आधार बनायेंगे—१ 'कालिदासकी लालित्य योजना,' २ 'प्राचीन भारतके कलात्मक विनोद,' ३ हिंदी साहित्यकी भूमिका, ४ 'शिरीषका स्वरूप' (आलोचना, दिल्ली) ५ लालित्य तत्त्व' (हिंदी विभाग, पंजाब, की वार्षिक-१९६९-गोष्ठीमें पढ़ा गया लेख) आदि।

कृतित्वका परम अभिषेक होता है। सौंदयबोधशास्त्रीय जीवनदृष्टि कलाकारों तथा तत्ववेत्ताओं, दोनोंके एक विशेष प्रौढ़ चरणमें उन्मीलित होती है। हजारी प्रसाद द्विवेदीने भी तीस पैंतीस वर्षों तक निरंतर सांस्कृतिक अन्वेषण करनेके उपरान्त अपनी कलादृष्टि एवं संस्कृतिदर्शनको अन्ततोगत्वा लालित्य तत्वके बोधमें चरितार्थ पाया। इसके पूर्व उन्होंने कबीर, तुलसी, चण्डीदास, चैतन्य, रवीन्द्रनाथ ठाकुर आदिके माध्यमसे अपना मानवतावाद विकसित किया, सूरदास और कालिदासके माध्यमसे व्यावहारिक रस सिद्धिकी गहराइयोंको समझा, प्राचीन कलात्मक विनोदों एवं साहित्यिक भूमिकाके माध्यममें अनेक कलाओंकी एकताका अनुभव किया तथा 'बाणभट्टकी आत्मकथा' एवं 'चारुचन्द्रलेख' के माध्यमसे कलात्मक संस्कृतियोंकी पुनरचना की। इतना अनुशीलन एवं अभ्यास करनेके उपरान्त उन्होंने कलात्मक विनोदों कवि-समयों तथा काव्यशास्त्र, तीनोंको संयोजित करनेकी एक धुँधली अन्तर्भूमि प्राप्त की। वैष्णव भावुकता, कबीरी सहजता, रवीन्द्रनाथीय मानवता कालिदासीय पर्युत्सुकता, शैवानन्दवादी दार्शनिकता आदिको सम्यक् दृष्टियोंसे उनके मानवतावाद तथा सांस्कृतिक *चेतनका विन्यास* किया। सौंदयतत्वकी ओर उनके प्रयाणकी भूमिका यह है।

चण्डीगढ़में सन '६०–'६१ से वे काव्यशास्त्रसे आगे सौंदयबोधशास्त्रकी ओर मुड़े। उन्होंने यह अनुभव करना शुरू किया कि काव्यशास्त्र एवं नाट्यशास्त्रकी पुनश्च मैत्री हो सकती है अब सौंदयबोधशास्त्रमें। उन्होंने यह भी अनुभव किया कि आधुनिक सौंदयबोधशास्त्रीय कई तत्वोंको प्राचीन शब्दावलीके कुहासेमें ढँकी धारणाओंमें *देखा* जा सकता है एवं कई प्राचीन रहस्यवादी गूढ़ बातोंको आधुनिक सौन्दर्यबोधशास्त्रीय शब्दावलीमें स्पष्ट किया जा सकता है। उनकी यही गहरी दार्शनिक अनुभूति ही कालिदासको माध्यम बनाकर सौंदयतत्वका अन्वेषण करती है। यही उनके लालित्य तत्वका उद्गम है। कालिदासके माध्यमसे उन्होंने अबाधपूर्वास्मृति, 'अन्यथाकरण,' 'यथालिखितानुभव,' 'भावानुप्रवेश,' 'अवधान 'यथाप्रदर्शितविनिवेश' आदि श्लोक-व्यवहृत शब्दोंको लेकर सौंदयबोध एवं सृजन प्रक्रिया और सौन्दर्यबोधानुभवका तात्त्विक विवेचन किया है। इस तरहसे उन्होंने काव्यशास्त्रका अवलम्बन लेकर *सौंदयबोधशास्त्रकी आधुनिक चेतनाका अन्तर्लोकमें* संचार किया है। महाकविके *श्लोकोंके अलावा उसकी विचारोंकी अभिनव व्याख्याएँ करके भी अपने सौंदय* तत्वका स्वरूप गढ़ा है। अतः उन्होंने पश्चिमके पण्डितोंके भी विचारोंको या तो ग्रहण किया है अथवा उनको भारतीय सन्दर्भोंमें लागू किया है अथवा उन विचारोंकी मानवीय समानान्तरताएँ पा ली है। अनेस्ट कसीररसे उन्होंने

भाषा तथा मिथकके अन्तस्सम्बन्धोंको समझनेकी नयी दृष्टि ली है, गाम्ब्रिचसे 'डिस्टाशन'की धारणाका उपयोग ग्रहण किया है (और इसे कालिदासके 'पर्यायाकरण'से जोड़ दिया है), एरिकन्यूटनसे उन्होंने कला-माध्यम (आर्ट-मीडियम) की सत्ता तथा स्वभावका आहरण किया है, फ्रेजर और वेस्टरमार्कसे लोकतत्त्वों एवं आदिम चिन्तनपद्धतिसे सम्बन्धकी वैज्ञानिक धारणाएँ प्राप्त करके मानव चित्तकी एकताकी दृष्टि पायी है। इस तरह सौन्दर्यबोधशास्त्रीय चिन्तनके प्रांगणमें हजारीप्रसाद द्विवेदी चैतन्य, कबीर और रवीन्द्रनाथके आध्यात्मिक मानवतावादसे आगे फ्रेजर और वेस्टरमार्कके नृतत्त्वशास्त्रीय मानवतावादकी ओर मुड़ते हैं, वाणी सरस्वतीसे आगे भाषा एवं मिथकके सम्बन्ध खोजते हैं, रसके आगे सौम्य या लालित्य तत्त्वकी मीमांसा करते हैं, सहृदयके आगे तत्त्वान्वेषीके व्यक्तित्वकी धारणा भी खोजते हैं। अतः उनके लालित्य तत्त्वकी आधुनिकताके कारण उनके कलात्मक चिन्तनमें इस १८० के मोड़का आ जाना है।

फिर भी, वे कालिदास और तुलसीकी तरह आद्यापान्त सौम्य और मंगलकी, प्रेम और तपस्याकी, शैव दर्शनकी क्रियाशक्ति एवं इच्छाशक्तिकी मैत्री कायम रखते हैं। यह उनकी सांस्कृतिक निष्ठा एवं व्यक्तित्वकी स्वकीयताका नतीजा है। इसके फलस्वरूप वे सौन्दर्यबोधशास्त्रके आस्थावादी विचारक एवं परम्पराके आधुनिक व्याख्याता हो जाते हैं। और इसी वजहसे उनमें मध्यकालीन बोध एवं आधुनिक बोध, सामन्तीय संस्कार एवं प्रजातान्त्रिक उत्साहके बीचके अन्तर्विरोध भी मिलते हैं।

उन्होंने चार तत्त्वोंके आधारपर अपने लालित्य तत्त्वका ढाँचा तैयार किया है। पहला मानवतत्त्व है, जिसके अन्तर्गत उन्होंने माना है कि 'मानवचित्त एक है। समष्टि-मानसमें ही समान भावके मान रहते हैं।' दूसरा लोकतत्त्व है। इसके अन्तर्गत उन्होंने नृत्य, चित्र और काव्यके आदिम बोधोंका अन्वेषण किया है। तीसरा मिथक तत्त्व है, जिसके अन्तर्गत उन्होंने मानवमात्रके समान अनुभव करानेवाली एक भाषा, सहृदयके एकचित्तकी प्रतिष्ठा की है। चौथा लालित्य तत्त्व है जिसके अन्तर्गत उन्होंने मनुष्यनिर्मित सौन्दर्यकी अन्वीक्षा की है। इस तरह वे *क्रमशः मानवतत्त्व, लोकतत्त्व, मिथक तत्त्व और लालित्य तत्त्वकी ओर अग्र*सर होते चल रहे हैं। एक ओर तो वे इन तत्त्वोंको आधुनिक मानव सन्दर्भमें परखते हैं, तथा दूसरी ओर इन्हें पुरातनता और परम्परासे भी प्रमाणित करते हैं। अतएव उनके तत्त्वान्वेषणकी दिशा दुहरी है।

लखकने कालिदासका एक 'द्रष्टा की तरह देखा। तत्त्वज्ञानका परखनेवाला द्रष्टा होता है। द्रष्टाके लिए सम्यक दृष्टि अनिवार्य होती है अथात उसका अतर और बाहर निर्मल होता है वह राग और द्वेषसे मुक्त होता है, वह भय और भ्रांतिका शिकार नहीं होता और उसका मन योगसे शुद्ध होता है। लेखकने अपनी आतरिक शुद्ध दृष्टिसे कालिदासके लालित्य तत्त्वके साक्षात्कार करनेकी कोशिश की है। किन्तु कालिदास ही क्या माध्यम बने? लेखक कालिदासको सौदय (रसकी अपेक्षा) का महान गायक कवि मानते है, रूप, प्रभा, वर्ण एव प्रभावका दुर्लभ चितेरा मानते हैं आभिजात्य एव विलासिताका उदगाता मानते है, तथा राग और सौभाग्यका उद्घाटी मानते हैं। इस प्रकार हजारी प्रसाद द्विवेदी एक 'द्रष्टा'की तरह 'सौन्दय, रूप एव सौभाग्यके कवि का तत्त्वान्वेषण करते हैं।

सौदयतत्त्वके अन्वेषणमें कई प्रश्न एकबारगी उठते है। सबसे पहला प्रश्न तो यही है कि कालिदासका सौदयबोध क्या है? किन्तु यह तो समग्र सौन्दय तत्त्वका ही अन्वेषण है। अत स्वय लेखकने प्रश्नावली प्रस्तुत की है 'सौदयकी स्थिति द्रष्टाके रागात्मक चित्तमें है अथवा सुदर वस्तुमें? क्या सौन्दयका कोई विश्वजनीन मानदण्ड है अथवा उसका कोई मानदण्ड हो ही नहीं सकता? रूप और सौभाग्यका क्या सम्बन्ध है? अलकरण क्या सौन्दयके हेतुभूत है या सहायक है? मनुष्यकी शोभा और प्रकृतिकी शोभामें क्या और कैसा सम्बन्ध है? प्रकृतिने जिस सौदयका प्रसार किया है उससे मनुष्यके प्रयत्न-साधित लालित्य-योजनाका क्या सम्बन्ध है? ऐतिहासिक चेतनाका और भौगोलिक ज्ञानका सौन्दर्यस्थापनमें कैसा उपयोग होता है? छन्द क्या है और नृत्य, गीत चित्र मूर्ति, स्थापत्य आदिसे उसका क्या सम्बन्ध है? इस प्रकारके अनेक प्रश्न तत्त्वान्वेषी पाठकके चित्तमें उदित होते है और सब समय वह ठीक उत्तर नहीं खोज पाता।'[1]

उपर्युक्त तत्त्वान्वेषणके सूत्र ही लेखककी राह बता देते है। वे शुद्ध रूप या सौन्दर्यको नहीं स्वीकारते अपितु सौन्दर्य एव सौभाग्य (अथात नियम) का सयुक्त करते हैं। वे सौन्दर्यमें कौशल या उपादान (अलकरण) को विशेष महत्त्व देते हैं। इसीलिए वे प्राकृतिक सौन्दर्य बनाम मनुष्यके प्रयत्न साधित सौन्दर्य या लालित्य में भेद करते हैं। वे लालित्यका ऐतिहासिक

१ कालिदासकी लालित्य-योजना, पृ ५१।

चेतना और भौगोलिक मान अर्थात् 'काल' एव 'देश के आयाममें परखना चाहते हैं। या तो लालित्य वस्तव (युनिवमल) हो सकता ह अथवा नितात अनिर्वचनीय एव अन्तर्मुखी (इण्डीजुअल)। वे सौदर्यकी सिसृक्षाको 'छन्द' मानकर उसका विश्वकी गति एव ताल या छन्दोधारासे रहस्योन्मुख सम्बन्ध स्थापित करते हैं अतत वे 'छन्द' आधारपर अन्य सृजनात्मक कलाओंके सम्बन्ध प्राप्त करते हैं। इस सब प्रयत्नोंमें लेखकने स्वय एक सीमा भी बाँध ली ह केवल और मूलत कालिदासके माध्यमकी। अत लेखककी लालित्य-योजनाकी मीमासा सर्वांगीणकी अपेक्षा आंशिक ह।

अस्तु हम सबसे पहले मानव-तत्त्वका विवेचन करेंगे।

ग

'मनुष्य की धारणाका निर्माण दर्शनशास्त्र समाजशास्त्र, मनोविज्ञान और सौन्दर्यबोधशास्त्रकी महत्तम अन्वीक्षा रही है। सौंदर्य दर्शनम मानव और मान मनाको एकात्मा बनानेके प्रयासोंके द्वारा एक वैश्वक एव चिरन्तन मनुष्यकी रचना होती रही ह। किन्तु यह मनुष्य जविक विकास, सामाजिक विकास ऐतिहासिक चेतना और भौगोलिक तत्वोंके मेलसे व्यक्त भी होता ह राष्ट्रीय चरित्र भी ग्रहण करता ह, वर्गीय समूहका अग भी होता ह, और समष्टिचित्त भी होता ह। हजारीप्रसाद द्विवेदीने एकचित्तवाले मानवकी वश्वक धारणाका स्वीकार किया ह। लेकिन अब वे चण्डीदास या वेदान्तकी अपेक्षा नृतत्त्वशास्त्र और मनोविज्ञानके साक्ष्य स्वीकार करते हैं। नृतत्त्वशास्त्रने मानव चित्तकी व्यापकताके रहस्यको ढूँढ निकाला। इस रहस्यने जीवतान्त्रिक आवेगों और मानसिक संवेगोंमें सम्बन्ध स्थापित करके बाह्य इन्द्रियां तथा अन्त करणमें एकतान अन्वितिको प्राप्त किया। वस्टरमाकने यही पाया कि ऊपरी विभेदोंके बावजूद मनुष्य एक ही जीव श्रेणीका प्राणी ह। फ्रेजर और वस्टरमाकके शोधसे यही स्पष्ट हुआ कि जीवतान्त्रिक आवेग समान भावम सवत्र मानस सूक्ष्म बोधाको उकसाते हैं—मानव चित्त एक ह। इस चित्तका सामान्य बोध ही सम (नॉर्मल) है। अवनर्मिल तथा उन्नर्मिल अवस्थाएँ मनोवज्ञानिक अपयावरण ह। लखक प्रत्येक व्यक्तिके लिए सामान्य रूपस साम्यप्रमापके बोधको ही सौन्दर्यतत्त्वक अभिज्ञान की आधार भूमि मानता ह। यही सौन्दर्यका एक मानवीय स्तर ह। इसके लिए व 'समष्टि मानव चित्त की कल्पना करते हैं। इस समष्टि-मानसम ही पर्यायगुणोंके सम (नॉर्म) विद्यमान रहते हैं। सारांशमें, सौन्दर्यका एक मानवीय स्तर ह जहाँ मनुष्यका चित्त एक-जसा ह और वह चित्त समष्टि-मानव चित्त भी ह।

लेखकने इस 'समष्टि मानव चित्त'की व्याख्याके लिए कई प्राचीन दार्शनिक आधारोंको ग्रहण किया है। भट्टनायककी तरह उन्होंने भी सांख्य-सम्मत अन्तःकरण (मन, बुद्धि, अहंकार) एवं बाह्यकरण (मन, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ) का भेद स्वीकार किया है। अतः यह माना है कि बाह्यकरणोंकी अनुभूति तो एक समान है लेकिन अन्तःकरण के व्यक्तिगत भेद हो सकते हैं। तथापि, अन्तःकरण और ज्ञानेन्द्रियोंकी ग्राहिका शक्तिकी दृष्टिसे मनुष्य एक है। जहाँ व्यक्ति-विशेषमें सामान्य बोधसे भिन्न प्रकारकी अनुभूति होती है वही वह अवनमित्र हो जाता है।[1] अतः वे अवनमित्र दशाओंका विवेचन नहीं करते। इसके उपरान्त वे त्रिगुणोंका आधार लेते हैं। वे गुणीभूत ज्ञानशक्तिको सत्त्व, इच्छाशक्तिको रजस और क्रियाशक्तिको तमस या जड़ता स्वीकार करते हुए एक ओर तो जड़ एवं चैतन्यके द्वन्द्वका सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं, तथा दूसरी ओर यह सिद्धान्त स्थापित करते हैं कि पूर्ण समाहित चित्त या पूर्ण समाधिकी अवस्थामें ही चित्त सत्त्वस्थ रहता है और सत्त्वस्थ चित्त ही अनिन्द्य सुन्दर रूपकी रचना कर सकता है। यहाँ वे भट्टनायककी भाँति ही नैतिकतावादी एवं अध्यात्मवादी मानसकी रचना स्वीकार करते हैं क्योंकि रजोगुणका धुँधलापन तथा तमोगुणकी जड़ता मनके बाहर पड़ जाता है।[2] इस तरह वे मानवविज्ञान और मनोविज्ञानके आधिभौतिक रूपकी ओर मुड़ते जाते हैं।

सत्त्वको ज्ञानसे, रजस्‌का इच्छासे तथा तमसको क्रियासे सम्बन्ध करनेके उपरान्त वे अभिनवगुप्त और पण्डितराज जगन्नाथकी तरह नादानन्दवाद एवं अद्वैतचिन्ताको भी स्वीकार कर लेते हैं। शिव या ब्रह्मकी धारणा पर आनेपर वे तुरन्त उन दर्शनोंके अनुगामी हो जाते हैं। अब वे कह उठते हैं कि ब्रह्मकी इच्छाशक्ति ही 'छन्द' है जो समस्त भेदोपभेदका छादन करता है। अतः एक विश्वव्यापक छन्द है जो उसकी चितशक्तिकी सर्जनेच्छा या सिसृक्षा है। अतः ब्रह्मकी इच्छाशक्ति छन्द है। यह छन्द ही सृष्टि करता है, उसे नाना वर्णों गन्धों और रूपोंमें रूपायित करता है। छन्द इच्छा-मात्र है गतिमात्र है चेतन धर्म है। इस चेतनधर्मके कारण ही गति और आनन्द है। इस तरह वे कालमें प्रवाहित छन्दोधाराको ब्रह्मकी सर्जनेच्छा, तथा देशमें स्थिरीभूत सृष्टिको ब्रह्मकी क्रियाशक्ति स्वीकार कर लेते हैं। अतः क्रिया स्थिति एवं इच्छा गति हो जाती है।

---

१ लालित्य-तत्त्व, पृ० १७।

२ 'कालिदासकी लालित्य योजना', पृ० ६०।

इस अध्यात्मवादी भूमिपर लेखक मनुष्यकी परम्परागत मीमांसा करते हैं। उनके अनुसार जो कुछ विश्व (ब्रह्म) में घट रहा है, वही पिण्ड (प्राणी) में। किन्तु जीव या प्राणी मायाके पंचकंचुकों या पाशोंसे आवृत होनेके कारण सीमित है।[1] अतएव—ब्रह्मकी तरह—मानवचित्तमें भी गति एवं स्थितिके द्वन्द्वसे ही 'रूप' (फ़ॉर्म) बनता है। गति इच्छा है, स्थिति क्रिया। गति चित्तत्त्व है, स्थिति अचित्तत्त्व। इस तरह जड़ और चैतन्यका भी शाश्वत द्वन्द्व चलता है। जड़ता नीचेकी ओर खींचती है, और चैतन्य ऊपरकी ओर। "इच्छा अनन्त है, क्रिया सान्त है। इच्छा नाद है—कण्टिनुअस है, क्रिया बिन्दु है—क्वण्टम है। इच्छा गति है, क्रिया स्थिति है। गति और स्थितिका यह द्वन्द्व चलता रहता है। इसीसे रूप बनता है, छन्द बनता है, संगीत बनता है, नृत्य बनता है। इच्छा काल है, क्रिया देश है। इसी देश-कालके द्वन्द्वमें जीवन रूप लेता है प्रवाहके रूपमें। इसीसे धर्माचरण बनता है। [illegible] बनती है। इन सबको छापकर, सबका अभिभूत करके, सबको अन्तर्ग्रथित करके जो सामने प्रत्यमान है वह सौन्दर्यका दूसरा रूप है। यह भाषामें, छन्दमें, स्थिर रूपमें, नृत्यमें, गीतमें, मूर्तिमें, चित्रमें, सदाचारमें अपने आपको प्रकट करता है। एक प्राकृतिक सौन्दर्य है, दूसरा मानवीय इच्छाशक्तिका विकास है। दूसरा सौन्दर्य प्रथम द्वारा चालित होता है, पर है मनुष्यके अन्तरतरकी अपार इच्छाशक्तिको रूप देनेका प्रयास। एक केवल अनुभूति देकर विरत हो जाता है, दूसरा अनुभूतिसे उत्पन्न होकर अनुभूति परम्पराका निर्माण करता है।"[2] लेखकने दूसरे प्रकारके मानवनिर्मित सौन्दर्यको ही साहित्य कहा है। इस तरह उन्होंने 'चैतन्य'में शक्तिको उपासित करके इच्छा (काल, गति) और क्रिया (देश, स्थिति) शक्तिके द्वन्द्वसे ब्रह्मकी सृष्टि एवं कलाकारकी कलाकृतिकी एकधर्मिता कायम की है क्योंकि वे मानवचित्तके समानान्तर ही एक विश्वव्यापक इच्छाशक्तिकी धारणाकी पुष्टि भी करते हैं। इसी आधारपर वे समष्टि मानस एवं सामान्य रूपमें सामरस्य भावके बोधको प्रस्तुत करते हैं। ये दोनों ही सांख्य, शैवाद्वैत एवं वेदान्त चिन्तनके सम्पर्क यात्रासे उद्भूत होते हैं। इन्हें आधुनिक भी प्रतीत करानेके लिए लेखकने दूसरे धरातलपर फ्रेजर, वेस्टर मार्क, बास आदिकी समानान्तर स्थापनाएँ दी हैं। भाव पाठके अनुसार नृत्य वस्तुतः जड़के गुरुत्वाकर्षणपर चैतन्यकी विजयेच्छाका प्रयास है। हजारीप्रसाद

---

१ 'प्राचीन भारतके कलात्मक विनोद'में लेखकने कला वर्गीकरणपर विशेष बल देते हुए कला एवं शिल्पके वाचक शब्द निरूपित किये हैं।

२ 'साहित्य तत्त्व', पृ० १४।

द्विवेदीने कहा भी है कि "फाक्स थीसके कथनका बड़ा महत्त्व है कि वस्तुतः हर कला-प्रयासमें शिल्पी जड़ सामग्रीके सहज धर्मपर विजय पानेका प्रयास करता है। मनुष्यके कला-प्रयत्नोंका अर्थ ही है जड़तासे संघर्ष। जितनी मात्रामें शिल्पी इस संघर्षमें विजयी होता है उतनी ही मात्रामें वह शिल्पी-रूपमें सफल होता है। जितनी दूर तक उसके अंतरतरका विशुद्ध चैतन्य जड़ाकर्षण और भौतिक बंधनको छिन्न करके रूपयोभूत द्रष्टा या स्रोताकी अंतर्निहित उच्छल प्राणधाराको मुखर कर देता है और जीवंत रूपमें चैतन्यका अनुभवगम्य बनाता है, उतनी ही दूर तक उसका शिल्प चरितार्थ होता है। हम किसी मूर्ति या चित्रको देखकर या कविताको सुनकर स्पन्दित उठते हैं, तो वस्तुतः हम जड़को गुरुत्वाकर्षणसे मुक्त होनेका अनुभव करते हैं।"[1] लेखकने आगे चलकर जड़ उपादानों (माध्यम) को सँवारने (कौशल) और जाँचने (अभ्यास) के क्रमिक विकासमें ही कलाओंके भेद, तथा कलाके इतिहासके सूत्रके संकेत दिये हैं। जड़की इस जटिल धारणामें ही लेखकने 'माध्यम के धर्मकी समीक्षा की है। जड़ चेतनके इस द्वन्द्वको शिवकी इच्छा एवं क्रियाशक्तिके द्वन्द्वसे मण्डित करके लेखकने कलाकार और आस्वादक वृत्ती और तत्त्वान्वेषी, सभीमें एक मानव चित्त तथा चेतनधर्म (प्राण एवं आनन्द) को आविर्भूत किया है। इस तरह भाषा, मिथक, धर्म, काव्य, मूर्ति, चित्र आदिमें अभिव्यक्त मानवीय इच्छाशक्तिका अनुपम विलास ही सौन्दर्यकी संज्ञा पाता है। मिथकीय चेतनाके अनुसार इसकी व्याख्या करते हुए लेखकने कहा है कि यह विश्वव्यापिनी सर्जनात्मक शक्ति (अर्थात् शिवकी लीलासखी) 'ललिता'का व्यष्टिगत रूप है। जब शिव को लीलाकी लालसा होती है तब उनकी लीलासखी ललिता जगतका प्रपंचित करती है। लोक-रचना ललिताकी क्रीड़ा है, और चिन्मय शिव उसके द्रष्टा हैं। इसीलिए वे मानवरचित सौन्दर्यका नामकरण 'लालित्य' करते हैं। यह स्थापना उन्होंने 'ललिता सहस्रनाम' से ग्रहण की है। अतएव लालित्यका क्षेत्र सौन्दर्यका आकर्षण, सौन्दर्यकी रचना और सौन्दर्यका रसास्वादन है। लालित्य ही मनुष्यके ललित भावोंकी अभिव्यक्ति करता है। यही लेखकके 'लालित्य शास्त्र'का क्षेत्र और तत्त्व है।[2] अतः चैतन्यका धर्म प्राण और आनन्द हो जाता है, चेतना और क्रीडासे सौन्दर्यका आकर्षण, रचना और रसास्वादन होता है, सौन्दर्य-रूप [illegible] मांगल्य (शिव), काम (क्रीड़ा) तथा विलासका संयोग है। धारामें सरस्वतीका स्थान ललिता ले लेती है।

१ 'लालित्य तत्त्व', पृ० ६।
२ वही पृ० १५।

शिवकी इच्छाशक्ति-लीलाका लोक रचना, और मनुष्यकी इच्छा-शक्ति-द्वारा चालित कलासृष्टिकी इस मिथकीय एवं यथार्थ एकरूपताको लेखकने विश्वव्यापी छन्दोधारा और कलाके छन्दके रूपकके माध्यमसे भी पुष्ट किया है। अतः हम देखते हैं कि कवि फ्रेज़र, वेस्टरमार्क, कैसीरर, फ्रांक थीस, यट साक्स आदिके जीवतात्त्विक (बायोलॉजिकल), मानवशास्त्रीय (एन्थ्रोपालॉजिकल) मनोवैज्ञानिक (साइकालाजी) आदि आधारोंको भी मिथकीय चेतना (mythic consciousness)-द्वारा प्रमाणित करता है। किन्तु यह लेखकके मध्यकालीन संस्कार और नैतिकतावादी आस्थाके भी प्रबल आग्रह हैं। हम यह कैसे स्वीकार करें कि सचमुच ही कोई 'विश्वात्मा' है और उसकी कोई सिसृक्षा है। फिर, विश्वकी छन्दोधारा अगर मानव-समाज है, तब तो यह समाज गति स्थितिके द्वन्द्वसे संचालित हुआ है जो मात्र इच्छा शक्ति और क्रिया शक्तिकी सरलीकृत धारणा न होकर जटिल है। लेखक नैतिक मानवके विकासपर ही आस्था रखते हैं किन्तु सामाजिक मानवके क्रान्तिकारी रूपान्तर, वर्गीय मानव की समरूपा रचना (समाधिके अभाव), तथा अवचेतनमें व्यक्तिकी गूढ़ दृष्टि आदिकी वास्तविकताओंका अपसारित उपगम करते हैं। सारांशमें, मनुष्यका जीवतात्त्विक आधार ही आध्यात्मिक आधारमें समुन्नत कर दिया गया है। मनुष्यके व्यक्तित्वकी यह निर्गुण धारणा अत्यधिक अमूर्तीकरणसे आच्छादित हो गयी है।

मानवी सृष्टिकी अपूर्वता एवं सामाजिकताको प्रकाशित करनेके लिए हजारी-प्रसाद द्विवेदी पुनः एक मिथक-व्याख्याकी ओर उन्मुख होते हैं। भारतके नाट्य शास्त्रमें यह कथा आयी है कि मानवीय होनेके कारण देवता नाटकका अभिनय नहीं कर सकते किन्तु मुनि (मनुष्य) अपनी इच्छा-शक्तिके बलपर दूसरोंका अनुकरण कर सकते हैं। देवता केवल धीरोद्धत होते हैं, जब कि मनुष्य धीरोदात्त। मनुष्यकी महिमाका यह सर्जनात्मक रूप ही कलामें प्रकट होता है।[1] मनुष्यकी महिमा और उसकी सृष्टिके इस मिथकीय व्याख्याके उपरान्त द्विवेदीजी कालिदासके व्याजसे कलाकारकी मनोदशाको स्पष्ट करनेके लिए पुनः एक मिथकीय व्याख्या करते हैं। कालिदास विधाता (ब्रह्मा) को भी एक कलाकार मानते हैं जो सुन्दर रचना करते समय समाधिस्थ होता है। शिवाकी रचना करते समय निश्चय ही उसने 'महाभूत समाधि' धारण की होगी ('तं वेधा विदधे नूनं महाभूतसमाधिना)। द्विवेदीजी पुनः रूपक (मेटाफर) के माध्यमसे कालिदास और सामान्य कलाकारोंकी रचना-प्रक्रियाका निरूपण करते हुए कहते

१ नाट्यशास्त्रकी भारतीय परम्परा और दशरूपक की भूमिका।

हैं कि "वे विधाताको भी मनुष्यकी तरह एक कलाकार मानते हैं। वस्तुतः कल्प पहले होता है, सृष्टि बादमें। मनुष्य अपने रूपमें ही विधाताको देखता है। कालिदासने स्वयं रचयिताका जो रूप सोचा होगा या स्वयं रचना प्रक्रियाका जैसा अनुभव किया होगा, उसीका विधातामें घटित कराया होगा, यह अनुमान असंगत नहीं है। कालिदास उत्तम रचनाके लिए समाधिस्थ चित्तको बहुमान देते हैं, इस विषयमें कोई सन्देह नहीं है।"[1] यदि विधाताके लिए 'महाभूत समाधि' अपेक्षित है तो कलाकारके लिए 'पूर्ण समाधि'। पूर्ण समाधिकी अवस्थामें ही चित्त सत्त्वस्थ रहता है, और सत्त्वस्थ चित्त ही अनिन्द्य सुन्दर रूपकी रचना कर सकता है। रचयितामें पूर्ण समाहित होनेकी क्षमताके अभावमें रचना कमजोर हो जाती है। अतः जहाँ कहीं कलाकार 'शिथिल समाधि' होता है वहीं वह लक्ष्यभ्रष्ट होता है। इस तरह कालिदासके श्लोकके बहाने इन्होंने श्रेष्ठ मानव कलाकारके गुणोंका उल्लेख किया है। पहले वह प्रयत्न करता है फिर 'समाधि' की अवस्थामें पहुँचता है फिर चित्तको सत्त्वस्थ करता है और अन्ततः तब सुन्दर सृष्टि कर पाता है। अन्तर्मुखी प्रयत्न, समाधि एवं सत्त्वस्थिति तथा बहिर्मुखी सृष्टि—ये चार चरण ही रचना प्रक्रियाके हैं। बहिर्मुखी रचनाके चरणमें माध्यमकी इच्छा तथा कौशलका प्रयोग होता है। इसके लिए कलाकार 'उपादान' (इन्द्रियाँ—>अन्तःकरण एवं बहिःकरण) और 'उपकरण' (औजार-तूलिका, छेनी, लेखनी आदि) दोनोंका व्यवहार करता है। उपादान एवं उपकरण ही 'माध्यम' (मीडियम) हैं। इस बहिर्मुखी रचना-कुशलताके लिए इनके यथास्थान सजानेके लिए, कालिदासने (कुमारसम्भव १–४९) 'यथाप्रदेशं विनिवेशितेन' शब्दका व्यवहार किया है। अतः लेखकने 'यथाप्रदेश विनिवेश' को एक सौन्दर्यतत्त्वके रूपमें ग्रहण किया है। उनके अनुसार यह (य० वि०) कलाकारकी निरीक्षण शक्तिकी सच्चाई या कच्चाई की गवाही देते हैं क्योंकि श्रेष्ठ कलाकार ही उपादानको अनुरूप बना सकता है।

रचना प्रक्रियाके अन्तर्मुखी चरणके लिए वे कल्प या मानसी मूर्तिकी धारणा प्रस्तुत करते हैं। 'कवि या शिल्पी बाह्य जगतकी वस्तुओंको देखकर पहले अपने चित्तमें एक मानसी मूर्ति बनाता है और फिर उसे एक नया रूप देता है। मानसी मूर्ति कवि या शिल्पीकी इच्छा शक्तिका विलास है और रूप रचना उसकी क्रिया शक्तिका। मानसी मूर्तिको ही भाव कहा जाता है। कवि या शिल्पी भावगृहीत रूपको शब्द, तूलिका या छेनी आदिके द्वारा जड़ आधारों

---

१ कालिदासकी लालित्य योजना पृ० ६३।

पर उतारता है। यही उनकी नयी सृष्टि है।'[1] इस तरह द्विवेदीजी अपने दो मूलभूत सौन्दर्यसिद्धान्तों—१ जड़पर चैतन्यकी विजयकी चेष्टा, और २ मनुष्यकी इच्छाशक्ति (गति) एवं क्रियाशक्ति (स्थिति) का द्वन्द्व—को पुनः रचनाप्रक्रियामें भी प्रतिष्ठित कर देते हैं। यही उनके लालित्य-तत्त्वान्वेषणका सार है। मानसी मूर्तिकी अवधारणाके इर्द गिर्द ही उन्होंने करण विगम 'यथालिखितानुभाव', 'भावानुप्रवेश', 'अन्यथाकरण' आदिके कालिदासीय सौन्दर्य तत्त्वोंका उपस्थापन किया है जिनकी चर्चा यथाप्रसंग होगी।

कलाकार, शिल्पी, कवि, अभिनेताके साथ-साथ ही लेखकने गृहीताकी भी मीमांसा की है। सहृदय, द्रष्टा, तत्त्वान्वेषी, कृती आदि भेदोंमें गृहीता भी विकसित हुआ है।

लेखकने दार्शनिक तत्त्वमीमांसा करनेवाले आचार्योंको द्रष्टा (या तत्त्वद्रष्टा) कहा है जो 'सही' देखते हैं। सही देखनेके लिए उनका अन्तर्बाह्य निर्मल होता है, वे राग-द्वेषसे मुक्त होते हैं, भय भ्रान्तिके शिकार नहीं होते तथा उनका मन योगसे शुद्ध होता है। अर्थात् वे 'समाधि'की अवस्थामें चित्तको सत्त्वस्थ कर सकते हैं। उनका साधन शुद्ध आन्तरिक दृष्टि है। उनकी तुलनामें कलानिष्ठका साधन प्रयोगात्मक है। द्रष्टा तत्त्व और भावका, विशेषरूपसे विश्वतत्त्व और सामग्र्य भावका, दर्शन करता है। अतः वह कलानिष्ठसे भिन्न है, और उसकी पद्धति भी भिन्न है। इस सन्दर्भमें द्रष्टाका विषयहेतु सौन्दर्य एवं प्रेम आदि होता है। किन्तु क्या सौन्दर्य द्रष्टि-साध्य नहीं है? लेखकके अनुसार कुछ हद तक। वे कालिदासकी एक उक्ति—'किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्' (कौन-सी वस्तु है जो मधुर आकृतियोंका मण्डन नहीं बन जाती)—का दृष्टान्त देते हुए कहते हैं कि कालिदासने दो बातें लक्ष्य की — १ सुन्दर सबके लिए सुन्दर होता है पर २ उनके लिए अधिक सुन्दर होता है जिनसे उसका लगाव होता है।[2] सौन्दर्यके सबके लिए सुन्दर होनेके लिए लेखकने पहले ही कहा है कि अन्तःकरण और ज्ञानक्रियाकी ग्राहिका शक्तिकी दृष्टिसे मनुष्य एक है, तथा लालित्य-मीमांसाकी दृष्टिसे यह बात विशेष महत्त्वपूर्ण है जो इसके विवेच्य विषयमें एक मानवीय दृष्टिका सन्धान बनाता है। इसके साथ ही वे मनुष्यकी इच्छा-शक्ति (लीलाकी शक्ति) को भी विश्वव्यापक इच्छाशक्तिका ही रूप मानते हैं। इन दो आधारोंपर लेखकमें विशेष सौन्दर्य संस्कारकी धारणा प्रकट होती है, और इसमें ही कृती सहृदय आदिकी स्थापनाएँ सम्बद्ध होती हैं।

१ लालित्य तत्त्व', पृ० १०।
२ लालित्य तत्त्व' पृ० २।

सौन्दय उसके लिए अधिक सुन्दर होता है जिससे उसका लगाव होता है। 'लगाव' अर्थात् आकर्षण एवं संस्कार। आकर्षणके लिए लेखक एक कालिदासीय तात्त्विक शब्द 'अबोधपूर्वा स्मृति'को प्रचलित करते हैं। यह अध्यात्मवादी धारणा पूर्वजन्मके संस्कारों एवं वासना-शक्तिको समाहित करती है जिसे कालान्तरमें अभिनवगुप्त एवं विश्वनाथने निरूपित किया। "कालिदासके युगमें यह बात सिद्धान्तके रूपमें स्वीकृत थी कि मनुष्य अनेक योनियोंमें घूमता हुआ दुर्लभ मानव जन्म पाता है। उसकी आत्मापर अनेक भाव जमे रहते हैं। सभी सब समय स्मरण नहीं आते परन्तु सौन्दर्याधायक वस्तुके साक्षात्कारसे वे किसी पुरानी स्मृतिको उभार देते हैं। इस उभरी हुई स्मृतिको कालिदास 'अबोधपूर्वा' कहते हैं अर्थात जिनकी याद्में विशेष तत्त्वोंका स्मरण नहीं रहता, केवल निर्विशेष स्मृति मात्र रहती है।"[1] जन्मान्तरवादी आस्थापर टिकी इस धारणाका आधार अवचेतन (unconscious) तथा जातीय अतीत (racial past) है। इसीलिए रमणीय वस्तुको देखकर और मधुर शब्दोंको सुनकर अर्थात सौन्दर्याधायक वस्तुके साक्षात्कारमें निर्विशेष अबोधपूर्वा स्मृति जाग जाती है। निर्विशेष एवं अबोधपूर्वा होनेके कारण इस स्मृतिका धर्म पर्युत्सुकीभवन होता है। अर्थात यह अनेक संस्कारस्थ भावोंको 'पर्युत्सुकीभाव'में रूपान्तरित कर देती है। बादके आचार्योंने इस चित्तकी दीप्ति एवं द्रवण दशाओंमें व्यंजित किया। यही अबोधपूर्वा स्मृति अपनी सुप्त दशामें संस्कार एवं वासना है। स्थायीभाव वासनारूपमें स्थित रहते हैं। अतः लेखकके कालिदासीय बोधके अनुकूल अबोधपूर्वा स्मृति वासनाको व्यक्ति करके स्थायीभावमें रूपान्तरित करती है। यह रूपान्तरण धर्म 'पर्युत्सुकीभवन' है। अतः रचनाके लिए 'समाधिस्थ चित्त'की और आस्वादके लिए पर्युत्सुकीभावकी अपेक्षा होती है। आस्वादके लिए यह भी अनिवार्य है कि आस्वादक 'सहृदय'—समान हृदयवाला हो अर्थात कवि, शिल्पी चित्रकार आदिके हृदयमें जो विशिष्ट भाव रहते हैं उनका वही अनुभव कर सकता है जो उसी प्रकारका अनुभूति-सम्पन्न हृदय रखता हो। अतः 'यदि कलाकार समाधिनिष्ठ हो सकता है तो बदलेमें सहृदयको भी समाधिनिष्ठ कर सकता है। यदि वह शिथिलसमाधि है तो सहृदयकी भी समाधि शिथिल होगी।'[2] एक दूसरे ढंगसे यह 'तन्मयीभवन' योग्यता है किन्तु लेखकने इसके लिए भी दो कालिदासीय शब्दों—'पर्यायगिनितानुभाव' एवं 'करणविगम'—का व्यवहार किया है। मेघदूतमें एक स्थानपर 'करणविगम'

1 'कालिदासकी लालित्य योजना', पृ० १०७।
2 वही, पृ० १०१।

शब्दका प्रयोग है (यस्मिन् दृष्टे करणविगमादूर्ध्वमुद्भूतपापा) जिसका सीधा-सादा अर्थ है 'इन्द्रियोंको बाहरी विषयोंकी ओरसे मोड़कर अन्तर्मुखी करना।' करण-विगम भावित करानेका आरम्भिक हेतु है किन्तु पात्रोंकी भावनाओंके साथ सहृदयकी भावनाओंका तादात्म्य करानेके लिए (भट्टनायकीय 'भावकत्व व्यापार' के लिए) दूसरा हेतु 'यथालिखितानुभाव'-है अर्थात् जैसा लिखा या चित्रित हुआ उसे सत्य समझकर अनुभव करनेके कारण चित्रगत विकार और उससे उत्पन्न स्वेद रोमांचादि अनुभव उत्पन्न होने लगें। कालिदासने चित्रकलाके प्रसंगोंमें ही प्रसंगत 'लिखितानुभाविता' का उल्लेख किया है। कलाकारके सन्दर्भमें ऐसी दशा 'भावानुप्रवेश' की है। इस तरह रसानुभव सहृदय श्रोता या दर्शकके चित्तमें अनुभूत होता है। पात्रके चित्तमें नहीं। सारांश, सहृदय त्वके लिए पर्युत्सुकीभवन, करणविगम, यथालिखितानुभाविता तथा सहृदय समाधिकी दशाओंका संयोजन किया गया है।

सहृदय' की काव्यशास्त्रीय धारणाको सौन्दर्यतात्त्विक सन्दर्भमें ढालनेकी लेखककी यह चेष्टा 'कृती' की धारणा परिपूर्ण हुई है। कृती वह है जो तत्त्वा-न्वेषणकी बातोंमें नहीं उलझता, बल्कि 'छककर सौन्दर्यरस पीता है। कृती धन्य है।

उपर्युक्त निरूपणमें विधाता और कलाकार, द्रष्टा और तत्त्वान्वेषी, सहृदय और कृतीकी धारणाओंका पुनर्निर्माण हुआ है। हजारीप्रसाद द्विवेदीका मूलाधार कालिदासका 'चेतन धर्म' रहा है जिसके माध्यमसे उन्होंने शिवकी इच्छाशक्तिके ललित विलास, विधाताकी पूर्ण समाधि, जन्मान्तरवादी अबोधपूर्वा स्मृतिका दार्शनिक अवलम्बन लेकर साहित्य मीमांसा की है। किन्तु अगर आध्यात्मिक एवं धार्मिकता यदि हमारा विश्वास न हो, तो इनकी पुनर्व्याख्या दूसरे ढंगसे होगी। लेखकका समग्र ढाँचा आध्यात्मिक आदर्शवादपर आधारित है। वे मूलत एक नैतिक एवं आध्यात्मिक मनुष्यकी धारणाका विधान करते हैं। सम्भवत उनपर कालिदास और उनके युगने माध्यमसे भी यह सीमा बाँधी हो। इस मनुष्यकी धारणामें वे मनोवैज्ञानिक अवचेतनात्मकताओं, वैयक्तिक विशेषताओं तथा युगीन द्वन्द्वों (जो विश्वव्यापक छन्दोधाराके विरुद्ध हैं) पर विचार नहीं करते। विश्वव्यापक छन्दोधारा प्रकृतिमें तो सम्भवत कल्पित भी की जा सकती है किन्तु समाजमें यह एक असम्भावना है (लेखकके तात्पर्यमें)। मनुष्यके इस उल्लासवादी, आनन्दवादी नैतिकतावादी एवं अध्यात्मवादी पक्षको लेकर ही वे आगे अपने साहित्य तत्त्वका उन्मेष करते हैं। " सर्वत्र मनुष्यने उल्लास चंचल होकर जड़तापर विजय पानेका प्रयास किया है। आरम्भमें उसने नृत्य वाणियोंमें

और स्वर सन्धानद्वारा इस बन्धनके विरुद्ध विद्रोह किया है और वाक्में वाक् मिथक और भावसम्मूर्तनके द्वारा अपने भीतरके किसी बन्धन द्रोही व्याकुलताको रूपमें देनेका प्रयास किया है। कोई कुछ ऐसा है जो मनुष्यके आदि उद्भवके समयसे ही अपनेको बन्धनमुक्त करनेके लिए छटपटाता रहा है। जान पड़ता है यह उसका चरम सत्य है अनाविल व्यापक चित्तत्त्व उसीका अद्भुत और अक्लान्त प्रयत्न है जो लालित्य रचनाके द्वारा नित्य बन्धनजयी होनेकी क्रियासे प्रकट हो रहा है। इस प्रयासको समझनेके लिए उसकी इच्छाशक्तिका स्वरूप जानना तो आवश्यक है ही।'[१]

अब हम इसीक्रमसे लालित्य तत्त्वका निरूपण करेंगे।

घ

मनुष्य (कलाकार और कृती), मानव चित्त, चिन्तन क्रम और मानवीय क्रियाओंकी विवेचनाके साथ हजारीप्रसाद द्विवेदी प्राकृतिक सौन्दर्य तथा मानवनिर्मित सौन्दर्यतात्त्विक 'लालित्य' एवं उसके अलंकरण मण्डनकी व्याख्याएँ करते हैं।

"सुन्दर वस्तु या कृतिके एक समग्र भावकी अनुभूति है जिसे समष्टि-मानस अनुभव करता है। सौन्दर्यका एक मानवीय स्तर है जिसके लिए एक 'समष्टि मानव चित्त' की कल्पना की गयी है जो नॉर्मल (normal) है। अतः यहीं कभी व्यक्ति-विशेषका स्तर इससे आपात विरुद्ध हो जाता है। लेखक सुन्दर वस्तु या कृतिकी समग्रताकी अनुभूतिके दो रूप मानते हैं : १ एक सौन्दर्य तो हमें अभिभूत करता है, प्रभावित करता है, चालित करता है पर इसलिए नहीं कि वह ऐसा करना चाहता है। वह सौन्दर्य कौन-सी अन्तस्थ इच्छाशक्तिसे हमें चालित करता है, यह कल्पना या तर्कका विषय मात्र है। यह प्राकृतिक सौन्दर्य है। २ दूसरा सौन्दर्य मानवीय इच्छाशक्तिका विलास है जो उसे रूप देता है, अनुभूति-परम्पराका निर्माण करता है। यह मानवनिर्मित सौन्दर्य प्राकृतिक सौन्दर्यसे भिन्न किन्तु उसके समानान्तर चलनेवाला है। इसका नाम 'लालित्य' है। यह भाषामें, मिथकमें, धर्ममें, काव्यमें, मूर्तिमें, गृहाचारमें, चित्रमें बहुधा अभिव्यक्त मानवीय इच्छाशक्तिका अनुपम विलास है। इस सौन्दर्यकी शक्ति रहस्यमयी एवं अदृश्य न होकर ज्ञात है अर्थात् यह मानवीय इच्छाशक्ति है। इसे भी स्पष्ट करनेके लिए लेखकने इस विश्वव्यापिनी सृजनात्मक शक्ति 'ललिता' (शिवकी ललितामयी) का व्यक्तिगत रूप कहा है।

१ 'लालित्य १९११', पृ० १८।

यही कला रचना करती है, और लालित्य बोधकी भूमिका है। अतः लेखकने लालित्यमें मांगल्य (शिव), नैतिकता (धर्म) और महत्ताकी एक साथ अन्विति की है।

लेखक पुनः शिव शक्तिका आध्यात्मिक मिथकका सहारा लेते हुए कहते हैं कि ब्रह्म या शिवकी सिसृक्षाने ही उसे स्त्री और पुरुष रूपमें द्विधा विभक्त होनेको प्रवृत्त किया। द्विधा विभक्त होकर उनके परस्पर आकृष्ट होनेका सिलसिला निरंतर है जो मनुष्योंमें प्रेम और आकर्षणके रूपमें विद्यमान है। इस तरह द्विवेदीजीने सौन्दर्यके साथ प्रेम और आकर्षण, तथा धर्मको भी पूरक माना है। सौन्दर्य यौवन काम और धर्मको साथ-साथ निरूपित करनेकी व्यापकता उन्हें कालिदास के माध्यमसे मिली। अतः उनका लालित्य तत्त्व मूलतः सौन्दर्यके साथ यौवन, काम और मंगलका भी संयोजन करता है। लालित्यकी यह व्यापक परिणति शिव शक्तिके मिथक तथा कालिदासके लालित्य बोधके कारण ही सिद्ध हो सकी है। हम देखते हैं कि लेखकने मानवतत्त्व एवं लालित्य तत्त्व दोनोंमें ही मिथक तत्त्वोंका अनूठा बौद्धिक समुपरंजन किया है। शिव और पुरुष, सृष्टि और कृतीमें तादात्म्य (अद्वैत) माननेके कारण द्विवेदीजी सौन्दर्यको वस्तु एवं प्रमाता का उभयनिष्ठ धर्म माननेवाले मतके अनुयायी हैं। 'द्रष्टव्य वस्तुमें सौन्दर्य एक ऐसी शक्ति या ऐसा धर्म है जो द्रष्टाको आन्दोलित और हिल्लोलित कर सकता है और द्रष्टामें भी ऐसी शक्ति है, ऐसा एक सवर्ण तत्त्व है जो द्रष्टव्यके सौन्दर्यसे चालित और हिल्लोलित होनेकी योग्यता देता है। यह (तीसरी) बात अधिक समझने योग्य है। ग्रहीता और गृहीतव्यके अंतरतरका आकर्षण ही तो वह लीला है जो अनादि शिव-तत्त्व और शक्ति-तत्त्वके शाश्वत लीला विलासकी व्यष्टि निष्ठ अभिव्यक्ति है।'[1] इस भाँति लेखक मनुष्यकी इच्छा शक्ति और उसकी आत्माके सहज धर्म तथा ललिताकी व्यष्टिनिष्ठ अभिव्यक्तिके द्वारा लालित्यके मनोवैज्ञानिक आध्यात्मिक एवं मिथकीय आयामोंका उद्घाटन करता है। इस उभयनिष्ठ आकर्षणके कारण ही एक ओर सौन्दर्य यौवन तथा प्रेमसे सम्बद्ध किया गया है तथा दूसरी ओर हर वस्तुके प्रभावका हर व्यक्तिमें स्वकीय संबंध भी माना गया है—(एक सामूहिक सचेतनके अलावा)। 'सत्त्वस्थ चित्त की मनोवैज्ञानिक व्याख्या करते हुए लेखक कहते हैं कि वस्तुतः यह सजग चित्तके साथ-साथ ताल मिलाकर चलनेवाली सहृदय संवेदना है। इस 'कॉमन ह्यूमनिटी' को शिक्षा कह सकते हैं। इसकी तुलनामें रागमचित्त व्यक्तिका

---

[1] 'कालिदासकी लालित्य योजना' पृ० ८८-८९।

एकान्तचित्त होता है। यहा वे मानसिक या ऐन्द्रिय विकारमे ग्रस्त अवनर्मिल एव उन्नर्मिल दशाओंको चिकित्सामूलक दशाएँ मानते हैं। अत सौदय द्रष्टाका सवन्न-सत्व सत्त्वस्थ चित्तमें अतभाव्य रहता ह। यही सौदयका एक मानवीय स्तर है 'सर्वास्ववस्थासु अनवद्यता रूपस्य' (मालवि० २)। यह स्तर सामाय रूपसे सामग्रय भावका बोध है। यह प्रत्येक 'नर्मिल' व्यक्तिके लिए आवश्यक ह।

इस मानवीय स्तरकी अधिक गहराईके विषयमे लेखकका मत ह कि "जिसे हम सुदर कहते ह, वह वस्तुत हमारे भीतरकी चित शक्तिके ज्ञान, इच्छा और क्रियाका समवय ह।" किंतु सुदर वस्तु होनेके लिए कुछ और गुण भी आवश्यक हैं। इन गुणाके अतगत ही लेखकने कालिदासके लालित्य तत्त्वको छाककर यौवन, धम, मागल्य आदिका समावश किया ह। इस समावेशको विधियाँ ही 'रूप' की सृष्टि करती ह कलाकृतिमें कौशलका समावेश करती ह, तथा ऐतिहासिक चेतना एव भौगोलिक ज्ञानके योगम सास्कृतिक पतनका प्रकरण सम्पन्न करती ■। अतएव प्रकृतिदत्त सौदय जसा है वसाके अनुभवका आस्वाद ह मनुष्यकृत सौदय इस अनुभव और 'जो जैसा होना चाहिए वसा इस परिणाम उदभूत विशिष्ट आनद ह।"[1] यहाँ सौदय या धारणाके आकषणके अतिरिक्त आनन्दको भी शामिल कर लिया गया।

साराशमें, कविने कलागत एव प्रकृति सौदयको—डा० नगेन्द्रकी तरह—समानजातीय माना है। पहलेका कर्ता कलाकार ह तथा दूसरका विधाता। दोनोमें ही क्रमश मानवीय इच्छा शक्ति और शिवकी ललिता शक्ति क्रियारत हैं। दोनोंम ही सत्त्वस्थ चित्तकी समाधि दशाए ह। प्राकृतिक सौन्दर्यमें शक्ति विश्वव्यापी छन्दोधारा ह तथा लालित्यमें उसके अनुकूल अन्तर्जगतकी छन्दोधारा। अत विश्वव्यापी छन्दोधाराके अनुरूपमें मनुष्यके अन्तर्जगतकी छन्दोधारा प्रवाहित है। जब दूसरी छन्दोधारा पहलीके अनुकूल प्रवाहित होता है तभी सौदय है। इसके विपरीत असौदय (ugliness) की स्थिति ह। अतएव असौदर्यमें बोधमें सत्त्वस्थ चित्तके बजाय तामसिक चित्तकी सवेदना रहती है। यही 'सौन्दर्य' एव 'लालित्य' की शक्ति तथा धम ह।

सौन्दर्यकी इन धारणाओंको हजारीप्रसाद द्विवेदीने अपने कालिदासीय विवेकसे चरितार्थता एव परिपक्वता प्रदान की ह। इसके लिए उन्होंने सौन्दर्यमें यौवन (प्रेम) तथा धम (तप) तथा मागल्यके विनायक धम जोड़े ह। वस्तुत वे

---

1 वही, पृ० ११२।

'उदात्त' (sublime) की धारणाका भी सहज विकास करते हैं।

कालिदासने प्रेमके साथ तपस्याका, सुकुमारताके साथ सुशीलताका, मानसिक मृदुताके साथ चारित्रिक दृढ़ताका, अपार वैभवके साथ विपुल वैराग्यका अर्थात् सौन्दर्यके साथ धर्मका मणिकांचन योग किया है। यह सहजात मानस-भावोंका उदात्तीकरण है जो सौन्दर्यके विलासको सौन्दर्यके अध्यात्ममें प्रतिष्ठित करता है। यहाँ रूपासक्ति भस्म होती है (कामना विरेचन), तथा तपस्या-शोधित कान्तिमय प्रेम उदित होता है (सौन्दर्यका उदात्तीकरण)। इस तरह तपस्याकी अग्निसे शोधित सौन्दर्यका आकर्षण उदात्त हो जाता है। यही श्रेष्ठ सौन्दर्य अर्थात् उदात्त सौन्दर्य है। इसमें स्पष्ट है तो द्वन्द्वोंका सामंजस्य। 'कुमारसम्भव' में काम (असंयत काम-चेतना) पर स्थिर संयमी शिवके प्रशान्त रूपकी विजय हुई है तथा 'शकुन्तला' में उन्मद आक्रमणपर मंगलमय वात्सल्यकी विजय होती है। 'कुमारसम्भव' में त्यागके साथ ऐश्वर्यका और तपस्याके साथ प्रेमका मिलन हुआ है। इस तरह त्याग और भोगके सामंजस्यसे ही जीवनकी चरितार्थता एवं प्रेम सौन्दर्यकी पूर्णता दिखाई गयी है। त्याग और भोग शिव और कामके द्वैत तथा द्वन्द्व तथा सामंजस्यके अतिरिक्त लेखकने मिलन और विरहके द्वैत-द्वन्द्व-सामंजस्यका भी समावेश किया है। 'मेघदूत' के दृष्टान्तसे वे कहते हैं कि मिलन स्थिति बिन्दु है, विरह गति वेग है। दोनोंके आकर्षणसे 'रूप' की प्रतीति होती रहती है, विचार मूर्त्त आकार ग्रहण करते हैं, भावना सौन्दर्य बनती है।[1] यहाँके शिवके द्विधा विभक्त होने तथा शिव शक्तिकी साम्यावस्थाको अपनी लालित्य मीमांसा एवं कालिदासकी लालित्य योजना, दोनोंपर लागू करते हैं। अतः, हजारीप्रसाद द्विवेदीकी कालिदासीय उदात्त सौन्दर्यकी अवधारणाका स्वरूप यह है।

कालिदासने नारी-सौन्दर्यकी महिमा मण्डित किया है। लेखकने इसके माध्यमसे सौन्दर्य-तत्त्वोंका उल्लेख किया है। नारीके सात अयत्नज रसाश्रय अलंकारोंमें से 'शोभा' भी एक है। शोभाका अनुप्राणक धर्म 'यौवन' है। यौवनावस्थामें अंगोंमें सौष्ठव, विपुलीभाव, विभेद या उभार आता है। इस विभेद या उभारको कालिदासने जमकर अलंकार रूपित करके सौन्दर्यान्वित किया है। कालिदासने कहा था कि प्रेमका देवता बहुत प्रकारसे नवयौवनशाली शरीरमें निवास करके इस विभेद या उभारको आकर्षक बनाता है। लेखक इस भेदकी भी तात्त्विक मीमांसा करते हैं। उनके अनुसार समष्टिमें जो शिव और शक्ति है वही व्यष्टि

---

१ 'कालिदासकी लालित्य योजना', पृ० १३।

में पुरुष और स्त्री है। क्योंकि यह प्रेम यौवन कालमें अपनी चरमविकासावस्था को प्राप्त होता है। इस तरह युवावस्थामें ही सौंदर्यका 'सहज' एवं मनोहर' रूप उभरता है। इसीलिए भारतीय काव्यशास्त्रमें उत्तम रस शृंगार है, और सौंदर्यस्थापनमें सहजरूप यौवनावस्थावाला है। किंतु इसकी महिमा मंगल सापेक्ष्य होनेमें ही है। मंगलनिरपेक्ष यौवनरूपका रूप मोहमय है। कालिदासने शकुंतला तथा पार्वतीको कठिन तपस्यामें तपाकर ही विशुद्ध प्रेमकी व्यंजना की है। तपस्याके बाद काम अतनु और (मोहमय होनेकी अपेक्षा) 'भावैकरस' होता है। अतः कालिदास सौभाग्य धर्मसे चालित मंगलमापेक्ष सौंदर्यको श्रेष्ठ मानते हैं। ऐसी भावैकरस दशा प्राप्त करनेवाला सौंदर्य ही उदात्त है।

साराशमें, नारी-सौंदर्य वर्णनके अन्तर्गत शोभाके सौभाग्य नामक गुण तक एकतान हो गये हैं। अतः यह सहज सौंदर्य है। इस सहज सौन्दर्यका प्रेम, रूप तथा यौवनका त्रिकोण 'श्रेष्ठ सौंदर्य' में रूपायित कर देता है। प्रेम तपस्यामें तपकर निर्मल होता है, रूप सौभाग्यमण्डित होता है, तथा यौवन विभक्तिपूर्ण होकर विलास होता है। तब ही 'उदात्त सौन्दर्य' की सिद्धि होती है। कालिदास ने इस कल्पको लेखकने अपनी लालित्य सृष्टिसे सयोजित किया है।

श्रेष्ठोदात्त सौंदर्यके लिए 'अलंकरण' और 'मांगल्य'का अर्पित माननेवाले कालिदासीय बोधके अनुगामी हजारीप्रसाद द्विवेदी भी हैं। कालिदासकी अलंकार योजनाके विषयमें वे कहते हैं कि "अलंकारोंकी योजनाके विषयमें कालिदास रंगोंके सामंजस्यका बड़ा ध्यान रखते हैं। रूप और वर्ण समवायके समंजस विधानसे ही निखरता है। लेकिन अलंकार-योजनाका उद्देश्य आभिजात्य विलसिता और परिपाटी विहित साज-सज्जाकी अधिक आवश्यक करना भी है।"[1] कालिदासके अनुसार श्रेष्ठ सौंदर्यके लिए श्रेष्ठ अलंकरण प्रयोगोंकी पहचान तो उनकी नायिकाओंके वेश, वस्त्रादि सज्जादिके द्वारा ही हो सकता है। पार्वती सुदक्षिणा सीता और शकुंतला तपोवनमें खिली हैं। अतः कविने उन्हें पुष्प पल्लवों किसलयों दूर्वांकुरों आदिसे ही सजाया है। मालविका, रति उर्वशी, यक्षप्रिया को उन्होंने मणि रत्नोंसे भी सजाया है। किन्तु दोनों कोटिकी नारियोंमें प्रेम शील सेवा संयम, तप आदिकी ही प्रधानता है। कालिदास विवाहके मांगल्य आभरणोंसे वधूको सजाते हैं तथा इन प्रेम-व्यापारको विवाहकी ओर ले जाते हैं और वधूके मानवपर ही उसका अवसान करते हैं। इस भाँति उनका सौन्दर्य मंगल आभरणोंमें ही अधिक निखरता है।[2] मांगल्यके विषयमें लालित्य

1. 'कालिदासकी लालित्य योजना', पृ० १४८।
2. 'कालिदासकी लालित्य योजना', पृ० १४४-१४७।

मत है कि यह प्रयोजनातीत होता है। यह एक प्रकारका अभिप्राय (motif) है। मांगल्यके प्रयोजनातीत होनेका तात्पर्य है कि यह शरीर और मनके स्थूल प्रयोजनोंको सिद्ध न करके विशुद्ध आनन्दजनक है। यह मंगल इसलिए होता है कि यह 'सृष्टिव्यापी' विराट्मूर्ति छन्दोधाराके अनुकूल है अर्थात् जिस मूलोच्छ्वास सृष्टिकी यह अभिव्यक्ति हुई है उसके अनुकूल होनेवाली वस्तुएँ ही मंगलमय हैं।[1] यहाँ भी लेखक पुनः-पुनः ललित इच्छा-शक्तिवाली अपनी मूल धारणाके वृत्तमें वापस लौट आते हैं। सारांशमें सौन्दर्य मंगलमय, तथा कुरूपता अमंगल है। सौन्दर्यमें सौभाग्य एवं आनन्दकी सिद्धि है।

मांगल्यके साथ अलंकरण गुँथे हैं। अलंकरण शोभाको निखारनेवाले हैं। रत्न, हेम, वस्त्र माल्य, मण्डन, द्रव्यप्रयोजन आदि अलंकारोंका प्रचुर विवरण देते हैं। 'कालिदासकी लालित्य योजना'में 'संस्कृतिमुखी प्रकृति दीपक अध्यापक अनगन लेखकने कालिदासकी अलंकरण-योजनाकी गहराई, व्यापकता और बारीकीके साथ सोदाहरण सौन्दर्यतात्त्विक विवरण प्रस्तुत किया है जिससे प्रतीत होता है कि कालिदासको प्रिय धातु हेम या सोना है, वे केशरचनामें पुष्प-पल्लवोंको अधिक महत्त्व देते हैं, गहनोंमें उन्हें मंजीर या नूपुर प्रिय हैं हाथके आभूषणोंमें वलय (कंकण) उन्हें अधिक प्रिय है, हार उनका सर्वप्रिय अलंकार है मृणालसूत्रोंकी माला तो उन्हें मोह लेती है स्नान करनेके बाद मण्डन द्रव्योंकी चर्चा वे नहीं भूलते, सीमन्त रचनामें कुंकुम-स्वच्छ सिन्दूर धारण करनेके सौभाग्यका उल्लेख वे करते हैं, वे दहकते हुए अंगारके समान कार्त्तिक पुष्पोंको वनवाभरणका प्रतिनिधि मानते हैं, इत्यादि इत्यादि।[2] इसी-तरह कालिदास यौवनके मद या उभारको भी जमकर अलंकार लक्षित करते हैं।

फिर भी, कालिदास रसाश्रय अलंकारोंको ही महिमा प्रदान करते हैं। इनमें तीन शारीरिक, सात अयत्नज तथा दस स्वाभाविक अलंकार हैं। ये बीसों अलंकार मिलकर अनायास ही वर्ण, प्रभा, राग, आभिजात्य, विलासिता, लावण्य लक्षण, छाया और सौभाग्यको निखार देते हैं। इस तरह ये सहज गुणोंसे बँधकर सहज रूपका ही अभिषेक करते हैं। इस सहज रूपका ही गुण 'माधुर्य' है। माधुर्य समस्त अवस्थाओंमें चेष्टाओंकी रमणीयतामें आविर्भूत होता है। अतएव सहज सौन्दर्यके लिए आकर्षणके बजाय 'माधुर्य'को प्रधानता दी गयी है। यह लेखकका अनुपम तत्त्वान्वेषण है।

१ 'कालिदासकी लालित्य योजना', पृ० १५३।
२ 'कालिदासकी लालित्य योजना', पृ० ११०-१४८।

मनुष्यका यह सहज रूप समवायके सामंजस्य विधानसे ही निखरता है। इस सहज रूपके माधुर्य-मण्डनमें प्रकृतिकी महत्तम भूमिका होती है। लेखकने यह सिद्ध किया है कि कालिदासने मनुष्यकी परिपूर्णता प्रकृतिके साहचर्यमें देखी है। उदाहरणार्थ ऋतुसंहारमें प्रकृति मनुष्यकी आशा आकांक्षाके साथ निरन्तर ताल मिलाकर चलनेवाली अविच्छेद्य संगिनी है। इस तरह यह ललिता शिवकी लीला-सखी है तो प्रकृति पुरुषकी। लेखक पुनः शैव मिथुनदर्शनसे ही अपनी यह प्रतिपत्ति भी प्राप्त करता है।

निष्कर्ष यह है कि कालिदास सम्मत सौन्दर्यके साथ मांगल्य, अलंकरण, रसाश्रय अलंकार प्रकृति और धर्मका समंजस प्रदर्शित कराकर हजारीप्रसाद द्विवेदीने श्रेष्ठ सौन्दर्य, उदात्त सौन्दर्य, सहज सौन्दर्य आदिकी सौन्दर्यबोधात्मक ललित धारणाओंकी रचना की है। इनका पर्यवसान उदात्तमें ही होता है।

अब हम 'रूप'विषयक चर्चा करेंगे। सहज रूपकी धारणामें यौवनके आगमनपर अंगोंके सौष्ठव, विकास और विभक्तिमें जो शरीर रचना होती है वह अलंकारों एवं महागुणोंके समावेशसे रूप' (form) का पूर्ण एवं सजग बना देती है। इस रूपमें आकर्षण एवं माधुर्य होता है जो सौन्दर्यके भी धर्म है। रूपके साथ ही 'कला'का अनुप्रवेश होता है।

रूपसृष्टिके तात्त्विक सिद्धान्तका रचते हुए लेखक कहते हैं कि गति और स्थितिके द्वन्द्वसे ही रूप बनता है। इसके पूर्व वे इच्छा शक्तिको छन्दमात्र और गति तथा क्रिया शक्तिको सृष्टि और स्थिति मान चुके हैं। उनके अनुसार गति चित्तत्त्व एवं स्थिति अचित्तत्त्व (मैटर) है। इस तरह रूपका बाह्य भूत और सृष्टि है तथा आभ्यन्तर छन्द और विभक्ति है। अतः यौवनमें नारी आकृतिका रूप परिपूर्ण है वसन्तमें प्रकृतिका। लेखक वात्स्यायनके टीकाकारका मत बताते हुए कहते हैं कि वे इस शास्त्राभिप्रायसे सभीमें रूपको प्रथम तथा सौभाग्यको अन्तिम मानते हैं। इस महान गुणोंवाला रूप ही सहज रूप होता है। सहज रूप ही नारी आकृतिको रमणीयता प्रदान करता है। और रमणीयता ही माधुर्य है। इसके भी रूपके दो प्रकार स्वीकार करता है जिनमें प्रथम रूप बाह्याकर्षण है तथा दूसरा सौभाग्य आन्तरिक। इस तरह रूपके अन्तर्बाह्य आकर्षण होते हैं। विशेष रूपमें बाह्याकर्षणवाले रूपका फल 'आन्तरिक वशीकरण' या माधुर्य है। कामशास्त्रके अनुसार प्रियके प्रति सामान्य उद्रिक्त करना ही रूपका वास्तविक फल है। इसी भूमिकापर जब सौभाग्य और आन्तरिक वशीकरण मिल जाते हैं

तब 'रूप सौंदर्य' की लालित्यपूर्ण अनुभूति होती है। अतः सौन्दर्यमें प्रेम और तपस्याका सामंजस्य भी सम्भव हो जाता है। इसीलिए कालिदासके रूप-सौंदर्य वर्णनका लक्ष्य 'तपस्यासे तपकर विशुद्ध प्रेम-द्वारा अर्जित सौभाग्य धर्म' है। इस बिन्दुपर रूप और सौभाग्य रूप सौन्दर्य और आन्तरिक वशीकरणका तादात्म्य हो जाता है। ऐसे रूप-सौंदर्यमें सत्त्वोद्रेककी शक्ति होती है।

हजारीप्रसाद द्विवेदीने रूप-सृष्टिमें प्रकृतिके सौंदर्य निर्माण तथा मनुष्यकी लालित्य-सृष्टिके विरोधको दिखानेके लिए सौंदर्यबोध शास्त्री एरिक न्यूटनका साक्ष्य लिया है। 'कलाकारकी वृत्ति होती है कि 'एकमात्र यही आकार (दूसरा नहीं) मेरी इच्छाको सन्तुष्ट कर सकता है' और प्रकृतिकी वृत्ति यह होती है कि 'एकमात्र यही आकार (दूसरा नहीं) ठीक-ठीक उपयोगी हो सकता है (दी मीनिंग आव ब्यूटी पृ० ८६)। कालिदाससे पूछा जाता तो वे कदाचित कलाकारकी वृत्तिको इस प्रकार बताते कि 'एकमात्र यही आकार विश्वात्माकी मूल सृजनेच्छा (जिसे आजकल प्रकृति कहा जाता है) के अनुकूल है दूसरा नहीं।' जो व्यक्ति ऐसा मानता है उसके लिए सौंदर्यशास्त्रमें नित्य आलोचित होती रहनेवाली अनेक समस्याओंका समाधान अनायास हो जाता है।[1] स्पष्ट है कि 'ऐसा माननेवाले' स्वयं हजारीप्रसाद द्विवेदी हैं। अतः यहाँसे वे कालिदासकी भावनाका स्पष्ट वर्णनमें अपनी भावना ही अभिव्यक्त करते हैं।

लेखक अपने आध्यात्मिक मानवतावादी ढंगसे रूप-सृष्टिको विश्वात्माकी मूल सृजनेच्छा मानते हैं जो आनन्दमय है। लेकिन रूप सृष्टिके मूलमें आनन्दकी इस भावनाके प्रमाणके लिए वे फ्रेजरका साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। फ्रेजरने आदिम जातियोंकी कलाका अध्ययन कर यह सिद्ध किया है कि आदि मानवकी कल्पना और रूप-सृष्टिके मूलमें भयकी भावना नहीं थी, बल्कि वह (आदिम मानवकी रूप सृष्टि) मांगल्यमूलक थी। लेखकने एल० रनेका भी प्रमाण लिया है जिन्होंने सन् १९०३ में लगभग बारह सौ प्रागैतिहासिक चित्रोंको प्रकाशित करके यह सिद्ध किया कि आदि मानवकी तान्त्रिक सृष्टि या मांत्रिक क्रियाके आधारभूत मानसिक हेतु भय और जुगुप्सा कातरता नहीं, उल्लास और आनन्द थे। इस तरह लेखककी आध्यात्मिक मान्यताको नृतत्त्वशास्त्रीय समर्थन मिल जाता है 'मनुष्यकी प्रथम सृष्टि आनन्दहेतुक सिद्ध हुई। भयमूलक सृष्टि उसके बाद हुई थी (जब मनुष्यमें तर्क बुद्धिका विकास हुआ होगा)।"[2] जब कलाकार, कवि, शिल्पी आदि चित्तमें बनी मानसी-मूर्तिको भिन्न भिन्न उपादानों एवं उपकरणोंसे

१ 'कालिदासकी लालित्य योजना', पृ० ५६।
२ 'साहित्य सहचर', पृ० ६-७।

मनुष्यका यह सहज रूप समवायके सामंजस्य विधानसे ही निखरता है। इस सहज रूपके माधुर्य मण्डनमें प्रकृतिकी महत्तम भूमिका होती है। लेखकने यह सिद्ध किया है कि कालिदासने मनुष्यकी परिपूर्णता प्रकृतिके साहचर्यमें देखी है। उदाहरणार्थ 'ऋतुसंहार' में प्रकृति मनुष्यकी आशा-आकांक्षाके साथ निरंतर ताल मिलाकर चलनेवाली अविच्छेद्य संगिनी है। इस तरह यदि ललिता शिवकी लीला-सखी है तो प्रकृति पुरुषकी। लेखक पुनः शब्द मिथुनदर्शनसे ही अपनी यह प्रतिपत्ति भी प्राप्त करता है।

निष्कर्ष यह है, कि कालिदास सम्मत सौंदर्यके साथ मांगल्य, अलंकरण, रसाश्रय अलंकार, प्रकृति और धर्मका समंजस प्रदर्शित कराकर हजारीप्रसाद द्विवेदीने श्रेष्ठ सौंदर्य, उदात्त सौंदर्य, सहज सौंदर्य आदिकी सौंदर्यबोधात्मक ललित धारणाओंकी रचना की है। इनका पर्यवसान उदात्तमें ही होता है।

अब हम 'रूप विषयक' चर्चा करेंगे। 'सहज रूप'की धारणामें यौवनके आगमनपर अंगोंके सौष्ठव विकास और विभक्तिमें जो शरीर रचना होती है वह अलंकारों एवं दशगुणोंके समावेशसे 'रूप' (form) को पूर्ण एवं सजग बना देती है। इस रूपमें आवर्जन एवं माधुर्य होता है जो सौंदर्यके भी धर्म हैं। रूपके साथ ही 'कला'का अनुभवन होता है।

रूपसृष्टिके तात्त्विक सिद्धांतको रखते हुए लेखक कहते हैं कि गति और स्थितिके द्वन्द्वसे ही रूप बनता है। इसके पूर्व वे इच्छा शक्तिको छंदमात्र और गति तथा क्रिया शक्तिको सृष्टि और स्थिति मान चुके हैं। उनके अनुसार गति चित्तत्व एवं स्थिति अचित्तत्व (मैटर) है। इस तरह रूपका बाह्य मूल और सृष्टि है, तथा आभ्यन्तर छंद और विभक्ति है। अतः यौवनमें नारी-आकृतिका रूप परिपूर्ण [illegible] वसन्तमें प्रकृतिका। लेखक रागानन्द व्यवस्थापक मत बताते हुए कहते हैं कि वे रस शास्त्रविधायक धर्मोंमें रूपको प्रथम तथा सौभाग्यको अन्तिम मानते हैं। इस सहज गुणवाला रूप ही 'सहज रूप' होता है। सहज रूप ही नारी आकृतिको रमणीयता प्रदान करता है। और, रमणीयता ही माधुर्य है। रूपसर भी रूपके दो द्वार स्वीकार करता है जिनमेंसे पहला रूप बाह्यावर्जन है तथा दूसरा सौभाग्य आन्तरिक। इस तरह रूपके अन्तर्बाह्य आवर्जन होते हैं। निरूप रूपमें बाह्यावर्जनवाले रूपका फल 'आन्तरिक वशीकरण' या माधुर्य है। कालिदासके अनुसार प्रियके प्रति सौभाग्य उद्रिक्त करना ही रूपका वास्तविक फल है। इसी भूमिकापर जब सौभाग्य और आन्तरिक वशीकरण मिल जाते हैं

तब 'रूप सौंदर्य' की लालित्यपूर्ण अनुभूति होती है। अतः सौन्दर्यमें प्रेम और तपस्याका सामंजस्य भी सम्भव हो जाता है। इसीलिए कालिदासके रूप-सौंदर्य वर्णनका लक्ष्य 'तपस्यासे तपकर विशुद्ध प्रेम-द्वारा व्यंजित सौभाग्य धर्म' है। इस बिन्दुपर रूप और सौभाग्य, रूप सौंदर्य और आन्तरिक वशीकरणका तादात्म्य हो जाता है। ऐसे रूप-सौंदर्यमें सत्त्वोद्रेककी शक्ति होती है।

हजारीप्रसाद द्विवेदीने रूप-सृष्टिमें प्रकृतिके सौंदर्य निर्माण तथा मनुष्यकी लालित्य-सृष्टिके विरोधको दिखानेके लिए सौंदर्यबोध शास्त्री एरिक न्यूटनका आश्रय लिया है। "कलाकारकी वृत्ति होती है कि 'एकमात्र यही आकार (दूसरा नहीं) मेरी इच्छाको सन्तुष्ट कर सकता है' और प्रकृतिकी वृत्ति यह होती है कि 'एकमात्र यही आकार (दूसरा नहीं) ठीक-ठीक उपयोगी हो सकता है' (दी मीनिंग आव ब्यूटी, पृ० ८६)। कालिदाससे पूछा जाता तो वे कदाचित् कलाकारकी वृत्तिको इस प्रकार बताते कि 'एकमात्र यही आकार विश्वात्माकी मूल सिसृक्षा (जिसे आजकल प्रकृति कहा जाता है) के अनुकूल है दूसरा नहीं।' जो व्यक्ति ऐसा मानता है उसके लिए सौन्दर्यशास्त्रमें नित्य आलोचित होता रहनेवाली अनेक समस्याओंका समाधान अनायास हो जाता है।[1] स्पष्ट है कि 'ऐसा माननेवाले' स्वयं हजारीप्रसाद द्विवेदी हैं। अतः महाकवि कालिदास की भावनाको स्पष्ट करनेमें अपनी भावना ही अभिव्यक्त करते हैं।

लेखक अपने आध्यात्मिक मानवतावादी ढंगसे रूप-सृष्टिको विश्वात्माकी मूल सिसृक्षा मानते हैं जो आनन्दमय है। लेकिन रूप सृष्टिके मूलमें आनन्दकी इस भावनाके प्रमाणके लिए वे फ्रेज़रका साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। फ्रेज़रने आदिम जातियोंकी कलाका अध्ययन कर यह सिद्ध किया है कि आदि मानवकी कल्पना और रूप-सृष्टिके मूलमें भयकी भावना नहीं थी, बल्कि वह (आदिम मानवकी रूप-सृष्टि) मांगल्यमूलक थी। लेखकने एम० रनेकका भी प्रमाण दिया है जिन्होंने सन् १९०३ में लगभग बारह सौ प्रागैतिहासिक चित्रोंको प्रकाशित करके यह सिद्ध किया कि आदि मानवका तांत्रिक सृष्टि या अभिव्यक्ति क्रियाके आधारभूत मानसिक हेतु भय और असुरक्षा कातरता नहीं, उल्लास और आनन्द थे। इस तरह लेखककी आध्यात्मिक मान्यताको नृतत्त्वशास्त्रीय समर्थन मिल जाता है "मनुष्यकी प्रथम सृष्टि आनन्दमूलक सिद्ध हुई। भयमूलक सृष्टि इसके बाद हुई थी (जब मनुष्यमें तर्क बुद्धिका विकास हुआ होगा)।[2] जब कलाकार कवि, शिल्पी आदि चित्तमें बनी मानस-मूर्तिको भिन्न भिन्न उपादानों तथा उपकरणोंसे

१ 'कालिदासकी लालित्य योजना', पृ० ५६।
२ 'लालित्य तत्त्व', पृ० ६-७।

अर्थात् भिन्न भिन्न माध्यमों (mediums) में नये-नये रूप देने लगे अर्थात् नया 'रचना' करने लगे, तब रचनात्मक कलाएं (creative arts) आविर्भूत हुई।

ङ

कला-सृष्टि सम्बन्धी लालित्यमूलक समस्याका हजारीप्रसाद द्विवेदीने दो प्रकारसे स्पष्ट किया है। पहलेके अन्तर्गत उन्होंने जड चैतन्यके संघर्ष एवं विधान की महाभूत समाधिकी तथा रचनाके मिथकीय रूपकोंका इस्तेमाल किया है, तथा दूसरेके अन्तर्गत माध्यमकी इच्छा एवं कलाकारकी इच्छाके बीचके निरंतर द्वन्द्वका उद्घाटन किया है।

प्राक् ग्रीसके नृत्यकला सम्बन्धी विवेचनसे प्रभावित होते हुए लेखकने स्थापना की है कि वस्तुतः हर कला प्रयासमें कलाकार जड सामग्रीके सहज धर्म पर अपने चैतन्यकी विजय पानेकी कोशिश करता है। मनुष्यके कला प्रयत्नोंका अर्थ ही है जन्तासे संघर्ष। जडके गुरुत्वाकर्षणसे मुक्त होनेका अनुभव ही कलानुभव है। कलारचनामें ये सिद्धान्त भी वे अपनी इच्छाशक्ति (गति) और क्रिया शक्ति (स्थिति) के काल (इच्छा) और देश (क्रिया) के द्वन्द्व के अनुकूल ढाल लेते हैं। उनकी यही क्षमता तो उनके स्वकीय (original) लालित्य सिद्धान्तकी विवृत्ति करती है।

विधाताकी महाभूत समाधि तथा कलाकारकी सत्त्वस्थचित्तवाली पूर्ण समाधिके रूपक-माध्यमसे भी उन्होंने कला-सृष्टिके चार चरणोंका उद्घाटन किया है जो क्रमशः प्रयत्न, समाधि, चित्तकी सत्त्वस्थ दशा और सुन्दर सृष्टि हैं। हम इस मानदण्डके प्रसंगमें इसका विस्तृत निरूपण कर चुके हैं।

कला-सृष्टिके उपर्युक्त दोनों प्रकार प्रतिकल्पनात्मक हैं। अतः लेखक माध्यमकी व्यावहारिक चुनौतीमें उलझते हैं जहाँ जहाँ कौशल और अभ्यासकी अनिवार्य भूमिका होती है।

पहले तो वे यह स्पष्ट करते हैं कि कवि या शिल्पी वास्तव जगतकी वस्तुओं को देखकर पहले अपने चित्तमें एक मानसी मूर्ति बनाता है और फिर उसे एक नया रूप देता है। मानसी मूर्ति ही भाव है और रचना प्रक्रियामें वह वस्तुओं भाव में रूपान्तरित होता है क्योंकि मानसीमूर्तिपर अतीतपूर्वा स्मृतिकी भी छाया आच्छादित होता है। भावरूप होनेके कारण मानसी मूर्ति कवि या शिल्पीकी इच्छाशक्तिका विलास है। मानसी मूर्तिकी बाह्य एवं माध्यम सम्भूत रूप रचना कवि या शिल्पीकी क्रियाशक्तिका विलास होता है। हमारा सम्बन्ध रूप रचनाएं क्रिया शक्तिके विलाससे है। यहीं माध्यम केन्द्रस्थ होता है।

माध्यमके स्वभाव एवं धर्मके विषयमें स्पष्ट ऐरिक न्यूटनसे ही प्रभावित हैं। जिनके अनुसार कलाकारकी अपनी इच्छा तथा माध्यम या उपादानकी प्रकृतिके बीच [चैतन्य-जड़ता परक] द्वन्द्व चलता है। जिस या जिन उपादानोंके सहारे कलाकृतिका निर्माण होता है वे भी अपना व्यक्तित्व रखते हैं। उनका निर्देश मानना पड़ता है। उनकी प्रकृतिके विरुद्ध यदि बलात् उनका उपयोग किया जाय तो कलाकृतिकी चारुताको नष्ट कर देते हैं। उपादान सहानुभूति चाहता है, सत्कार चाहता है, मनुहार चाहता है।"[1] अतः कलाकार माध्यमके स्वाभाविक आचरणकी उपेक्षा नहीं कर सकता। कुशल शिल्पी माध्यमके स्वाभाविक आचरणको अनुकूल बनाकर उसका ठीक-ठीक उपयोग करता है। हम जानते हैं कि क्लासिकल सौन्दर्यतात्त्विक दृष्टिमें माध्यमकी इच्छाका अधिनायकत्व होता है तथा रोमाण्टिक सौन्दर्यतात्त्विक दृष्टिमें कलाकारकी इच्छा प्रमुख। द्विवेदीजी इन दोनोंका ठीक-ठीक सन्तुलन प्रतिपादित करते हैं।

कलाकार किस प्रकार अपनी इच्छाके साथ माध्यमकी मरजीको एकमेक करता है, इसकी विधियाँ क्या हैं, इनके स्पष्टीकरणके लिए हजारीप्रसाद द्विवेदीने कालिदासको दृष्टान्त बनाया है। उन्होंने कालिदासकी कृतियोंमें व्यवहृत कुछ शब्दोंको चुनकर कला-सृष्टिके रहस्योंको उद्घाटित किया है। यथा प्रत्यक्ष-विनिवेश या 'पदानुप्रवेश', 'भावानुप्रवेश', 'अन्यथाकरण', 'अन्वयन' आदि ऐसे ही शब्द हैं जो दो इच्छाओंको एकमेक करनेकी विधियों और प्रक्रियाओंमेंसे कुछका हस्तगत दिग्दर्शन कराते हैं। लेखकने अनूठी अन्तर्दृष्टि एवं प्रकाण्ड पाण्डित्यके साथ रूपाश्रित शब्दोंको पारिभाषिक बना लिया है। उन्होंने उक्त शब्द काव्य-क्षेत्रसे न चुनकर बहुधा चित्रकलाके क्षेत्रसे चुने हैं। यह एक अतिरिक्त लालित्य धर्मी विशिष्टता है। किन्तु केवल कालिदासकी कृतियोंके माध्यमसे ही पल्लवित होनेके कारण यहाँ उनकी सर्वांगीण लालित्य-तत्त्व मीमांसा नितान्त सीमित भी हो गयी है।

लेखकने माध्यमके उपादानकी क्षमताके अनुसार ही 'कारीगर' की धारणाको प्रस्तुत किया है। कई शिल्पी उपादानकी प्रकृतिके अच्छे ज्ञाता होनेके बावजूद अपनी कमजोर इच्छाशक्तिके कारण, उपादानका निर्देश नहीं कर पाते। अतः वे कारीगरकी सीमासे ऊपर नहीं उठ पाते। श्रेष्ठ कलाकार अपनी सर्वोत्तम सृजनक्षमताके साथ माध्यमका ऐसा प्रयत्नसाध्य निर्देश करते हैं कि कलाकृति श्रेष्ठ

---

[1] कालिदासकी लालित्य योजना, पृ० ७४, और ऐरिक न्यूटन कृत 'दी मीनिंग ऑव ब्यूटी' पृ० ८६-९०।

बन जाती है। ऐसी कलाकृतिमें कलाकारकी इच्छा शक्ति रचनारूपमें सहज एवं यत्नसाध्य प्रचेष्टाओंकी 'द्विसंश्रया प्रीति' अर्थात् उभयनिष्ठ प्रीति प्राप्त करती है (उमामुखं तु प्रतिविश्य लोला द्विसंश्रयां प्रीतिमवाप लक्ष्मीः)। ऐसी द्विसंश्रया प्रीतिका भाजन बननेवाली रचनाके कलाकारको सामग्री संग्रह करनी पड़ती है, उनकी प्रकृतिका अध्ययन करना पड़ता है, कहाँ किसे रखना ठीक होगा इसका विचार करना पड़ता है, अभ्यास निपुण चिन्तन प्रयत्न करना पड़ता है और तब जाकर वह श्रेष्ठ कृति बन पड़ती है।[1] यह सारे कल्पनम 'यथाप्रदेशविनिवेश' कहे गये हैं (सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन यथाप्रदेशं विनिवेशितेन। सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयत्नादेकस्थसौन्दर्यदिदृक्षयेव॥ कु० १/४९)।

माध्यमोपयोगकी एक दूसरी प्रक्रिया अन्यथाकरण (distortion) है। वस्तुतः यह उपादानके उपयोगमें कलाकारकी वह स्वकीयता (ओरिजिनल्टिी) है जिसके द्वारा वह बाह्यजगत्‌की वस्तुओंकी मानसी मूर्ति इस प्रकार बनाता है जिस प्रकार वह उनका अनुभव करता है, जिस प्रकार वे उसकी इच्छा शक्ति और स्वकीयताके अनुकूल होनी चाहिए जिस प्रकार वे लौकिकसे अनुपम एवं अपूर्व एवं अलौकिक हो जायें। अतः वह बाह्यजगतका ज्योंका-त्यों नहीं ले लेता बल्कि तथ्यात्मक बाह्यसत्ताको कल्पना द्वारा अन्यथा बनाता है। अन्यथाकरण अर्थात् जो जैसा है उसे वैसा ही न रहने देना (अन्यथाकरणकी यह धारणा सम्भवतः गाम्ब्रिच का 'आर्ट ऐण्ड इल्यूजन' नामक पुस्तकसे भी प्रभावित हुई है)।

अन्यथाकरणके द्वारा बाह्य जगत ज्योंका-त्यों नहीं आता बल्कि उत्तम कालिदास चित्रकार उसमें कुछ और जोड़ देता है—विचिन्त अन्वितम्। यद्यत्साधु न चित्रे स्यात् क्रियते तत्तदन्यथा। तथापि तस्या लावण्यं रेखया किंचिदन्वितम्॥ (शकु०)। अतः अन्वयनका तात्पर्य है वास्तविकतासे अधिक भाव परम्पराका उत्पादन। अन्वयन कलाकारकी रचनात्मक शक्तिका वैशिष्ट्य है जहाँ वह हू-ब-हू की अपेक्षा कुछ अधिक देता है। जिस तरह वीणाके तारको हल्का-सा आघात कर देनेपर देर तक अनुरणन होता है जिस तरह शब्दकी व्यंजना शक्तिका प्रसार भी 'अनुरणन'-द्वारा होता है, उसी तरह चित्र या मूर्तिकी भाव-परम्पराको दाव भाव तक उत्पन्न करनेकी क्षमता अन्वयन है।

सारांशमें अन्यथाकरण एवं अन्वयन रचना-कौशल है जो बाह्य जगतके समाज स्वीकृत रूपोंकी मानसी मूर्तिको अनुकूल बनाकर उन्हें अपूर्व, अनुपम,

---

१ कालिदासकी लालित्य योजना पृ० ७७-७८।

अलौकिक, ललित और उदात्त भी बना देते हैं। दोनोंमें ही माध्यमके उपयोगका कौशल सन्निहित है। इनका सम्बन्ध मूलतः चित्र और शिल्पसे, तथा सापेक्षतया काव्यसे है।

कालिदासके चित्रकला-सन्दर्भोंमें डॉ॰ हजारीप्रसाद द्विवेदीने दो अन्य शब्द पारिभाषिक बनाये हैं—'भावानुप्रवेश' एवं 'यथालिखितानुभाव'। मानसी-मूर्तिके पर्युत्सुकीभावके द्वारा सचालित कलाकारकी तन्मयीभवन-योग्यताके प्रभावका यह संकेत अत्यन्त महत्त्वका है। इसका सम्बन्ध कलाकार और पात्र या चित्रितव्यके बीचके मनःस्पन्द्य व्यापारसे है। पात्र या चित्रितव्यके भावोंको देख और रंगोंमें फिरसे प्रवेश कराना चित्रकारका आत्मदानपरक भावानुप्रवेश है। नर्तकके प्रसंगमें लेखक कहते हैं कि 'नृत्यमें जिस भावको प्रदर्शित करना है उसी भावमें नर्तकका विलीन होना 'भावानुप्रवेश' है। वहाँ नर्तक नर्तितव्य विषयके साथ एकमेक हो जाता है।' इसके अभावमें अभिनय असफल हो जाता है। इसे स्पष्ट करनेके लिए लेखकने विक्रमोर्वशीय नाटकके तीसरे अंकमें उर्वशीके अभिनयमें प्रमादकी चर्चा की है। इस तरह 'भावानुप्रवेश', वक्तव्य विषयके साथ कलाकारका 'तन्मय' होना है। सारांशमें कलाकारके मानसिक माध्यममें 'भावानुप्रवेश' तथा कृतिके भौतिक माध्यममें 'यथाप्रदेशविनिवेश' ही मिलकर कलाकृतिमें द्विसंप्रयोगोत्तिकी भाविता भरते हैं।

भावानुप्रवेशकी सफलताके बाद कलाकृतिकी पूर्णता सिद्धप्राय है। इसके उपरान्त आशंसा (एप्रिसियेशन) का क्षेत्र शुरू होता है। यह सहृदय हृदयलोक है। कला रचनाके उपरान्त कलाकार भी एक सहृदय-आशंसक हो सकता है। शकुन्तलाका चित्र बनाते समय दुष्यन्त शकुन्तलाके भावोंमें भावानुप्रवेश कर गया, किन्तु इसके बाद वह तुरन्त 'यथालिखितानुभाविता' की अवस्थामें पहुँच गया अर्थात् जैसा लिखा उसे सत्य समझकर अनुभव करनेके कारण उसमें चित्तगत विकार और उससे उत्पन्न स्वेद रोमांचादि अनुभाव उत्पन्न होने लगे। स्वयं निर्मित चित्रमें उत्पन्न अनुभाव अन्यनिर्मित चित्रमें भी उत्पन्न हो सकते हैं। अतः चित्र या कलाकृतिकी सफलताकी दो कसौटियाँ ठहरती हैं—कलाकारकी ओर-से भावानुप्रवेश तथा सहृदयकी ओरसे यथालिखितानुभाव या मात्र लिखितानुभाव। सहृदय पक्षकी दूसरी अवस्था 'करणनिगम' की है। इसका निरूपण हम गत खण्डमें कर चुके हैं। इस भाँति सर्जना एवं आशंसाका एकतान व्यापार परिपूर्ण हो जाता है।

अब हम मिश्रक तत्त्वका निरूपण करेंगे।

यदि गौरसे देखा जाये तो हजारीप्रसाद द्विवेदीकी लालित्य मीमांसाके मूल आधार मिथकें (Myths), मिथकालेखन (Mythography) तथा मिथकालोचन (mythic vision) हैं। चिन्मय शिवकी सिसृक्षा, शिवका शिव शक्तिमें द्विधा विभक्त होकर चिरंतन आकर्षणसे व्याकुल रहना, शिवकी लीला-सखी ललिता, ब्रह्मके अंग रूप जीवात्मामें इच्छा शक्ति एवं क्रिया शक्तिका द्वन्द्व, विश्वव्यापक छंदोधारा चैतन्य (शिव) और जड़ता (माया) का संघर्ष आदि लेखककी सृजनात्मक लालित्यधारणाके नाभिबिन्दु (फोकस) हैं जिनसे ही कालिदासके लालित्य तत्त्वोंके अन्वेषणकी किरणोंका, तथा स्वयं उनकी स्थापनाओं की रचनाओंका विकिरण हुआ है। उनकी लालित्य-मीमांसाका तत्त्व और दर्शन इन्हीं मिथकोंकी रहस्यात्मवादी वस्तुक धारणाओंसे आच्छादित है।

किन्तु शैवदृष्टिके साथ-साथ उन्होंने अर्नस्ट कैसारर, सुसान लैंगर, मैक्समूलर आदिकी दृष्टियोंका भी भारतीयकरण करके मिथक और भाषा, भाषा और वाक् आदिके सौन्दर्यतत्त्वोंका अन्वेषण किया है।

मिथक मानवताके पूर्वेतिहास (प्रि हिस्टरी) हैं, मानवजातिके सामूहिक अनुभव हैं पूर्वतार्किक (प्रि लॉजिकल) हैं, अवचेतन अनुभूतियाँ हैं, और देशकालबहिर्भूत मिथकीय चेतनाकी वाहक हैं। कसीररकी तरह द्विवेदीजीका भी यही मत है कि वाक् (Speech) या भाषा और मिथक-तत्त्व परस्पर पूरक हैं। वाक्के साथ-साथ जब मिथक तत्त्वका आविर्भाव हुआ होगा तो अदृश्य शक्तियोंकी रूप कल्पना की गयी होगी जिनको केन्द्र करके उल्लास व्यंजक नृत्य चले होंगे। ऐसे आदिमानवकी आरम्भिक मूर्त मानसी कल्पनाको शिव एवं शक्तिकी इच्छा-शक्ति, तथा परवर्ती मिथक एवं वाङ्मय उसे सम्मूर्तित करनेके प्रयत्नोंको क्रिया शक्तिसे जोड़ते हैं। इस भाँति वे मिथकसे सीधे धर्मका एकतान कर देते हैं और अपने लालित्य तत्त्वदर्शनकी नींव डालते हैं। इसी क्रममें वे शिवकी मिथकीय विश्वव्यापिनी सृजनात्मक शक्ति अर्थात् लीला-सखी 'ललिता' की धारणाकी व्याख्या करते हैं। अतः ललिताकी क्रीड़ा रूपक रचना अर्थात् सृष्टि है पर ललिताकी व्यक्तिगत (मानवीय) रूपकी रचना कृति' है। ललिताके सखा चिन्मय शिव हैं, तो कलाका सर्जक समाधिस्थ कलाकार। सृष्टि भी आनन्दमय है तथा मानवीय सृष्टि अर्थात् कला भी। इसके बाद वे शोभन अर्थात् सौन्दर्यके स्वभावके विषयमें भी वे इसी मिथक तत्त्वका विस्तार करते हैं। किन्तु अब कालिदासकी जीवन-दृष्टिके सम्बन्धमें। उनके अनुसार ('कुमार

सम्भव' में) "कविने यह घोषणा की है कि देवाधिदेव शिवने ही पुरुष और स्त्रीके रूपमें अपने-आपको द्विधाविभक्त किया है। इस पुरुष तत्त्व और स्त्री तत्त्वमें जो पारस्परिक आकर्षण है वह भगवान् शिवकी आदि सिसृक्षाका ही विलास है। एक-दूसरेकी ओर आकृष्ट होकर वे उस प्रथम शिवत्वकी अवस्थाको ही प्राप्त करना चाहते हैं। विशुद्ध प्रेममें जो अद्वैत भावना आती है वह शिवत्वकी ही अनुभूतिका एक रूप है। इसी महान् उद्देश्यको दृष्टिमें रखकर महाकविने शिव और पार्वतीको सनातन पुरुषत्व और स्त्रीत्वका प्रतीक बनाया है।[1]"

निष्कर्ष रूपमें कहा जा सकता है कि शिवविषयक और शैवदर्शनके कालिदासीय परिष्कारके द्वारा हजारीप्रसाद द्विवेदीने लालित्य (=मानवकृत सौन्दर्य-तत्त्व) को आनन्द तथा मंगल (शिवत्व) और प्रेमाकर्षण (शृंगार) के चिरन्तन मण्डित किया है। अतः उनके 'लालित्य' को उस सौन्दर्यका रूप माना जा सकता है जो मनुष्यके लालित्यभावोंको अभिव्यक्त करता है।

मनुष्यकी सिसृक्षा और सृष्टिको वे विश्वात्मा शिवकी सिसृक्षाका ही व्यष्टिगत आरोप मानते हैं और उसकी सम्पुष्टीकरणके लिए पुनः नाट्यशास्त्रकी एक मिथकका सहारा लेते हैं जिसमें बताया गया है कि भोगयोनि होनेके कारण देवता नाटकका अभिनय नहीं कर सकते। अतः केवल मुनि (मनुष्य) ही अपनी इच्छाशक्तिके बलपर दूसरेका अनुकरण कर सकते हैं। अतः मनुष्यकी इच्छाशक्ति-द्वारा चालित लालित्य-रचना सब प्रकारसे अपूर्व है। मनुष्यकी कला-रचनाकी प्रक्रियाको भी वे विधाताकी महाभूत समाधि एवं कलाकारकी पूर्णसमाधिके सादृश्यपरक रूपकके द्वारा करते हैं। नाट्यशास्त्रकी उक्त मिथककथाके द्वारा वे आगे भी नृत्य एवं नाटकके ऐतिहासिक विकासकी अनूठी व्याख्या करते हैं : "नाट्यशास्त्रमें अन्यत्र बताया गया है कि देवता नृत्य कर सकते हैं। ताण्डवके मूल प्रवर्तक शिव हैं, लास्यकी प्रवर्तिका पार्वती हैं। परन्तु देवता नाटकका अभिनय नहीं कर सकते। नृत्य और नाटकका अन्तर स्पष्ट है। नृत्यमें बाह्य उपकरणोंकी आवश्यकता नहीं होती, नाटकमें होती है। नाटक अनुकरण है, पर नृत्य नहीं। इस बातको ऐतिहासिक विकास-क्रमकी दृष्टिसे देखा जाये तो इसका अर्थ यह होगा कि नाटक मनुष्यके भावाभिव्यंजक बाह्य तत्त्वके पर्याप्त आयत्तीकरणके बादकी कला है। यह उस समय विकसित हुआ होगा जब घर और पत्थरका नियन्त्रण पूर्ण हो गया होगा।

---

[1] कालिदासकी लालित्य-योजना, पृ० २४।

पर नृत्य उससे पूर्वकी कला है। कदाचित वह मानवपूर्व है। वह उस समयकी कला है जब वाक्तत्त्वका पूर्ण उन्मेष नहीं हुआ था अर्थात जब पद और पदार्थ विविक्त नहीं थे।[1] यहाँ लेखक मिथकसे इतिहासकी ओर अग्रसर होते हैं। तथा कला इतिहास सम्बन्धी अपनी दिशाका प्रथम उद्घाटन करते हैं। सिसृक्षासे सृष्टि, सृष्टिसे मिथक और मिथकसे इतिहास यही उनका त्रिवलपण रेखा है। सारांशतः, उनकी लालित्य तत्त्व सम्बन्धी प्रत्येक स्थापना किसी मिथककी व्याख्यासे निःसृत है या फिर कालिदासके किसी सौन्दर्यावचनसे। आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टियोंसे वे अपनी स्थापनाओंका अनुमोदन करते हैं।

वाक्, उच्चरित वाक् और भाषाकी तत्त्वमीमांसामें परा पश्यन्ती मध्यमा वैखरीकी धारणाओंकी अपेक्षा कैसीरर, लैंगर आदिसे ज्यादा अभिभूत हैं। वाक्चर्चामें वे शुरुआत तो अपनी मिथकाध्यात्मिक लालित्य दृष्टिसे ही करते हैं, किन्तु समापन आधुनिक ढंगसे। उन्होंने लिखा है कि "अर्न्स्ट कैसीररका कहना है कि किसी वस्तुको प्रत्येक इन्द्रियके द्वारा संश्लिष्ट रूपमें ग्रहण करना आदिम मनुष्यके लिए सम्भव है। यह संश्लिष्ट रूप किसी एक क्षणकी रचना नहीं होगी। धीरे धीरे इसके संस्कार संचित हुए होंगे और अन्तमें समस्त ऐन्द्रिय अनुभूतियोंने संश्लिष्ट रूपसे उच्चरित वाक्के रूपमें अपनेको अभिव्यक्त किया होगा। 'गति'में रूपान्तरित होनेपर उसने उल्लासके रूपमें और 'शब्द'में उल्लसित होकर संगीतात्मक नादमें अभिव्यक्ति पायी होगी। धीरे धीरे भेदका विवेक स्पष्ट होने लगा होगा और भाषाका झुकाव क्रमशः जातिसे व्यक्तिकी ओर हुआ होगा। इसका मतलब यह हुआ कि वाक्का प्रथम स्फोट या प्रारूप बहुत-कुछ भारतीय आचार्योंका बताया हुई उस पश्यन्ती वृत्तिके रूपमें जिसमें पद और पदार्थ एकमेव होकर रहे होंगे, दूसरा स्फोट मध्यमा वृत्तिके रूपमें जिसमें पद और पदार्थ अलग होकर भी भाव (Notion) के रूपमें प्रकट हुए होंगे और तीसरा बहुत-कुछ वैखरी वृत्तिके रूपमें जहाँ पद और पदार्थ एकदम अलग हो गये होते हैं, हुआ होगा।'[2] इस तरह लेखकने आधुनिक पण्डितकी बात व्याख्या एवं भारतीय तत्त्वचिन्तनके उसकी समानधर्मिताका साधारणीकरण कर लिया है। वाक् और मिथक इस

---

१ लालित्य तत्त्व पृ० १६ तथा नाट्यशास्त्रकी भारतीय परम्परा और दशरूपककी भूमिका और 'परिषद् पत्रिका'में प्रकाशित लेखका पद-पदार्थ विवेचन।

२ लालित्य तत्त्व पृ० १२।

एकमेक होनेके विषयमें वे कहते हैं कि "मिथक-कल्पनाओंको आजका मानव-विज्ञानी आत्मवंचना नहीं मानता। वह भी वाक्-तत्त्वकी भाँति मनुष्यकी सहज सर्जना शक्तिका ही निदर्शक रूप है। वाक् तत्त्वकी भाँति मिथक तत्त्व भी मनुष्यकी सर्जना शक्तिकी कहानी बताता है और उसके पूरकके रूपमें युगपत उत्पन्न होता है। भाषा वस्तुतः विचारोंके ऊपर काली छाया डालती है जो तबतक दूर नहीं होगी जबतक भाषा विचारके साथ एकमेक नहीं हो जाती। मिथक तत्त्व भी भाषाकी भाँति ही मनुष्यकी निश्चित सर्जना शक्तिका विलास है। अगर वह आत्मवंचना है तो वाक्-तत्त्व भी ऐसा ही है। अर्नस्ट कसीररकी इस उपपत्तिमें सार है।'[1] हम जानते हैं कि आज बर्ट्रेण्ड रसेल, विटगेंस्टाइन कार्नाप आदि भी भाषाके अर्थ (सेन्स), तत्त्व (फैक्ट) अनुभूति और सत्यकी समस्याओंसे इसी तरह उलझे हैं। कवि वाणीका सत्कारकर्ता होता है। कालिदास मनीषाका बहुत उत्तम गुण मानते हैं और संस्कारवती वाणीकी प्रशंसा करते हैं। एक जगह तो उसे पार्वती और गंगासे तुलनीय मानते हैं (कुमार० १-२८)।

किन्तु भाषाकी सीमा है (जिसे 'आत्मवंचना' या पण्डितराज जगन्नाथ सम्मत 'अनिर्वचनीयता' या मम्मट सम्मत 'लोकोत्तरातिरेक' या कहा गया है) "पद-परम्पर मानव चित्तके अपार औत्सुक्यको प्रकट करनेवाली स्फुरण शक्ति भाषाकी सीमासे टकराती है। अपनी अनुभूतिको जब भाषा द्वारा सीधे नहीं प्रकट कर पाती तो उपमाका सहारा लेती है। कैसा लाल? जैसी कि अमुक वस्तु होती है, वैसा। उससे भी काम नहीं चलता तो उत्प्रेक्षाका सहारा लेती है। यदि अमुक वस्तु अमुक वस्तुसे युक्त होती तो जैसा होता वैसा। पर काम क्या चलता है।"[2] फलतः शनैः शनैः 'काव्यभाषा अलंकार-विधान और वक्रोक्ति शैलीकी ओर उन्मुख होता जाता है।' भाषाकी सर्जन चित्र निर्माण-शक्ति वस्तुतः मिथक-कल्पनाओंमें बनती है। लेकिन उपमा और रूपक द्वारा चित्रोंके सहारे वह सारी बातोंको पकड़नेमें असमर्थ होते हैं। भाषाका चित्रधर्म अलंकारोंमें व्यक्त होता है—अप्रस्तुतयोजनामें। परन्तु इसमें गति ले आनेका काम संगीत करता है जो छन्द, पदगुम्फनसे यमकसे, अनुप्रासमे चित्रको गतिमय बनाता है। ये दोनों तत्त्व अर्थमें गरिमा भरते हैं गति देते हैं उपभोग्यता और अर्थमें यथार्थता लाते हैं। इनके द्वारा साधारण प्रत्यय 'पर्याय' बनता है। अर्थतत्त्व और संगीत-तत्त्वका पूर्ण सामंजस्य

---

१ साहित्य सहचर, पृ० १३

२ वही, पृ० १४।

भी 'पर्याय है।' इस कल्पनासे भावनाका घनत्व प्रदर्शित होता है।

शब्दाकारकी यह निर्मिति हजारीप्रसाद द्विवेदी इस तरह स्पष्ट करते हैं
अभिव्यक्तिमान जगतकी सचाई व्यक्तिकृष्ट नहीं बल्कि समष्टिगत सचाई
किन्तु अन्तर्जगत् भी उससे न्यून नहीं है क्योंकि अन्तर्जगतकी अनुभूतियाँ इस
भी समाजचित्तकी सचाई है। मूल समस्या अभिव्यक्ति और अपना है। भा
शब्दाभिन्न (वस्तुमान) मात्रके लिए नहीं बनती। वह समाजचित्तका अनुवादि
होता है। अन्तर्जगतकी अनुभूतियोंके लिए जो भाषा बनी है उससे व्यक्तिचि
युग-युग कभी सन्तुष्ट नहीं होता और अनिवार्य व्यक्तियोंमें अन्तर्द्वन्द्व बना रह
है। समाजचित्तका परिवर्तन करना इस क्षेत्रमें कठिन कार्य है। कलाकारका यह
करना पड़ता है। बाह्य तथ्यात्मक जगत सदा अन्तर्जगतके व्यक्तिचित्तका अंश ह
भी इतना जितना समाजचित्त देखा जाता है। भाषा व्याकरणका निर्माण मूल
प्रक्रिया वाच्य-समाजस्वीकृत रूपोंको आधार सहीं अर्थोंमें उपलब्ध कराती
है।[1] मनुष्यका अन्तर्मनका भाषाको देता है। अतः अनुभूति जैसी भाषापर
अवस्थान विश्लेषणमें वह असमर्थ है। अनिर्वचनीय का कारण यही है।

काव्यभाषाके विश्लेषणके उपरान्त हजारीप्रसाद द्विवेदी 'कलाभाषा'के
विश्लेषणकी महत्त्वपूर्ण दिशाएँ खोजते हैं। इसके हेतु वे काव्यभाषासे भाव मे
आरम्भ करते हैं। इसका तत्काल परिणाम यह होता है कि काव्यके अलावा चित्र
मूर्ति नाट्य नृत्य आदि सभीके लालित्यानुभवको रसानुभव माना पड़ता है।
लेखकका मत है कि पुरुषाकार [illegible]
धारा ही [illegible] उपलब्धिमें
होगी। धीरे-धीरे भेदका विवेक स्पष्ट होने लगा होगा और भाषाके
क्रमशः जातिसे व्यक्तिकी ओर हुआ होगा। इसका मतलब यह हुआ कि वान
का प्रथम स्फोट या प्राकट्य बहुत-कुछ भारतीय आचार्योंकी बतायी हुई उस
पश्यन्ती वृत्तिके रूपमें जिसमें पद और पदार्थ एकमेक होकर रहे होंगे, दूसरा
स्फोट मध्यमा वृत्तिके रूपमें जिसमें पद और पदार्थ अलग होकर भी भाव
इसीलिए मनुष्यकी इच्छाशक्ति [illegible] विविक्त अनुभूत तत्त्वकी उसकी वृत्ति
पदार्थ चिन्तनका पूर्ति मिथकसे और इन दोनोंकी पूर्ति लालित्य-तत्त्वका आश्रय लिया। ये
अतः सूक्ष्म जगतकी मानसीमूर्तिकी रचनाका सम्बन्ध भावजगतसे है। मानस
जगत्‌का अर्थ भावजगतका अर्थ है। किन्तु काव्यार्थ तो रसबोध तक जाकर
विश्रान्त होता है। और यह अर्थ तब अनुभूतिका विषय न होकर स्वयं अनुभूति
है। जब भाव और रूपके सम्बन्ध भाषाको सामाजिक लौट जाते हैं। इसीलिए
कलाभाषाकी अपेक्षा अनिवार्य हो जाता है क्योंकि भावरूपमें ग्रहण करना
(इच्छा) और गृहीत भावको पुनः अभिव्यक्त करना (क्रिया) अपने आपमें अत
गये हैं। मनुष्यके अन्तर्निहित धनकी सीमाहीन अभिव्यक्तिकी व्याकुलता

१ हजारीप्रसाद द्विवेदी लालित्य योजना पृ० ११५।
२ कालिदास और लालित्य विधान पृ० ८।

नाति[illegible]

एकमेक योरके विषयमें वे कहते हैं कि "मिथक-कल्पनाओंको आजका मानव-विज्ञानी आत्मवंचना नहीं मानता। वह भी वाक् तत्त्वकी भाँति मनुष्यकी सहज सर्जना शक्तिका ही निदर्शक रूप है। वाक् तत्त्वकी भाँति मिथक तत्त्व भी मनुष्यकी सर्जना शक्तिकी कहानी बताता है और उसके पूरकके रूपमें युगपत् उत्पन्न होता है। भाषा वस्तुतः विचारोंके ऊपर काली छाया डालती है जो तबतक दूर नहीं होगी जबतक भाषा विचारके साथ एकमेक नहीं हो जाती। मिथक तत्त्व भी भाषाकी भाँति ही मनुष्यकी निश्चित सर्जना शक्तिका विलास है। अगर वह आत्मवंचना है तो वाक्-तत्त्व भी ऐसा ही है। अर्नेस्ट कसीररकी रचनाओंमें सार है।" हम जानते हैं कि जार्ज बर्कले रसल, विटगेंस्टाइन कारनाप आदि भी भाषाके अर्थ (पदार्थ) तत्त्व (फ़ैक्ट), अनुभूति और सत्यकी समस्याओंसे इसी तरह उलझे हैं। कवि वाणीका सम्यक्कर्ता होता है। कालिदास मनीषाका श्रेष्ठ उत्तम गुण मानते हैं और चमत्कारवती वाणीकी प्रशंसा करते हैं। एक जगह तो उसे पार्वती और गंगाके तुल्य मानते हैं (कुमार० १-२८)।

किन्तु भाषाकी सीमा है (जिसे आत्मवंचना या पण्डितराज जगन्नाथ सम्मत 'अनिर्वचनीयता', या मम्मट सम्मत 'वाच्यातिशयातिरेक' या कहा गया है) पद पदपर मानव-चित्तके अपार औत्सुक्यको प्रकट करनेवाली इच्छा शक्ति भाषाकी सीमासे टकराती है। अपनी अनुभूतिको जब भाषा द्वारा सीधे नहीं प्रकट कर पाती तो उपमाका सहारा लेती है। कैसा लाल? जैसा कि अमुक वस्तु होती है, वैसा। उसमें भी सफल न होनेपर रूपककी शक्तिका सहारा लेती है। यदि अमुक वस्तु अमुक वस्तुभावकी भी परिकल्पना करती है। [illegible] रूपक है।"[1] रूपक

छ

मानव-तत्त्व, शक्ति-तत्त्व और मिथक-तत्त्व साथ लेकर लालित्य-तत्त्वका संयोग करानेवाले चतुरस्र साहित्य विधानका आन्तरिक परिगठन (सुपरस्ट्रक्चर) खड़ा किया है। यद्यपि लालित्य-तत्त्वके अन्तर्गत यह तत्त्व समाहित नहीं हो पाता है किन्तु हिन्दी साहित्यकी भूमिका में कलाके शास्त्रानुभव एवं शास्त्रके अन्तर्गत प्राचीन भारतके कलात्मक विनोद में कौशलोंके अन्तर्गत, 'बाणभट्टकी आत्मकथा' में उत्सवों, उत्सवोंकी आयोजना आदिके अन्तर्गत, 'चारुचन्द्रलेख' में किंवदन्तियों एवं मौखिक परम्पराओंकी व्याख्याओंके अन्तर्गत लेखकने अपने

१ कालिदासकी लालित्य योजना, पृ० ११।
२ कालिदासकी लालित्य-योजना पृ० १०४।

लोकतत्त्वको मानवतावादी और उदारतावादी दृष्टिको प्रकाशित किया है। लोक-तत्त्वके अनुशीलनमें हम पाते हैं कि "आचार, रीति रिवाजसे लेकर धर्म, दर्शन, शिल्प सौंदर्य तकमें सर्वत्र नये सिरसे सोचनेकी आवश्यकता है। कोई नैतिक मूल्य अंतिम नहीं है कोई शिल्प विधि सर्वोत्तम नहीं कही जा सकती, कोई अभिव्यक्ति-पद्धति सर्वश्रेष्ठ नहीं हो सकती। इस तरह लोकवार्ता साहित्यने अभिजात साहित्यको यथार्थ परिप्रेक्ष्यमें देखनेकी दृष्टि दी।"[1] लेखकने लोक-तत्त्वका उपयोग मूलतः इतिहास लेखन—हिन्दी साहित्यके इतिहास तथा उपन्यासोंमें कलात्मक इतिहास लेखन—में किया है। इतिहास और शैलीके अन्त सम्बन्धोंकी विवेचनामें लोक अथवा लोक वार्तातत्त्व (Folklore element) अनिवार्य होता है। लालित्यमें इस तत्त्वके समावेशको हम प्रतीक्षा करेंगे क्योंकि इससे उनके मिथकव्याख्यानमें एक पकनेवाली परिवर्तन भी सम्भव है। मिथकका इतिहासमें आनेपर और सामाजिक इतिहासका लालित्यमूलक धारण करनेपर लोकतत्त्वको समाहित करना ही पड़ेगा। यह हजारीप्रसाद द्विवेदीका स्वभाव भी है और यही उनकी जीवनदृष्टिका सर्वोत्तम केन्द्रबिन्दु भी है।

ग

हजारीप्रसाद द्विवेदीने स्फुटतः कुछ सृजनात्मक कलाओंपर विचार किया है। लालित्य तत्त्व में नृत्य और नाटकपर कालिदासकी लालित्य योजना में चित्रपर परिवद्धितिका वाले लेखमें काव्यपर मुख्यरूपसे विचार किया गया है। इससे पूर्व वे मनोविनोदके प्रयोजनको लेकर 'प्राचीन भारतके कलात्मक विनोद' शीर्षक पुस्तकमें वात्स्यायन प्रणीत कलाओं एवं विद्याओंका व्यावहारिक निरूपण कर चुके थे तथा वाणभट्टकी आत्मकथा में भी अनेक ललित कलाओंकी मीमांसा कर चुके थे। इस प्रसंगमें उन्होंने लालित्य के अन्तर्गत पावपण आनन्द और मनुष्य प्रयोजनोंको लेकर कुछ सृजनात्मक कलाओंपर विचार किया है। इस विचारमें उनकी दो दृष्टियाँ प्रकट हुई हैं—१ गति और स्थिति अर्थात् इच्छा शक्ति और क्रिया शक्ति अर्थात् चलन और जड़ दोनों हो रूप बनाता है छन्द बनाता है संगीत बनता है, नृत्य बनता है। इनका सामञ्जस्य और सौन्दर्यका दूसरा रूप है जो भावोंमें छन्दमें स्थिर रूपमें नृत्यमें गानमें मूर्तिमें चित्रमें सर्वाकारमें अपने-आपको प्रकट करता है। और २ मानवकी भिन्नताके कारण कोमलता भिन्नता हुई और दोनों भेदोंके विवेकसे विभिन्न कलारूपोंका उद्भव हुआ। कलाकार मनके उनकी प्रवृत्तिके मूल कारण ये ही दो हैं।

---

१ 'लालित्य तत्त्व' पृ० ३४।

सबसे पहले नृत्यको लें। नृत्यके प्रागैतिहासिकमूलक और सभी आदि जातियोंमें मण्डलावृत नृत्यके पाये जानेकी खोजसे सहमत होकर लेखक कहते कि नृत्यका मूल प्रेरक मनोभाव उल्लास है और विविध प्रकारकी चारियोंसे वलयित ताल-द्वारा नियन्त्रित धारावाहिक मण्डलावृत नृत्य जीवनके किसी अज्ञात रहस्यमय केन्द्रसे उल्लसित है। निश्चित रूपमें वे इस अज्ञात रहस्यमय केन्द्रकी खोज शैव और शाक्त मिथकोंमें ही करते हैं। वे बताते हैं कि त्रिपुर निधनके बाद शिवका उल्लास-नर्तन ताण्डवका मूल है। ताण्डवमें शिव उन्मत्त हो उठे थे निरुद्देश्य निर्बाध। अतः उन्हें शमन करना आवश्यक समझकर पार्वतीने लास्य नृत्य किया। इस नृत्यका प्रयोजन था अर्थ था। अर्थात् लास्यमें रस और भाव दोनों थे। इस तरह ताण्डव आदिम नृत्य है जो रस भाव विवर्जित है तथा लास्य मनुष्यकी सर्जनेच्छा-द्वारा चालित रस भाव समन्वित है। अज्ञात एवं रहस्यमय केन्द्रसे संचालित होनेके कारण ताण्डवका अर्थ मात्र 'मांगल्य' है जिसे आधुनिक मानव विज्ञानियोंकी भाषामें 'मैजिकल क्रिएशन' कहा जाता है। इस तरह लास्य एक मानवीय सर्जनात्मक कला है, उसकी सर्जनात्मक वृत्ति द्वारा सँवारा हुआ एक ललित रूप है।

नाटकपर विचार करते समय भी वे 'नाट्यशास्त्र' में वर्णित एक मिथकका सहारा लेते हैं। उसे कथामें बताया गया है कि देवता नृत्य तो कर सकते हैं किन्तु नाटकका अभिनय नहीं क्योंकि वे भोगयोनिक हैं। नाटकमें फलागम तक पहुँचनेके लिए नायकको धीरोदात्त होना पड़ता है जब कि देवता धीरोद्धत होते हैं। अतः नाटकके क्षेत्रमें मनुष्यकी महिमा सर्वोपरि है। इसके अलावा नाट्यके पूर्णांग रूपकोंमें दो ही पूर्णांग रस—वीर और शृंगार—माने गये हैं जिनमें उत्तम शृंगार ही है। यह भी मानवकी इच्छा शक्तिका ही मौवलोप है। नाटक अनुकरण है और मानवीय सामर्थ्यके अन्तर्गत आता है। नृत्य और नाटककी तुलना करते लेखक कहते हैं कि नृत्यमें बाह्य उपकरणोंकी आवश्यकता नहीं होती, नाटकमें होती है। नाटक अनुकरण है पर नृत्य नहीं। परवर्ती नृत्योंमें आगे चलकर मुखवास और विविध प्रकारके वस्त्राभरणोंका उपकल्पन हुआ होगा जिससे नृत्यमें नाटकीय समावेश हुआ होगा।

चित्रकलापर विचार करनेमें वे मिथकीय बाधका अवलम्ब छोड़ पाये हैं। प्रागैतिहासिक युगमें दीवारों और गुफाओंमें चित्रित आदिमानवकी रूप-सृष्टिके दो समाजशास्त्रीय कारणों—१ हरिणके चित्रणसे हरिणोंकी वृद्धिमें विश्वास तथा २ चित्रको वास्तविक वस्तुका प्रतिनिधि माननेमें विश्वास—को वे भी स्वीकार करते हैं। वे फ्रेजरका यह निष्कर्ष भी स्वीकार करते हैं कि आदिमानव

की रूपरचना मागल्य मूलक थी भयमूलक नहीं। उन दिना इस प्रकारकी मागल्य मूलक रूपरचनाको तान्त्रिक सृष्टि या मजिकल क्रिएशन कहा जाता था। अत द्विवेदीजी सहजतापूर्वक अपने लालित्य तत्त्वमें मिथकाव्यालिन स्रोतसे आये हुए 'आनन्द एव मगल के मुख्य प्रयोजनोको आधुनिक अनुगामिता भी प्रदान कर देत हैं। वे शिवकी आदि सिसृक्षा अर्थात ललितक्रीडाको मनुष्यकी प्रथम रूप सृष्टिकी आनन्दहेतुक सिद्धिके समान एव समानान्तर स्थापित कर देत ह। इसके साथ ही कालिदासकी 'लालित्य योजना' और 'बाणभट्टकी आत्मकथा म आये चित्र कला प्रसगोके माध्यमसे वे चित्ररस तथा चित्रकलाका रचना प्रक्रियाका भी अन्वेषण करते हैं। 'अयथाकरण', 'यथालिखितानुभाव', अन्वयन' आदि लालित्यमूलक पारिभाषिक शब्दावा वे चित्रकलाकी रचना प्रक्रियाके द्वारा ही गढते हैं। लेकिन ये सन्दर्भ मूल चित्रकलाके न होकर महाकविकी कृतियोंमें वर्णित चित्ररचनाके हैं। अलबत्ता वे कालिदासकी कृतियाम वर्णित चित्रकलाके प्रसगोके आधारपर विद्धचित्र' 'भावचित्र' एव रसचित्र' नामक तीन भेदोका निरूपण कर डालत ह जिसक लिए 'विष्णुधर्मोत्तरपुराण' चित्रसूत्रम', अवनीन्द्रनाथ ठाकुर कृत षडग मीमासा' म० च० मेहता कृत चित्रमीमासा आदिका भी सन्दर्भता दा गयी ह। सो, जिस चित्रम यथा प्रदेशविनिवेश हो अर्थात् जिसम कलाकार हू-ब-हू चित्रण कर वह विद्धचित्र है। इसमें चित्रकार यथासम्भव असम्पृक्त रहकर सफल होता ह। कालिदास विद्ध चित्रको श्रेष्ठ कला नहीं मानत जान पडते। भावचित्रमें किंचित अन्वयन होता है तथा चित्रक दशनाय स्थलमें मान सिक भावोंका भावानुप्रवेश हो जाता है। इस दशाम दर्शकमें यथालिखिता नुभाविता की स्थिति होती है। रसचित्रमें समूचे वातावरणकी योजना होती ह। वातावरणके कारण ही जो सबोह होता ह वही रसचित्र बन जाता ह।

द्विवेदीजी कालिदासके आधारपर ही नृत्य और चित्रका अभिन्नताको दिग्दशन कराते ह। चित्रसूत्रमें चित्रको श्रेष्ठ नृत्य कहा गया ह क्योंकि उसमें भावभगीकी गति होता ह। व यह भी स्पष्ट करत ह कि वस्तुत चित्रकार रेखाके माध्यमस ही चित्रको आवन्त (भावचित्र) तथा रसयुक्त (रसचित्र) बनाता ह। इसलिए भारतीय कलाके आचाय रेखाको बहुत अधिक महत्त्व दत ह।

अन्त मूल चित्रकी व्यावहारिक जमीनपर सम्बादी समाहार लिए और माध्यम के अनुशासन तथा द्वन्द्वके सिद्धान्तके लिए वे इग्लिश रिवीवके चित्रकार यात्रिवेला कृत 'समुद्र तटमें बहकर आई बालस शीषक चित्रकी व्याख्या भी करत ह जो एलिस कृत 'एस्थेटिक्स एण्ड जेस्टाल्ट' शीषक पुस्तकपर आधृत ह। इसका यह विवेचना 'आलोचना में प्रकाशित सिसृक्षा और सृजन

स्वरूप' शीर्षक लेख द्रष्टव्य है।

काव्य सम्बन्धी उनके विचार इसी मानोग्राफके चतुर्थखण्डमें विवेचित मिथक तत्त्वके अन्तर्गत बाणकी मीमांसामें प्रस्तुत कर दिये जा चुके हैं।

अनेकानेक सुकुमार (नारी—) कलाओं, गोष्ठी कलाओं, विद्याओं, गृह कलाओं, आदि जैसी लघु कलाओंके निरूपणके लिए उनकी 'प्राचीन भारतके कलात्मक विनोद' नामक पुस्तक पठनीय है। इसमें वात्स्यायन कृत कलाओंके वर्गीकरण, तथा संस्कृतके रसात्मक साहित्यको उपजीव्य बनाया गया है।

इस तरह हम देखते हैं कि लेखकने कला प्रकारोंका एक क्रमिक एवं पूर्ण निरूपण नहीं किया है जो उनके 'लालित्यशास्त्र' की कमी है।

झ

सबसे अन्तमें हम हजारीप्रसाद द्विवेदीके 'कला-इतिहासदर्शन' एवं 'कला-इतिहासलेखन' पर विचार करेंगे। यहाँ भी लेखककी इधर-उधर तथा बिखरी हुई मान्यताएँ मिलती हैं, क्योंकि उन्होंने लालित्य तत्त्वपर अपने पूरे ग्रन्थका प्रणयन अभीतक नहीं किया है।

उनके इतिहासदर्शनकी यथार्थोन्मुख आदर्शवादी झाँकी तो 'चारुचन्द्रलेख' में मिलती है जिसे हमने 'आलोचना' (१९६४) के एक लेखमें निरूपित किया है। लेकिन कला इतिहासदर्शनकी झलक मुख्यतः 'लालित्य तत्त्व' शीर्षक शोध पत्रमें ही पायी जाती है। इसके मुकाबले कला-इतिहासलेखनके सूत्र 'हिन्दी साहित्यकी भूमिका' (पुस्तक) और लालित्य तत्त्व में बिखरे हैं।

उनके कला-इतिहासदर्शनकी दो धाराएँ हैं मिथकीय और आध्यात्मिक। मिथकीय दृष्टिसे वे मानते हैं कि नृत्य और नाटकमें, इनमें-से विशेषतः नृत्यमें मालव-पूर्व तत्त्व अधिक है। ताण्डव एक उल्लास नर्तन है जिससे शिव उन्मत्त हो उठे थे। ताण्डवका स्थायीभूत मानस-संस्कार अस्पष्ट है, अव्यक्त है और यह आदिम है। किन्तु यह मांगल्य मूलक है। अतः आदिम मानव कलाएँ आनन्द एवं मंगलके प्रमाजनों या मूल्योंसे पूर्ण हैं। किन्तु शिवके नृत्यको पार्वतीके लास्य नर्तनने अधिक सँवारा। अतः यह ललित प्रयत्न है। इस तरह कला-इतिहासदर्शन आदिम स्वच्छन्दतासे ललित मानवीय बोधकी ओर उन्मुख होता है क्योंकि इसमें मानवीय क्रियाशक्ति भी सम्मिलित है। लेखकने इस सर्जनात्मक शक्तिकी तुलना पार्वती अर्थात् अव्यक्त ब्रह्म (शिव) की सिसृक्षा रूप बननेका सामर्थ्य रखनेवाली शक्ति त्रिपुरसुन्दरी से की है। चिन्मय शिवकी लीलासंगिनीका नाम ललिता है और ललिताकी क्रियाशीलता ही मानवचित्तमें सौन्दर्यका आकर्षण है सौन्दर्य रचनाकी

प्रवत्ति ह सौन्दर्यास्वादनका रस ह। इस तरह कला मनुष्यके लालित भावाकी अभिव्यक्ति ह। अत वे मिथकीय चेतनाकी सामूहिकता आनन्दामुखता, तथा मांगल्यको कला इतिहासदर्शनके तत्त्वाके रूपम प्रतिष्ठित करते ह। लेकिन मिथकीय चेतना भाषा पूव अवस्थावाली होती ह। अतएव लेखक कोई अज्ञात, रहस्यपूण, विश्वव्यापक विशुद्ध केन्द्रीय शक्तिके अवचेता (अनकाशस) बोधको वाक् तत्त्वके साथ जोडकर कला इतिहासदर्शनके आध्यात्मिक आयामके उन्मीलनकी अपनी सहज वत्तिका भी प्रकाशित करते ह।

मिथक-कल्पनाएँ ही कला और धममें सस्कारित होकर ऐतिहासिक चेतनाका आयत्तीकरण करती ह। लेखक लालित्य तत्त्वमे मिथकीय चेतनाका, तथा मानव तत्त्वम धार्मिक चेतनाका सामजस्य करते ह। फलत व मानते हैं कि इस विश्व-व्यवस्थाके मूलमें एक व्यापक छन्द ह जो समष्टिगत चितशक्तिकी सिसृक्षा ह। विश्वमूर्ति शिवकी सिसृक्षाने ही उसे स्त्री और पुरुषमें द्विधा विभक्त होनेको प्रवृत्त किया था। यह परस्पर आकषण ही शिवकी आदि सिसृक्षाका विलास ह जिससे व उस प्रथम शिवत्वकी अवस्थाको ही प्राप्त करना चाहते ह। यही आकषण सौन्दय और लालित्य ह।

अनादि या मूल चतन्यधारा (?) शिवकी इच्छा शक्तिका ही रूप ह। यह गति मान ह। क्रियाशक्ति स्थितिमात्र ह। गति और स्थितिका यह द्वन्द्व निरन्तर चलता रहता ह। इसीसे रूप बनता है, छन्द बनता है सगीत बनता ह, नृत्य बनता ह अथात कलाओका सजन होता है। काल और देश अर्थात इतिहास और भूगोलके साथ भी क्रमश इच्छा और क्रिया सम्बद्ध ह। अत देशकालके द्वन्द्वसे जायन रूप लेता ह, प्रवाहके रूपम। इसीम धर्माचरण बनता ह, नतिकता बनती ह। इस भाँति लेखकने दो द्वन्द्वोंके माध्यमसे जीवन और कलाकी रचनाका विन्यास किया ह। और, इन सबका अभिभूत एव अन्तग्रथित करके जो सामग्रय भाव ह वह सौन्दयका दूसरा रूप ह। अथात वह मानवनिर्मित या उसका इच्छा शक्तिका अनुपम विलास ह जिसे 'लालित्य' कहा गया ह।

शरीरमें शिवशक्ति द्विधाविभक्त होनेके फलस्वरूप परस्पर आकषणकी वृत्तिका वे मानव उन्नतीकरणमे अन्तग्रथित कर देते ह जिसम रमणीय सौम्य प्रेम तपस्या और मगलम मण्डित होकर कामाध्यात्मका उन्मेष करता ह। वे इच्छा शक्ति और क्रिया शक्तिके परस्पर सम्बन्धोंमें ही कलाका रचनाका दशन पाते ह जिसके अनुसार विस्मय शिव सत्य ह। और ललिता उनकी लीलासखी। मनुष्यकी इच्छा शक्ति एव क्रियाशक्ति द्वारा रचित कलासृष्टि भी ऐसी विश्व-व्यापक लीलाका ही आरूप ह। इस भाँति कला इतिहास विश्वव्यापक ह,

चिरंतन है, और एक समष्टि-मानवचित्तका ही परिणाम है। साराशमें कला इतिहास विश्व मानवकी सृजनात्मक इच्छा शक्तिका अनुपम ललित विलास एवं अभिव्यक्ति है जो इच्छा क्रियाकी, गति स्थितिकी, देश-कालकी द्वन्द्वयास सञ्चालित होकर कला-सृजनमें पल्लवित-पुष्पित होती है।

उक्त द्वन्द्वयोंके अलावा जड चेतनके द्वन्द्वको भी लेखकने कला इतिहास दर्शनका आधार बनाया है। क्रिया शक्ति जड है। इच्छा शक्ति चेतन। इच्छा शक्ति है, और गति चित्तत्त्व है। क्रिया स्थिति है और स्थिति अचित्तत्त्व है। अतएव हर कला प्रयासमें कलाकार जड सामग्रीके [illegible] विजय पानेका प्रयत्न करता है। लेखकके मतानुसार "मनुष्यके कलाप्रयत्नोंका अर्थ ही है जड़तासे संघर्ष। हम किसी मूर्ति या चित्रको देखकर या कविताको सुनकर फड़क उठते हैं तो वस्तुतः हम जड़के गुरुत्वाकर्षणसे मुक्त होनेका अनुभव करते हैं।"[1] इसी सन्दर्भमें वे फ्रांक थीसकी उस धारणाको बताते हैं कि नृत्य वस्तुतः जड़के गुरुत्वाकर्षणपर चैतन्यका विजयोत्कण्ठाका प्रयास है।' लेखकने यह बात इच्छा-शक्ति एवं क्रिया शक्तिके द्वन्द्वके फलस्वरूप कला-जन्मकी यहीं स्थापना की है। साराशमें हजारीप्रसाद द्विवेदीके कला इतिहासदर्शनमें काल चिरन्तन (इटर्नल) सर्वक्रमिक (सायमल्टेनियस) अपरिवर्तमान (unchanging) तथा विशुद्ध चेतना हो जाता है। पहले वे इसे महाकाल कहते थे, कालदेवता कहते थे, इतिहास देवता कहते थे। किन्तु इस सन्दर्भमें वे इसे 'विश्वव्यापक छन्दोधारा' के रूपमें प्रतिष्ठित करते हैं। यह छन्दोधारा ही शिवकी सर्जनात्मक इच्छा शक्ति है, गति है और चैतन्य है। और, यह छन्दोधारा मानवचित्तमें भी प्रवाहित है। यह छन्दोधारा भाषामें, शिल्पमें, धर्ममें, काव्यमें, मूर्तिमें, चित्रमें बहुधा मानवीय इच्छा शक्तिका अनुपम ललित विलास है। अतः यह सौन्दर्य है।

इसके बाद हम लेखकके कला इतिहास लेखनका सर्वेक्षण कर सकते हैं। कला इतिहास लेखनमें वे बहुधा मानव विज्ञानकी सहायता लेते हैं विशेषतः कलाओंके उद्गमके कालक्रम निर्धारणमें। जिस प्रकार कला इतिहास दर्शनमें उन्होंने विचारक [illegible] और [illegible] मानवके सम्बन्धमें यह आध्यात्मिक सत्य पाया था कि मानवचित्त एक है उसी तरह कला इतिहास लेखनमें वे नृतत्त्व विज्ञान एवं आदिम-मानवकी शरीररचनाके आधारपर यह तथ्य स्वीकार करते हैं कि मनुष्य एक ही जीवश्रेणी (species) का प्राणी है। यह बहुत महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है जो लेखक कला इतिहास दर्शनके समान ही वैज्ञानिक कला इतिहास लेखन

---

१ 'लालित्य [illegible] पृ० ६

का बोध प्रदान करती है।

सम्भवतः कबीररससे प्रभावित लेखककी भी यही मान्यता है कि मिथक तत्त्व और वाक् तत्त्वका साथ ही-साथ आविर्भाव हुआ था। आदिम मनुष्यके लिए किसी वस्तुको प्रत्येक इन्द्रियके द्वारा संश्लिष्ट रूपमें ग्रहण करना सम्भव था। यह संश्लिष्ट रूप किसी एक क्षणकी रचना न होकर संचित संस्कारोंकी रचना होगा। इस संश्लिष्ट रूपने ही उच्चरित वाक्के रूपमें अपनेको अभिव्यक्त किया होगा। अतः भाषा-पूर्व अवस्था तर्क-पूर्व अवस्था भी है।

वे भावावेगकी अभिव्यक्तिका प्रथम मानवीय प्रयत्न नृत्यके माध्यमसे हुआ मानते हैं। उनके अनुसार संगीत और भाषाके साथ नृत्य मानवीय अभिव्यक्ति प्रयत्नोंमें सबसे पुरातन है। वे यह सांस्कृतिक-नृतत्त्व सार भी स्वीकार करते हैं कि मनुष्यकी प्रथम रूप-सृष्टि आनन्दहेतुक और मांगल्यमूलक थी, भयमूलक नहीं। तब बुद्धिके विकासके बाद ही भयजनक रूप-कल्पनाएँ हुई होंगी। इसके लिए वे प्रागैतिहासिक चित्ररूप सृष्टिका प्रमाण देते हैं। इसीलिए वे नृत्यको प्रागैतिहासिक मूल्यका स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि मानसी कल्पनाको मूर्त या परिच्छिन्न रूप देनेके लिए नृत्यमें आगे चलकर मुखवास और विविध प्रकारके वस्त्राभरणका उपकल्पन हुआ होगा जिससे नृत्यमें नाटकीयताका समावेश हुआ होगा। अतएव सभ्यताके अग्रसर होनेपर अन्य साधनाके विकासके साथ-साथ क्रमशः मध्यवर्ती जड़ उपादान बढ़ते गये और फलतः कला विजयके प्रयास क्रमशः जटिल होते गये। कौशलोंने कलाके मूलरूपको आच्छन्न कर लिया।'[1] इस तरह तकनीकके विकासमें ही उन्होंने कलाओंकी त्रिविधता और विभागके इतिहासका सूत्र गुम्फित किया है। यह एक बहुत बड़ी बात है। इसी आधारपर वे ऐतिहासिक विकास-क्रमकी दृष्टिसे देखकर निर्देशित करते हैं कि नाटक मनुष्यके भावाभिव्यंजक वाक्-तन्त्रके पर्याप्त आपत्तीकरणके बादकी कला है तथा नृत्य मानव-पूर्व कला है।

अन्तमें वे यह स्थापित करते हैं कि मनुष्यकी इच्छा-शक्ति एवं क्रिया-शक्ति (अर्थात् सामाजिक चेतना और तकनीकी कौशल) नाद और बिन्दु पद और पदार्थके पूर्ण उन्मेषके बाद उत्पन्न हुई कलाओं काव्य, चित्र, मूर्ति आदिकी भी यही कहानी है।[2] इस तरह वे कलाके उद्गम और कलाओंके आरम्भिक इतिहासका क्रमिक ही तत्त्वान्वेषण करते हैं। नृत्य और नाटकके विषयमें उनका निरूपण महत्त्वपूर्ण है।

१ 'लालित्य तत्त्व' पृ० ६।
२ 'लालित्य तत्त्व', पृ० १६।

उपसंहारमें हम यही सिद्धि पाते हैं कि हजारीप्रसाद द्विवेदी पुरातन आदर्शोन्मुख मानवतावादी जीवनदृष्टिके कृती हैं। उन्होंने अपनी अन्तरूपण लालित्य तत्त्वमीमांसामें शैवानन्दवादी अभिनवगुप्तकी ही परम्पराको अपना आधुनिक पुनर्वास प्राप्त किया है। यह ऐतिहासिक तथ्य रेखांकन योग्य है। हम उनके लालित्यतत्त्वके उपसिद्धान्तको निष्कर्षरूपमें 'मिथकात्मवादी लालित्य सिद्धान्त' का नाम दे सकते हैं। इसके प्रमाणके लिए हमने अबतक उनके मानव तत्त्व, लालित्यतत्त्व, मिथकतत्त्व और लोकतत्त्वकी चतुर्मुखी गवेषणा की ही है।

आधुनिक भारतीय सौन्दर्यबोधशास्त्रियोंमें वे आनन्दकुमार स्वामी, कान्तिचन्द्र पाण्डेय और प्रवास जीवन चौधुरीसे भी भिन्न हैं क्योंकि उन्होंने सब प्रथम एक लालित्य सिद्धान्तकी सर्वांगीण अवतिके लगभग सारे उपादान ढूँढ निकाले हैं। किसी अन्यने अभीतक ऐसा नहीं किया। उनके आधारबिन्दु शिवशक्तिकी विभक्ति, इच्छाशक्ति एवं क्रियाशक्तिका सामंजस्य, गति और स्थितिका द्वन्द्व देश और कालका द्वन्द्व जड़ और चेतनका संघर्ष आदि रहे हैं। उन्होंने बारह सूत्र दिये हैं १ मानव चित्त एक है। समष्टि मानसमें ही समान रागके भाव रहते हैं जो नर्म (norm) कहे जाते हैं २ मनुष्यने उल्लासकी अवस्थामें प्रथम आत्माभिव्यक्ति की थी जिसका अन्तर्निहित उद्देश्य जड़ बाधाओंपर चैतन्यके विजयी होनेका प्रयास था, ३ मण्डलावर्त नृत्यके रूपमें यह अभिव्यक्ति पूर्व मानव कालमें ही हो चुकी होगी ४ वाक्तत्त्वका प्रथम उन्मेष मनुष्यकी इच्छा शक्तिका प्रथम स्पष्ट विस्फोट है जो गुम्फित पद और पदार्थके सम्पृक्तरूपमें रहा होगा, ५ वाक् तत्त्व बाह्य वस्तुके नामकरणका नहीं, अन्तःकरणके उल्लास-चंचल आश्चर्यका साधन था जो बादमें उल्लास-व्यंजक तत्त्वका वाचक हो गया, ६ वाक्तत्त्वका स्फोट जहाँ पद और पदार्थके विवेकका कारण बना, वहाँ उच्चरित शब्द सीमाबोधका ज्ञान लेकर भी आया। इसलिए पदार्थविवेकके साथ ही मिथक तत्त्व भी साथ ही साथ पूरकके रूपमें आविर्भूत हुआ ७ पद-पदार्थक विवरने अनुभूत तत्त्वकी पूर्ण उपलब्धिमें बाधा दी। इसीलिए मनुष्यकी इच्छा-शक्तिने लालित्य तत्त्वका आश्रय लिया ८ पद-पदार्थक विवेककी पूर्ति मिथकमें और इन दोनोंकी पूर्ति लालित्य-तत्त्वमें की गयी ९ बाह्य पदार्थको भावरूपमें ग्रहण करना और गृहीत भावकी अभिव्यक्ति करना मनुष्यकी विशेषता है १० भाव रूपमें ग्रहण करना (इच्छा) और गृहीत भावको पुनः अभिव्यक्त करना (क्रिया)

अपने आपमें अन्त नहीं हैं। ये मनुष्यके अन्तर्निहित विशुद्ध चैतन्यके सहायक हैं, ११ चैतन्यकी सीमाहीन अभिव्यक्तिकी व्याकुलता लालित्यतत्त्वका मूल उत्स है और १२ व्याकुलता क्यों है यह प्रश्न उचित और समाधेय है।[1]

हाँ, उनका अन्तिम सूत्र ही उनके लालित्य चिन्तन, आधुनिक बोध और यथार्थवादी समाज दर्शनकी सच्ची कसौटी बनेगा। इसके समाधानका हमें इन्तजार है क्योंकि अबतक वे 'व्याकुलता' को रहस्य, धर्म, अध्यात्म, मिथक आदिमें ही गूढ़ गोपन बनाये रहे हैं। इस अन्तिम सूत्रका महान उत्तर तभी सम्भव है जब आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी गतिस्थितिकी जड़-चैतन्य की, कालदेशकी अपनी द्वन्द्व योजनाको आधुनिक द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी विश्वदर्शनकी ओर सिद्ध कर लें।



"राजन्, भाषा बड़ी रहस्यमय देवी है। वह नयी सृष्टि करती रहती है। विधाताके किये करायेपर वह ऐसा परदा डाल देती है कि कभी-कभी दुनिया ही बदल जाती है। महामायाका सबसे परिष्कृत रूप भाषा है। सत्वोन्मुखी होकर वह प्रकाश देती है किन्तु तमोगुणकी ओर उन्मुख होनेपर वह केवल मोहकी सृष्टि करती है, केवल आवरण उत्पन्न करती है, केवल कुहेलिकाका जाला ताना करती है।"

—चारुचन्द्रलेख

१ 'लालित्य तत्त्व', पृ० १८ १६।

द्विवेदी-साहित्य : संस्कृतकी पीठिका

रामसुरेश त्रिपाठी

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी आरम्भसे ही संस्कृतके छात्र रहे हैं। संस्कृत वाङ्मयमें ग्रथित उपनिषद्, इतिहास-पुराण, ज्योतिष, धर्मशास्त्र, तन्त्र आदि विविध विद्या-भेदोंका उन्होंने परिशीलन किया है; काव्य, नाटक, कथा, आख्यायिका आदि रूपमें उपलब्ध संस्कृत-साहित्यधारामें यथेष्ट अवगाहन किया है; ललित कलाओंमें रस लिया है, प्राचीन इतिहास और पुरातत्त्वके आलोकमें भारतीय संस्कृतिके गौरवको देखा है और उसे रोचक शैलीमें दिखानेका प्रयास किया है। वस्तुतः संस्कृत-साहित्यमें जो कुछ उदार है, स्पृहणीय है, अद्भुत है, प्रभा और प्रतिभासे आलोकित है, उन सबपर द्विवेदीजीकी दृष्टि पड़ी है और अपनी कृतियोंमें उन सबके समावेशके प्रयत्न उन्होंने किये हैं।

द्विवेदीजीकी रचनाओंमें कुछ ग्रन्थ पूर्णतः अथवा अधिकांश रूपमें संस्कृत साहित्यपर अवलम्बित हैं। उनमें 'प्राचीन भारतके कलात्मक विनोद', 'भारतीय नाट्यशास्त्रकी परम्परा और दशरूपक', 'कालिदासकी लालित्य योजना' आदि उल्लेखनीय हैं। उनके लेखोंमें 'साहित्यिक व्याकरण', 'रस क्या है', 'कथा आख्यायिका और उपन्यास', 'काव्यकला' जैसे लेख संस्कृत साहित्यकी सामग्री पर गठित हैं। अपने निबन्धोंमें भी द्विवेदीजी संस्कृत-साहित्यकी अनोखी अथवा मनोरम वस्तुका आनयन करते चलते हैं। उनके निबन्धोंमें संस्कृतका आधार प्रायः निम्नलिखित रूपमें दृष्टिगोचर होता है —

१ शब्दकी व्युत्पत्तिके रूपमें,
२ संस्कृत-सम्बन्धी किसी अनुसन्धानका साधन होनेके रूपमें
३ संस्कृतके उद्धरणके रूपमें
४ किसी सांस्कृतिक विषयपर प्रकाशके रूपमें
५ कथा आख्यायिकाके उल्लेखके रूपमें।

द्विवेदीजीने अपनी अद्यावधि प्रकाशित कृतियोंमें अनेक शब्दोंके निर्वचनपर विचार किया है। शब्दनिरुक्तिके अवसरपर उनकी दृष्टि धातु अथवा प्रत्यय

सन्तुलित दृष्टि

आदिपर उतनी नहीं जाती जितनी उस शब्दके इतिहास, उसके ध्वनिगत अथवा अर्थगत परिवर्तन और सांस्कृतिक रहस्यके उन्मोचनपर रहता है। 'गधैया ताल'में गधैया शब्दका सम्बन्ध उन्होंने कातवीय शब्दसे जोड़ा है—कातवीय > गदभिज्ज > गदभिल्ल > गधैया। शब्दविचारके अवसरपर द्विवेदीजी कुछ इधर उधर भी झाँक लेते हैं। कुटज शब्दकी व्युत्पत्तिके चपेटमें कूट, कुटहारिका, कुटकारिका, कुटिया, कुटीर, कुटनी, कुट्टनी आदि आ जाते हैं, उसकी जातिके परखमें कमल, कुड्मल, कम्बु, कम्बल, ताम्बूल आदि आग्नेय अथवा कोलपरिवारके शब्दोंकी चर्चा हो जाती है, उसके नामके प्रसंगमें सुस्मिता, गिरिकान्ता, वनप्रभा, शुभ्रकिरीटिनी, मदोद्धता, विजितातपा, अलकावतंसा अथवा अकुतोभय, गिरिगौरव, कूटोल्लास, अपराजितके साथ धरतीधकेल, पहाड़फोड़, पातालभेद भी सामने लाये गये हैं और उसके जीवन दर्शनके सम्बन्धमें, संस्कृतकवियोंकी शैलीमें, कहा गया है—

"चारों ओर कुपित यमराजके दारुण निःश्वासके समान धधकती लूमें यह हरा भी है और भरा भी, दुर्जनके चित्तसे भी अधिक कठोर पाषाणकी कारामें रुद्ध अज्ञात जलस्रोतसे बरबस रस खींचकर सरस बना हुआ है और मूर्खके मस्तिष्कसे भी अधिक सूने गिरिकान्तारमें भी ऐसा मस्त बना है कि ईर्ष्या होती है'।[1]

द्विवेदीजीके निबन्ध अनुसन्धान विरहित नहीं होते। विभिन्न निष्कर्षों और अनुसन्धानोंको वे कौशलसे एक ही निबन्धमें पिरो देते हैं। उपयुक्त आधार प्रकार भी एक साथ एक ही निबन्धमें देखे जा सकते हैं। 'आम फिर बौरा गये' उनका एक सुन्दर निबन्ध है। इस लघुकाय निबन्धमें संस्कृति सम्बद्ध निम्नलिखित अनुसन्धानोंका समावेश हुआ है—

क १ आम्र शब्द अम्लका रूपान्तर है। अमृत शब्दका भी सम्बन्ध आम्रसे जान पड़ता है जो मूल रूपमें सम्भवतः सोमरसके लिए था।
२ वसन्तके आगमनका मदनमहोत्सव मनाया जाता था।
३ शम्बर शब्द किसी विदेशी भाषाका है।
४ यातु और जादू शब्द एक ही शब्दके भिन्न भिन्न रूप हैं।
५ शुना शब्द स्वधा शब्दका भाई है।
६ नमाज़ शब्द संस्कृत नमस् शब्दका सगा सम्बन्धी है।
७ शाबरी मतमें अश्लील गानों और वारवनिताओंका प्रामुख्य होता था।

---

१ 'कुटज', पृ० ६।

८ मदनोत्सवके तुल्य असुरोंका भी कोई उत्सव रहा होगा।
९ कालिदास आम्रमुकुलोंको मदन देवताके पाँच बाणोंमें नहीं गिन
थे। आम्रमंजरीसे वे विशेष उल्लसित नहीं होते थे।
१० असुरोंकी आखिरी हार अनिरुद्ध और उषाके विवाहके अवसरपर
हुई थी।
११ अरविन्द, अशोक, नवमल्लिका और नीलोत्पल अप्सरा जातिके
फूल है।
१२ आम प्रारम्भमें पर्वतीय वृक्ष था। उसके फल छोटे और खट्टे होते थे।
१३ गोधूम लता (गेहूं) किसी दिन गायोंके लगनेवाले मच्छरोंको भगानेके
लिए धुँआ पैदा करनेके काम आती थी।
१४ कन्दर्प और गन्धर्व केवल उच्चारणभेद है।
१५ नवाम्रखादनिका नामका उत्सव प्राचीन भारतमें प्रचलित था।
१६ आम और माधवीलताका विवाहोत्सव नागरिकोंका एक विनोद था।
१७ सुवसन्तक नामका उत्सव वसन्तावतारके दिन मनाया जाता था।
१८ काम गायत्री ही श्रीकृष्ण गायत्री है।
१९ आम्रमंजरीके हथेलीमें रगड़नेसे बिच्छू डंक नहीं मारते—इस जन
प्रवादके पीछे प्रद्युम्न और शिवके युद्धकी कहानी छिपी है।

ख उसी निबन्धमें संस्कृतके इन ग्रन्थोंके नाम लिये गये हैं—कामसूत्र
सरस्वतीकण्ठाभरण, मात्स्यसूक्त हरिभक्तिविलास भागवत पुराण
कालिका पुराण, औचित्यविचारचर्चा।

ग उसी निबन्धमें संस्कृतके ये उद्धरण हैं—१ छाडके सहरसि
स्मराऽपि। २ आतम्महरियपाडुर। ३ क्षणदिट्ठ धूसरत्थणि।
४ इन्दुसुलभवस्तु प्रार्थना। ५ सहकारकुसुमकेसर।

घ उसी निबन्धमें निम्नलिखित कथाएँ दी गयी हैं—१ दुष्यन्तद्वारा
वसन्तोत्सवनिषेधकी कथा, २ प्रद्युम्नकी कहानी।

आम फिर बौरा गये' इस छोटे-से निबन्धमें इतने अधिक और इतने विभिन्न
विषयोंका विवेचन द्विवेदीजीकी 'बन्धगलों' की विशेषता है। बाणभट्टने भट्टार
हरिचन्द्रके उज्ज्वल और हृद्य गद्यबन्धकी प्रशंसा की है। स्वयं बाणके दण्डबन्ध
रमणीय है। किन्तु द्विवेदी-बन्ध दोनोंसे पृथक् बन्ध है। संस्कृतके गद्य निर्माता
वर्णक्रम, पदयोजना जाति, रूप, विकटाक्षरविन्यास, उक्तिवैचित्र्य आदिमें ही
बन्ध मानते थे। किन्तु द्विवेदीजीकी बन्धप्रणाली इनसे पृथक् है। इसमें कला,
ज्ञान और विज्ञानके अन्यपणोंका एकत्र गुम्फन है। इसमें सन्देह नहीं कि

'आम फिर बौरा गये' की प्रेरणा अभिज्ञानशाकुन्तलके एक श्लोकसे मिली है। किन्तु कालिदासके मर्म खोलनेके व्याजसे उपर्युक्त अनेक अनुसन्धानोंका अनुसन्धान निबन्धकी एकतानतामें बाधक नहीं हुआ है।

द्विवेदीजीने संस्कृतके जिन ग्रन्थकारोंकी कृतियोंसे अपनी रचनाओंको पल्लवित किया है उनमें विशेष उल्लेखनीय भरत, वात्स्यायन, वराहमिहिर, कालिदास और बाणभट्ट हैं। 'प्राचीन भारतके कलात्मक विनोद' और 'भारतीय नाट्यशास्त्र की परम्परा'में नाट्यशास्त्र और कामसूत्रकी चुनी हुई सामग्रीका चयन कर दिया गया है। कलात्मक विनोदके छोटे कलेवरमें अपार सामग्री एकत्र कर दी गयी है और उसके कुछ परिच्छेदोंके ऊपर हमसे कई अनुसन्धान प्रबन्ध तैयार हो सकते हैं। कलाके सम्बन्धमें 'मृच्छकटिक' के एक पात्रकी एक उक्तिकी ओर द्विवेदीजीने सहृदयजनोंका ध्यान आकृष्ट किया है और स्वयं भी निष्कर्ष निकाला है कि 'जीविकाके साधन बन जानेपर कला अपने ऊँचे आसनसे गिर जाती है।''[1] कामशास्त्रीय ग्रन्थोंसे द्विवेदीजीने कला और नगरवृत्तसे सम्बद्ध कुछ व्यापारोंके उन्मीलन किये हैं। कामशास्त्रीय अन्य विषयोंकी चर्चामें जहाँ-तहाँ कुछ इंगित करनेके अतिरिक्त वे प्रायः मौन हैं जो आत्मनियन्त्रण अथवा किसी कुण्ठाका प्रतीक है। अवश्य ही कविताकी चर्चा करते समय वे सदा अरसिक नहीं बने रहते।[2] फिर भी संस्कृतके कवियोंकी तरह कभी-कभी अभिनवयौवना किशोरियोंकी भौंसोंमें मत्स्यधर्मिताके दर्शन कर लेते हैं। इधर इस दिशामें उनके कठोर आत्मसंयममें कुछ शिथिलता दिखाई देने लगी है। नायिकाभेदपर उनके विचार कुछ मुखरित होने लगे हैं। 'चारुचन्द्रलेख'में पद्मिनी नायिकाकी व्याख्या वसीक लक्षणके आधारपर, पद्मगन्धि श्वासके आधारपर, रजःप्रदत्त यन्त्रपर सौरीके मन्त्रोंके आधारपर तथा कुछ ऐसे ही अन्य सूत्रोंके आधारपर की गयी है। मेरे विचारमें विचारक संयम शिथिल नहीं होना चाहिए। श्लील-अश्लीलके निर्णयमें और कविकी निरंकुशताके मध्यमें स्थित साहित्यकारकी दृष्टि अशोभन नहीं मानी जायगी। वस्तुपरक दृष्टिसे कलाकार और चिन्तक सदा सत्यग्राही रहे हैं।

द्विवेदी-साहित्यमें वराहमिहिरके सांस्कृतिक अंश अधिक हैं। यद्यपि द्विवेदीजीने ज्योतिष शास्त्रका विधिवत् अध्ययन किया है किन्तु उनकी आरम्भिक कृतियोंमें फलित ज्योतिषमें उनकी विशेष आस्था नहीं झलकती। इधरकी रचनाओंमें योगों और ग्रहोंकी चर्चा कुछ बढ़ गयी है और 'मृत्युंजय रवीन्द्र'में

१. 'चारुचन्द्रलेख', पृ० १२२।
२. 'कविताकी चर्चा करते समय मुझमें रसना ठूँठ होनेकी मात्रा कम नहीं कर सकते'— साहित्यका मर्म', निबन्ध-संग्रह, पृ० १८०।

रवीन्द्रनाथ टगोरकी जन्मकुण्डलीको—उनकी जीवनसीमाको व एक पक्के ज्योतिषीकी भाँति निहारते जान पड़ते हैं। वहतसंहिताके आधारपर रत्न आभूषण आदिकी चर्चा द्विवेदीजीने की है। जाम्बूनद, शातकौम्भ हाटक वणव शृंगी, शुक्तिज, जातरूप, रसविद्ध आकर उन्गत आदि रूपमें स्वर्णके भेदोंपर विचार किये गये हैं। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवालने बारह वानी सोनेका विवरण प्रस्तुत किया था। द्विवेदीजीने सोलह बानीवाले सोनेकी भी खोज की है। वराहमिहिर जस ज्योतिषमें अद्वितीय हैं वैसे ही नारीके प्रति सरस श्रद्धा रखनेमें भी अप्रतिम हैं। वराहमिहिरकी भाँति द्विवेदीजीने भी नारीको श्रेष्ठ रत्न माना है और उसके चरण विमुग्ध हृदयपर अपनी कलाको निछावर कर दिया है।

द्विवेदीजीके सबसे प्रिय कवि कालिदास जान पड़ते हैं। कालिदासके साहित्यका उन्होंने पर्याप्त आलोड़न किया है और अनेक सूक्ष्म अनुसन्धान किये हैं। भारतीय धर्म, दर्शन शिल्प और साधनामें जो कुछ उदात्त है जो कुछ दत्त है, जो कुछ महनीय है, और जो कुछ ललित और मोहन है उसका प्रयत्नपूर्वक सजाया-सँवारा रूप कालिदासका काव्य है।[1] कालिदासके काव्यमें जो कुछ मधुर है उदार है सवद्य है निश्छल है और स्नेहमय है उन सबका सयोजन द्विवेदी-साहित्यकी एक कला है। कालिदासकी चेतनाके तादात्म्य करनेमें, उनकी सान्द्र अनुभूतियोंके पहचाननेमें और उनके शब्दोंके अन्तर्निहित रहस्योंके उद्घाटनमें द्विवेदीजी अद्वितीय हैं। साथ ही कालिदासकी भावराशि और शब्द-सम्पत्तिसे उनका साहित्य उजागर और चमत्कृत है। कालिदासके निवात निष्कम्प प्रदीप-जैसे कुछ शब्द द्विवेदीजीके अवचेतनमें उतर आये हैं और बार-बार उनके चिन्तनमें झलक जाते हैं। यद्यपि द्विवेदीजीने यथावसर कालिदासके शब्दों और भावोंका अनुगमन किया है किन्तु ऐसे स्थलोंपर उनका उद्देश्य सहृदय पाठकोंके मनमें कालिदासकी स्मृति जगा देना होता है अथवा कालिदासके किसी रम्य चित्रको झलका देना होता है। जैसे—

"उज्जयिनीके सौध वातायनोंसे चकित हुए चन्द्रवदनोंके अलकायित रक्ताशार और श्रवणान्त कर्णिकार अब भी भूले नहीं हैं सिप्राकी चटुल-चुलुल्य प्रेक्षिकाएँ मोहिनी अब भी मनोहृष्ट स्वप्नकी भाँति मन्मत्त कर रही हैं हिमालयके कुंजर विन्दु गाण भूजतरु अब भी किन्नर-वधुओंके अनंगलेखोंकी याद दिला देते हैं।'[2]

1 'कालिदासकी लालित्य-योजना', पृ० ३।
2 'विचार और वितर्क' पृ० ११६।

सन्तुलित दृष्टि

कालिदासके भावचिह्न, भावानुप्रवेश, यथालिखितानुभाव, अबोधपूर्वा स्मृति आदि शब्दोंकी रसात्मक व्याख्या महाकविके स्नेह-दान और द्विवेदीजीके सूक्ष्म दर्शनका एक साथ निदर्शन है। कालिदासके सांस्कृतिक अध्ययनमें जिन जिन विषयोंका ग्रहण हो सकता है उन सबको बीन-बीनकर द्विवेदीजीने अपने साहित्यके बीच बीचमें सन्नद्ध कर दिया है। कालिदासको मयूरबर्हकेश, मेघमें चक्रवेणी, कुन्दानुविद्ध अलकें प्रिय थीं। द्विवेदीजीने इनपर खूब लिखा है। कालिदासके लिए नृत्य मोहक था। द्विवेदीजीने अपनी कल्पनामें नृत्योंके अनेक आयोजन किये हैं। मालविकाकी नृत्य भंगिमा, उसकी अराल उँगलियाँ नृत्यके लिए ही रची गयी-सी उसकी शरीर यष्टि, द्विवेदीजीकी भावधारामें रह रहकर उछल पड़ती है। कालिदासके 'छन्दो नर्तयितुम्'की प्रेरणासे उद्बुद्ध द्विवेदीजीका एक नृत्यमय शब्दचित्र द्रष्टव्य है—

'उसका सारा शरीर छन्दोंसे बना जान पड़ता था। मानो अनुप्रासोंसे चमककर, संगीतमें ढालकर, यमकोंसे सँवारकर, उपमानोंसे निखारकर, तालोंसे बाँधकर, यतियोंसे शासित कर इस मनोरम आवयव शरीरको स्वयं छन्दोदेवताने बनाया हो।'[1]

कालिदासमें रूप, प्रभा और लावण्यके अनेक जगमगाते चित्र हैं। द्विवेदीजीने उन सबको देखा है, परखा है और किसी-न-किसी रूपमें अंकित किया है। कालिदासने उठते सौन्दर्यको सूर्यांशु ईषत् भिन्न अरविन्दमें, तूलिकासे ईषत् उन्मीलित चित्रमें देखा था। हवाके हिलोरसे हिलती लतामें, कुसुमस्तबकमें उन्हें लोभनीय रूप दिखाई देता था। संचारिणी दीपशिखामें और प्रभा-तरल ज्योतिमें उन्हें सुषमाके दर्शन होते थे। द्विवेदीजीने इन सबका आकलन प्रायः कालिदासके ढंगसे ही अपने साहित्यमें किया है। कहीं-कहीं उपालम्भके रूपमें द्विवेदीजीने कालिदासके रूप वर्णनकी समीक्षा भी की है। आतपक्लान्त माधवी लता सी कामनत नारीकी शोभा और प्रियदर्शना श्यामापर कालिदासकी दृष्टि अवश्य गयी है किन्तु मुख्य रूपसे वह मधुर रूपमें निर्वाण खोजती रही है। करुण-व्यथित सौन्दर्यकी झलक कालिदासमें कम है। इसपर द्विवेदीजीने यों लिखा है—

हाय महाकवि, तुमने हँसी-खुशीमें ही जिन्दगी काट दी। तुमने एकाध करुण-मोहक स्मित देखा होता, तो दुनियाको बता जाते कि वह कौन था। पार्वतीके सौन्दर्य स्मितको तुमने अमर कर दिया है, किसलय विनिहित पुष्पमें जो

[1] 'चारुचन्द्रलेख' पृ० १८०।

पवित्रता है और निर्मल विद्रुमपात्रमें रखे हुए मुक्ताफलोंमें जो आभिजात्य है
वह तुमने लक्ष्य किया था पर इनको स्वच्छन्दवाहिनीकी धारामें डूबते-उतराते
बहते-उतराते तुमने नहीं देखा। यह वह पुष्प था जिसके विकसित क्षण भर
बाद ही धाराधार वर्षा हो गयी यह वह तारिका थी, जिसके उदय होते ही
कुज्झटिकासे दिगन्त धूसर हो गया यह, वह इन्द्रधनुष था जिसके उदय होते ही
समूचे आकाशको धूमिल बना लिया।[1]

द्विवेदीजीने कालिदासके दृश्यमान सौन्दर्यके उस पार किसी एक शाश्वत
सत्ताको स्वीकार किया है जो मंगलकी ओर ले जानेका संकल्प रखती है। किन्तु
द्विवेदीजीकी अपनी व्याख्या समझनी चाहिए।

द्विवेदी-साहित्यका एक अंग कालिदास-सम्बन्धी अनुसन्धानसे सम्बन्ध रखता
है। 'चारुचन्द्रलेख' में विद्यात्माकी तपस्या, सरस्वती और विक्रमादित्य-सम्बन्धी
उनके मौलिक अन्वेषण विचारणीय हैं। जान पड़ता है द्विवेदीजी 'चारुचन्द्रलेख'-
में कालिदासके जीवनको ही चित्रित करना चाहते थे। किन्तु ११-१२वीं शताब्दी
तकके तन्त्र-साहित्यको उसमें समेट लेनेकी इच्छाने उन्हें मूल विचारको छोड़-
देना पड़ा। फिर भी गाथा तत्त्वके बहाने कालिदासकी कथा आ गयी है।
'चारुचन्द्रलेख' के आरम्भमें 'अभिज्ञान शाकुन्तल' और 'कुमारसम्भव' की स्मृति
छाप है और प्रकृति अथवा रूपवर्णन प्रधान स्थलोंमें कालिदासका वाङ्मय
ओतप्रोत है।

कालिदासकी साहित्य साधना में प्राकृतिक सौन्दर्यसे भिन्न किन्तु उसके
समानान्तर चलनेवाला मानवरचित सौन्दर्यका उन्मीलन है। साथ ही द्विवेदीजी-
ने योग और भोगमें, कला और विज्ञानमें, शक्तिमें और जीवनमें, सर्वत्र कालिदासकी
सन्तुलित दृष्टिपर प्रकाश डाला है और कुछ दूर तक इसे अपने साहित्यमें उतारने-
की चेष्टा की है।

कालिदासके समान बाणभट्टके साहित्यसे भी द्विवेदी-साहित्यका गहरा सम्बन्ध
है। बाणभट्टके अबाध शब्दीय प्रवाहमें आमूलचूल डूबकर, उतराकर, बहकर
तैरकर द्विवेदीजीने जितना देखा-सुना है उतना शायद ही कोई दूसरा व्यक्ति
जान सका हो। 'बाणभट्टकी आत्मकथा' में कादम्बरी और हर्षचरितके सभी
रमणीय अंश अन्तर्निविष्ट कर लिये गये हैं। शब्द बाणभट्टीय है। उत्प्रेक्षा और रूप-
सौन्दर्यकी भरमार बाणभट्टके साथ आँखमिचौनी खेलती जान पड़ती है। अन्य

१ 'बाणभट्टकी आत्मकथा', पृ० १३५।

कवियोंकी उँगलियाँ भी जब-तब पकड़में आ गया है। पर द्विवेदीजी सर्वत्र कोई न कोई नूतन अस्पष्ट छवि झलका देते हैं। यह विशेषता प्रकृति-वर्णन और रूप-वर्णन दोनों स्थलोंपर है। नीचे लिखा गद्यांश बाणभट्टकी छाया लेकर भी अपना महत्त्व रखता है— 'सूर्यमण्डल अपने किरण जालको ऊपरकी ओर समेट रहा था। ऐसा लग रहा था, मानो दिवसलक्ष्मी आकाशके पश्चिमप्रान्तसे नीचेकी ओर चली जा रही है और उनके द्रुत-सञ्चारित चरणोंसे पद्मराग मणिके नूपुर खिसककर पीछे छूट गये हैं। सूर्यबिम्बने सारा दिन करपुटोंमें जो कमल पराग संग्रह किया था, वह मानो अचानक ढरक गया और सारा आकाश पद्मरागके रसमें पिंजर हो गया।'[1]

नारी रूप वर्णनमें बाणभट्ट और कालिदासकी तरह द्विवेदीजीकी दृष्टि उत्फुल्ल कपोल, धूपायित केशपाश, कादम्बायिनी आँखें आदिपर क्षण भर ठहर जाती है किन्तु नीचे नहीं उतरती। जिन अंगोंके नाम लिये बिना संस्कृतके कवियोंको सौन्दर्यका उभार दिखाई नहीं देता उनके विषयमें द्विवेदीजी स्पष्ट मौन साध लेते हैं। इतना आत्म-संयम किसी युगके साहित्यकारमें मिलना दुष्कर है। कहीं-कहीं उसमें अब वे इस क्षेत्रमें भी कुछ नम्र हो रहे हैं और अब लिखने लगे हैं—

'उल्लास चञ्चल साड़ी जब मण्डलित हो उठती थी तो भीतरकी नीली अँगिया मन-मन बन्धियोंमें मरकत-व्याकुञ्चित होकर उस पक्षान्तका प्रयत्न करती था, परन्तु कठोर पयोधरा बन्धनमें बन्ध उच्छ्वसित रह जाती थी।'[2]

रूपवर्णनमें द्विवेदीजीको वर्ण-साहश्य चित्र वर्णनकी अपेक्षा अधिक प्रिय हैं। निशीथ रञ्जित जपापुष्प जैसा विलासिनी कचनार, धूलि-धूसरित अशोक कुसुम जैसे मनोहर धूसर चित्र बाणभट्टकी आत्मकथा और 'चारुचन्द्रलेख' दोनोंमें बिखरे पड़े हैं। क्षौम कौशेय हंसविहित दुकूल कपास मयूर अंशुक आदि सांस्कृतिक महत्त्वके शब्द कालिदास और बाणभट्टसे ज्यों-के-त्यों लिये गये हैं।

द्विवेदीजीके साहित्यमें तन्त्र साहित्य भी धीरे-धीरे उभर रहा है। ईसाकी पाँचवीं शताब्दीसे लेकर बारहवीं शताब्दी तकके प्रमुख तन्त्र मार्गोंको इनके उपन्यासोंमें स्थान दे चुके हैं। पर विरल-उपेक्षित साहित्यका पूरा ज्ञाता सम्भवतः पद्धतिसे प्रकाशमें लानेका श्रेय द्विवेदीजीको मिलना चाहिए। उन्होंने तन्त्र साहित्यके गम्भीर पारिभाषिक शब्दोंको हिन्दीमें सहजरूपमें उतार लिया है।

१ 'बाणभट्टकी आत्मकथा' पृ० १४२।
२ 'चारुचन्द्रलेख' पृ० ३१३।

जहाँ वहाँ नवीन मनोविज्ञानके प्रकाशमें तन्त्र साधनाओंकी नवीन व्याख्या की गयी है। आगमोंके इच्छा ज्ञान और क्रियाके आधारपर जीवन-मूल्योंकी सर्वथा नूतन व्याख्याकी ओर द्विवेदीजी अग्रसर हो रहे हैं। इसमें सन्देह नहीं कि उनकी कुछ महत्त्वपूर्ण रचनाओंका उपजीव्य संस्कृतका तन्त्र साहित्य है।

इतना कुछ होते हुए भी यह कहना कठिन है कि द्विवेदीजी संस्कृत साहित्यसे प्रभावित हैं। मेरे विचारमें, उन्होंने संस्कृत साहित्यसे जो कुछ लिया है उसपर अनुसन्धान कर उसका ऋण चुका दिया है। द्विवेदीजीकी दृष्टिमें संस्कृत भारतीय मस्तिष्कके सर्वोत्तमको प्रकाशित करनेवाली अतुलनीय भाषा है।[1] साथ ही वे यह भी स्वीकार करते हैं कि हमारी भाषापर हमारे विचारोंपर और हमारे साहित्यपर संस्कृतके उत्कृष्ट साहित्यका प्रभाव पड़ना कोई लज्जाकी बात नहीं है नहीं पड़ना जरूर लज्जाकी बात है।'[2] मेरे मतमें, विचारके क्षेत्रमें द्विवेदीजी संस्कृत साहित्यसे प्रभावित नहीं हैं। किसी वस्तुका ग्रहण प्रभाव नहीं है, उस ग्रहणसे अभिभूत हो जाना प्रभाव है। दर्शन प्रभाव नहीं है किन्तु दर्शनसे दृष्टि भेद हो जाना प्रभाव है। संस्कृत साहित्यमें अवगाहनसे द्विवेदीजीमें निखार आया है किन्तु उनकी चेतनाका आलोक बहुत अंशमें भिन्न है सम्भवतः आधुनिक ज्ञान विज्ञानसे। कालिदास और बाणभट्टकी भाँति द्विवेदीजीका अपना जन्मभूमिसे अनुराग है। बाणभट्टकी आत्मकथामें यदि बलिया जिलेके सुरम्य झीलका नहीं भूल है और चारुचन्द्रलेखा की कहानी तो उनके गाँवके आस पाससे ही आरम्भ होती है। किन्तु पूर्व समुद्रसे लेकर पश्चिम समुद्र तक, मेरु लोकसे लेकर किन्नर लोक तक सर्वत्र एक ही रागात्मक सत्ताकी आभामें प्रयोग द्वारा प्रत्यक्ष करने-करानेकी भावना अपेक्षाकृत आधुनिक है। संस्कृतके लेखक साहित्यको शब्द और अर्थसे बहुत दूर नहीं ले जा पाते थे। द्विवेदीजीकी दृष्टिमें मनुष्यकी जो सबसे सूक्ष्म और महनीय साधना है उसीका प्रकाश साहित्य है।[3] संस्कृत साहित्य भोगपरक है। द्विवेदीजी इससे प्रभावित नहीं जान पड़ते। द्विवेदीजीका अपना स्वतन्त्र जीवन-दर्शन है। द्विवेदी-साहित्यकी पीठिका एक सीमित रूपमें ही है और वह भी केवल पीठिका रूपमें ही। उसमें रंग विन्यास बहुत-कुछ द्विवेदी जीके हैं और प्राण तो उनके हैं ही। अपने प्राणोंके कुछ अंश अंशसे सबन्धोंके कुछ क्षण द्विवेदीजीने संस्कृतके लिए भी उत्सर्ग किये हैं। उन्होंने कई रचनाएँ रच

---

१ 'विचार और वितर्क' पृ० ७३।
२ 'विचार और वितर्क', पृ० ७४।
३ 'साहित्यका मर्म' निबन्ध संग्रह, पृ० १६०।

जो सस्कृत साहित्यक लिए उनकी मौलिक दन ह। उनका एक श्लोक यहाँ
.धृत किया जा रहा ह—

> भित्वा पाषाणपिठर छित्वा प्राभञ्जनी व्यथाम ।
> पीत्वा पातालपानीय कुटजश्चुम्बते नभ ॥[1]

■

नवीन रचनाओंमें जो प्राण है उसे कोई इनकार नहीं कर सकता,
परन्तु मेरा अनुमान है कि यदि किसी दिन इस देशमें इन कवि
ताओं (नयी कविता) ने गहरे तक जड़ जमायी तो दो शर्तें वे
किसी-न किसी रूपमें अवश्य मान लेंगी। वे ज्ञान सौन्दर्य
और कल्याणके अस्थायी रूपके साथ स्थायी शाश्वत रूपको
अस्वीकार नहीं कर पायेंगी और न यही अस्वीकार कर पायेंगी
कि उनका काम सहृदयके हृदयमें स्थायी रूपसे विद्यमान भावों-
का उद्बोध है।

—साहित्य सहचर

---

[1] 'कुटज', १०८।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीकी समीक्षा दृष्टि

• •

रामदरश मिश्र

लोग कभी-कभी किसी व्यक्तिको उसी व्यक्तिमें बाँटना चाहते हैं। उसके एक गुणको समृद्ध बताकर दूसरे गुणको उससे पराभूत करना चाहते हैं। लेकिन प्रायः होता ऐसा है कि उस व्यक्तिका एक गुण दूसरेका पूरक बनकर उसे और भी प्रदीप्त कर देता है। लोग किसी विशेष अभिप्रायसे इस पूरकताको लुप्त कर उन्हें खण्डित रूपमें देखना चाहते हैं। मैंने प्रायः कुछ आलोचकोंको यह कहते सुना है कि श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी सर्जक तो बहुत बड़े हैं किन्तु आलोचकके रूपमें उतने शक्तिमान् नहीं। कुछ लोग तो सलाह भी देते पाये गये हैं कि वे निबन्ध (व्यक्ति व्यंजक निबन्ध) और उपन्यास ही लिखें। आलोचनाके चक्करमें क्या पड़ते हैं? यानी वे यह कहते हैं कि द्विवेदीजी अपना सर्वोत्तम रचनात्मक साहित्यके माध्यमसे ही दे सकते हैं। आलोचनाके फेरमें पड़कर वे अपनी सर्वोत्तम शक्तिका सदुपयोग नहीं करते।

वास्तवमें इस कथनके पीछे यह धारणा छिपी हुई है कि आलोचना एक बौद्धिक व्यापार है। आलोचक विश्लेषण शक्तिसे सम्पन्न एक तटस्थ न्यायाधीश है जो गम्भीरताका भारी चश्मा पहने हुए आलोच्य कृतियोंपर निर्लिप्त व्याख्या और निर्णय प्रस्तुत करता है जिसमें बौद्धिकताका एक आतंक और भाराक्रान्तता होती है किन्तु सर्जनात्मकताके कुछ स्पन्दन नहीं होता। क्या सचमुच आलोचक वह न्यायाधीश है जो घटनास्थल और घटनाकी प्रक्रियासे दूर बैठा हुआ वकीलोंकी बहसोंपर फैसला देता है। वह फैसला मानवीय है या अमानवीय इसकी चिन्ता उसे कम होती है नियम पालनकी चिन्ता अधिक। आलोचनाके सर्जनात्मकताका रस देखकर ऐसे ही आलोचक चौंक उठते हैं और यह कहना शुरू करते हैं कि इस आलोचकको तो रचनाके क्षेत्रमें रहना चाहिए था जैसे कि आलोचनाका सर्जनात्मकतासे कोई सम्बन्ध नहीं। शायद ऐसे ही आलोचकोंको ध्यानमें रखकर कहा गया है कि असफल कवि आलोचक बन जाता है।

मैं सर्जनात्मकता और आलोचनामें इस आत्यंतिक अलगावका पक्षपाती नहीं। सर्जनात्मक प्रतिभावाला ही आलोचक सर्जनकी वास्तविक प्रक्रियाको पहचान सकता है, वह अनुभव कर सकता है कि कला-कृतियोंमें सर्जनकी समस्या कितनी जटिल और संश्लिष्ट होती है, कलाकी मूल प्रकृति क्या है? सर्जनात्मक प्रतिभा-सम्पन्न आलोचक शुष्क सिद्धान्तोंकी बात नहीं करता, सिद्धान्तों या कृतियोंकी निर्लिप्त बौद्धिक विवेचना मात्र नहीं करता, वह अपनी रचनात्मक प्रतिभासे भावावेगको समझानेका प्रयास करता है, कवि-द्वारा अनुभूत और अभिव्यक्त सत्य-चेतनाका अनुभव करानेकी चेष्टा करता है और इस तरह वह अपनी कल्पनामें रचनात्मक सौंदर्यकी सृष्टि करता हुआ पाठकोंको सौंदर्यके माध्यमसे सौंदर्य तक ले जाता है। इन सारी रचनात्मक क्रियाओंके साथ उसकी विश्लेषणपरक बौद्धिकता और चिन्तनशीलता साथ रही रहती है।

'जबतक सहृदयका व्यक्तित्व कविके साथ एकाकार नहीं हो जाता तबतक रसका अनुभव नहीं हो सकता। समालोचक जबतक अपना अहंकार लेकर बैठा रहेगा तबतक रस नहीं पा सकेगा। स्वयं गुरुजीने कहा है कि काव्यका जो चरम लक्ष्य सर्वभूतको आत्मभूत करके अनुभव कराना है उसके साधनमें भी अहंकारका त्याग है।'[1]

सर्जनात्मकतासे सर्वथा हीन आलोचना बन्ध्या आलोचना है जो केवल सिद्धान्तोंकी बात करती है किन्तु यह नहीं देखती कि इन सिद्धान्तोंसे बहुतसे अर्जित मानवीय साहित्यका पथ कितना प्रशस्त होता है या कि उनसे मूल्यांकन कितना सही हो पाता है। द्विवेदीजीकी आलोचनामें सर्जनात्मकताका सौन्दर्य इस बातका परिचायक नहीं है कि उन्हें सर्जन-साहित्यमें ही रत रहना चाहिए था बल्कि उलटे यह सिद्ध करता है कि उससे उनका आलोचना साहित्य कितना गौरवान्वित हो जाता है। सर्जनात्मकताका रंग इसलिए भी द्विवेदीजीकी समालोचनाओंमें एक ऐसा रंग लाता है कि वे एक साथ ही पूर्वके रसवाद और पश्चिमके देशोंके, साम्यवादी प्रभावित साहित्य और शुद्ध उद्देश्य प्रधान साहित्य—सबका आस्वाद ले सकते हैं और इस साहित्यकी सर्जनाके लिए उसे प्रभावित करनेवाले तत्त्वों—परम्परा युग समाज सर्जकका व्यक्तित्व तथा पाठक इत्यादिके व्यक्तित्व—का विश्लेषण करते हैं।

कहा जा सकता है कि द्विवेदीजीकी समालोचना मूलतः रचनात्मक है। उनकी दृष्टि रचनाके मूल सौन्दर्य और उसके विधायक तत्त्वोंका उद्घाटन करती है। अर्थात् वे इस बातके समर्थक हैं कि साहित्यके सौन्दर्यका

१ 'साहित्यका साथी' : आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी।

आस्वाद और परीक्षण साहित्यके ही मानदण्डोंसे होना चाहिए। किन्तु साहित्य क्या है? इसी बिंदुपर विचारोंमें अलगाव लक्षित होने लगता है। जब यह कहा जाता है कि साहित्यमें सामाजिकता नहीं है, मानवता नहीं है, सांस्कृतिक मूल्य नहीं है तो क्या इसका यह अर्थ होता है कि साहित्यको साहित्येतर क्षेत्रोंमें घसीटा जा रहा है या इन सबका साहित्यके सृजन और मूल्यके साथ अपरिहार्य सम्बन्ध जोड़ा जा रहा है। दोनों बातें कही जा सकती हैं। बहुत-से विचारक इस मतके हैं कि साहित्य अपने भीतरसे सामाजिक और मानवतावादी स्वरूपको मुखर करे यानी वह एक विशेष प्रकारके सामाजिक उद्देश्यसे प्रेरित हो। साहित्यकी साहित्यिकताका आग्रह करनेवाले इस प्रकारकी उद्देश्यपरकताका विरोध करते हैं। किन्तु साहित्यमें सामाजिकता और मानवतावादको समाविष्ट करनेकी एक दूसरी भी दृष्टि है जो मूलतः रचनात्मक है। अर्थात् जो मानती है कि स्वस्थ और सशक्त साहित्यके सृजनके मूलमें ही सामाजिकता और मानववादिता होती है। यह सामाजिकता साहित्यपर आरोपित नहीं है बल्कि उसका मूल स्रोत है। उस मूल स्रोतसे विच्छिन्न होनेपर या क्षीण रूपसे सम्बद्ध होनेपर साहित्य अपनी शक्ति खो बैठता है। उसमें सौन्दर्य अन्य उपकरणोंसे भी आता है। परन्तु वह सौन्दर्य ऊपरी और प्रभावहीन होता है। द्विवेदीजीने सामाजिकता और मानवतावादको इसी सृजनात्मक पहलूके साथ सम्बद्ध किया है। यह बात स्पष्ट है कि वे मानवतावादी और सामाजिकताके स्वरको वहन करनेवाले साहित्यको ही उच्च साहित्य कहते हैं किन्तु उनकी सामाजिकता और मानवतावादी आदर्श साहित्यपर आरोपित नहीं किया गया है बल्कि साहित्य-सृजनकी मूल शक्तिके रूपमें पाया गया है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी ज्ञानेन्द्रियोंके सहारे कुछ तथ्योंकी उपलब्धि करता है और कुछ बातोंको उपलब्धियोंके सहारे स्मरण करता है। इन्हीं उपलब्धियों और स्मृतियोंसे उसके अपने व्यक्तिकी दुनिया बनती है। परन्तु यह दुनिया बदलती रहती है। वैयक्तिक तथ्य जगत निरन्तर दूसरे लोगोंके उपलब्ध तथ्य-जगतसे टकराते रहते हैं और सामान्य तत्त्व छट-छँटकर हमारी ज्ञानराशिके रूपमें परिणत होते रहते हैं। इससे दो बातें सिद्ध होती हैं—एक तो यह कि व्यक्तिके द्वारा गृहीत तथ्यात्मक ज्ञान राशि सम्पूर्ण रूपसे वैयक्तिक नहीं होती। वह दूसरोंकी उपलब्धि और स्मृतिसे बनी तथ्यात्मक ज्ञान राशिसे टकरा-टकराकर बना हुआ एक ऐसा पदार्थ है जिसे हम अन्तर्वैयक्तिक तथ्य जगत कह सकते हैं। दूसरी बात यह मालूम होती है कि यह अन्तर्वैयक्तिक तथ्य जगत निरन्तर परिवर्धमान और परिवर्तनमान पदार्थ है—वह गतिशील है। वह नाना वैयक्तिक तथ्य

होती, केवल अन्तरकी चेतनापर मृदुल आघात करके विलीन हो जाती है। रीति कविकी अज्ञातयौवना नायिकाने जब अपनी दासीका दिया दतुअन ले आनेके अपराधमें झिड़का था तो उसकी सरलताने ऐसी ही एक क्षणिक ज्योति उत्पन्न की थी। अधरके माधुर्यमें दतुअन कड़ी भी मीठी होकर ऊख-सी नहीं लगने लगती। इसलिए इस दोहेमें मृदु कम्पन उत्पन्न करनेकी शक्ति होते हुए भी वह उतना अनुभूति प्रेरक नहीं हो पाया क्योंकि इस कम्पनका हेतु बाह्य सत्तासे असम्पृक्त होनेके कारण स्थायी नहीं होता और न अनुभूतिको गाढ़ रंग ही देता है। दोहा इस प्रकार है—

अधर परस मीठी भई, दई हाथ सो डारि।
ल्यावति दतुअनि ऊख की भोरी खिजमति गारि॥

लेकिन प्रश्न यहीं समाप्त नहीं हो जाता। यह कविता भी एक श्रेणीके लोगोंका आनन्द लेती है इसलिए इस उपेक्षाकी दृष्टिसे नहीं देखा जा सकता।'

सामाजिकताके आग्रही ऐसी कविताओंको तुच्छ मानकर या तो इन्हें छोड़ देते हैं या इनका मजाक करते हैं किन्तु द्विवेदीजी अनुभव करते हैं कि कलाकी दृष्टिसे इनकी भी विवेचना होनी चाहिए, इनके भीतर जो रस और आनन्द देनेवाला सौन्दर्य है उसे प्रकाशित करना चाहिए। बाह्य सत्ता कभी नहीं है वह तो कलाकी उपज है कलामें वह ज्योंकी त्यों नहीं गृहीत होती। कला एक संश्लिष्ट व्यापार है उसमें पदार्थ एक विशेष प्रक्रियामें मिल-जुलकर रसायन तैयार करते हैं। इसलिए साहित्य और कलाकी चर्चा रूढ़ या दलबन्दी सामाजिक दृष्टिसे नहीं हो सकती। मिश्रजी कहते हैं— कविताकी चर्चा करते समय मुझसे इतना ठेठ होनेकी आशा आप नहीं कर सकते पर मेरी आपत्ति उसी उक्तिका समुचित मीठा लगनेपर है जो स्वयं उस माधुर्यका धनी है।" फिर भी वे इस प्रकारकी उक्तियोंके प्रयोगके मूल कारणोंकी खोज करते हुए इनकी सार्थकता प्रमाणित करते हैं— "रूढ़ि नितान्त निरर्थक नहीं होती, केवल काल प्रवाहमें घिसते आनेके कारण उसके मूल अर्थ घिसकर अस्पष्ट हो गये रहते हैं। इन रूढ़ियोंमें इतना अर्थोंका और आचारोंका एक ऐसा मूल्य मिलता है जो लाक्षणिक और अनास्वाद्य होता है। अधर स्पर्शसे दतुअनका मीठी हो जाना इसी प्रकारका कल्पित और अनास्वाद्य अर्थ है पर वह भी एक श्रेणीके सहृदयके चित्तमें आनन्द कम्पन उत्पन्न करता ही है।"

बाह्य सत्ताके स्वरूप साहित्यका सम्बन्ध है यह बात सिद्ध हो जानेपर भी यह जानना शेष रहता है कि बाह्य सत्ता क्या है? बाह्य सत्ता शब्दपर विचार करनेकी आवश्यकता भी है। इसका अर्थ उस सत्तासे है जो किसी

व्यक्ति तक सीमित न हो बल्कि समष्टिमें व्याप्त हो। किन्तु क्या बाहर फैली हुई समस्त सत्ताको सब कुछ समेटना कलाकारके लिए आवश्यक है? क्या बाहर दिखाई पड़नेवाला सब कुछ सत्य है? इस सन्दर्भमें विचार करते हुए द्विवेदीजीने कहा है कि—ज्ञान दोमुहा पदार्थ है और उसके एक ओर तथ्य है दूसरी ओर सत्य। सभी तथ्य सत्य नहीं होते। ऐसा कह सकते हैं कि तथ्यके भीतर सत्य अन्तर्लीन होकर वर्तमान रहता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी ज्ञानेन्द्रियोंके सहारे कुछ तथ्योंकी उपलब्धि करता है और कुछ बातोंकी उपलब्धियोंके सहारे स्मरण करता है। इन्हीं उपलब्धियों और स्मृतियोंके ताने-बानेसे व्यक्तिकी दुनिया बनती है परन्तु यह दुनिया बदलती रहती है। वैयक्तिक तथ्य जगत निरन्तर दूसरे लोगोंके उपलब्ध तथ्य जगतसे टकराते रहते हैं और सामान्य तत्त्व छँट-छँटकर हमारी ज्ञानराशिके रूपमें परिणत होते रहते हैं। इस प्रकार नित्य हमारे वैयक्तिक उपलब्ध ज्ञानमें परिवर्तन और परिवर्धन होते रहते हैं। इससे दो बातें सिद्ध होती हैं—एक तो यह कि व्यक्तिके अन्तःकरणमें गृहीत तथ्यात्मक ज्ञान राशि सम्पूर्ण रूपमें वैयक्तिक नहीं होती। वह दूसरोंकी उपलब्धि और स्मृतिसे बनी तथ्यात्मक ज्ञान राशिसे टकरा-टकराकर बना हुआ ऐसा पदार्थ है जिसे हम अन्तर्वैयक्तिक तथ्य जगत कह सकते हैं। दूसरी बात यह मालूम होती है कि यह अन्तर्वैयक्तिक तथ्य जगत निरन्तर परिवर्तमान और परिवर्धमान पदार्थ है—यह गतिशील है। [विचार प्रवाह पृ० १३३-१३४]

इससे सिद्ध होता है कि सत्य वह नहीं है जिसे व्यक्ति अपनी इन्द्रियोंसे उपलब्ध करता है। सत्य वह है जो अनेक लोगोंकी उपलब्धियोंका सामान्य रूप होता है। सत्य बदलता रहता है वह स्थिर नहीं रहता। इस प्रकार हम यदि मानव समष्टिको देखें तो पायेंगे कि अपनी सीमाओंसे जूझते हुए उनसे निकलने की अदम्य इच्छा और अनवरत गति मानवका सबसे बड़ा सत्य है। जब हम व्यक्तिगत दृष्टिसे अलग-अलग व्यक्तियोंको देखते हैं या जीवनके ऊपरले स्तरोंको देखते हैं तो हमें ऐसा लगता है कि मानव कमजोर है हीन है स्वार्थी है पशु-वृत्तिका शिकार है। हमें यही सत्य मालूम पड़ता है। किन्तु जब हम मानव जीवनके सामूहिक प्रवाहको देखते हैं मनुष्यकी नाचती धाराको देखते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि समष्टि मानव अपनी सीमाओं और भिन्नताओंके बावजूद बड़ा ही समर्थ सबल और बड़ा है। उसे उच्चतम उपलब्धियाँ भले ही प्राप्त न हो सकी हों किन्तु उपलब्धियोंके लिए उसकी अखण्ड सामूहिक यात्रा अपने आपमें कम महत्त्वपूर्ण और कम सत्य नहीं है। समूचे मानवकी इस अखण्ड यात्राका ही परिणाम है। उन सभ्यताओं और संस्कृतियोंका जन्म और विकास जो अपने

सारे बाह्य जगतको असुन्दर छोड़कर सौन्दर्यकी सृष्टि नहीं कर सकते। सुन्दरता सामंजस्यका नाम है। जिस दुनियामें छोटाई-बड़ाईमें, धनी और निर्धनमें, ज्ञानी और अज्ञानीमें आकाश-पातालका अन्तर हो वह दुनिया सामंजस्यकी नहीं कही जा सकती और इसलिए वह सुन्दर भी नहीं है। इस बाह्य असुन्दरताके ढूहपर खड़े होकर आन्तरिक सौन्दर्यकी उपासना नहीं हो सकती। हम उस बाह्य असौन्दर्यको देखना ही पड़ेगा। निर्धन निर्वसन जनताके बीच खड़े होकर आप परियोंके सौन्दर्य लोककी कल्पना नहीं कर सकते। साहित्य सुन्दरका उपासक है। इसलिए साहित्यिकको असामंजस्यको दूर करनेका प्रयत्न पहले करना होगा। सौन्दर्य और असौन्दर्यका कोई समझौता नहीं हो सकता। सत्य अपना पूरा मूल्य चाहता है। उसे पानेका सीधा और एकमात्र रास्ता उसकी कीमत चुका देना ही है। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा रास्ता नहीं है। हमारे देशका बाह्य रूप न तो आँखोंको प्रीति देने लायक है न कानोंको न मनको न बुद्धिको। यह सच्चाई है।' (अशोकके फूल पृ० १९८-१९९) इस उद्धरणका तात्पर्य यह है कि वही साहित्यकार सौन्दर्यका निर्माण कर सकता है जो अपने सामाजिक दायित्वको समझता है और कई प्रकारके तत्त्वोंको परस्पर अनुस्यूत करता है। जब वह परम्परा और आधुनिकता आत्म और बाह्यको परस्पर गूँथता है तब उसमें सुन्दरताके साथ-ही-साथ सामाजिक असुन्दरताका बोध तथा उसे दूर करनेकी तड़प होती है जब उसमें सामाजिक चेतना मूर्तिमान होती है तभी वह जीवन-सम्भावनाको गढ़ सकता है। असुन्दरताको मिटानेवाला विद्रोही स्वर भी सुन्दर है और सामाजिक पीड़ाके बीच चुपचाप बैठकर मात्र प्रवचन करनेवाले आत्ममुग्ध कलाकारोंके सपने रंग असुन्दर हैं।

कहा जा चुका है कि द्विवेदीजीकी समन्वय-दृष्टि मूलतः सर्जनात्मक है। वह समग्र जीवन रचनाके लिए हर प्रकारके तत्त्ववादका स्वीकार करना चाहती है और साहित्य भी समग्र तभी होगा जब वह समग्र जीवन-दृष्टिसे उत्पन्न होगा। इस दृष्टिके सामने मूल प्रश्न यह नहीं होता कि क्या क्या छोड़ा जाये बल्कि यह होता है कि कहाँ-कहाँसे क्या-क्या लिया जाय? इस तत्त्व-संग्राही वृत्तिके साथ अतत्त्व-त्यागी वृत्ति अपने-आप लगी हुई है किन्तु त्याग करनेवाली वृत्तिमें कभी-कभी किसी पूर्वाग्रहके कारण तत्त्वोंका भी त्याग हो जाता है। वह कभी कभी रुचि निरपेक्ष ग्रस्त होनेके कारण अन्य सुन्दर चीजोंका भी त्याग कर देता है किन्तु तत्त्व-ग्राही वृत्ति सत्यान्वेषिणी वृत्ति होती है। वह उदार होता है। जहाँ-कहाँ उसे जाननेका मनवाले तत्त्व दिखाई पड़ते हैं उन्हें ले लेती है। इसी दृष्टिसे प्रेरित होकर द्विवेदीजीने जीवन और साहित्यके भिन्न भिन्न क्षेत्रोंमें दिखाई

पड़नेवाले तत्त्वको एक साथ स्वीकार किया है। समीक्षाके क्षेत्रमें निर्णयात्मक, व्याख्यात्मक, प्रभाववादी समीक्षा-दृष्टियाँ एक-दूसरेसे भिन्न और कुछ अंशोंमें एक दूसरेकी विरोधिनी दिखाई पड़ती है, किन्तु द्विवेदीजी इन तीनों समीक्षा-दृष्टियोंके भीतर निहित मूल मर्मोंको एक साथ अनुस्यूत कर एकको दूसरेका पूरक बना देते हैं। निर्णयात्मक समीक्षा उत्तम, मध्यम, निकृष्ट श्रेणियोंका भेद स्वीकार करती है किन्तु व्याख्यात्मक समीक्षा केवल प्रकार-भेद स्वीकार करती है। व्याख्यात्मक समीक्षा वैज्ञानिक समीक्षा है जो व्याख्या करती है, निर्णय नहीं देती। द्विवेदीजी इन दोनों समीक्षाओंकी उपयोगिताको स्वीकार करते हुए कहते हैं—'लेकिन वनस्पति-शास्त्रज्ञ बबूल और गुलाबकी जाति-भेद बतानेके बाद भी एक ऐसे शास्त्रकी आवश्यकता रह जाती है जो बतावे कि इन दोनोंमेंसे किसका नियोग मानव-जातिके कल्याणमें किया जा सकता है। इसी प्रकार समालोचक यही तो, कोई और ही बतावे कि इस कविसे समाजको क्या लाभ या हानि है—अर्थात् समाजके लिए कौन कितना उत्कृष्ट या अपकृष्ट है।' (साहित्यका साथी पृ० १४७) इसी प्रकार वे प्रभाववादी समीक्षाके भीतर निहित उसके सौन्दर्यको समीक्षाके लिए हितकारी मानते हैं। आचार्य शुक्ल प्रभाववादी समालोचनाको कोई ठीक ठिकानेकी वस्तु नहीं मानते। उसका न ज्ञानके क्षेत्रमें न भावके क्षेत्रमें कोई मूल्य है। किन्तु, द्विवेदीजी शुक्लजीसे दूर तक सहमत होते हुए भी प्रभाववादी समीक्षाके सुन्दर तत्त्वको स्वीकार करते हैं। शुक्लजी समीक्षामें बुद्धि-मूलक चिन्तनको प्रधान मानते हैं। यह ठीक है किन्तु भूल जाते हैं, कि काव्यकी समीक्षा कितनी भी बुद्धि-मूलक क्यों न हो वह भावोंको समझनेका प्रयत्न करती है। द्विवेदीजीकी दृष्टिमें यह कार्य प्रभाववादी समीक्षा बड़ी कुशलतासे करती है। चिन्तन और गवेषणाके साथ प्रभाववादी समीक्षाकी रचनात्मकता मिल जाये तो समीक्षा नयी छविसे दीप्त हो उठे। द्विवेदीजी अपनी अनेक व्यावहारिक समीक्षाओंमें इस सन्तुलित पद्धतिको अपनाकर चले हैं। कबीर-सूरकी आलोचना करते समय द्विवेदीजीने उनके काव्य-सौन्दर्यको विश्लेषण-बुद्धि और रचनात्मक हृदय, दोनोंसे समझनेका बड़ा सुन्दर प्रयास किया है। उनके बहुतसे अन्य निबन्ध भी (जैसे समालोचककी डाक, गान गोविन्दकी विरहिणी राधा आदि) इस कांटिको आलोचनाका स्वस्थ स्वरूप प्रस्तुत करते हैं।

परम्परा और प्रगतिका सम्बन्ध अविच्छिन्न है। द्विवेदीजीकी सन्तुलनवादी दृष्टि इन दोनोंमें भी सामंजस्य स्थापित करती है। यह कहना स्पष्ट है कि द्विवेदीजी वर्तमान जीवनको बहुत महत्त्व देते हैं। वे मानव-समूहके विकासमें घोर आस्था रखते हैं। जो भी कुछ नये रूपमें सामने आ रहा है वह हमारे ऐतिहासिक

विकासका परिणाम है, उसे भला-बुरा कहकर हम छुट्टी नहीं पा सकते। उसकी नवीन छवियोंको, शक्तियोंको स्वीकार करना है, उसकी कुरूपताओंसे जूझना है, प्रश्नोंको समझना है, समस्याओंको हल करना है। वर्तमान जीवन प्रवाहसे कट कर हम जीवनको नहीं देख सकते। इसे ही हमें सुन्दर बनाना है। द्विवेदीजी आधुनिक जीवन चेतना-सम्पन्न साहित्यको इसीलिए सच्चा साहित्य मानते हैं। परम्पराकी ओर पीछे लौटनेवाला जीवन और साहित्य अपने दायित्व और सौन्दर्य दोनोंसे चूक जाता है। परम्पराको वर्तमानकी ओर उन्मुख करना है, न कि वर्तमानको परम्पराकी ओर। वर्तमानको समझनेके लिए परम्पराको समझना आवश्यक होता है, क्योंकि जो वर्तमान हमारे सम्मुख आया है वह एकाएक नहीं आया है, वह न जाने कितने घातों प्रतिघातोंका परिणाम है। न जाने उसके साथ कितने कारण जुड़े हुए हैं जो अतीतके गर्भमें अदृश्य हैं। उन कारणोंको समझना वर्तमानके समझनेमें सहायक होता है। दूसरे अतीतमें जो विचार-सम्पदा और भाव-सम्पदा सुरक्षित है वह हमारी मदद करती है। इस प्रकार परम्परा या इतिहास वर्तमानके सहायकके रूपमें ही स्वीकार किये जा सकते हैं, हमारे वर्तमान जीवन रूपके रूपमें नहीं।—'यह गलत बात है कि मनुष्य कभी पीछे लौटकर ठीक हू-ब-हू उन्हीं विचारोंको अपनायेगा जो पहले थे। जो लोग मध्य युगकी भाँति मानवकी आदतको इस भयंकर वात्याचक्रकी उलझनसे बच निकलनेका साधन समझते हैं, वे गलती करते हैं। इतिहास चाहे और किसी क्षेत्रमें अपनेको दुहरा लेता हो, विचारोंके क्षेत्रमें जो गया सो गया। पर इतिहास हमारी मदद अवश्य करता है। रह रहकर प्राचीन कालके मानवीय अनुभव हमारे साहित्यकारोंके चित्तको चंचल और वाणीको मुखर बनाते अवश्य हैं पर वे व्यक्ति साहित्यकारकी विशेषता-रूपमें हो जी सकते हैं।' (विचार प्रवाह पृ० १९०)

इसीलिए द्विवेदीजी मानते हैं कि भारतीय अलंकार शास्त्र उपयोगी है, यदि वे प्रेरणा-स्रोतके रूपमें काम करें। यदि वे संस्कार बनकर पाठकको देश और कालके बाहर जानेमें बाधा दें तो उनकी उपयोगिता नहीं रहेगी—'भारतीय समीक्षाके सर्वोत्तम अंगोंमें-से एकका प्रतिनिधित्व करनेवाले इन प्रयासोंको यों ही नहीं छोड़ देना चाहिए। नयी समीक्षा इन्हें प्रेरणा-स्रोत मानकर चरितार्थ होगी। (विचार प्रवाह, पृ० १३२)

इस सन्दर्भमें भारतीय रसवादकी चर्चा भी की जा सकती है। रसवाद भारतीय साहित्य-समीक्षाकी श्रेष्ठ उपलब्धि कहा जा सकता है। किन्तु उस रसवादका निर्माण और आस्वादन करनेके लिए एक विशेष प्रकारकी समंजसवादी मनोवृत्ति

आवश्यक होती है। प्राचीन भारतीय व्यवस्था समंजसवादी थी, यानी, भारतीय जनमानस समस्त मानवीय व्यापारों और सम्बन्धोंको ईश्वरीय व्यवस्था-द्वारा निर्मित और संचालित मानता था। असन्तोष और विषमताके भाव नहीं पैदा होते थे। रसवाद इसी समंजसवादी मनोवृत्तिकी उपज है। रसबोधपर विचार करते समय इन पण्डितोंने स्वीकार किया है कि दो विरुद्ध भाव एक ही आश्रयके मनमें आ सकते हैं। यह अवश्य है कि जिसे वे रसबाध कहते हैं—जो सामाजिक सहृदयके मानसिक संस्कारोंकी उपेक्षा करके नहीं टिक सकता—उसके लिए ऐसे ही तुल्यबल सबल घातक सिद्ध होते हैं।

अन्तमें कहा जा सकता है कि द्विवेदीजीकी समीक्षा-दृष्टि बड़े व्यापक धरातल पर बनी है। वे साहित्यके संश्लिष्ट स्वरूपको निर्मित और प्रभावित करनेवाले सभी तत्त्वोंको पहचानते हैं, उनकी परीक्षा करते हैं, उनका आस्वाद लेते हैं। वे प्राचीनके पण्डित हैं, नवीनके व्याख्याता हैं, बुद्धिके धनी हैं, सहृदयताके पुंज हैं, सामाजिक शक्तिके आकांक्षी हैं, सौन्दर्यके उपासक हैं, भावों और विचारोंकी समृद्धि साहित्यमें देखना चाहते हैं, किन्तु शब्दोंके भी मर्मज्ञ और शिल्पी हैं, स्रष्टाके व्यक्तित्वके अध्येता हैं और उसके समूचे परिवेशके सत्या (जिसके बीच वह सृजन करता है) को जाननेके आग्रही हैं। इस प्रकार द्विवेदीजी साहित्यको परखते समय, उसके समस्त सौन्दर्य और असौन्दर्य तथा उन्हें प्रभावित करनेवाले तत्त्वोंका अध्ययन करते हैं। वे आस्वाद सबका लेते हैं (बशर्ते कि वे अपने किसी न किसी गुणके कारण साहित्य हों), किन्तु मूल्यांकनके समय उनका अपना स्पष्ट मानदण्ड सामने रहता है—काव्य केवल कौतुक नहीं है। वह मनुष्यको सामान्य पशु धरातलसे ऊपर उठाकर उच्चासनपर बैठानेका साधन भी है।'



जैनेन्द्रका अपना मत है जिसपर वे पहाड़के समान अविचलित खड़े हैं। इस एक महागुण (निश्चित मत) के कारण नाना विरोधोंके होते हुए भी जैनेन्द्र कुमारका साहित्यमें अपना स्थान बना लेनेसे कोई रोक न सका। वह उपन्यासकार है ही नहीं यदि उसमें अपनी विशेष दृष्टि न हो और उस विशेष दृष्टिपर उसका दृढ़ विश्वास न हो।

—साहित्य सहचर

मानवतावादी दृष्टि

• •

शम्भुनाथ सिंह

हिन्दी-साहित्यके रंगमंचपर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीने जिस समय अपनी ऐतिहासिक 'भूमिका' को लेकर प्रवेश किया उस समय साहित्यके इतिहास और समीक्षाके क्षेत्रमें दो प्रकारकी विचार धाराएँ एक दूसरीसे टक्कर ले रही थीं। पहली विचार धाराका प्रतिनिधित्व आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कर रहे थे, जो साहित्यको युग-सापेक्ष्य मानते हुए भी संस्कारगत वैष्णव नैतिकताके मानदण्डसे ही सब प्रकारके साहित्यका मूल्यांकन करनेमें विश्वास रखते थे। दूसरी ओर वे नये आलोचक थे जो छायावादी काव्य धाराके मूल स्रोतोंसे प्रेरणा ग्रहण करते थे तथा नवीन मनोविज्ञान और सौन्दर्य शास्त्रका दृष्टिकोण अपनाकर समीक्षा लिखते थे। इस विचार धाराका प्रतिनिधित्व आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ० नगेन्द्र आदि कर रहे थे। गांधी युगसे बहुत कुछ प्रभाव ग्रहण करते हुए भी आचार्य शुक्लने मूलतः सामन्ती आदर्शवाद अथवा सुधारवादी नैतिक दृष्टिकोणको ही अपनी समीक्षा और मूल्यांकनका मानदण्ड स्वीकार किया था। इसके विपरीत दूसरी विचार धाराके समर्थकोंपर पूँजीवाद-जनित व्यक्तिवादी जीवन-मूल्यों और व्यक्ति-स्वातन्त्र्यकी प्रेरणासे उद्भूत सौंदर्य भावना और जीवनादर्शोंका पूरा प्रभाव था। इन दोनों ही मतवादोंमें यद्यपि काफी गहराई और व्यापकता थी, किन्तु दोनोंकी एक बहुत बड़ी कमी यह थी कि उनके पास इतिहासकी गति विधिको पहचानने और साहित्यके साथ उसका सम्बन्ध जोड़नेका कोई वैज्ञानिक साधन नहीं था। इसी कारण दोनों ही अपने-अपने ढंगसे आत्मपरक (Subjective) समीक्षामें लगे रहे। एकमें लोक मंगलकी भावना हिन्दू राष्ट्रीयता और पुनरुत्थानवाद बनकर रह गयी था तो दूसरेमें वैयक्तिक सौन्दर्य-चेतना ही 'कला कलाके लिए'के सिद्धान्तकी सीमा तक पहुँच गयी थी। पहला मतवाद महत्तावादी दृष्टिकोण (Classical outlook) से अनुप्राणित था तो दूसरा रोमानी और प्रभाववादी दृष्टिकोण (Romantic and impressionist

outlook) थे। किन्तु यह तनाव अधिक दिन नहीं रह सकता था। यह वह काल (१९३०-४०) था जब देशमें राष्ट्रीयता नवीन अन्तर्राष्ट्रीयता भावनाओंसे शक्ति ग्रहण करके नया बल और नयी प्रेरणा लेकर नव-जीवन धारण कर रही थी और पूंजीवादी तथा सामन्तवादी भ्रमका कुहरा फट रहा था। अतः उपर्युक्त दोनों दृष्टिकोणोंकी सीमाएं भी स्पष्ट होने लगीं। इसी समय हिन्दी-साहित्यके इतिहास और समीक्षाके क्षेत्रमें दो नये दृष्टिकोण सामने आये। पहला ऐतिहासिक सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण अथवा मानवतावादी समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण था और दूसरा था मार्क्सवादी समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण। पहलेका प्रारम्भ आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीने किया और दूसरेका डॉ० रामविलास शर्मा तथा शिवदानसिंह चौहान आदिने।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीकी हिन्दी-साहित्यको सबसे बड़ी देन यह है कि उन्होंने हिन्दी-समीक्षाको एक नयी उदार और वैज्ञानिक दृष्टि दी है। इनके पूर्व डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल-जैसे मनीषियोंने इस दिशामें कार्यारम्भ अवश्य किया था, किन्तु उनके पास वह मानवतावादी उदार दृष्टिकोण नहीं था जो परम्परा और शास्त्रकी विवेचना और निष्कर्षोंको वर्तमान जीवनमें संयोजित करता और इस प्रकार आलोचकको साहित्यका ही नहीं मानव समाजका भी पथ-प्रदर्शक बनाता है। द्विवेदीजीके पास वह दृष्टिकोण है जो उन्हें उनके विशाल भारतीय वाङ्मयके अध्ययन-मन्थन, वर्तमान विश्व-समाजकी समस्याओं और प्रश्नोंके चिन्तन-मनन तथा शान्तिनिकेतनके वातावरण और रवि बाबू तथा आचार्य क्षितिमोहन सेन-जैसे उदार व्यक्तित्ववाले मनीषियोंके सम्पर्कसे निर्मित हुआ है। वस्तुतः द्विवेदीजी हिन्दीके क्षेत्रसे भारतीय वाङ्मयके क्षेत्रकी ओर नहीं गये हैं बल्कि भारतीय वाङ्मयके भीतरसे गुजरते हुए हिन्दीके क्षेत्रमें आये हैं और उसमें अपने विशाल ज्ञानकी सुविधाओंके साथ उन्होंने अपना एक सुनिश्चित स्थान बना लिया है। यही कारण है कि पूर्ववर्ती आलोचकोंसे उनकी दृष्टि भिन्न है। द्विवेदीजीने उस ऐतिहासिक और समाजशास्त्रीय समीक्षा-पद्धतिकी नींव डाली है जो साहित्यको अपने-आपमें स्वतन्त्र मानकर नहीं चलती बल्कि उसे मनुष्यकी जीवन-धाराका एक महत्त्वपूर्ण अंग मानती है। संस्कृतिको वे शाश्वत या एकदेशीय वस्तु नहीं मानते। उनके अनुसार वह प्रगतिशील, परिवर्तनशील और परम्परा-निरन्तरयुक्त है। इस तरह अनिवार्यतः साहित्य भी संस्कृतिका अंग होनेके कारण, परिवर्तनशील किन्तु प्रगतिशील है। इस सम्बन्धमें उनका कहना है कि 'मनुष्यकी जीवन-शक्ति बड़ी निर्मम है। वह सभ्यता और संस्कृतिके वृथा मोहोंको रौंदती चली आ रही है। दल और जातिकी

विशुद्ध संस्कृति केवल बातकी बात है। शुद्ध है केवल मनुष्यकी दुर्दम जिजीविषा। वह गंगाकी अबाधित-अनाहत धाराके समान सब-कुछको हजम करनेके बाद भी पवित्र है।"[1]

इस तरह तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों सांस्कृतिक गति विधि, लोक जीवन, राजनीतिक हलचल आदिके बीच रखकर ही साहित्यका परायण करना साहित्य समीक्षाकी समाज शास्त्रीय पद्धति है। कहना नहीं होगा कि हिन्दी समीक्षाके क्षेत्रमें इस दिशामें पहला कदम उठानेवाले आचार्य द्विवेदीजी हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्लने साहित्यके इतिहास और आलोचनाके सम्बन्धमें जो मानदण्ड स्थिर किया था, उससे द्विवेदीजीका मानदण्ड बिलकुल भिन्न है वस्तुतः ये दोनों आचार्य साहित्यको दो दिशाओं और दो भिन्न दृष्टियोंसे देखते हैं। शुक्ल जीने अपनी तर्क शैलीकी निपुणता, विचारोंकी अन्विति और दृढ़ता तथा सूक्ष्म साहित्यिक दृष्टिके बावजूद उन तमाम स्रोतों और प्रभावोंकी उपेक्षा की है जिनका सम्यक उद्घाटन और विवेचन द्विवेदीजीने किया है। शुक्लजीने यदि हिन्दी साहित्यको उसका इतिहास दिया है तो द्विवेदीजीने सचमुच उस साहित्यकी भूमिका प्रस्तुत की है और इस तरह उनके अधूरे कार्यको पूरा किया है। वस्तुतः ये दोनों व्यक्तित्व एक दूसरेके पूरक हैं प्रतिद्वन्द्वी नहीं।

इस सम्बन्धमें ध्यान देनेकी एक बात यह है कि शुक्लजीने अपने इतिहासमें सामाजिक ऐतिहासिक धार्मिक और अन्य सांस्कृतिक पृष्ठभूमियोंको अपेक्षाकृत कम महत्त्व सा दिया ही है, विभिन्न कालोंके साहित्यके मूल्यांकनमें उन्होंने तटस्थता भी नहीं बरती है। उदाहरणार्थ भक्ति-कालमें उन्होंने सगुण-मार्गकी राम-भक्ति-शाखा और निर्गुण मार्गकी प्रेमाश्रयी शाखाके विवेचनमें जितना रस लिया और उनकी जितनी विशद विवेचना की है, उतनी ज्ञानाश्रयी शाखा और कृष्ण भक्ति शाखाकी नहीं इसका कारण उनका वह वैष्णव संस्कार और दार्शनिक विचारधारा है जिसकी अभिव्यक्ति उनके विभिन्न ग्रन्थों और निबन्धोंमें हुई है। साथ ही वे लोक मंगलवादी और रसवादी आलोचक भी थे। इन दोनों कारणोंसे साहित्यके प्रति उनकी विशेष धारणा थी जिसका आदर्श रूप उन्हें तुलसीमें प्राप्त हुआ था। इसी पूर्वग्रहके साथ उन्होंने प्रत्येक कवि और प्रत्येक युगके साहित्यपर विचार किया है। अतः यह निश्चित था कि वे कबीर आदि सन्त कवियोंके प्रति तटस्थ और उदार दृष्टि नहीं अपना सकते थे। अपभ्रंशके कवियोंके सम्बन्धमें भी

१ 'अशोकके फूल' पृष्ठ ८।

उनकी यही धारणा थी। उनके अनुसार निर्गुण सन्त और सिद्ध कवि साम्प्रदायिक और धर्मचालित अधिक थे, उनमें सामाजिक सम्भावना और सहृदयताकी कमी थी और उनकी "वाणीमें लोक धर्मकी अवहेलना छिपी हुई थी।" साहित्यके इतिहासकार और समीक्षकके लिए जिस तटस्थता और उदारताकी आवश्यकता होती है और जिसकी शुक्लजीमें अपेक्षाकृत कमी है वह द्विवेदीजीमें पूर्ण रूपसे दिखाई पड़ती है। द्विवेदीजीके समूचे साहित्यमें पूर्वग्रह जैसी चीज कहीं नहीं दिखाई पड़ती है। 'सूर-साहित्य' और 'मध्यकालीन धर्म-साधना' में सगुण भक्ति धाराके सम्बन्धमें उन्होंने उसी निष्ठा और तन्मयतासे विचार किया है जिस तरह 'कबीर' और 'हिन्दी-साहित्यकी भूमिका' में सन्तोंकी निर्गुण-धारापर। इसी प्रकार रीति-कालके सम्बन्धमें भी उन्होंने अपनी पद्धतिसे सम्यक् विचार किया है और उसे प्राचीन भारतीय साहित्यकी परम्पराके सन्दर्भमें रखकर देखा है।

शुक्लजीने मध्यकालके जिस लोक धर्मकी बात कही है वस्तुतः वह लोक-धर्म नहीं हिन्दू-समाजके सवर्ण वर्गका विशिष्ट आचारात्मक धर्म था। वस्तुतः लोक-धर्म तो उस विशाल जन-समुदायका वह आचार-विचार और विश्वास था जो शिक्षित और विशिष्ट हिन्दू-जनताके धर्म-आचारसे बहुत-कुछ भिन्न था। दूसरे शब्दोंमें पहला समुदाय ब्राह्मण-संस्कृतिसे प्रभावित था और दूसरा निम्न बहुजन-समाज श्रमण संस्कृतिकी परम्पराओंसे आबद्ध था। अतः अपभ्रंशके सिद्ध कवियों जैन-कवियों और बादके सन्तोंमें जिस धर्म-विश्वासकी अभिव्यक्ति हुई है वही तत्कालीन लोक-धर्म और लोक-विश्वासोंका सच्चा रूप है। इस दृष्टिसे तत्कालीन संस्कृतिके स्वरूप, उस कालकी सामाजिक-धार्मिक परिस्थितियोंका पता लगानेके लिए निर्गुण धाराके कवियोंपर विशेष रूपसे विचार होना चाहिए था। यह काम द्विवेदीजीने अत्यन्त तत्परतापूर्वक किया है। जिन कविताओंको शुक्लजी 'ज्ञान-चर्चा उपदेश विषयक' या 'लोक धर्म निरपेक्ष' या साम्प्रदायिक और शुष्क मानते थे उनके सम्बन्धमें द्विवेदीजी कहते हैं   उनमें कई रचनाएँ ऐसी हैं जो धार्मिक तो हैं किन्तु उनमें साहित्यिक सरसता बनाये रखनेका पूरा प्रयास है। धर्म वहाँ कविको केवल प्रेरणा दे रहा है।   इधर कुछ ऐसी मनोभावना दिखाई पड़ने लगी है कि धार्मिक रचनाएँ साहित्यमें विवेच्य नहीं हैं। कभी-कभी शुक्लजीके मतको भी इस सन्दर्भमें उद्धृत किया जाता है। मुझे यह बात बहुत उचित नहीं मालूम होती। धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश होना काव्यत्वका बाधक नहीं समझा जाना चाहिए।   धार्मिक साहित्य होने मात्रसे कोई रचना साहित्यिक कोटिसे अलग नहीं की जा सकती। यदि ऐसा समझा जाने लगे तो तुलसीदासका 'रामचरितमानस' भी साहित्य-क्षेत्रमें अविवेच्य

हो जायगा और जायसीका 'पद्मावत' भी साहित्य सामाके भीतर नहीं घुस सकेगा।"[1] सच बात तो यह है अगर केवल शुक्लजीके रसवादकी दृष्टिसे ही साहित्यको देखा जायगा तो साहित्यकी सीमा बहुत सकीर्ण हो जायगी।

द्विवेदीजी की जीवन-दृष्टि उनके समीक्षा-साहित्यमें प्रत्यक्ष रूपसे सर्वत्र अभिव्यक्त हुई है। वे साहित्यको सामान्य जनताके जीवनसे विच्छिन्न कोई अलग वस्तु नहीं मानते। मनुष्यको जीवनके केन्द्रमें प्रतिष्ठित करके ही उन्होंने समूचे साहित्यको देखनेका प्रयत्न किया है। यह मनुष्य समग्र और मुक्त एक इकाईके रूपमें है विभिन्न वर्णों-वर्गों धर्मों-सम्प्रदायों, जातियों राष्ट्रों आदिकी सीमाओंमें बँटा और बँधा मनुष्य नहीं। उन्होंने प्रमाणों और उदाहरणों-द्वारा बराबर यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि विभिन्न जातियों और देशोंके बीच आदिकालसे सांस्कृतिक तत्त्वोंका आदान प्रदान होता आया है क्योंकि सत्य एकदेशीय या एकजातीय नहीं होता। साहित्य और कला भी ऐसे ही सत्य हैं जिनके सम्बन्धमें द्विवेदीजी कहते हैं "मनुष्यके सभी विराट प्रयत्नोंके मूलमें कुछ व्यक्तिगत या समूहगत विश्वास होते हैं परन्तु जब वे उस सस्कारजन्य प्रयोजनकी सीमाका अतिक्रम कर जाते हैं तो उसमें मनुष्यकी विराट एकता और अपार जिजीविषाका ऐश्वर्य प्रकट होता है। फिर वह किसी समूहमें आबद्ध न होकर मनुष्य मात्रकी सम्पत्ति हो जाता है।"[2] इस कथनसे यह स्पष्ट है कि वे मानव मात्र की एकतामें विश्वास करते हैं और पाश्चात्य संस्कृति तथा पौर्वात्य या भारतीय संस्कृतिके भेदको कृत्रिम मानते हैं। कुछ प्रतिक्रियावादी आलोचक सकीर्ण राष्ट्रीयताके आवेगमें यहाँतक कहने लगते हैं कि संसारका सब ज्ञान विज्ञान भारतसे ही बाहर गया है अतः हमें भारतीय संस्कृतिको दृढतापूर्वक पकड़े रहना चाहिए ऐसे लोगोंके सम्बन्धमें द्विवेदीजी कहते हैं कि "इस प्रतिक्रियाके कारण इस देशमें उन अत्यन्त उत्साह-परायण समालोचकोंका आविर्भाव हुआ है जो सब समस्याओंका समाधान एक ही कसौटीपर कसकर करने लगे हैं हमारे यहाँ ऐसा माना है या हमारे यहाँ ऐसा नहीं माना है। हमारे यहाँ उनका अमोघ ब्रह्मास्त्र है जिससे किसीको भी धराशायी बनाया जा सकता है। पाश्चात्य विचारका प्रभाव उनका ऐसा बहुधा विज्ञापित निन्दा वाक्य है कि जिस किसी विचारको परास्त करनेके लिए यह एक वाक्यास्त्र बहुत काफी समझा जा सकता है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि द्विवेदीजीका संकेत शुक्लजी तथा उनके-जैसे इतर विचारकोंकी ओर है।

[1] 'हिन्दी साहित्यका आदिकाल', पृ० ११।
[2] 'साहित्यका मर्म' पृ० ३६।

मनुष्यता या मनुष्यकी एकताके सम्बन्धमें 'साहित्यका मर्म' शीर्षक अपने भाषणमें द्विवेदीजीने बहुत ही वैज्ञानिक ढंगसे विचार किया है। मानवतावाद निश्चय ही एक आदर्शवाद है जिसका प्रतिपादन आदि कालसे बड़े-बड़े महात्मा और महापुरुष करते आये हैं। किन्तु द्विवेदीजीका मानवतावाद यथार्थोन्मुख मानवतावाद है जो इतिहास और विज्ञानसे मुँह मोड़कर चलनेवाला नहीं है। इस मानवतावादकी अभिव्यक्ति उन्होंने 'हिन्दी-साहित्यकी भूमिका' और 'कबीर'में इतिहासका आश्रय लेकर की है तो 'साहित्यका मर्म'में यह अभिव्यक्ति ज्ञान और विज्ञानके विविध स्वरूपोंके उद्घाटनके माध्यमसे हुई है। इसमें उन्होंने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है कि काव्य और विज्ञान एक ही मानवीय चेतनाके दो किनारोंकी उपज हैं वे परस्पर विच्छिन्न नहीं हैं परस्पर विरुद्ध तो नहीं ही हैं। साहित्य शास्त्रका आलोचक इसी परस्पर असम्बद्ध और विच्छिन्न-सी लगनेवाली रस प्रेरणाओंमें सामंजस्य खोजता है। अतः साहित्यके आलोचकको विज्ञान और राजनीति आदि शास्त्रोंसे सहायता लेनी ही पड़ेगी अन्यथा वह साहित्यके मर्म तक नहीं पहुँच सकता है। द्विवेदीजीने आलोचनाके क्षेत्रमें साहसपूर्ण कदम उठाकर इतिहास धर्म विज्ञान पुराण विज्ञान प्राच्य विद्या जीव विज्ञान मनोविज्ञान प्रजनन शास्त्र नृतत्त्व शास्त्र पुरातत्त्व विज्ञान नीति शास्त्र कानून अर्थशास्त्र राजनीति शास्त्र आदि सबसे भरपूर लाभ उठाया है। भारतके लिए यह कार्य नयी बात नहीं है। यहाँ काव्य शास्त्रको वेदान्त मीमांसा न्याय धर्म शास्त्र काम शास्त्र आदिने किस सीमा तक प्रभावित किया है यह साहित्यके साधकोंसे छिपा नहीं है। अतः आजके युगमें ज्ञान विज्ञानके उन अंगोंका जो पश्चिमसे आये हैं समालोचना क्षेत्रमें उपयोग करनेमें क्या बुराई है? उन्होंने जीव विज्ञानके अध्ययनकी विस्तार और साहित्यके लिए उसकी उपयोगिताकी चर्चा करते हुए मनुष्यताकी परिभाषा इस प्रकार की है जो जैसा है उसे वैसा ही मान लेना मनुष्य-पूर्व जातिका लक्षण था पर जो जैसा है वैसा नहीं बल्कि जैसा होना चाहिए वैसा करनेका प्रयत्न मनुष्यकी अपनी विशेषता है। इसमें प्रयत्नकी आवश्यकता होती है। प्रयत्न करना मनुष्यका स्वाभाविक धर्म है। लाभ सम्बन्धी मनोवृत्ति है वह पशु और मनुष्यमें समान है। पर औदार्य परदुःख-संवेदन उसमें नहीं होते यह मनुष्यका अपना विशेषता है इसी प्रकार आहार, निद्रा आदि पशुसामान्य धर्मोंसे जो उसकी खास है जो संयमसे तपसे औदार्यसे और त्यागसे प्राप्त होता है वह मनुष्यकी अपनी विशेषता है यही मनुष्यकी मनुष्यता है। फिर मनुष्य प्रकृतिके नियमोंका विश्लेषण करता है और इस प्रकार उनका उपयोग करता है कि जिससे वह नयी सृष्टि कर

सके। विवेक कल्पना, औचित्य और संयम मनुष्यता है और इसके विरुद्ध जानेवाले मनोभाव मनुष्यता नहीं है।'[1]

मनुष्य-मात्रकी मंगल भावना और जीवनके प्रति सुप्रतिष्ठित दृष्टिसे द्विवेदीजीका तात्पर्य यह है कि साहित्यकारका लक्ष्य मनुष्यका हितसाधन करना है और उसे कलाके लिए निरुद्देश्य और कल्पनाश्रित सिद्धान्तसे प्रेरणा नहीं ग्रहण करना चाहिए। स्पष्ट ही यह दृष्टिकोण उदार और सहिष्णुतापूर्ण होते हुए भी सर्वोदयवादी नहीं है। द्विवेदीजीकी सामाजिक चेतना विद्रोहपर आधारित है। पर यह विद्रोह मानव-मात्रका उसके अथक प्रयत्नोंके रूपमें, सहज विद्रोह है जिसका विधाता स्वयं 'इतिहास देवता' है। अतः द्विवेदीजीने राजनीतिक नहीं बल्कि सामाजिक क्रान्तिको इतिहास-सम्मत विचार धाराको विशेष रूपसे वाणी दी है। यह क्रान्ति मनुष्य अपने परिवेशके अनुरूप विभिन्न प्रकारसे करता आ रहा है भक्ति और सन्त-साहित्य उसी क्रान्तिकी वाणी है। रवीन्द्र और छायावादी कवियोंने साहित्यमें भी उसी विद्रोहका स्वर फूटा है और द्विवेदीजीने उन स्वरोंको सुनकर युगकी आवश्यकताके अनुरूप उनका मूल्यांकन किया है। किन्तु वे उग्र क्रान्तिकी बात नहीं करते वे सहज क्रान्ति चाहते हैं। क्रान्तिका अर्थ वे अतीतकी परम्परासे वर्तमानको तोड़ लेना नहीं मानते और न यही मानते हैं कि राष्ट्र और जातियोंकी अपनी विशेषताएं कभी नष्ट हो जायेंगी और सब एक सौचेमें ढल जायेंगे यह तो आदर्शवादी या काल्पनिक क्रांति है। इस सम्बन्धमें उनका स्पष्ट मत है मेरी अल्प बुद्धिमें तो यही सूझता है कि समाजके नाना स्तरोंके लिए अलग-अलग ढंगकी भाषा होगी नाना उद्देश्योंकी सिद्धिके लिए नाना भाँतिके प्रयत्न करने होंगे। सारे प्रातीय मान विरोधोंका सामंजस्य एक ही बातमें होगा मनुष्यका हित। हमारे समस्त प्रयत्नोंका लक्ष्य एक मात्र वही मनुष्य है। उसको वर्तमान दुर्गतिसे बचाकर मनुष्यके आत्यन्तिक कल्याणकी ओर उन्मुख करना ही हमारा लक्ष्य है यही सत्य है यही धर्म है सत्य वह नहीं जो मुखसे बोलते हैं सत्य वह है जो मनुष्यके आत्यन्तिक कल्याणके लिए किया जाता है[2]।" इस प्रकार द्विवेदीजीकी विचार धारा क्रान्तिकारी होते हुए भी उदार सहिष्णु और सामंजस्यपूर्ण है। वे मनुष्यके परम हितकी कामना करते हुए भी उसे मनुष्य रूपमें ही देखना चाहते हैं अतिमानव या देवताके रूपमें नहीं। इसीलिए उन्होंने विज्ञानके बढ़ते हुए कुप्रभावों यन्त्रों और राजनीतिक हठवादिताका भी जगह-जगह विरोध किया है।

---

१ 'साहित्यका मर्म', पृष्ठ ६८।

२ 'अशोकके फूल', साहित्यकारोंका दायित्व।

पहले कहा जा चुका है कि द्विवेदीजीका दृष्टिकोण ऐतिहासिक, वैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय है। उनकी इतिहास-सम्बन्धी मान्यता साहित्यके पूर्ववर्ती इतिहासकारों *अथवा इतिहास शास्त्रके अध्यापकोंकी मान्यतासे बिल्कुल भिन्न* है। इतिहासको वे गड़ा मुर्दा या विगत तथ्योंका ब्योरा नहीं मानते, बल्कि उसे एक जीवन्त शक्ति मानते हैं जिसे वे इतिहास विधाता या इतिहास देवता कहते हैं। अतः उनके अनुसार मनुष्य ही इतिहासको नहीं बनाता बल्कि इतिहास *भी मनुष्यको बनाता है। इस प्रकार इतिहास सामाजिक जीवनधाराका प्रवाह* है, जो एक ओर व्यक्तिको समष्टिमें डुबोता रहता है। दूसरे शब्दोंमें इतिहास केवल व्यक्ति मनुष्यका नहीं बल्कि समाज और उसके परिवेशका होता है अथवा किसी युगविशेषके मानव-समाज और उसके परिवेशके संघर्षका नाम ही इतिहास है अर्थात् मानव प्रयत्नों और परिवेशकी प्रतिक्रियाओंकी अटूट परम्परा ही इतिहास है। वह एक अखण्ड धाराके समान है जिसके प्रवाहमें कालान्तरमें संस्कृतियोंके अनावश्यक मृत तत्त्व नष्ट होते रहते हैं और आवश्यक, उपयोगी और जीवन्त तत्त्व प्रवाहित होते रहते हैं। इस प्रकार इतिहासने द्विवेदीजीको *सांस्कृतिक नैरन्तर्यका वह अमोघ अस्त्र प्रदान किया है जिसके कारण आदि*कालीन और मध्यकालीन हिन्दी साहित्यमें उनका प्रवेश सहज और सुकर हो सका है। साहित्यके इतिहासके सम्बन्धमें उनकी धारणा है कि वह ग्रन्थों और ग्रन्थकारोंके उद्भव और विलयकी कहानी है 'वह काल-स्रोतमें बहे आते हुए जीवन्त समाजकी विकास-कथा है। ग्रन्थकार और ग्रन्थ उस प्राण-धाराकी ओर सिर्फ इशारा करते हैं। वे ही मुख्य नहीं हैं। मुख्य है वह प्राण धारा जो नाना परिस्थितियोंसे गुजरती हुई आज हमारे भीतर अपने आपको प्रकाशित कर रही है। साहित्यके इतिहासमें हम अपने-आपको ही पढ़नेका सूत्र पाते हैं।'[1] इस दृष्टिसे द्विवेदीजीने हिन्दी-साहित्यके इतिहासके पुनर्निर्माणका कार्य सफलता पूर्वक किया है। शुक्लजीके इतिहासकी सीमाओंका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। द्विवेदीजीने शुक्लजी द्वारा उपेक्षित युगों और कवियोंके सम्बन्धमें जो कार्य किया है वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। 'हिन्दी साहित्यकी भूमिका', 'कबीर', 'हिन्दी साहित्यका आदिकाल', 'नाथ-सम्प्रदाय', 'मध्यकालीन धर्मसाधना' और 'सूर साहित्य' द्वारा उन्होंने अपनी इतिहास-सम्बन्धी मान्यताको रूप प्रदान किया है। हिन्दी साहित्यके आदिकाल अर्थात् अपभ्रंश और वीरगाथा कालकी शुक्लजीने अपने इतिहासमें जो उपेक्षा की थी उसके सम्बन्धमें द्विवेदीजीने लिखा है 'ऐसी बात है उस दृष्टिका प्रतिष्ठा जो मुख्य घटनाओं और क्रियाओंको ही

१ 'कल्पलता', पृष्ठ, १०५।

इतिहास समझती है, उसीका यह परिणाम हुआ है कि देशकी अन्य महत्त्वपूर्ण परिस्थितियाँ उपेक्षित रह गयी हैं। यदि इतिहासका अर्थ मनुष्य-जीवनके अखण्ड प्रवाहका अध्ययन हो तो हिन्दी-साहित्यके आदिकालका इतिहास एकदम उपेक्षणीय नहीं है, पर दुर्भाग्यवश वह सचमुच ही उपेक्षित रह गया है।'[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि इतिहासके प्रति द्विवेदीजीका दृष्टिकोण आत्मगत नहीं वस्तुगत है। इतिहास और समाज शास्त्रकी यही वैज्ञानिक दृष्टि है। द्विवेदीजीने अपने समूचे साहित्यमें इसका पूर्ण उपयोग किया है।

द्विवेदीजीका आलोचनात्मक साहित्य मोटे तौरपर दो भागोंमें बाँटा जा सकता है : १—इतिहास सम्बन्धी, २—समीक्षा-सम्बन्धी। साहित्यके इतिहासके सम्बन्धमें उनकी जो दृष्टि है उसका विवेचन ऊपर किया जा चुका है। उस दृष्टिसे उन्होंने हिन्दी साहित्यके आदि और मध्यकालका मूल्यांकन और पुनर्विवेचन किया है। इस कालमें उन्होंने ऐसी अनेक विचारधाराओं और कवियोंकी विशेषताओंका उद्घाटन किया है जो या तो हिन्दीकी शाखाका परिणाम है या जिनकी परम्पराके मूल स्रोतोंका वैदिक साहित्यसे लेकर अपभ्रंश साहित्य तकका आलोडन करके उन्होंने स्वयं पता लगाया है और इस तरह हिन्दी-साहित्यके इतिहासके लिए विपुल सामग्री प्रस्तुत की है। 'हिन्दी साहित्यका आदिकाल' और 'हिन्दी साहित्यकी भूमिका' उनके साहित्यके इतिहास सम्बन्धी ग्रन्थ हैं। इनमें उन्होंने तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियोंका विशद विवेचन किया है, जिसमें उस कालके अपभ्रंश और पुरानी हिन्दीका साहित्य विकसित हुआ था। हिन्दीके भक्ति-साहित्यके सम्बन्धमें आपका मत है कि वह एक हतदर्प पराजित हिन्दू-जातिकी सम्पत्ति नहीं है और न एक निरन्तर पतनशील जातिकी चिन्ताओंका मूर्त प्रतीक है। इस सम्बन्धमें वे कहते हैं कि "अगर इस्लाम नहीं आया होता तो भी इस साहित्यका रूप बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।" अपने मतकी पुष्टिके लिए द्विवेदीजीने ईसाकी पहली शताब्दीसे लेकर १५वीं शताब्दी तककी सांस्कृतिक परिस्थितियोंका विश्लेषण किया है और यह सिद्ध किया है कि 'सन् ई० के हजार वर्ष बाद यहाँके सभी सम्प्रदाय, शास्त्र और मत धीरे धीरे लोक मतमें घुल मिलकर लुप्त हो गये जिसकी स्वाभाविक परिस्थितिका मूर्त प्रतीक हिन्दी-साहित्य है।' इस प्रकार द्विवेदीजी हिन्दीके आदिकाल और भक्तिकालके साहित्यको मुसलमानी आक्रमणकी

१ वही, पृष्ठ १६४।

प्रतिक्रिया नहीं मानते और न वे मतों, आचार्यों, सम्प्रदायों और दार्शनिक चिन्ताओंके मानदण्डसे लोक चिन्ताको माप ही करना चाहते हैं। इसके विपरीत वे लोक चिन्ताकी अपेक्षामें उन्हें देखनेकी सिफारिश करते हैं और इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि "भारतीय पाण्डित्य ईसाकी एक सहस्राब्दी बाद आचार विचार और भाषाके क्षेत्रमें स्वभावतः ही लोककी ओर झुक गया था। यदि अगली शताब्दियोंमें भारतीय इतिहासकी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण घटना अर्थात् इस्लामका प्रमुख विस्तार—न भी घटी होती तो भी वह इसी रास्ते जाता। उसके भीतर की शक्ति उसे इसी स्वाभाविक विकासकी ओर ठेले लिये जा रही थी उसका वक्तव्य विषय कथमपि विदेशी न था।"[1] इस प्रकार द्विवेदीजीने हिन्दी-साहित्य को भारतीय साहित्य-परम्पराका स्वाभाविक विकास और लोक चेतनाका प्रतीक माना है। यह मत पूर्ववर्ती इतिहासकारोंके मतसे सर्वथा भिन्न है।

इस दृष्टिसे देखनेपर हिन्दी-साहित्यके अध्येताके लिए उन तमाम स्रोतोंका अध्ययन करना भी आवश्यक हो जाता है जिनके द्वारा पिछले हजार वर्षोंमें हिन्दी भाषाभाषी जनताकी चेतनाका निर्माण और विकास हुआ। द्विवेदीजीने अपने विशाल अध्ययनके द्वारा यह कार्य आसान कर दिया है। उन्होंने भारतीय समाजमें विभिन्न कालोंमें आकर घुल मिल जानेवाली विभिन्न जातियों और उनके धर्म साहित्य, रीति-नीति आदिका समाजशास्त्रीय विश्लेषण किया है और इस तरह तत्सम्बन्धी पूर्वप्रचलित अनेक भ्रमोंका निवारण किया है। उन्होंने विभिन्न सम्प्रदायों धर्मों और शास्त्रोंके एम तत्त्वोंका भी विश्लेषण किया है जिनकी अमिट छाप लोक चेतनाके माध्यमसे हिन्दी-साहित्यपर पड़ी है। उनकी 'कबीर', 'नाथसम्प्रदाय', 'मध्यकालीन धर्म-साधना' और 'प्राचीन भारतके कलात्मक विनोद' नामक पुस्तकोंमें अनेक इस प्रकारके शोध और अध्ययन सम्बन्धी कार्योंकी विज्ञप्ति दिखलाई पड़ती है। इतिहास-सम्बन्धी उनका यह कार्य उनकी प्रस्तावनाके बिल्कुल अनुरूप है 'मेरा अनुमान है कि हिन्दी साहित्यका इतिहास लिखनेके पहले निम्नलिखित साहित्योंकी जाँच कर लेना बहुत उपयोगी होगा, जिनकी अच्छी जानकारीके बिना हम न तो भक्तिकालीन साहित्यको समझ सकेंगे और न वीर-गाथा या रीति कालको। १—जैन और बौद्ध अपभ्रंश का साहित्य २—काश्मीरके शैवों और दक्षिण तथा पूर्वके तान्त्रिकोंका साहित्य, ३—उत्तर और उत्तर-पश्चिमके नाथोंका साहित्य ४—वैष्णव आगम, ५—पुराण, ६—निबन्ध-ग्रन्थ, ७—पूर्वके प्रच्छन्न बौद्ध वैष्णवोंका साहित्य,

---

१ 'हिन्दी साहित्यकी भूमिका', पृष्ठ १५।

विकास नहीं हो रहा है और जिसमें पिछले प्रचार और मार्क्सवादकी मनमानी व्याख्याके अतिरिक्त और कुछ नहीं रहता। द्विवेदीजीने आलोचनामें जिस विद्वत्तापूर्ण किन्तु सहज, वैज्ञानिक तथा तटस्थ किन्तु सोद्देश्य मार्गकी ओर अंगुलि निर्देश किया है वह सर्वथा नवीन होते हुए भी कठिन है, उसपर चलनेके लिए पाण्डित्य और शक्तिकी आवश्यकता है। उसे पार करना किसी एक व्यक्तिके बूतेका काम नहीं है। अनेकानेक खोजियोंके सम्मिलित प्रयत्न, उनकी शक्ति, योग्यता और ईमानदारीपर द्विवेदीजी-द्वारा निर्दिष्ट लक्ष्यकी प्राप्ति निर्भर करती है।

■

साहित्य सृष्टिकी मूल शक्तिका नाम संश्लेषणी है विश्लेषणी नहीं। स्थायी साहित्यकी रचनाके लिए आवश्यक है एक अत्यन्त दृढ समुन्नत भूमि। वह एक तरफ जहाँ मानव चित्तके अत्यन्त निकट होनी चाहिए वहाँ उसमें सामयिकताकी ऐसी निकटता भी नहीं होनी चाहिए जो चित्तको तत्कालीन समस्याओंमें उलझा दे। वर्तमान साहित्य इस रास्तेपर नहीं चल रहा है। उसमें विश्लेषणकी प्रधानता है संश्लेष या संघातकी नहीं वह किसी दृढ समुन्नत भित्तिपर अवस्थित नहीं है अथ च उसमें सामयिकताकी मात्रा पर्याप्त है।

—सूर साहित्य

अतीत कथा

*

मैं इन उपन्यासोंको अत्यन्त आधुनिक मानता हूँ। उपन्यासके सामान्य गुणोंके क्रममें ढाँचेमें न बैठती हुई भी ये कृतियाँ महान् सच्चेरोस उद्घाटित है। नवीन समस्याओंके बीच रास्ता ढूँढनेवाले नये लोग जिस खण्डित दृष्टिसे देखनेकी समस्याओंका निराकरण कर रहे हैं उनके परिष्कार और विस्तारके लिए इन दो प्रयोगोंका पारिग्राफ समझना आवश्यक होगा।

—ठाकुरप्रसाद सिंह

द्विवेदीजीका परकाय प्रवेश

• •

ठाकुरप्रसाद सिंह

'बाणभट्टकी आत्मकथा' तथा 'चारुचन्द्रलेख'के प्रकाशनके बीच लगभग सोलह-सत्रह वर्षोंका अन्तराल है। दोनों रचनाओंके समाजोंमें भी तीन चार सौ वर्षोंका अन्तर है लेकिन 'बाणभट्टकी आत्मकथा'के साथ 'चारुचन्द्रलेख'का सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है। दोनों उपन्यास मूल समस्याओं तथा अभिप्रायोंकी दृष्टिसे लगभग एक उपन्यासके दो खण्डों-जैसे ही लगते हैं। बाणभट्टकी प्रसिद्ध रचना 'कादम्बरी'के पूर्व और उत्तर भागोंकी तरह इनमें थोड़ा-बहुत अन्तर यदि है तो शैलीकी शिथिलताकी मात्रा भरका ही है अन्यथा दोनों रचनाओंमें लगभग एक-जैसी स्थिति और मनःस्थिति है। आजसे लगभग १८-१९ वर्ष पहले आत्मकथा पढ़ी थी पर आज नवीन प्रसंगमें उसे पढ़नेपर कितने ही नये संकेत इस रचनामें मिलते हैं। वैसे ही 'चारुचन्द्रलेख' भी आत्मकथाके क्रममें पढ़नेपर कई सूत्र जुटते हैं और इस प्रकार दोनों रचनाएँ मिलकर मेरे ऊपर एक सम्मिलित प्रभाव डालती हैं।

कहीं पढ़ा है कि बड़ी रचनाएँ कालको झेलकर जीवित रहती हैं। उनके जीवित रहनेकी सबसे बड़ी शर्त है उनकी हर नये परिवर्तनके लिए नवीन-नवीन अर्थवत्ता। प्रारम्भमें रचनाएँ एक विशिष्ट अर्थ ग्रहण करती हैं लेकिन बादमें युग उन्हें नये अर्थ देते हैं और ज्यों ही कोई रचना यह शक्ति खो देती है उसकी अमरता चुक जाती है। हर बड़ी रचनामें रचनाकारके अर्थके अलावा इतनी जगहें बची रहती हैं कि आनेवाली पीढ़ी उसमें आसानीसे नये अर्थ भर सके। द्विवेदीजीके ये दोनों ग्रन्थ जिन्हें मैं सुविधाके लिए एक ही ग्रन्थके दो हिस्से कह रहा हूँ इस दृष्टिसे आज नये सिरेसे पढ़नेपर नये अर्थ ग्रहण करनेमें समर्थ लगते हैं।

उपन्यासके शिल्पकी दृष्टिसे इन ग्रन्थोंको देखनेकी स्थितिमें मैं नहीं हूँ। हो सकता है आजके आलोचकोंको ये दोनों कृतियाँ नवीन अर्थोंमें उपन्यास लगें भी नहीं। इनका सारा गठन और इनकी बुनावट जिन ताना-बानोंसे हुई है, वे आजके बाजारमें शायद मिलेंगे नहीं। महाकवि बाणभट्टके युगमें जीवनके वाद तथा नाय-

द्विवेदीजीका परकाय प्रवेश

• •

ठाकुरप्रसाद सिंह

बाणभट्टकी आत्मकथा' तथा 'चारुचन्द्रलेख'के प्रकाशनके बीच लगभग सोलह सत्रह वर्षोंका अन्तराल है। दोनों रचनाओंके समाजोंमें भी तीन चार सौ वर्षोंका अन्तर है लेकिन बाणभट्टकी आत्मकथा के साथ 'चारुचन्द्रलेख'का सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है दोनों उपन्यास मूल समस्याओं तथा अभिप्रायकी दृष्टिसे लगभग एक उपन्यासके दो खण्डों-जैसे ही लगते हैं। बाणभट्टकी प्रसिद्ध रचना 'कादम्बरी' के पूर्व और उत्तर भागोंकी तरह इनमें थोड़ा-बहुत अन्तर यदि है तो [illegible] निविड़ताको मात्रा भरका ही है अन्यथा दोनों रचनाओंमें लगभग एक-जैसी स्थिति और मन:स्थिति है। आजसे लगभग १८-१९ वर्ष पहले आत्मकथा पढ़ी थी पर आज नवीन प्रसंगमें उसे पढ़नेपर जितने ही नये संकेत इस रचनामें मिलते हैं। वैसे ही चारुचन्द्रलेख भी आत्मकथाके क्रममें पढ़नेपर कई सूत्र जुड़ते हैं और इस प्रकार दोनों रचनाएँ मिलकर मेरे ऊपर एक सम्मिलित प्रभाव डालती हैं।

कहीं पढ़ा है कि बड़ी रचनाएँ कालको झेलकर जीवित रहती हैं। उनके जीवित रहनेकी सबसे बड़ी शर्त है उनकी हर नये परिवेशके लिए [illegible] नवीन अर्थवत्ता। प्रारम्भमें रचनाएँ एक विशिष्ट अर्थ [illegible] वाले [illegible] बाद उन्हें नये अर्थ देते हैं और ज्यों ही कोई रचना [illegible] उसकी अमरता चुक जाती है। हर बड़ी रचनामें [illegible] इतनी जगहें बचा रहता है कि आनेवाली पीढ़ी उसमें [illegible] सके। निश्चय ही ये दोनों ग्रन्थ, जिन्हें मैं मुद्रित [illegible] लिख रहा हूँ इस दृष्टिसे आज नये सन्दर्भ [illegible] समय लगते हैं।

उपन्यासकी [illegible]

[illegible] है आजके आलोचकोंका [illegible]

नहीं [illegible] सारा [illegible] और [illegible]

बाजारोंमें [illegible] मिलते नहीं। महाकवि [illegible]

सिद्ध-पुरुषा पूरी तरहसे आत्मसात करनेके बाद लिखी गयी ये कृतियाँ नये उपन्यासकी परिभाषाके फ्रेममें किसी भी तरह अपनेको सेट नहीं पायेंगी, यह तय है। नये पाठकोंके लिए इन प्रयोगोंका छन्द अनजाना है वैसे ही लेखकके निविष्ट मनोलोककी गहराइयाँ भी उसके लिए कौतूहलसे अधिक रोमांचवर्द्धक हैं। अत्यन्त आधुनिकताके वातावरणमें इन रचनाओंके सन्देशको यथावत ग्रहण न कर पानेकी लाचारी भी आजके पाठकके सामने है। फिर भी इन रचनाओंके पूरे विस्तारमें फैले हुए बहुत-सारे वर्णनों, दार्शनिक उपपत्तियों और वातावरण उत्पन्न करनेके नाना प्रयत्नोंको छाँटनेके बाद एक सीधी-सादी कथा बचती अवश्य है। सामान्य दृष्टिसे देखनेपर यह कथांश भी ऐसा नहीं लगता कि उसे आधुनिक कथानक कहा जा सके। सीधी आँखसे देखनेपर इतना ही लगता है कि एक पुरुष दो स्त्रियोंके सम्पर्कमें आता है और नाना परिस्थितियों और घटनाक्रमोंके बीच वह कभी एकके पास तो कभी दूसरेके पास होता, हटता, भटकता रहता है। इतिहासकी घटनाएँ पात्रों घटनाओंको केवल नाम भर देती हैं अन्यथा कथा-विकास वैसे ही हुआ है जैसे अन्य उपन्यासोंमें मनोविश्लेषणके नये स्तर खोजनेके लिए होता है। बाणभट्टकी रचनाओंका आभास देनेवाली ये दोनों पुस्तकें पाठकोंपर अधूरी होनेका असर छोड़ती हैं जबकि वे अधूरी हैं नहीं। हर बड़े उपन्यासकी तरह ये रचनाएँ वहाँ समाप्त होती हैं वहींसे प्रारम्भ होनेका आभास देती हैं क्योंकि वे समाप्त होनेके बाद भी पाठकके मनमें बनी रहती हैं।

उपन्यासकी दृष्टिसे इसलिए इन रचनाओंको न देखा जाय तो कई बाधाएँ अपने-आप सुलझ जायेंगी। बड़ी रचनाओंमें इतनी शक्ति होती है कि वे अपने लिए नयी परिभाषा बनवा लें। आनेवाला समय ही बतायेगा कि ये दोनों रचनाएँ अपने लिए नयी परिभाषा बनवा सकनेमें समर्थ हुई या नहीं। जहाँतक पात्रोंका प्रश्न है दोनों उपन्यास देखनेमें पात्र-संकुल लगते हुए भी पात्र प्रधान बिलकुल नहीं हैं। सच पूछिए तो इन दोनों ग्रन्थोंमें नायक यदि कोई है तो वह इतिहासका वह विशिष्ट 'काल' ही है। सामान्य पात्रोंकी जगह कालको नायक बनाकर रची गयी कृतियाँ बहुत अधिक नहीं हैं विशेषकर ऐसे 'काल' को नायक बनानेका साहस तो सम्भवतः साहित्यमें किसी लेखकने आज तक किया ही नहीं। महाराज हर्षवर्द्धनके उत्तरापथके अधीश्वर होनेके समयसे लेकर मुसलमानोंके इस देशमें आने तककी घटनाओंका सार तत्त्व निचोड़कर उससे न केवल इतिहास रस प्रस्तुत किया गया है बल्कि नाना दर्शनों, मत मतान्तरों तथा सम्प्रदायोंके परस्पर विरोधी आचरणोंके बीच संगति खोजनेकी भी चेष्टा की गयी है।

स्वतन्त्रताके अभियानका लगभग एक ऐतिहासिक चक्र अभी-अभी पूरा हुआ है। चतुर्थ आम चुनावके समय तथा बादमें राष्ट्रके चंचल मन और क्षुब्ध मस्तिष्कका जैसा आभास हमें मिला है उसे देखते हुए फिलहाल हम इन दो ग्रन्थोंमें व्याप्त भावको नवीन सन्दर्भमें रखकर देख सकते हैं। यह बात पहले भी कही जा सकती थी लेकिन आज जैसी स्थिति है उसमें विरोधाभास और अधिक उभरकर सामने आये हैं जिनके कारण इतिहासको नये अर्थ देनेकी आवश्यकता महसूस होने लगी है। महाराज हर्षके बाद भी लगभग तीन-चार सौ वर्षों तक उत्तरापथपर प्रतिहार, पाल तथा गहड़वार राजाओंका प्रभुत्व रहा लेकिन गहरी निगाह रखनेवालोंको कान्यकुब्ज प्रदेशको केन्द्र बनाकर बार-बार बनती होनेवाली राज-सत्ताएँ धोखेमें नहीं डाल सकतीं। भारतीय समाजकी चूलें जिस तरह हिल रही थीं और जैसे आस्था और विश्वासकी दीवारें खण्डित हो रही थीं उसे देखते हुए उस ढाँचेके बलपर कोई दीर्घजीवी रचना नहीं की जा सकती थी। जैसे महाराज हर्षदेव अन्तिम सबसे बड़े राजा थे वैसे ही सम्भवतः बाणभट्ट भी संस्कृतके महाकवियोंकी परम्पराके अंतिम सबसे बड़े कवि थे। आशा और निराशाके जो खेल उस वातावरणमें खेले जा रहे थे उनका जितना पता बाणभट्टको था उतना शायद ही किसीको रहा हो। द्विवेदीजीने बाणभट्टको केन्द्र बनाकर इसीलिए उस युगको देखनेका प्रयत्न किया है। युगकी उलझनों या कालके सत्यको परखनेकी जिम्मेदारी सही मानेमें यदि किसीको सौंपी जा सकती है तो वह साहित्यकार ही होगा। दोनों ग्रन्थोंका पूरा आत्मान्वेषण बाणभट्ट सिद्ध और नाथ दार्शनिक साहित्यकार तथा जल्हण जैसे दर्जनों भाषाके कवियोंके निष्कर्षोंका ही परिणाम है। द्विवेदीजीने गहरे पैठकर इन दोनों युगोंके महान् रचनाकारोंके सत्योंको आत्मसात करनेका प्रयत्न किया है। बिना इस परकायाप्रवेशके इतिहास रस पाया नहीं जा सकता। इसमें दो मत नहीं हो सकते कि द्विवेदीजीने इन दोनों ग्रन्थोंके पूरे काल-खण्ड-को अपने भीतर पूरी तरह जीकर ही इन ग्रन्थोंको लिखा है। जो कुछ प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है उसे ही सत्य न मानते हुए लेखक अंतरमें प्रविष्ट होकर घटनाओंका मूल अर्थ पकड़नेकी कोशिश की है। 'सब प्रत्यक्ष दृष्टतथ्य सत्य नहीं होते। इसमें केवल एक बात सत्य है जो अक्सर प्रत्यक्ष नहीं दीखती। एकाएक नहीं कहा जा सकता कि हमने जो कुछ देखा है वह किस हद तक सत्य है।' बस ही व्यक्तिगत सत्य अलग अलग भी होते हैं। उन सत्योंको राष्ट्र सत्यसे अविरोधी कैसे समझा जाय यह भी एक समस्या आये दिन सामने आती है।'' बाणभट्टकी आत्म-कथामें छोटे और बड़े सत्यकी मर्यादाएँ निर्धारित करते

दिखाई पड़ती है। इस दुर्निवार भटकावसे इन शक्तियोंको विरत करना तत्कालीन शासकोंके लिए सम्भव नहीं था और न तो तत्कालीन समाज ही उन्हें रास्तेपर लगा सकता था। यही कारण है कि लेखक उन सारी शक्तियोंसे निराश होकर मुँह फेर लेता है जो ऊपरी तौरसे तत्कालीन इतिहास और समाजकी निर्णायक शक्तियाँ मालूम पड़ती हैं। ऐसी स्थिति भी आती है जब परिवर्तन, सुधार या स्थितिको व्यवस्थित करनेके सारे प्रयत्न एकबारगी ही व्यर्थ हो जाते हैं। निर्णायक शक्तियाँ अनुभव करती हैं कि उनके हाथमें ऐसी कोई भी शक्ति बची नहीं रह गयी है जिनसे वे समाज और जीवनके नाना स्तरोंमें हो रहे बिखरावको रोक सकनेमें समर्थ हो सकें। द्विवेदीजीके मतसे मध्यकालीन समाजमें मूल्योंके विघटन और सैकड़ों वर्षोंसे चली आती हुई परम्पराओंके बिखरावका जैसा विराट स्वरूप सम्मुख आ रहा था उसे कान्यकुब्ज या उस जैसे ही दस बीस राज्य शासन रोक सकनेमें समर्थ नहीं हो सकते थे।

हर स्तरपर मूल्योंमें ठहराव आ गया था और रीति नीतिके प्रेरणा मूलक अंश मृत प्राय हो गये थे। साराका सारा भारतीय समाज देखनेमें एक लगते हुए भी छोटे छोटे स्वार्थों वर्गों और सम्प्रदायोंका समूह मात्र होकर रह गया था। इन कोटियोंमें परस्पर सम्बन्ध स्थापित होनेकी जगह विभेद और विभाजनकी सृष्टि हो रही है और इसके चलते पूरा जन मानस भाटेके समुद्रकी तरह कीचड़ और बाष्प बुदबुदोंसे भरा हुआ-सा लगने लगा था। इस कीचड़के बीचसे दामन बचाकर गुजरा नहीं जा सकता था। लोग चाहकर भी जगह जगह फँसे हुए हाथ पाँव मार रहे थे और सम्प्रदायों विश्वासोंकी कितनी ही नावें यत्र-तत्र कीचड़के बीच जलाभासके भुलावेमें पड़ी हुई सड़ी थीं। इस प्रपंच जालसे समाजको मुक्ति दिलानेके लिए आवश्यक था एक शक्तिशाली ज्वार ऐसा ज्वार जो न केवल सारा कीचड़ बहा ले जाय बल्कि सम्भव हो तो कगार भी तोड़ दे और जगह-जगह जलके अभावमें फँसी नावोंमें धाराका संचार करा दे।

द्विवेदीजीने इतिहासकारकी निर्मम तटस्थताके साथ साहित्यकारकी अन्धकार भेदिनी दृष्टि पायी है इसलिए वे अपने समयके सामान्य स्तरसे ऊपर उठकर बड़े ही दुःखी मनसे यह स्वीकार करते हैं — देखो महाराज पश्चिमकी ओरसे जो महान इस्लाम आ रहा है उसे ठीक ठीक समझो। उसके एक हाथमें अमृतका भाण्ड है दूसरेमें नग्न कृपाण। वह समानताका मन्त्र लेकर आया है सड़े गले आचारों को चुनौती देनेका अपार साहस लेकर उद्भूत हुआ और रास्तेमें जो भी बाधक हो उसे साफ कर देनेका विकट संकल्प लेकर निकला है। उसके लाखों-करोड़ों को पैरों तले दबाकर उनका मांस-मज्जाके ऊपर प्रासाद खड़ा करनेकी बुद्धि

नहीं दिखायी है। विचित्र है उसकी प्राणदायिनी शक्ति, अपूर्व है उसका दलितोत्थापन सङ्कल्प। सहस्रों दलितोंको उसने तलवारकी नोकपर उठाकर ऊँचा आसन दे दिया, सहस्रों जंगली जातियोंको उसने एक झटकेमें रूढ़ियों और परम्पराओंके मलबेसे दूर फेंक दिया। इसके महामन्त्रके प्रभावसे कल तक बर्बर समझी जानेवाली जातियाँ विश्व-नेतृत्वकी लालसासे मत्त हो उठती हैं। हमारा यह समाज लाखों-करोड़ोंको अपमानित करनेमें गर्वका अनुभव करता है, अपमानका फल अपमान ही होगा। जिन्हें हमने पैरों तले दबा रखा है वे ही एक दिन [illegible] हमें चलनेमें असमर्थ बना देंगे, बना दे रहे हैं। सर्वत्र घुन लगा हुआ है। क्षुद्रताके अहङ्कारसे यहाँकी प्रत्येक जाति जर्जर है। प्रत्येक सम्प्रदाय [illegible] है। छोटेपनका अहङ्कार अपनेको ही खण्डित करता रहता है। भारतवर्षकी असंख्य छोटी जातियाँ अपनेको खण्ड-[illegible] करती जा रही हैं। अलगावकी शक्ति इतनी तीव्र हो गयी है कि यह आशा करनी ही व्यर्थ है कि यह समाज कभी किसी एक महान आदर्शके लिए सीना तानकर खड़ा हो सकेगा। सारे पुराने चिन्तन और तत्त्वज्ञान इस सौ छेदवाले पात्रमें व्यर्थ हो रहे हैं। कोई बड़ा आदर्श, अत्यन्त बड़ा आदर्श ही इसकी क्षुद्रताको झाड़ सकता है। शस्त्र युद्धकी व्यर्थता वह समझ गया है, क्षणिक जय-पराजयकी कुहेलिकाका रहस्य जान गया है। द्विवेदीजीने स्थितिका विवेचन करते हुए जो निष्कर्ष निकाला है उसके पीछे स्वतन्त्रताका विशाल आन्दोलन तथा उसको प्रचालित करनेवाली महान् राष्ट्रीयताकी कल्पना काम कर रही है। वे बाणभट्ट [illegible] कथामें प्रवेश सा करते हैं लेकिन उनका मन अत्यन्त आधुनिक है और वे सभी मानेमें एक ऐसे व्यक्ति भी हैं जिसने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलनके उस दौरको भोगा है जिसके चलते खण्ड-खण्ड हो गया राष्ट्र न केवल एक हो गया था बल्कि राष्ट्रीयताके महान उद्गारने [illegible] सत्य, सामाजिक तथा क्षुद्र बन्धन एक झटकेमें ढहा डाले थे। उन्होंने बीसवीं शताब्दीके प्रारम्भमें जागकर उठ बैठे राष्ट्रका रूप देखा था और इस प्रकार उनके भीतर त्याग और उत्सर्गकी कुण्ठित आत्माने नया जन्म प्राप्त किया था। इतिहासके [illegible] शिक्षा लेकर इस देशके जागृत तरुणोंने जिस नवीन धर्म और साहित्य-संस्कृतिकी प्रतिष्ठा इस देशमें की थी उसके कारण न केवल देशमें पुनरुत्थानका व्यापक आन्दोलन चला बल्कि साहित्यकी नयी सम्भावनाएँ भी व्यक्त हुईं। द्विवेदीजीके ये दोनों उपन्यास इसी लिए एक ओर जहाँ अपने कलेवर और चिन्तन प्रक्रियामें ऐतिहासिक लगते हैं वहीं दूसरी ओर वे नवीनतम वैचारिक उपलब्धियोंसे संयुक्त हैं। वे मध्ययुगीन

समाजको एक नये समाजमे जोडते है और विचार संस्कृतिको आधुनिक मोड देते है।

आरमकथाके अन्तमे जिन छोटे और बडे सत्यके परस्पर अविरोधी होनेकी बात उठायी गयी है वह आज नये सिरेसे विचारणीय हो उठी एवं समस्या बन गयी है। हर्ष या जयचन्द्र इतिहासकी बात हो चुके है वैसे ही सैकडो वर्षोंका इस्लामी शासन भी हमारे लिए एक बीती हुई कहानी-मात्र रह गया है। द्विवेदी जीकी कल्पनाको सहसा ज्वारसे भर देनेवाला राष्ट्रीयताका महाभियान भी इस बीच धीरे धीरे उतारपर आता गया है और स्वतन्त्रता प्राप्तिके २० वर्षों बाद हम फिर अन्धकारमें भटकने लग गये है। छोटे सत्य बडे सत्यके न केवल विरोधी बन गये है बल्कि कई छोटे सत्य मिलकर आकार प्रकारमें बडे बन गये है और वे बडे सत्यकी उपेक्षा करनेको अपनी सबसे बडी उपलब्धि मान रहे है। हजारों वर्ष पुराने भारतीय समाजको इस बार सबसे गहरी चोट लगी है और पश्चिमसे आये भयंकर और दुर्निवार प्रवाहमें हमारे पैर जडसे उखड गये है। वे सारी बातें लगभग व्यर्थ सी हो गयी है जिनसे कभी स्थायी मूल्योंकी हम स्थापनाका काम लिया करते थे। विघटित हो रहे मूल्योंके धुंधमें नवीन प्रकाश कहीं दिखलाई नहीं पडता। विचित्र बात है कि द्विवेदीजीने अपनी इतिहासभेदिनी दृष्टिसे जिस एक अनिश्चय और अनास्था भरे युगका साक्षात्कार किया था वह युग (थोडी देरके लिए) राष्ट्रीयताके महान प्रकाशके चलते आँखोंसे ओझल हो गया था किन्तु प्रकाशके निर्वापित होते ही पुन अब वह हमें चारों ओरसे लपेटकर खडा हो गया।

द्विवेदीजी ६० वर्षके हो गये है लेकिन उनकी उम्र केवल ६० ही वर्षकी नहीं है। उनकी इतिहास-ज्ञान और मर्मभेदिनी दृष्टिने उनकी उम्रमें उन सभी कवियों और विचारकोंकी उम्र जोड दी है जिन्हें पिछले सहस्रों वर्षोंके काल प्रवाहमें बडे ही संतप्त मनसे कन्धोंपर सत्यका बोझ उठाये चलते रहना पडा है। वे एक साथ ही उन सभी कष्टों, चिन्तनों और उपलब्धियोंके पुञ्जीभूत प्रतीक हैं जो चिन्तकको लेकर अन्धकारमें रास्ता ढूँढती घूमती रही है। वे सौ या हजार वर्षों तक ही जीवित नहीं रहेंगे क्योंकि भविष्यमें भी सत्यको सहनेका महान उत्तरदायित्व झेलनेवाली बाणभट्ट और जल्हणकी परम्पराएँ आयेंगी। द्विवेदीजी इस विशाल लोक-चक्रके अविच्छिन्न अंग बन गये है इसलिए यदि वे आज अपनी आँखोंके सामने ही एक राष्ट्रको दुस्साह आवेगमें उठते और आत्महीनताके कारण लडखडाकर गिरते देखते है तो इससे उन्हें निराश होनेकी आवश्यकता नहीं है।

पिछले दिनों वाराणसीकी गोष्ठीमें साहित्यमें मूल्योंके विघटनकी समस्यापर विचार करते हुए द्विवेदीजीने कहा था कि ऐसा लगता है कि एक बार सब-कुछ उलट-पुलट किये बिना काम चलनेका नहीं। वे अब भी अपने भीतर उस मूल दृष्टिका आलोडन अनुभव करते हैं जिसके चलते उन्हें इस्लामके हाथमें समानताका अमृत भाण्ड दीखता है और पैरों तले कुचली जातियोंके उभरनेका हर्ष उन्हें अनुभव होता है। आजके स्वतन्त्र भारत राष्ट्रके सामने मध्ययुगीन संक्रान्तिसे कहीं अधिक बड़ी संक्रान्ति उपस्थित है। ऐसी स्थितिमें मैं इन उपन्यासोंको अत्यन्त आधुनिक उपन्यास मानता हूँ। उपन्यासके सामान्य गुणोंके फ्रेममें ठीकसे न बैठती हुई भी ये कृतियाँ महान् संकेतोंसे उद्भासित हैं। नवीन समस्याओंके बीच रास्ता ढूँढनेवाले नये लोग जिस खण्डित दृष्टिसे उनका समस्याओंका निराकरण कर रहे हैं उसके परिष्कार और विस्तारके लिए इन दो प्रयासोंका फलितार्थ समझना आवश्यक होगा। अच्छा होगा कि द्विवेदीजीकी साठवीं वर्षगाँठके अवसरपर उनके द्वारा दिये गये इन निष्कर्षोंपर आधुनिक समस्याओंके सन्दर्भमें नये सिरेसे विचार किया जाय।



> संसारका यह एक विचित्र रहस्य है कि प्रेमकी आसक्ति देखनेमें जो बात जितनी ही आकर्षक होती है घृणाकी नज़रसे देखनेपर वह उतनी ही गर्हित। प्रायः देखा गया है कि धार्मिक आक्षेप करनेवाले उन्हीं बातोंमें अधिक दोष देखते हैं जिनपर उस धर्मके अनुयायी अधिक प्रेम करते हैं। ईसाके बालरूपमें कृष्णका जो भाव घुस गया है ईसाई धर्मके आलोचकोंमें उसीमें भद्दापन अत्यन्त दिखाई पड़ता है।
>
> —सूरसाहित्य

सुन्दर और असुन्दर

• •

प्रभाकर माचवे

आत्मकथा और सो भी पञ्चबाणस्तु बाण की। जिसकी प्रलम्बायमान वाक्यावली शैलीके लिए ख्याति हो उसकी 'डायरी' की संक्षिप्त आलोचना सर्वांगीण सम्भव नहीं। अत एव मैं कलाको लेकर ही हजारीप्रसादजीके इस उपन्यासकी चर्चा करना चाहूँगा। 'आजकल' के वार्षिकांकमें चन्द्रगुप्त विद्यालंकारने इस पुस्तकपर एक स्वतन्त्र लेख लिखा है। जिसमें इस उपन्यासके दो दोष बताये हैं एक तो कथानकका 'सस्पेंस' रहित होना और दूसरा भाषाका बोझलपन। प्रश्न यह उठता है कि उपन्यासका उद्देश्य क्या है? उसीकी अपेक्षामें गुण-दोष विवेचनाका कोई अर्थ है अथवा नहीं। चन्द्रगुप्तजीके अनुसार हर्षकालीन समाज स्थिति चित्रित करना प्रधान तथा बाणका व्यक्तित्व खड़ा करना और उनकी शैलीका हिन्दीमें परीक्षण (?) करना' इत्यादि महत्त्वके उद्देश्य इस उपन्यासमें हैं। मेरे मतमें, चन्द्रगुप्तजी उपन्यासकी मूल भित्तिको नहीं पकड़ पाये हैं अथवा एक ओर बाणकी शैलीकी प्रशंसा करके अन्तमें भाषाके बोझलपन प्रलम्बायमान रूपकोंका अनौचित्य न बतलाते। जहाँतक इस उपन्यासका मैं समझ पाया हूँ, लेखकने अपनेको बाणकी आत्मामें पैठाकर कलाकार बाण पण्डित बाणके अन्तर्द्वन्द्वका, बाणभट्टकी मूल प्रेरणाके स्रोतका, चित्रण प्रयत्न किया है। इसमें वह कहाँतक सफल है यह सिद्ध करनेके लिए हर्षचरित के प्रथम दो उच्छ्वास, कादम्बरी और अन्य बाणकी रचनाओंका आधार लेना होगा। बाणभट्टके अन्तरंगकी यह उच्छ्वासमयी गाथा प्रस्तुत करनेके लिए ऐतिहासिक वातावरण तथा बाण शैलीका प्रणय उपादान लिया गया है। मूलतः यह बाणकी समस्या उतनी हो न हो हजारीप्रसाद-निर्मित बाणकी अवश्य है क्योंकि अन्ततः यह हजारीप्रसादजीकी समस्या है। इस उपन्यासमें कहीं हजारीप्रसादजीका पण्डित सौन्दर्यदर्शी कलाकारपर हावी हो जाता है—वे स्थल थोड़े नहीं अथवा सर्वत्र कलाकार और पण्डितका समन्वय (या कहें

चलता रहता है। उसी बौद्धिक और हार्दिक आनन्दकी सृष्टिमें इस कलाकृतिकी महानता निहित है।

परन्तु इस आनन्दका एक पक्ष और भी है यह उपन्यास हर्षकालीन है जर्जरित सामन्ती विलासमयी सामाजिक मनोदशाका भी इस उपन्यासके कथानक प्रवाहकी शिथिलतामें योग है। हाथियों शिविकाओं और विट चेटोंसे भरे उत्सव कालीन जुलूसोंका जो चित्र पृष्ठ १२ १३ पर है वह इस उपन्यासका प्रतीक चित्र है। रंग है रूप है चहलपहल है अलंकार प्रसाधन है—पर यह सब किसलिए? क्योंकि ऐसी विलासवनितायें विषयमें बाणभट्टकी आत्मकथाम पृष्ठ २५४ ५५ पर स्पष्ट कथन है— इस उत्तरापथमें लाख लाख निरीह बहुओं और बेटियोंके अपहरण और विक्रयका व्यवसाय क्या नहीं चल रहा है? बेटियाँ उनकी नयनतारा नहीं हुआ करतीं? क्या राजा और सेनापतिकी बेटियोंका ला जाना ही संसारका बड़ा दुर्घटनाएँ हैं? कौन नहीं जानता कि इस घृणित व्यवसायके प्रधान आश्रय सामन्तों और राजाओंके अंतःपुर हैं? आपमेंसे किसे नहीं मालूम कि महाराजाधिराजकी चामरधारिणियाँ और करकवाहिनियाँ कैसा प्रकार भगायी और चुरायी हुई कन्यायें हैं? और पृष्ठ २६१ पर वह महारानी डाँटा— चिल्लाते क्यों हो इस नगरमें रानियोंकी सौतोंका विशाल जंगल है—जंगल। और इस सारी मही गली समाज-व्यवस्थामें युवा-कुमारी और स्त्रीका बाधवस्तुकी तरह पण्य मानकर मूल्य था सामन्तवाद। उज्जयिनीके मधुर कोमल वर्णनमें धारक मूल नामेंम विकचकुवलयरन्तरस्फुल्लवमन्यवलोन्दरनिमिष दत्तरमणीयराजण्डलोचनरिव सहस्रसंख्यकद्रासिना सराभिरविरलकल्लोलवनितानिभिरमृनफेनपुञ्जपाण्डुराभिर्दिग्भिरिन्दुवल्लभिकाभिधवलीकृता योननमन्म-समालतीपुच्चयन्तार्गिमल्लिका भगवता महाकालस्य शिरसि सुरसरितमालायसमुपजातेष्यया सततसमारूढतरलभ्रुकुटिलया सखिव क्षालयन्ताभिरम्या परिगता सकलभुवनख्यातयशासा हरजटाचन्द्रकोटिसारणा। यह उद्धरण कुछ लम्बा इसलिए दिया कि कादम्बरी मे उज्जयिनी वर्णनवाले तीन पृष्ठ तक चलनेवाले एक वाक्यका कुछ अन्दाज मिले। तो इन कामिसार सामन्तोंके प्रति उपन्यास पढ़कर तिरस्कार तो कुछ मात्रामें उत्पन्न होता है परन्तु रोष नहीं। लेकिन आत्मकथाको माध्यम चुननेके कारण उस कालकी विराग-जर्जर समाज-स्थितिमें बाण कुछ अटकता भटकता मोह-मुग्ध होता है। और समूची पुस्तक पढ़नेपर उस कालके सौन्दर्य दृष्टि टिकती है। साधारण पाठक उस कालको लौटानेकी इच्छा कर सकता है यही एक बड़ा भय इस पुस्तकमें है। स्त्रियाँ या

'जय यौधेय'में भी करीब-करीब उसी कालका चित्रण है परन्तु यह भय वहाँ नहीं है। हजारीप्रसादजीकी पुस्तकका सबसे बड़ा गुण या दोष कहिए, उस कालके प्रति उनकी दी हुई सहानुभूति है, सहृदय सौंदर्य-ग्राही समदृष्टि है। इस बातपर दो मत हो सकते हैं कि क्या इतिहासके काल विशेषका ऐसा चित्रण इष्ट है कि जिससे पाठक निराश-सौंदर्य-लुब्ध बनकर आत्मविस्मृत हो जाये, परन्तु यह सौंदर्यशास्त्री आलोचकोंकी चिरंतन समस्या है, सौंदर्यस्रष्टा शायद उससे असम्पृक्त ही रहता है, कि मोनालिसाके आकर्षक स्मितके पीछे सोजर बार्गिया वंशकी ऐयाशी और पापोंका परा अम्बार था परन्तु चित्रकारने उस कर्दमको नहीं देखा, कमल ही बना दिया। प्रगतिशील दृष्टिवाले मुख-जमे आलोचकको हजारीप्रसादजीके उपन्याससे इतनी ही शिकायत है कि काश वे समग्र सत्यका चित्रण करते, और केवल सुन्दर सत्य तक ही सीमित न रहते!

परन्तु वह काल ही ऐसा था जब—

उद्वेगमहावर्ते पातयति पयोधरानमनकाले।
सरिदिव तटमनुवर्ष विवर्धमाना सुता पितरम्॥

जैसी आर्याएँ प्रकृतिवर्णनप्रसंगमें भी रची जाती थीं और हर्षको अपने पिताके मृत्युकालके समय भी रणनके कमरेके पास आनेपर यही सुनाई देता था—दाहो महान्! आहा हारान हरिणि, मणिदर्पणाभे देहे दहि वन्हि, हिमलवलिम्प ललाट लीलावति, घनसारधूलि निधेहि धवलाक्षि, कपोल कलय कुवलय कलावति, चन्दनचर्चा रचय चारुमते, पाटय पटमार्द्र पाटलिके मन्दय दाह इंदुमति अरविन्द जनय जलार्द्रया मुद मदिरावति उपनय मृणालानि मालति, तरलय तालवृन्त आर्यावति! और जब गालियाँकी बौछार भी लग जाती तो वहाँ भी वैसा ही शब्द बाहुल्य होता, यथा—अ पाप क्रोधापहृत, दुरात्मन् जन क्षमात्मन् ब्रह्मबन्धो मुनिखेट अपसद, निराकृत, आत्मस्तम्भित विलम्ब कथ'। इस कारण शब्द बहुलताके लिए बाणको दोषी ठहराना न्याय है। और कथानककी घटना विरलताके विषयमें कुमारी काम्प्टन बर्नेटका यह कथन बहुत सत्य है कि—'जहाँतक कथानकका सम्बन्ध है मुझे यथार्थ जीवन बिना कामका नहीं जान पड़ता। यथार्थ जीवनमें कथानक कहाँ है? और चूँकि कथानक मैं अत्यन्त इष्ट और आवश्यक समझती हूँ, जीवनके प्रति मेरी यही शिकायत है। परन्तु कुछ लक्षण इस वास्तव भी चिह्नित होते रहते हैं कि विचित्र घटनाएँ घटित अवश्य होती रहती हैं, यद्यपि वे निर्मित नहीं की जा सकती।

(हेनरी रीड, नावल सिन्स १९३९, पृ० १८)

इधर एक और निबन्ध मैं आर्थर मेल्विल क्लार्कके 'स्टडीज इन लिटररी मोड्स' में पढ़ रहा था जो कि 'ऐतिहासिक उपन्यास' पर ही है। उसमें उन्होंने प्रत्यक्ष अतीत और प्रत्यक्ष अतीतके इतिहासमें सूक्ष्म अन्तर करते हुए बतलाया है कि उस इतिहासपर आधारित नवल्कथा (गुजरातीमें 'रास' के लिए शब्द) तो और भी तीसरी अगम्य वस्तु है। जैसे सिनॉर क्रोचे काव्यकी आलोचनाको पूर्वकी आलोचनाकी आलोचना मात्र मानते हैं उसी प्रकार इतिहासका लेखन, पुराने इतिहासका आलोचनाकी आलोचना मात्र है। इस प्रकार अरस्तूका यह कथन कि हेरोडोटसकी रचनाको छन्दोबद्ध कर देनेसे कथा-काव्य नहीं बन जाता, बल्कि इतिहास जहाँ अतीत कथाका वर्णन देता है ऐतिहासिक कथा अतीत सम्भावनाका चित्रित करती है। हर्षकालीन जीवनको बाण और समवर्ती रचनाकारोंने अपनी आँखोंसे देखा, अपनी उर्वर चित्तासे सौन्दर्यमय बनाकर प्रस्तुत किया उसके कितने सदियों बाद शान्तिनिकेतनके इस असाधारण संस्कृत पण्डित और मर्मग्राही पण्डितने उसी बाणके हृदयमें प्रवेश कर इस मुक्तारूपी मणिको खोज निकाला। उसमें ऐतिह्य सत्यकी खोज व्यर्थ है, उसका मूल्य कलाकृतिके नाते है। ई० एम० फास्टरने अपने 'आस्पेक्ट्स आफ नावेल' में स्काटकी खूब खबर ली है कि उनके पात्रोंमें केवल दो ही तरहका प्रमाण हैं तीन नहीं, वे पात्र 'फ्लैट' हैं। यह दोष हम हजारीप्रसादजीपर कदापि नहीं लगा सकते—निपुणिका जो इस उपन्यासका सर्वोत्तम पात्र है एक सजीव और सर्वथा प्रिय रचना है। 'करणघेलो' नामक ऐतिहासिक गुजराती उपन्यासकी आलोचनामें वि० प० भट्टने 'साहित्यसमीक्षा' में पृष्ठ २०५ पर जो दोष अधिक ऐतिहासिक विवरण देनेके सम्बन्धमें बताया है, वह भी यहाँ नहीं। मराठीमें ऐतिहासिक उपन्यास बहुत लिखे गये हैं—पर वे भी अधिकतर घटना बहुल हैं, चरित्र प्रधान नहीं जैसे बाणभट्टकी आत्मकथा। राखालबाबूके उपन्याससे यह उपन्यास इस दृष्टिसे कई सौ कदम आगेकी कृति है। अब ऐसी साहित्यकी गौरववर्द्धिनी कृतिको पाकर हिन्दीके डॉक्टर लालको यह लिखनेका साहस न रहेगा कि—'हिन्दीके अधिकांश ऐतिहासिक उपन्यास केवल नाममात्रके ऐतिहासिक हैं क्योंकि उनमें केवल इतिहासकी ओटमें तिलस्म, अय्यारी और प्रेमप्रसंगोंकी ही अवतारणा की है।' (डॉ० लाल आधुनिक हिन्दी साहित्यका विकास पृ० ३०२–३)

अतीतका पुनर्निर्माण

• •

देवराज उपाध्याय

हिन्दीमें इधर कुछ वर्षोंमें कथा-साहित्यकी प्रगतिमें पर्याप्त भिन्नता रही है और वह साहित्यिक श्रीवृद्धिका कारण रही है। फ्रायडके मनोविश्लेषण शास्त्र, मार्क्सके साम्यवादी सिद्धान्तों तथा आजकी उत्तरोत्तर प्रबुद्ध रहते रहनेवाले आर्थिक और सामाजिक वैषम्यने लेखकोंके हृदयको बलपूर्वक झकझोर दिया है और उन्होंने इनका सहारा पाकर अपने हृदय पक्षको कथाके रूपमें मानो साकार रूप देनेकी चेष्टा की है। पर इतना सब होते भी हिन्दी साहित्यमें ऐतिहासिक उपन्यास नहीं-से हैं। साहित्यका यह अंग आजतक उपेक्षित ही रहा है। बाणभट्ट की आत्मकथा में द्विवेदीजीका ध्यान साहित्यके इसी उपेक्षित अंगकी ओर गया है और उन्होंने अपनी सशक्त कल्पनाको इस ओर प्रवृत्त किया है।

बाणभट्टकी आत्मकथा' प्रधान रूपसे उस श्रेणीमें आती है जिसे आलोचना के क्षेत्रमें ऐतिहासिक उपन्यासके नामसे अभिहित किया जाता है। जैसा कि नामसे ही पता चलता है कि इसमें दो तत्त्वोंका समावेश रहता है इतिहासका और कथाका। और ये दोनों तत्त्व पारस्परिक विरोधी हैं। इतिहास है एक ठस वस्तु जगतकी वास्तविकता और कथा है कल्पनाजगतकी उड़ान एकमें इसी जगतके सीधे सादे ठोस, इन्द्रिय गोचर जीव रहते हैं और दूसरेमें बस जाते जो लेखककी कल्पनासे जन्म ग्रहण करते हैं। तब इन दो पारस्परिक विरोधी तत्त्वों को लेखक किस तरह एकत्र संगठित करे और इनके समन्वयमें कथाको अपने लक्ष्यकी ओर अग्रसर करे यह एक बड़ा विचित्र समस्या है। इसी तरहकी विरोधी बातोंका समन्वय ऐतिहासिक उपन्यासकारको करना पड़ता है जिसे द्विवेदीजीने बड़े निखलानेकी कोशिश की है।

ऐतिहासिक उपन्यासकी सफलताकी कठिनताका अन्दाज इसी बातसे लगाया जा सकता है कि अंगरेजी साहित्यमें इस श्रेणीकी कथाओंके बाहुल्यके बावजूद भी उच्चकोटिके सफल औपन्यासिकोंमें स्काट और थैकरे-जैसे महानुभावों का ही नाम लिया जाता है। हिन्दीकी तो बात ही छोड़ियेगा। किशोरीलाल

शान्तिनिकेतनसे शिवालिक

गोस्वामी, मित्रबन्धु तथा वृन्दावनलाल वर्माका नाम अवश्य इस क्षेत्रके लिए लिया जाता है पर इन्हें उपन्यासोंके लिए गुप्तकी मर्यादा में कुछ अधिक मूल्य नहीं दिया जा सकता। ऐतिहासिक उपन्यासोंके लिए इतिहासकी सहज प्रतिभा तथा कवित्व मय कल्पना इन दोनोंके कांचनमणिमयी सहयोगकी अपेक्षा है। वह बात इन लोगों में नहीं थी। हाँ वृन्दावनलाल वर्मा इस अर्थमें औरोंसे कुछ अधिक सफल अवश्य हैं पर यह मानी बात है कि जिस तरहकी तरल और कल्पनामय भाषाकी आवश्यकता एक सफल औपन्यासिकको है वह उन्हें प्राप्त न थी। यह उनके उपन्यासोंका सबसे दुर्बल अंग है। द्विवेदीजीके पास ऐतिहासिक प्रतिभा कल्पना तथा भाषा भी है। इस तरह वे ऐतिहासिक उपन्यासोंके प्रगतिकी ओर एक स्पष्ट कदम उठाते दिखाई पड़ते हैं इस अभावकी पूर्ति करते हैं और सबसे बड़ी बात कि वे भविष्यके लेखकके लिए मार्ग निर्देश करते हैं और प्रतिभाके प्रस्फुटनके लिए एक अपरिमित क्षेत्रका उन्मोचन करते हैं।

सबसे पहले 'आत्मकथा'की बाहरी रूपरेखापर विचार किया जाय। किसी व्यक्तिके सम्पर्कमें आते ही हमारा—अर्थात् साधारण बुद्धिका—ध्यान सर्वप्रथम उसकी वेष भूषा खान-पान तथा बाह्य शरीर-सौष्ठवकी ओर ही जाता है। इसीको देखकर हम कुछ साधारण-सी धारणा बना लेते हैं और यदि वह धारणा अनुकूल हुई तो आगेका मार्ग प्रशस्त हो जाता है। साहित्यके लेखकका सबकुछ यह होता है कि वह अपनी रचनाके इर्द गिर्द एक इस तरहके वातावरणकी सृष्टि करे कि उसकी रचनाकी छाप पाठकपर बैठ जाय। पाठक लोग जानना चाह कि क्या सच्ची नहीं लेखकका कल्पनाकी उपज है फिर भी लेखककी चातुरी इसमें कुछ इस प्रकार रहा करे कि उसकी सूक्ष्म-प्रवण परख करनेवाली आलोचक बुद्धि सो जाय। इसी ओर लेखककी सारी प्रवृत्तियाँ उन्मुख रहती हैं। द्विवेदीजीने इस ध्येयकी प्राप्तिके लिए क्या नहीं किया है? संस्कृत साहित्यका ऋण तो है ही अंग्रेजी ज्ञान भी कम नहीं लिया गया है, यद्यपि कि बिचारी हिन्दीको भी इन द्विवेदीजीकी साधनामें कम नहीं। वे एक सजग और जागरूक कलाकार हैं। और बड़ी मनस्विताके साथ पैनाकी एक एक टोकाके उन्होंने अपने उपन्यासकी भूमिकी रचना की है।

सबसे प्रथम आत्मकथाकी ही बात लीजिए। इसमें नायक बाणभट्ट अपने जीवनके मार्मिक कार्योंका विवरण स्वयं ही करता चला गया है। इसके बाद कथामें कादम्बरीकारका स्वर आ जाता है। आत्मकथाके रूपमें लिखने और उपयोग न करें है सो बात नहीं। इलाचन्द्र जोशीका पर्देकी रानी, जैनेन्द्रका 'त्यागपत्र' रवीन्द्रनाथका 'घर और बाहर' (घरे बाइरे) प्रसिद्ध है। पर इन सब

ग्रन्थोंके पात्र उत्पाद्य हैं इनका जन्म लेखककी कल्पनामें हुआ है। पर द्विवेदीजी
के पात्र संस्कृत-गद्यके सम्राट, महाराज हर्षके राजकवि बाणभट्ट हैं। यह द्विवेदी
जीकी मौलिकता है कि इस आत्मकथावाली प्रवृत्तिका उन्होंने एक ऐतिहासिक
व्यक्तिसे सम्बद्ध किया है और पुस्तकका नामकरण किया है 'बाणभट्टकी
आत्मकथा'।

द्विवेदीजी खूब जानते हैं कि आलोचक और समझ-बूझकर चलनेवाली
बुद्धिको भुलावा देनेके लिए स्थगित दावावृत्ति, (सस्पेंशन ऑफ डिस्बिलीफ)
की सूरत पैदा कर देनेके लिए यह प्रयास नहीं है। अतः वे आस्ट्रियाकी अशीति
प्राय दीदीकी अनुसंधानप्रियताकी बात सामने लाते हैं और बातें कुछ इस
ढंगसे करते हैं कि मालूम होता है कि मानो इस कथाकी पाण्डुलिपि उन्हें शोण
नदीके तटपर भ्रमण करते मिली थी जिसका सम्पादन भर करके उन्होंने
प्रकाशित कर दिया है। यहाँपर एक बात कही जा सकती है यदि वह छोटा
मुँह और बड़ी बात जैसी न लगे तो। इस टेकनीकके लिए द्विवेदीजी थैकरेके
प्रसिद्ध उपन्यास 'हेनरी एसमंड' से नहीं तो जेन इर्के त्यागपत्र के अवश्य ऋणी
हैं। द्विवेदीजीने जरा आगे बढ़कर मीठी पर सतर्कतापूर्वक दबी हँसीके द्वारा
यह कर दिया है कि यह तो मजाक भर है। पर इससे सत्यताका भ्रम कितना
पैदा हो जाता इस हँसीके आवरणको चीरकर देखना कितना कठिन हो जाता
है। यह इतने भरसे ही पता चल सकता है कि मेरे विद्वान मित्र श्रीशान्तिकुमार
नानूराम व्यासने अपनी पुस्तक संस्कृत साहित्यका इतिहास में यहाँतक लिख
दिया है कि बाणभट्टकी जीवनीकी एक नयी सामग्री द्विवेदीजीके हाथ लगी है
और उसके प्रकाशनसे बाणभट्टकी जीवनीपर नया प्रकाश पड़ेगा। द्विवेदीजी
जनश्रुतिसे इस बातमें बढ़े हैं कि अन्तमें दीदीके पत्रका उल्लेख कर पाठककी भूल
पर हँसते से भी हैं। अथवा उनके दिमागमें अधिक पेचीदगी है।

बाणभट्टकी कोई भी रचना पूरी नहीं है। हर्षचरित एक तरहसे अधूरा
ही है और कादम्बरी भी। यह 'आत्मकथा' भी पूरी कम होती। यह बाणभट्ट
की जो है। यदि पूरा होता तो पाठकको शंका न होती कि यह पूरी कैसे हो
गयी जब और सब रचना अधूरी है। अतः इसे भी अपूर्ण ही रहना चाहिए।
प्राय यह देखा जाता है कि एक लेखक एकाधिक पुस्तकें लिखता है तो प्राय एक
पुस्तककी बातें दूसरी पुस्तकोंमें ज्योंकी त्यों आ जाती हैं। इस आत्मकथामें भी
'कादम्बरी और हर्षचरित' की बातें क्यों न पायी जायें, यह तो स्वाभाविक
ही है समानताके ही नहीं भिन्नतामें आत्मकथाकी सत्यताका गवाही गुंजायश हो
सकती है। कितनी सतर्कतासे पाठकके लिए जाल बिछाया जा रहा है और

जितनी पैतरेबाजीसे उसे घेरनेकी कोशिश की जा रही है। और भाषा ? वह तो बाणभट्टकी है न, हिंदी भले हो हो, पर उमड़ती है तो मानो चली है "नभो नापने धरती"। हाँ इतना अवश्य है कि 'हर्षचरित' और 'कादम्बरी' के श्लेष गमत्व और विरोधाभास गमत्वकी कमी अवश्य है, पर वह है बाणभट्टकी ही यही पाठक समझता है। यही है साहित्यमें युग भावनाका प्रतिबिम्ब। बाण भट्ट भले हो हों ७वीं शताब्दीके पर उनकी आत्मकथा है २०वीं शताब्दीकी और उसमें इसी युगका स्पन्दन है।

ऊपर कह आये हैं कि ऐतिहासिक उपन्यासमें इतिहास और कल्पनाका समानुपातिक सम्मेलन होना चाहिए। अँगरेजी साहित्यके प्रसिद्ध इतिहास-लेखक प्रोफ़ेसर सण्ट्सबरीने ऐतिहासिक-लेखनके लिए कुछ गुणोंका होना आवश्यक बतलाया है। उसने यह भी बतलाया है कि ऐसे उपन्यासोंमें किन किन बातोंका अभाव होना चाहिए। पहला अभावात्मक गुण तो यह है कि कथा प्रवाहमें इति हासकी घटनाओंको व्यर्थ ठूँस-ठाँसकर भरा न जाय। द्विवेदीजीमें इससे बचनेका लक्ष्य तो परिलक्षित अवश्य होता है, पर इसके साथ तुवरमिलिन्दका रूप बदलना और उससे इसकी सही करानेका प्रयत्न कार्य विरोध तो हो ही जाता है, साथ ही साथ पाठकोंकी विश्वास भावनापर आवश्यकतासे अधिक ज़बरदस्ती डालना दीख पड़ता है। माना कि तुवरमिलिन्दका समय-निरूपण एक समस्या है, जैसा कि द्विवेदीजीने स्वीकार किया है, पर इसके समसामयिक होनेकी कल्पना किसीने नहीं की है। एक उपन्यासमें भी वह रानाका भाई है, पतिव्रता महादेवी सती चौथी में स्वयं कुछ निश्चयके साथ नहीं कह सकता। इस प्रकारके समावेशके पक्षमें कुछ तर्क तो दिया ही जा सकता है। महाराज हर्ष बड़ा बाणभट्टको 'भुजंग (लम्पट)' समझते थे और उनसे अप्रसन्न थे, इसलिए एक सशक्त कारण उपस्थित करना था। बाणभट्टको चन्द्रदीधिति सिन्धुकी कन्याके उद्धार करने जैसे कार्यमें कम महत्त्वके कार्योंपर नियुक्त किया जा सकता था। इति- हासका रूप भी बनाये रखना था इत्यादि। पर विरतिकी भावनाकी ज़बरदस्ती किसकी नहीं खलती क्या? और स्थगित पराजित एवं औपन्यासिक सौन्दर्य वास्तव नहीं है क्या? दूसरी बात—जिन दूसरे दबनेक बात—आ० रामस्वरूप चतुर्वेदी ... किया तथा वातावरणकी अपनी ऐतिहासिक घटनाओंसे विकासका अधिक स्थान लेनेका लाभ है, पर इस ऐसा होता है जिसका पौन महत्त्व बहुत बड़ा यह ऐतिहासिक उपन्यासकार लिए कठिन हो जाता है। विचारोंका तथा सांस्कृतिक तत्त्व नाटकीय स्फूर्तिया और धार्मिक कार्योंमें पूर्ण है तथा शाता- लापोंकी सुन्दर योजनाओंने उपन्यासमें सजीवताकी सृष्टि कर दी है। उदाहरणके

लिए उस स्थलकी ओर संकेत किया जा सकता है (पृष्ठ २१८) जहाँ सुगतभद्र महाराजके इस स्थल प्रश्नका उत्तर दिया है कि 'बुद्ध निर्वाण प्राप्त करनेके बाद भी पूजा कैसे ग्रहण करते हैं।' और ऐसे बहुत से स्थल यत्र-तत्र बिखर पड़े हैं।

हाँ, काल्पनिक अंशमें द्विवेदीजी पूर्ण रूपसे सफल हैं। उनकी कल्पनाने उस समयके वातावरणके पुनर्निर्माणमें सहायता ही दी है। द्विवेदीजीके बाणभट्ट, शील्भद्र, वसुभूति इत्यादि ऐतिहासिक व्यक्तियोंसे अधिक सत्य हैं क्योंकि वे व्यक्ति न रहकर टाइप हो गये हैं वे एक जातिका प्रतिनिधित्व करने लग गये हैं। उनका व्यक्तित्व व्यष्टिगत न रहकर समष्टिगत हो गया है और वे उस समयकी युग भावनाके शरीर हो गये हैं। उस समयके लोगोंका बीच किस तरह तांत्रिक सिद्धियोंमें विश्वास था यह तो शायद जितनी स्पष्टतासे यहाँ व्यक्त किया गया है वह शायद ही कहीं दूसरी जगह मिले। कहीं कहीं तो देवकीनन्दन खत्रीकी 'चन्द्रकान्ता संतति' एवं 'आश्चर्य वृत्तान्त'-जैसी पुस्तकोंके पढ़नेका आनन्द मिलने लगता है।

सबसे बड़ी बात इस पुस्तकमें है नारी तत्त्वकी व्याख्या और समाजकी स्थिरताके लिए उसकी उद्भावनाका ज़ोर। नारी-तत्त्व मतलब आत्म-समर्पणकी भावना, दूसरे शब्दोंमें अहिंसाकी नींवपर समाजका निर्माण। यह पूरे उपन्यास प्रबन्धका मुख्य व्यंग्य है। सारी पुस्तक भारतीय प्राचीन सभ्यताका विजय घोष सी करती है और भारतीय जीवनमें संयमका जो स्थान है उसको आधुनिक सभ्यताकी आधारशिला बनानेकी अपील करती है। यवनोंकी सभ्यता जो समाजमें उच्च-नीचका विभेद नहीं मानती उसकी प्रशंसा अवश्य है पर उनकी त्रुटिकी ओर भी ध्यान दिलाया गया है 'उनमें संयमका अभाव है आत्मनियन्त्रणकी कमी है। उन्हें यही चाहिए। भारतीय समाजने बन्धनको सत्य मानकर संसारको बहुत बड़ी चीज़ दी है।' प्रकारान्तरसे आधुनिक समाजके निर्मायकोंको यही चाहिए यही बात सारी पुस्तककी ध्वनि है। सब मिला-जुलाकर इस पुस्तकका महत्त्व इसमें नहीं है कि यह पूर्णरूपेण सफल ऐतिहासिक उपन्यास है पर इसमें अधिक है कि यह भविष्यके औपन्यासिकके लिए एक विशाल क्षेत्रका उद्घाटन करती है।



साहित्यिक परकाय प्रवेश

• •

नलिनविलोचन शर्मा

"मिस कैथराइन नामक एक आस्ट्रियन महिलाको बाणभट्टकी आत्मकथाका एक स्वतन्त्र ग्रन्थकी पाण्डुलिपि सोन नदीके किनारे उपलब्ध हुई है (विशाल-भारत जनवरी १९४३)। बाणके अन्य ग्रन्थोंकी भाँति यह आत्मकथा भी अपूर्ण है। इसका हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत हिन्दी अनुवाद विशाल भारत में प्रकाशित हो रहा है। मूल संस्कृत आत्मकथाका प्रकाशन संस्कृत-साहित्यकी एक अपूर्व वस्तु होगी।"

हिन्दीमें लिखे गये जिस मामूली तरहके कामचलाऊ संस्कृत साहित्यके इतिहास-से ये पंक्तियाँ उद्धृत की गयी हैं उसका पता ठिकाना नहीं देना उसके साथ अन्याय करना नहीं होगा। द्विवेदीजीकी लेखनीका जादू उल्लिखित पुस्तकके लेखकके सरपर चढ़कर बोल गया है। मैं एक तरफ द्विवेदीजीकी मूक खिलखिलाहटकी बात सोचता हूँ और दूसरी तरफ उद्धृत पंक्तियोंके लेखककी निपट भावुकताके नितान्त अभावको और आज फिर इस आलोचनाको लिखते समय मन-ही-मन उस तरह खिलखिला रहा हूँ जिस तरह पहली बार इस वक्तव्यको पढ़कर खिलखिला पड़ा था।

लेकिन गम्भीरतापूर्वक विचार करनेपर इस भ्रान्तिके लिए आत्मकथाका लेखक ही उत्तरदायी ठहरता है। उसने अपनी विज्ञप्तिपूर्ण भूमिकामें जितना श्रम नहीं किया है उतना तो अपना लेखन-शैली जो पुस्तकको इस प्रकार विश्वासोत्पादक बना देती है। द्विवेदीजीने यह प्रश्न परिशिष्टमें भी किया होता तो साहित्यप्रेमी यह सन्देह कर सकते थे कि इन महाशयको कदाचित कोई प्राचीन पाण्डुलिपि मिल गयी हो। बाणभट्टकी आत्मकथा साहित्यिक परकाय प्रवेशका उत्कृष्ट उदाहरण है। द्विवेदीजीको बाणभट्ट बन जानेमें पूरी सफलता मिली है।

द्विवेदीजीका संस्कृतका गम्भीर अभ्यास सबको जानी बात है। उनमें और बाणभट्टके व्यक्तित्वमें एकसे अधिक समान तत्त्व हैं। दोनोंमें ही

शास्त्रके ज्ञान और जीवनके अनुभव, पाण्डित्य और विनोद, संयम और सहृदयता, गाम्भीर्य और परिहास ऐसा ही दुर्लभ संयोग है। कोई आश्चर्य नहीं, द्विवेदीजीकी लिखी बाणभट्टकी जीवनी बाणभट्टकी आत्मकथा ही बन गयी है।

आत्मकथा लिखना सबके बूतेकी बात नहीं, पर कुछ लोगोंको दूसरोंकी जीवनी लिखनेमें ऐसी सफलता मिल सकती है कि वह आत्मकथा ही मालूम पड़े। इस कोटिके लेखकोंके लिए इतिहासके सूक्ष्म अध्ययनके साथ कवित्व-शक्ति और उपन्यासकारकी स्थापत्य-कुशलता भी आवश्यक है। लेखक और उसके चरित-नायकके व्यक्तित्वकी समानता तो जीवन्तताके लिए अनिवार्य है। और जहाँतक इस अंतिम तत्त्वका प्रश्न है, मैंने तुरत पहले इसका निर्देश किया है।

बाणभट्टके इतिहासके विषयमें भी सौभाग्यसे लेखकको पर्याप्त सामग्री सुलभ थी। सौभाग्यसे इसलिए कहा क्योंकि संस्कृतके प्राचीन लेखकोंका इतिहास इतिहास नहीं, अनुमान मात्र है। बाणभट्ट उन अपवादोंमेंसे हैं जिनके विस्तृत और प्रामाणिक जीवन-वृत्त उपलब्ध हैं। इससे भी ज्यादा मौजू यह कि बाणका जीवन-वृत्त उन्हींके द्वारा लिखा गया है। 'कादम्बरी' और 'हर्षचरित' में बाणने अपने बारेमें जितना और जो कुछ लिखा है वह क्या कम है? बाणभट्टके काल-निर्णय जैसे नीरस शास्त्रीय प्रश्नोंपर भले ही उनके आत्मकथनसे प्रकाश नहीं पड़ता हो किन्तु उससे उनके व्यक्तित्वका अंतर्दर्शन सम्भव हो जाता है जो उनकी जीवनी लिखनेके प्रयासको काफी सरल बना देता है।

आत्मकथा लिखनेवाला अपनी केंचुलसे बाहर निकलकर अपना विश्लेषण करता है इसलिए ईमानदारीसे लिखी गयी आत्मकथा जीवनी भी लगती है। इसके विपरीत जीवनी-लेखक वर्ण्य व्यक्तिसे अभिन्न होकर उसके व्यक्तित्वका संश्लेषण करता है, फलतः सफल जीवनी आत्मकथा बन जाती है। बाणभट्टने बिना भावुक हुए और निर्मम तटस्थताके साथ लिखा है कि एक अभिजात ब्राह्मण वंशमें जन्म लेनेके बावजूद वे, यौवनमें, सन्देहास्पद चरित्रवाले समवयस्कोंके साथ आवारागर्दी करते रहे, फिर सँभले और घर-गिरस्तीकी ओर ध्यान दिया और साहित्य-रचनामें जुटे। राजाके यहाँ पहुँचनेपर पहले तो उपेक्षा ही हुई क्योंकि जवानीके कारनामोंकी 'प्रसिद्धि' राजाके पास तक पहुँच चुकी थी पर बादमें उनकी प्रतिभाके कारण उनका यथोचित आदर भी हुआ। इतनी सी बात, लेकिन बाणभट्टकी लिखी हुई कवित्वपूर्ण होनेपर भी कहीं असत्य नहीं, अपने बारेमें होते हुए भी कहीं लीपा-पोती नहीं। व्यक्तिके जीवनके इतिहासके लिए इतनी सामग्री है तो काफी है। द्विवेदीजीने इस सामग्रीको

सम्भावनाओंको देखा और उनका सफाईके साथ उपयोग किया। बाणने आत्म कथा लिखते हुए भी वस्तुतः जीवनी लिखी। द्विवेदीजीने जीवनी लिखी और उसे आत्मकथा कहा और हमने उसे ऐसा पाया भी—कुछ लोगोंने तो सच्चा।

परिमाणमें सीमित इतिहासके आधारपर परिपूर्ण जीवनी—जैसी बाणभट्ट की आत्मकथा है—लिखनेके लिए कवित्व शक्ति बहुत आवश्यक है। एक कवि ही मैं ऐसा मानता हूँ, जीवनी लिख सकता है। बाणने कादम्बरी और 'हर्षचरित' दो उपन्यास लिखे हैं। हर्षचरित' एक ऐतिहासिक उपन्यास है। वह इतिहास कम और ज्यादा उपन्यास ही है और इसमें ज्यादा जीवता। बाणका कवित्व तब देखनेको मिलता है जब वे गहरे रंगोंकी विविध पृष्ठभूमियोंके सहारे रूपके व्यक्तित्व और स्वभावका, उनके संघर्ष तथा सरलता कोमलता और कठोरताके साथ अभिव्यक्त करते चले जाते हैं। द्विवेदीजीने बाणकी तरह बहुत गहरे रंगोंका तो प्रयोग नहीं किया है फिर भी गहरे रंगोंका प्रयोग उन्होंने भी अवश्य ही किया है। गहरे रंगोंकी पृष्ठभूमिमें यह खतरा बना रहता है कि कहीं तसवीर ओझल न पड़ जाये। बाण कहीं-कहीं अपने चित्रोंको उनकी पृष्ठभूमिसे परस्पर, हल्का ही छोड़ देनेको बाध्य हो गये। द्विवेदीजीने अपने चरितनायककी कुरूपता और असफलता दोनोंमें ही खींच दी है। बाणभट्टकी आत्मकथामें शायद ही ऐसा कहीं हुआ हो कि पृष्ठभूमि प्रधान और चित्र गौण हो गया हो। लेकिन द्विवेदीजीकी तसवीरें भी शायद पृष्ठभूमिपर ही उभरी हैं। और शायद पृष्ठभूमिके लिए कवित्व शक्तिकी ही अपेक्षा रहती है। पुस्तकके आरम्भसे ही बाणभट्टके जो विशद चित्र उपस्थित किये गये हैं उनकी परिपूर्णताके पीछे लेखककी कवित्व शक्ति ही काम करती है। बाणभट्टकी आत्मकथा निस्सन्देह एक कवि चित्रकारकी रचना है।

बाणभट्टके उपन्यासोंके समान ही लेखकका इस जीवनीमें भी कवित्वपूर्ण वर्णना था एक विशेष प्रभावको उत्पन्न करनेके लिए विन्यास पाया जाता है। विस्तृत एवं सजीव वर्णनोंकी सहायतासे, कुछ मिलाकर वह वातावरण तैयार कर लिया गया है जो चरित्र निर्माणको विश्वास्य बना पाता है। बाणके पर्यटन-काल सम्बद्ध देश, तत्कालीन आचार-व्यवहार आदिके जो वर्णन आये हैं वे वर्णनमें ही महत्त्वपूर्ण नहीं है किन्तु बाणके घटनापूर्ण जीवनके अनिवार्य वातावरणकी सृष्टि करते हैं। बाणभट्टकी आत्मकथा पढ़ते हुए हम सम्राट हर्षवर्धनके समयके भारतवर्षमें पहुँच जाते हैं। इतिहासकी पुस्तक पढ़नेपर भी पाठकको ऐसा अनुभव होना चाहिए। लेकिन इतिहासकार कवि नहीं होते हुए भी इतिहास लिख सकता है जब कि जीवनी लेखक कवि हुए बिना शायद ही लिख सकता

हैं, जीवनी नहीं ।

आत्मकथाके स्थापत्यमें ये सभी तत्त्व आनुषंगिक और आनुपातिक रूपमें नियोजित हैं । कादम्बरीकारका स्थापत्य-कौशल अपने समयकी दृष्टिसे अद्वितीय और आज भी असाधारण है । जीवनी लेखक अवश्य ही स्थापत्य सम्बन्धी ऐसे जटिल प्रयोग नहीं कर सकता । लेकिन स्थापत्यकी सरलता उसकी कम महत्त्वपूर्ण विशेषता नहीं । घटना-वैचित्र्य, स्वतन्त्र कल्पना आदिके अभावमें भी 'बाणभट्टकी आत्मकथा' एक महान ऐतिहासिक उपन्यास बन पड़ा है । आत्मकथा-जैसी लगनेवाली यह जीवनी वस्तुतः एक उपन्यास ही है और द्विवेदीजी यहाँ एक कुशल कलाकारके रूपमें प्रकट भी होते हैं । उन्होंने केवल ऐतिहासिक पृष्ठभूमि या केवल ऐतिहासिक पात्रोंको ही नहीं चुना है बल्कि दोनोंकी संकीर्ण परिधिमें अपनेको आबद्ध रखा है । फिर भी आत्मकथामें आद्यन्त औपन्यासिकताका अकृत्रिम निर्वाह हुआ है । द्विवेदीजीने ऐतिहासिक यथातथ्य और सूक्ष्म बाह्य वर्णनके साथ बाणभट्टके अभ्यन्तर द्वन्द्व और संघर्षके विश्लेषणका जिस विलक्षणताके साथ गुम्फन किया है वह उनके निर्माण कौशलका परिचायक है ।

आधुनिक और प्राचीन प्रणालियोंका यही समन्वय आत्मकथाकी शैली और भाषामें भी दीख पड़ता है । बाणकी अत्यन्त कृत्रिम और आलंकारिक गद्य शैलीके बदले आधुनिक आदर्शके अनुरूप गद्यके सहारे ही लेखक बराबर बाणकी याद दिलानेमें सफल हुआ है । स्वयं बाण अपने सारे पाण्डित्य प्रदर्शनके रहते हुए भी भावानुरूप परिवर्तनक्षम तथा लयपूर्ण गद्य लिख सकते थे । कहीं-कहीं पढ़ते-पढ़ते फैले हुए वाक्योंके बदले जब दो-दो, चार चार शब्दोंके लघु, सरल वाक्य आने लगते हैं और फिर कुछ दूर बाद पहलेका क्रम चल निकलता है तो पाठक इस शैलीगत विस्तार और संकोचकी लयमें बह चलता है । गद्यकी यह लयपूर्णता द्विवेदीजीकी शैलीकी बाणप्रेरित विशेषता है ।

प्राचीनताके उपयुक्त वातावरणकी सृष्टिके लिए द्विवेदीजीने जिन अप्रचलित शब्दोंका प्रयोग किया है वे बड़ी सावधानीके साथ हिन्दीकी प्रकृतिके अनुकूल वाक्योंमें पिरोये गये हैं । यह बहुत कठिन कार्य है और बहुधा साधारणतः सफल लेखक भी इसका निर्वाह नहीं कर पाते । यों भी, गवेषणा और अध्यापन जैसे निर्जीव कामोंमें लगे रहनेपर भी द्विवेदीजी स्पन्दनशील गद्य लिखते हैं और उनकी यह सामान्य विशेषता तो आत्मकथामें है ही ।

अगर मुझसे हिन्दीके दो-तीन उत्कृष्ट ऐतिहासिक उपन्यासोंके नाम लेनेको कहा जाय तो 'बाणभट्टकी आत्मकथा' उनमेंसे एक जरूर होगी ।

■

निरन्ध्र इतिहास कथा

• •

भगवतशरण उपाध्याय

श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी हिन्दीके यशस्वी आलोचक हैं, आलोचकोंमें अग्रणी हैं। परन्तु इस 'आत्म-कथा'से प्रमाणित है कि द्विवेदीजी केवल साहित्य विश्लेषक ही नहीं, उसके मौलिक निर्माता भी हैं। और प्रस्तुत प्रयासमें उन्होंने केवल मौलिक प्रयत्न ही नहीं किया है, एक प्राचीन सबल सर्जकसे लोहा भी लिया है। बाणभट्ट अपने कालके साहित्य-सर्जकोंका नेता था। उसकी शैली अनुकरणीय है यद्यपि हमारी आजकी साहित्यिक अभिरुचिके वह सर्वथा विरुद्ध है—अत्यन्त दुरूह अप्रिय भी, वैसे तो बाण कवि कह गया है और आलोचकोंने ही नहीं कहा है कि कवित्व 'वर्णनात्मक' मात्र तक सीमित नहीं है। उसके 'हर्षचरित' और 'कादम्बरी' में भी यह कवित्व सर्वत्र प्रवाहित है।

सही, परन्तु उस कवित्वकी रूप रेखा निश्चय कठोर है। भाव भाषाकी दुरूहतामें छिप जाते हैं, शैली समासप्रधान होनेके कारण नितान्त अग्राह्य है और इसी कारण अननुकरणीय भी—बाणभट्टकी सर्वथा अपनी। उसमें यद्यपि एक प्रकारका आकर्षण है परन्तु प्रसादका उसमें मेरी समझमें सर्वथा अभाव है। आजके युगमें उसकी शैली ग्राह्य न हो सकेगी और इस दृष्टिकोणमें सम्भवतः मैं अकेला नहीं हूँ।

परन्तु प्राचीन कालमें यह शैली कभी लुप्त नहीं हुई थी और 'कादम्बरी' तो आज भी पाठकके हृदयमें एक विचित्र गुदगुदी उत्पन्न करती है। सुदूर अतीतमें तो उसका आकर्षण अपनी एकान्त असाधारणताके कारण भी था। सुबन्धुके अतिरिक्त 'रोमांस' के क्षेत्रमें किसी औरने लेखनी भी तो नहीं उठायी। श्री द्विवेदीजीकी 'बाणभट्टकी कथा' भी बाणकी 'कादम्बरी' की ही भाँति एक रोमांस है। परन्तु दोनोंकी समताका यह निष्कर्ष उनकी कथा-वस्तुके सम्बन्धमें बिलकुल नहीं है। 'कादम्बरी' की कथा-वस्तु सर्वथा अलौकिक और काल्पनिक है, 'आत्म-कथा' की ऐतिहासिक और सामाजिक। 'आत्मकथा' की घटनाएँ ऐतिहासिक नहीं हैं परन्तु उनकी पृष्ठभूमि सर्वथा ऐतिहासिक है, उसका सामाजिक-तथ्य

है जीवनी नहीं।

आत्मकथाके स्थापत्यमें ये सभी तत्त्व आनुषंगिक और आनुपातिक रूपमें नियोजित हैं। कादम्बरीकारका स्थापत्य कौशल अपने समयकी दृष्टिसे अद्वितीय और आज भी असाधारण है। जीवनी लेखक अवश्य ही स्थापत्य सम्बन्धी ऐसे जटिल प्रयोग नहीं कर सकता। लेकिन स्थापत्यकी सरलता उसकी कम महत्त्वपूर्ण विशेषता नहीं। घटना-वचित्र्य स्वतन्त्र कल्पना आदिके अभावमें भी 'बाणभट्टकी आत्मकथा' एक महान ऐतिहासिक उपन्यास बन पड़ा है। आत्मकथा-जैसी रूपवाली यह जीवनी वस्तुतः एक उपन्यास ही है और द्विवेदीजी यहाँ एक कुशल उपन्यासकारके रूपमें प्रकट भी होते हैं। उन्होंने केवल ऐतिहासिक पृष्ठभूमि या केवल ऐतिहासिक पात्रको ही नहीं चुना है बल्कि दोनोंकी संकीर्ण परिधिमें अपनेको आबद्ध रखा है। फिर भी आत्मकथामें आद्यन्त औपन्यासिकताका रसनिष्ठ निर्वाह हुआ है। द्विवेदीजीने ऐतिहासिक यथातथ्य और सूक्ष्म बाह्य वर्णनके साथ बाणभट्टके अभ्यन्तर द्वन्द्व और सत्यके विश्लेषणको जिस विलक्षणताके साथ गुम्फित किया है वह उनके निर्माण कौशलका परिचायक है।

आधुनिक और प्राचीन प्रणालियोंका यही समन्वय आत्मकथाकी शैली और भाषामें भी दीख पड़ता है। बाणकी अत्यन्त कृत्रिम और आलंकारिक गद्य शैलीके बदले आधुनिक आदर्शके अनुरूप गद्यके सहारे ही लेखक बराबर बाणकी याद दिलाते रहनेमें सफल हुआ है। स्वयं बाण, अपने सारे पाण्डित्य प्रदर्शनके रहते हुए भी भावानुरूप परिवर्तनक्षम तथा रूपपूर्ण गद्य लिख सकते थे। कहीं-कहीं पृष्ठों तक फैले हुए वाक्यके बदले जब दो दो, चार चार शब्दोंके लघु सरल वाक्य आने लगते हैं और फिर कुछ दूर बाद पहलेका क्रम चल निकलता है तो पाठक इस शब्दगत विस्तार और संकोचकी रूपमें बह चलता है। गद्यकी यह रूपपूर्णता द्विवेदीजीकी शैलीकी बाणप्रेरित विशेषता है।

प्राचीनताके उपयुक्त वातावरणकी सृष्टिके लिए द्विवेदीजीने जिन अप्रचलित शब्दोंका प्रयोग किया है वे बड़ी सावधानीके साथ हिन्दीकी प्रकृतिके अनुकूल वाक्योंमें पिरोये गये हैं। यह बहुत कठिन कार्य है और बहुधा साधारणतः सफल लेखक भी इसका निर्वाह नहीं कर पाते। यों भी, गवेषणा और अध्यापन जैसे निर्जीव कामोंमें लगे रहनेपर भी द्विवेदीजी स्पन्दनशील गद्य लिखते हैं और उनकी यह सामान्य विशेषता तो आत्मकथामें है ही।

अगर मुझसे हिन्दीके दो-तीन उत्कृष्ट ऐतिहासिक उपन्यासोंके नाम लेनेको कहा जाय तो 'बाणभट्टकी आत्मकथा' उनमेंसे एक जरूर होगी।



निरन्ध्र इतिहास कथा

• •

भगवतशरण उपाध्याय

श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी हिन्दीके यशस्वी आलोचक हैं, आलोचकोंमें अग्रणी हैं। परन्तु इस 'आत्म-कथा' से प्रमाणित है कि द्विवेदीजी केवल साहित्य विश्लेषक ही नहीं, उसके मौलिक निर्माता भी हैं। और प्रस्तुत प्रयासमें उन्होंने केवल मौलिक प्रयत्न ही नहीं किया है, एक प्राचीन सबल सर्जकसे लोहा भी लिया है। बाणभट्ट अपने कालके साहित्य-सर्जकोंका नेता था। उसकी शैली अनुकरणीय है, यद्यपि हमारी आजकी साहित्यिक अभिरुचिके वह सर्वथा विरुद्ध है—अत्यन्त दुरूह अप्रिय भी, कमसे कम बाण कवि रह गया है और आलोचकोंने ठीक ही कहा है कि कवित्व 'चण्डीशतक' मात्र तक सीमित नहीं है। उसके 'हर्षचरित' और 'कादम्बरी' में भी यह कवित्व सर्वत्र प्रवाहित है।

सही, परन्तु उस कवित्वकी रूप रेखा निश्चय कठोर है। भाव भाषाकी दुरूहतामें छिप जाते हैं, शैली समस्तपदीय होनेके कारण नितान्त अग्राह्य है और इसी कारण अननुकरणीय भी—बाणभट्टकी सर्वथा अपनी। उसमें यद्यपि एक प्रकारका बाँकपन है परन्तु प्रसादका उसमें मेरा समझमें सर्वथा अभाव है। आजके युगमें उसकी शैली ग्राह्य न हो सकेगी और इस दृष्टिकोणमें सम्भवतः मैं अकेला नहीं हूँ।

परन्तु प्राचीन कालमें वह शैली कभी स्तुत्य नहीं हुई थी और 'कादम्बरी' तो आज भी पाठकके हृदयमें एक विचित्र गुदगुदी उत्पन्न करती है। सुदूर अतीतमें तो उसका बाँकपन अपनी एकान्त असाधारणताके कारण भी था। शुद्रकके अतिरिक्त 'रोमांस' के क्षेत्रमें किसी औरने लेखनी भी तो नहीं उठायी। श्री द्विवेदीजीकी 'बाणभट्टकी कथा' भी बाणकी 'कादम्बरी' की ही भाँति एक रोमांस है। परन्तु दोनोंकी समताका यह निरूपण उनका कथा-वस्तुके सम्बन्धमें बिलकुल नहीं है, कादम्बरी की कथा-वस्तु सर्वथा अलौकिक और काल्पनिक है, 'आत्म-कथा' की ऐतिहासिक और सामाजिक। 'आत्मकथा' की घटनाएँ ऐतिहासिक नहीं हैं, परन्तु उनकी पृष्ठभूमि सर्वथा ऐतिहासिक है, उसका सामाजिक-तथ्य

दर्पणकी भाँति सातवीं सदीके भारतीय समाजको प्रतिबिम्बित करता है—निपुणिका भट्टके नटी-सूत्रधारके सम्बन्धसे लेकर अघोर भैरव—महामाया भैरवी की तन्त्र प्रतिपदा तक। बौद्ध महायानमें मन्त्रयानका जन्म हुआ, मन्त्रयानमें वज्रयानका और तभी स्वतन्त्रभविकन्ति आगम-तन्त्रका शाक्त पन्थ उससे आ मिला। किन चमत्कारोंने इन परस्पर एकत्र कर दिया यह कहना तो कठिन है परन्तु दोनोंके समागमसे कापालिक-औघडपन्थकी परम्परा विकसित हुई, यह सम्भवतः अनेक स्वीकार करेंगे।

श्री द्विवेदीजीकी पुस्तकमें सिद्ध तन्त्रकी गहरी छायामें समाजके आचरण का बहुमुखी निदर्शन है सर्वथा स्पष्ट। ऐतिहासिक पृष्ठभूमिके विचारसे भी यह पुस्तक नितान्त निर्दोष है। इतिहासका विद्यार्थी जब ऐतिहासिक पृष्ठभूमिपर ग्रन्थकी आलोचना अथवा अध्ययन करता है तो उसमें और ग्रन्थकारमें एक प्रकार की होड लग जाती है—एकका छिद्रान्वेषण। मुझे सन्ताप है कि अनवरत रूपसे खोजनेके बाद भी मैं श्री द्विवेदीजीके ऐतिहासिक निरूपणमें कहीं कोई छिद्र न पा सका, सिवाय इसके कि रूपका समकालीन होकर भी लोरिकदेवने जैसा पृ० ३१४ पर लिखा है समुद्रगुप्तका गरुड्ध्वज सिन्धु और कुम्भाके उस पार तक फहराया था। समुद्रगुप्त और रूपके समय मोटी दृष्टिसे भी लोरिकदेव केवल साठ सालका है। कुम्भा अर्थात काबुल नदीके उस पार गरुड्ध्वज फहराना सर्वथा ऐतिहासिक न होकर भी वक्रोक्ति होनेके कारण क्षम्य हो सकता है।

समर्थ साहित्यिक द्विवेदीजी ही बाणकी शैलीको पुनरुज्जीवित कर सकते थे। संस्कृत भाषा काव्य-अलंकार आगम-तन्त्रादिका उनका गहरा ज्ञान इस 'आत्मकथा' में फूट पड़ा है और यदि उनकी शैलीकी दुरूहताका दोष हम लें तो उसका आरोप हम श्री द्विवेदीजीके ऊपर न कर बाणपर करेंगे यद्यपि प्रश्न यह हो सकता है कि यह ग्रन्थ क्यों? यह प्रश्न हम साहित्यकी सार्थकताके समक्ष ला खड़ा करेगा और साहित्य किसके लिए? 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' के कठिन प्रश्नका उत्तर देनेको बाध्य करेगा। इस प्रश्नका उत्तर देते हुए हम जितना ही बाणको दोषी ठहरायेंगे उतना ही श्री द्विवेदीजीको भी क्योंकि दोनों प्रस्तुत ग्रन्थमें बौद्धिक अभिजात परम्पराके पोषक हैं। बाणभट्ट अपनी संस्कृति शैली जटिल अभिजातीयताके साधारण जनतासे जितने दूर थे श्री द्विवेदीजी भी इस ग्रन्थमें साधारण जनतासे उतने ही दूर हैं। परन्तु हाँ पूर्वजोंका दोष वंशजोंके मत्थे नहीं मढ़ा जा सकता। बाणभट्टका मौलिक आधार चाहे दूषित हो उसके आधुनिक प्रतिनिधि कलाकारकी कलाका निखार उज्ज्वल है।

श्री द्विवेदीजीने अज्ञानको निवारण करना चाहा है उसमें वे सर्वथा सफल

शान्तिनिकेतनसे शिवालिक

हुए हैं। प्राचीन अथवा वर्तमानको खोलकर रख देना साहित्यिक प्रगतिका एक रूप है और इसी कारण मार्क्स तथा लेनिन दोनोंने बालजककी कलाको सराहा था। हाँ हम जानते हैं कि केवल उसे खोल देना ही पर्याप्त नहीं है, उससे प्रयास निष्प्राण हो जाता है आवश्यकता होती है इस बातकी कि उस अतीतके स्रोत हमारे वर्तमानमें बहते दिखाये जा सकें जिससे उस अतीतके प्रवाहके भीतरसे हमारे भविष्य तक विच्छिन्न न हो सके। इस सर्वथा सुन्दर कृतिको जिसे 'हर्षचरित', 'कादम्बरी', 'नागानन्द', 'रत्नावली', 'चण्डीशतक' आदि अनेक उपकरणोंसे द्विवेदीजीने निर्मित किया है हम दूरसे कुछ विस्मयके साथ देखते हैं और उसमें अपनापा किसी प्रकार नहीं जोड़ पाते। आरम्भमें ही समर्थ साहित्यिकने रोमांस की पृष्ठभूमि एक आधुनिक आस्ट्रियन महिलाकी खोजमें निर्मित की है। श्रीमती कथारान्नने उसे इस 'आत्मकथा' की पाण्डुलिपि शोण तटके गाँवोंसे खोज कर दी है। श्री राहुल साङ्कृत्यायनने भी अपने 'सिंह सेनापति'में इस प्रकारकी एक पृष्ठभूमि दी थी जिसने अनेक पाठकोंको विस्मयमें डाल दिया था। इस पद्धतिका आरम्भ वास्तवमें उस फ्रेंच महिलाने किया था जिसकी सुन्दर कृति द मोगल प्रिंसेज इतिहासकी रोमांचक प्रसूति है। श्री द्विवेदीजी द्वारा विरचित यह 'बाणभट्टकी आत्मकथा' बाणके दोष-गुणोंका दर्पण है और इसकी यथा-तथ्यताकी मात्रामें लेखक बाणवत ही सफल हुआ है।

*

> यह लोक कितना नीरस और भोंडा हो जाता होगा जहाँ विरह वेदना के आँसू निकलते ही नहीं और प्रिय वियोगकी कल्पनासे जहाँ हृदयमें ऐसी टीस पैदा ही नहीं होती जिसे दुर्निवार्य प्रकट न किया जा सके। आँसूमें जीवन तरंगित होता रहता है। पीड़ामें प्रेम पनपा करता है। अलकामें यदि आँसू नहीं हैं तो यक्षके हृदयकी सारी पीड़ा मृगमरीचिकासे अधिक मूल्य नहीं रखती।
>
> —मेघदूत एक पुरानी कहानी

बाणभट्टकी आत्मकथा
स्पन्दचेतनाकी काव्यानुभूति

• •

बच्चनसिंह

बाणभट्टकी आत्मकथा एक क्लासिकल रामैण्टिक उपन्यास है। अर्थात् अपने बन्ध चित्रण, वर्णन, शिल्प शैलीमें यह क्लासिकल है और प्राणगत ऊष्मामें रोमण्टिक। ये दोनों तत्त्व एक-दूसरेसे मिलकर एक अविभाज्य टैक्सचर बन जाते हैं। इस क्लासिकल विन्यासमें अन्वित रोमाण्टिक सूत्रोंकी कमी नहीं है और रोमण्टिक आवेगको क्लासिकल संयम बाँधे हुए है। क्लासिज्म एक ओर औदात्त्य होता है तो दूसरी ओर जड़ता। लेखकने औदात्त्य तत्त्वको लेते हुए रोमांसके सन्निवेश-द्वारा जड़त्वका सहज ही परिहार कर लिया है। एक जड़त्व जीवन और परिवेशके स्तरपर भी है। लेखक उसपर गहरा प्रहार करता है और समस्त उपन्यासमें स्पन्दचेतनाका नवोन्मेष फूट पड़ता है।

इस स्पन्द चेतनाको जिस काव्यात्मक पैटर्नपर प्रस्तुत किया गया है वह अद्वितीय है। यह अद्वितीयता वस्तु रूप दोनोंमें है क्योंकि जो वस्तु है वही रूप है, जो व्यक्ति है वही परिवेश है। इस प्रकारकी अवयवगत सम्पूर्णता काव्यमें ही सम्भव है। इसीलिए इसके पैटर्नको मैंने काव्यात्मक कहा है। काव्यका अनुवाद नहीं हो सकता, इसलिए बाणभट्टकी आत्मकथाका भी अनुवाद नहीं हो सकता। इसके एक तारके छू देनेपर समस्त तार एक साथ झङ्कृत हो उठते हैं। प्रकृति ही स्पन्द चेतना है।

महावराह इस स्पन्दचेतनाके प्रतीक हैं। इस पौराणिक मिथका दुहरा उपयोग है। एक ओर तो यह उस अटूट आस्थाका प्रतीक है जो 'जलौघमग्ना सचराचरा धरा' का उद्धार करनेमें समर्थ है दूसरी ओर यह मनुष्यकी निमित्तता और अकिंचनताका बोध करता है। महावराहके दाँतोंपर उठी हुई धरित्रीके मुखमण्डलपर जो उल्लास और दर्पका भाव था, वह देखते ही बनता था। महावराहके दोनों हाथ कटिदेशपर इस प्रगल्भताके साथ टिके हुए थे और बाहुमूलकी पेशियाँ इस दृढ़ताके साथ निकाली गयी थीं कि देखकर मनमें एक अपूर्व विश्वास उद्रिक्त हो उठता था। विश्वास ही वह वस्तु है जो मनुष्यको

बड़ासे बड़ा खतरा उठानेके लिए उत्प्रेरित करता है। इस विश्वास विमर्शके आगे बाणभट्ट अपनेको नगण्य महसूस करने लगा।

सचराचर धरा जल्पन मग्न है। सारा समाज एक प्रकारके अवरोधमें है। भट्टिनी महामाया, निपुणिका, सुचरिता यहाँतक कि बाणभट्ट भी अवरुद्ध है। सम्पूर्ण मध्यकालमें एक गतिशून्यता भरी हुई है। राजनीति, संस्कृति, धर्म आदि बंधे घाटोंसे जलकी तरह आविल है। सोचनेका बँधा हुआ तरीका है, धर्मकी एक बँधी बँधायी परिपाटी है, सब लकीरके फकीर हैं। बाणभट्टको लगा था—न जाने क्या मुझे ऐसा लग रहा था कि नाचेंम ऊपर तक सारी प्रकृतिमें एक अगम अवसादकी जड़िमा छायी हुई है।' इस उपन्यासमें इस जड़िमाको तोड़नेका रचनात्मक प्रयास है।

यह एक ऐतिहासिक उपन्यास है। ऐतिहासिक उपन्यासमें एक ओर तो ऐतिहासिक प्रामाणिकता होनी चाहिए और दूसरी ओर उसकी गत्यात्मकताका बोध। द्विवेदीजीकी ऐतिहासिक चेतना आधुनिक है, इसमें दो मत नहीं है। यह चेतना गतिका दूसरा नाम है जो स्थितिको विच्छिन्न करनेवाली स्फूर्तिके रूपमें एक विशेष संकटके कारण, इतिहासकी अनिवार्य माँगके रूपमें आविर्भूत होता है।

इतिहासकी प्रामाणिकताके रूपमें धर्म, दर्शन, उपासना, राजतन्त्र, मूर्ति, चित्र आदिके व्यापक सन्दर्भोंको जो अपने सूक्ष्म सश्लिष्ट तथा उन विशेषताओंके साथ जो उस युगकी नितान्त अपनी है कलात्मक वर्णनमें उकेरित है पेश किया जा सकता है। इस परिवेशमें हो वे परिस्थितियाँ उगती हैं जिनके संधानोंमें घटनाएँ पात्र स्वयमेव क्रियात्मक हो उठते हैं। इस क्रियात्मकताके कई स्तर हैं—अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धोंका स्तर, सांस्कृतिक, जातीय स्तर, राजनीतिक स्तर। ये सभी स्तर अलग होकर भी एक हैं। इस समूचे परिवेश और क्रियात्मकताको इतिहासकी गत्यात्मकता परिचालित करती है।

सम्पूर्ण उत्तरापथ निर्वीय राजतन्त्र और उच्छृंखल सामन्ती व्यवस्थामें जकड़ा हुआ था। कुछ लोगोंको इसका एहसास था पर वे जकड़े खड़े थे। इस जकड़नको तोड़नेका कार्य मुख्यतः स्त्रियाँ करती हैं। हेनरी मिलरका विश्वास है कि पुरुषके मुरदा हो जानेपर उसे जिलानेका कार्य स्त्रियाँ करेंगी। वे शक्ति हैं, वे त्रिपुर सुन्दरी हैं। निपुणिका, महामाया, भट्टिनी और सुचरिताने अपने-अपने ढंगसे स्पन्द चेतनाको आविर्भूत किया है।

निपुणिका भट्टसे पूछती है—'तुम असुर-गृहमें आबद्ध लक्ष्मीका उद्धार करनेका साहस रखते हो? मन्दिरामें डूबी हुई कामधेनुको उबारना चाहते हो?'

आगे पत्थर उसन पुन कहा था— भट्ट यह अधार बनका घाता ह तुन इसका उद्धार करके अपना जीवन सार्थक करो।' भट्टिनीका उद्धार तो निमित्त है। यथार्थ इसके उद्धारके साथ देशका उद्धार भी लगा हुआ है। मौखरियोंका अवरोध असुरगृह है जो मध्यकालीन सामन्तोंकी उच्छृंखलताको प्रकट करता है। महामाया भी अपनी इच्छाके विरुद्ध इसी असुरगृहमें आबद्ध था। उन्होंने कहा था कि उनका अवरोधमें रहना अमंगलकारी है। अवरोधसे बाहर आकर उन्होंने राजतन्त्रमें जकड़े हुए जन-जीवनको झकझोर दिया। गिरिवत्नके पास रही म्लेच्छोंकी सेनाके विरुद्ध उन्होंने आवाज लगायी— अमृतके पुत्रो, मृत्युका भय माया है, राजासे भय दुर्बल चित्तका विकल्प है। संघटित होकर म्लेच्छवाहिनीका सामना करो। प्रजाने राजाकी सृष्टि की धिराजकी आशा छोड़ो। समस्त उत्तरापथकी लाज तुम्हारे हाथमें है। यह पहला अन्याय नहीं है। यह दुर्वह सम्पत्तिमदका चिराचरित रूप है। इसके लिए न्यायकी प्रार्थना व्यर्थ है। अमृतके पुत्रो धर्मकी रक्षा अनुनय विनयसे नहीं होती शास्त्रवाक्योंकी संगति लगानेसे नहीं होती वह होती है अपनेको मिटा देनेसे।'

महामायाके कथनको काव्यात्मक यथार्थका रूप देनेके लिए उस गत्यात्मक अभिव्यक्ति देनेके लिए रहटारिकका प्रभावशाली प्रयोग किया गया है— एक सहस्र कण्ठोंने दीर्घ दीर्घायित स्वरमें प्रतिध्वनि की मृत्युका भय माया है।' उस महाध्वनिने स्थाण्वीश्वरके दुर्भेद्य प्रस्तर भित्तियोंको चीरकर पर प्रान्त तक हलचल मचा दी। भीड़ बढ़ने लगी और रह रहकर आकाशको विदीर्ण करके एक ही स्वर गूँज उठा— मृत्युका भय माया है। विराट पट मण्डप उस स्प जन-सम्मर्दको धारण करनेमें असमर्थ हो गया। भीड़ राजमार्गों गवाक्षों व और ध्वज दण्डोंको आच्छन्न करने लगी।"

यह वर्णन महामायाके वक्तव्यको विस्तारित करने अथवा उसकी प्रभावा न्वितिको घनीभूत बनानेके लिए महत्त्वपूर्ण नहीं है। इसके माध्यमसे लेखक पाठकोंके बोधको काव्यात्मक अनुभूतिके रूपमें परिणत कर देता है। भाडकी धकमपेलके बी [illegible] अपने जातीय जीवनका एक स्वर गूंजता रहता है—मृत्युका [illegible] [illegible] अनुगूंज देर तक छायी रहता है।

पर भट्टिन [illegible] सत्य मालूम देता है। वह नरलोकसे

वि नरलोक तक [illegible] दसती है। इ [illegible] म्लेच्छ

नहीं [illegible] रहती है जा [illegible] और

संवेदनश [illegible] सिग [illegible] उस

हृदय-परिवर्तनमें विश्वास है। भट्टिनीको भट्टकी सरस्वतीमें इतना गहन विश्वास है कि उसके द्वारा निर्दय जातियोंमें भी संवेदनाका संचार किया जा सकता है। किन्तु खुद भट्टको वाणीकी इस शक्तिमें आस्था नहीं है। जब कालिदासके काव्य में वह उद्देश्य पूरा नहीं हुआ तो और किसके काव्यमें होगा ? भट्टकी दृष्टि अधिक यथार्थवादी है। इतने ढेरके संवेदनात्मक साहित्यने मनुष्यमें क्या परिवर्तन किया ? सच तो यह है कि साहित्य थोड़े से लोगोंको ही संवेदनशील बना पाता है। हृदय-परिवर्तनके ममोहाओंका क्या हुआ ? बुद्धको विष दिया गया, ईसाको सलीबमें टांग दिया गया और गान्धीको गोली मार दी गयी। क्या दास्तोवस्कीका कहना ही तो सच नहीं है कि मनुष्य मूलतः बर्बर है ! वास्तविकता यह है कि वह पशु और मनुष्य दोनों है। न उसकी पशुता दूर की जा सकती है न मनुष्यता। उसकी बर्बरताको दूर करनेकी कल्पना महज कल्पना है। किन्तु इस दिशामें क्रियाशील होना बुरा नहीं है। किन्तु इस बर्बरताको दूर करनेका उपाय महामायाके पास है भट्टिनीके पास नहीं। भट्टिनीके मुटापियाई सत्यको सत्य मान कर अपने भोलेपनके कारण, हम अपनी भूमि और प्रतिष्ठा दोनों खो चुके हैं। भट्टिनीके सत्यमें जटिमाके प्रादुर्भावका खतरा लगा रहेगा। इसलिए महामाया और निपुणिकाका सत्य चाहे सम्पूर्ण सत्य न हो पर वह वास्तविक सत्य है। वास्तविक सत्यका अर्थ है कि वह यथार्थ है। उसमें कोई छलावेमें नहीं पड़ सकता।

और सत्य क्या है ? जिससे लोकका आत्यन्तिक कल्याण हो। बाणभट्टने अघोर भैरवकी शब्दावलीमें इसे प्रस्तुत किया है—'हरो, विरति सत्य अविभाज्य है। तुम्हारे बौद्ध दार्शनिकोंने संवृत्ति-सत्य (व्यावहारिक सत्य) और परमार्थ सत्य कहकर उसे विभक्त करनेका दम्भ फैलाया है। मानो ये दोनों परस्पर विरुद्ध हों। जो मेरा सत्य है वो वह सारे जगत्का सत्य है, व्यवहारका सत्य है, परमार्थका सत्य है, त्रिकालका सत्य है।' लेकिन आजके सन्दर्भमें जब कि व्यक्ति और समाजके सत्योंमें इतनी गहरी खाई हो गयी है अघोरभैरवका सत्य सत्यसे दूर प्रतीत होता है। मानवका सत्य सत्य है या अग्निवेताल या सत्य सत्य है अथवा दोनोंका सत्य सत्य है। बौद्धोंका सत्यविभाजन अधिक यथार्थ लगता है। अपने अपने धर्मको परम सत्य सिद्ध करनेके लिए संसारमें लड़ाई होती रही और हो रही है। क्या निपुणिकाका सत्य समाजका सत्य हो सका था हो सकेगा ? सत्यकी निरपेक्षता संदिग्ध है। हाँ, वैयक्तिक सत्य और सामाजिक सत्यका संघर्ष अवश्य नित्य है। निउनियाके सन्दर्भमें बाणभट्टने कहा है—निश्चय ही कोई बड़ा असत्य समाजमें सत्यके नामपर घर बना रहा

है।' वस्तुतः व्यक्ति इसी असत्यके खिलाफ लड़ता है।

यह लड़ाई जिन्दगी है, गति है, इतिहास है। काफ्काने अपनी डायरीमें कहीं लिखा है—'एक बिन्दु हो, प्यार हो, आत्मा रुक जायेगा।' बाणभट्ट, भट्टिनी, निपुणिका, महामाया, सुचरिताकी शक्ति प्यारकी शक्ति है। भट्टकी जड़िमा भट्टिनी तोड़ती है उससे वह क्रियाशील हो उठता है। भट्टिनीके सौन्दर्यसे बाणभट्ट अभिभूत है। बाणभट्टकी दृष्टिमें उसकी स्मितिसे सौ-सौ आरात्रिक प्रदीप जल उठते हैं। उसकी चारुता सम्पत्ति भट्टका शौर्य है, उसका पराक्रम है, उसकी जीवन्तमयता है। बाण अकुण्ठभावसे भट्टिनीको देता है और अकुण्ठ भावसे पाता भी है। लेकिन इसके आधारपर यह नतीजा नहीं निकाला जा सकता कि जो जितना देता है उतना ही पाता भी है।

भट्ट भट्टिनीका प्रेम रोमेण्टिक है—आत्यन्तिक रूपमें योरोपीय रोमण्टिक। कुछ लोग इसे यथार्थके मेलमें न देखकर भट्टपर कापुरुषताका आरोप भी करते हैं। किन्तु यह प्रश्न इतना सरल नहीं है कि झटसे इसपर राय जाहिर कर दी जाये। रोमांसके सम्बन्धमें एक बार मन द्विवेदीजीसे पूछा था। उन्होंने विनोदपूर्वक कहा था कि वह स्वास्थ्यवर्धक है लेकिन सहज सुपाच्य नहीं है। अर्थात् वह पच जानेपर ही लाभप्रद होता है। भट्ट पशु नहीं था, इस प्रकार भरवन कहा था। प्रेम शरीरसे सम्बद्ध होकर भी मानस जगतमें ही जीवित हो सकता है। इसके अनगिनत आयाम हैं, अगणित स्थितियाँ हैं। नारीकी उसके सौन्दर्यको, केवल गालाक्ष्योंमें दराना आयातित चिन्तनका फल है उस स्वतन्त्रताकी मांगका फल है जो कहीं प्रतिबद्ध नहीं है। भट्टने निउनियासे कहा है—यह बन्धन ही चारुता है, संयम है सुरुचि है। भट्ट भारतीय संस्कृतिका व्याख्याता ही नहीं उसे अपने आचार-व्यवहारमें उतारनेवाला भी है। आज बन्धन संयम सुरुचिका मजाक किया जाता है। वह मजाक इस हद तक बढ़ गया है कि रोमण्टिक हो गया है। भट्ट माधुर्य और लावण्यका देवता है विब्बोक और हेलाका नहीं, जब कि आजका समाजशास्त्रीय शब्दावलीकी गोली मारकर भी उन्हींको पसन्द करता है।

भट्टके प्रेमको उसका अन्तर्द्वन्द्व मानवीय स्तरपर ला खड़ा करता है। प्रेमका बन्धन कभी-कभी इतना कस जाता है कि मनुष्य उससे मुक्त होनेके लिए विकल हो उठता है। मैं कहनेको तो उनकी रक्षाके लिए साथ हूँ। पर हो गया हूँ परम आश्रित। इस अवस्थासे मुक्ति मिलनी चाहिए। आजसे अधिक पराधीन कभी नहीं था। कभी इस पराधीनताका वह स्वागत करता है और उसका हृदय नवनीतके समान ढरक जाना चाहता है। वह भट्टिनीके अधरोष्ठोंकी लीला,

कपोल्पालीकी विभ्रम-वीचियाँ, वटी-वटी आत्माकी ललाई देखकर अपने जीवन को अर्थ देता है। क्या आदमीको जीनके लिए इतना पर्याप्त नहीं है? लेकिन भट्ट अपने जीवनको अधिक फलवान बनाना चाहता है। वह अपने सौभाग्यको अपने ही हाथों ठुकरा देना चाहता है—'मैं उसको उनके पिताके पास पहुँचाकर छुट्टी लूँगा। मैं अधिक मोहग्रस्त होना पसन्द नहीं करता।' पर क्या वह मोह-मुक्त हो पाया?

प्रेम दो प्रेमियोंको अनेक प्रकारसे समृद्ध बनाता है। केवल प्रेममें ही अपने को निःशेष भावसे दिया जा सकता है। बंगालके वैष्णवोंने इसे अच्छी तरह समझा था। प्रेम और सौन्दर्यकी सार्थकता उसके रचनात्मक होनेमें है। भट्टिनी का सौन्दर्य और प्रेम पूर्णतः रचनात्मक था। प्रेमके प्रभावसे भट्ट उस समयके राजनीतिक चक्रमें उलझता है और उत्तरापथके उद्धारमें निमित्त बनता है। किन्तु इस प्रकारके प्रेममें एक खतरा लगा रहता है। व्यक्तिका अपना स्वतन्त्र विचार कोई मूल्य नहीं रखता। भट्ट भट्टिनीका इतना अनुगत है कि उसका अपना व्यक्तित्व पराश्रित होता गया है इसकी अनुभूति भट्टको भी थी। जो भी हो पर भट्टकी अनुगतता सत्य है। लेखक उनकी वैयक्तिक सार्थकतापर बल देते हुए लोककी मार्यकताके साथ अविच्छेद्य रूपसे सम्बद्ध कर दिया है।

निउनिया साधारण नारी है भट्टिनी असाधारण। भट्टिनीका एक विशेष परिस्थितिमें अपहरण हुआ था कि वह लाख-लाख कन्याओंकी भाँति एक कन्या है। उन्हींकी भाँति पुरुषकी सेवा पात्र वह भी है। उसका अहंकार मरकर भी जिन्दा रहता है क्योंकि वह मर नहीं सकता। उसका आभिजात्य जीवित रहता है। उसे जीवित रखनेके लिए उस समयकी परिस्थिति मजबूर करती है। बाणभट्ट कृष्णवर्धन, लोरिकदेव उसे जीवित रखनेमें अपने-अपने ढंगसे मदद करते हैं। उसका अनिन्द्य सौन्दर्य तुवरमिलिन्दके नयातारा होनेके गौरवके साथ मिलकर और भी प्रभावशाली हो उठता है। तुवरमिलिन्दकी असाधारणता कन्याको भी असाधारणता दे जाती है। किन्तु निउनिया अभिजात वर्गकी नारी है। उस अभिजातकी आगमें निरन्तर सुलगनेका वरदान मिला है। वह अपने विचारोंको दबा नहीं सकी क्योंकि वे सत्य थे। भट्टको पाकर (देकर कहना अधिक संगत है) वह अपने विचारोंको सिद्धि-सोपान मान लेती है। इस प्रतीति से उसकी जटिमा निराहित हो जाती है। इस जटिमाकी जड़ें दूर तक गयी हैं। इसके लिए अन्त कुछ निर्णीय राजतन्त्र दोषी है। इस तन्त्रके विरुद्ध निउनियाके तत्त्वकी स्त्री ही आवाज बुलन्द कर सकती है—बड़ा दुःख है आर्य! इस विराट् दयके अन्तःस्पन्दनशील हृदयपर यह माप्रासकी नयनहारी धारा चली जा

रही है। मैं इस दहकी एक नगण्य कणिका मात्र हूँ। मुझे इस योग्य बना दो कि आप अपनी अग्निसे धधककर समूचे जंगलको भस्म कर दूँ। मैं तुम्हारा करावलम्ब चाहती हूँ। नारीका जन्म पाकर केवल लांछन पाना ही सार नहीं है। तुमने ही मुझे ज्ञानकी ज्योतिष्कणिका दी थी। तुम्ही मुझे तेजकी चिनगारी दो आज।' तेजकी चिनगारी उपन्यासके काव्य-वक्तव्यका ऐसा प्रतीक है जो समय-समयपर जन जीवनका ज्योतिर्मय बना देती है। जबतक स्पन्दनहीनता मौजूद रहेगी साम्राज्यवाद और पूँजीवादकी नयनहारी यात्रा नहीं रुकेगी। ज्यों ही इस दहमें स्पन्द चेतना आयी साम्राज्यवाद पूँजीवादको ढहते देर नहीं लगेगी।

महामाया तो मूर्तिमान स्पन्दचेतना हैं। उनका सारा जीवन स्पन्दनपूर्ण है। गिरिवरकी पास सभी लुटेरोंके सनाके विरुद्ध जन-सेनाका आयोजन उनकी ऊर्जस्विताका प्रमाण है। और भैरवियोंका गान! वह तो ओजपूर्ण काव्य है अमृतके पुत्रो आंधीकी भाँति बहो तिनकेकी भाँति म्लेच्छवाहिनीको उड़ा ले जाओ। मरदके भयमें कातर होना तरुणाईका अपमान है। जवानो, प्रत्यन्त दस्यु आ रहे हैं। इस भरवगानमें केवल ओज नहीं है इसके पीछे वह सांस्कृतिक चिरन्तन है जो हमारे वर्तमानके लिए उपादेय है।

फिर भी महामाया और निपुणिकाके सम्बन्धमें यह कहा गया है कि उनके जीवनको पूर्ण सार्थकता नहीं मिल पायी। सार्थकताकी दृष्टिसे भट्टिनी और सुचरिताका जीवन ही पूर्ण सार्थक कहा गया है। सार्थकताकी बात इस उपन्यास में बार-बार उठायी गयी है। इससे लगता है कि एक स्तरपर सारे उपन्यासका केन्द्रीय वक्तव्य यही है। भट्टिनी और महामायाकी बातचीतसे सार्थकताके स्वरूप का पता लगता है। भट्टके सम्पर्कमें आनेपर भट्टिनीको अनुभूत हुआ कि उसके भीतर एक देवता है जो आराधकके अभावमें मुरझाया हुआ था। नारीके रूपमें वह धन्य हो गयी। महामाया पराजित-सी हो गयी। अवधूतपादकी साधना अधूरी रह गयी क्योंकि उसे विशुद्ध नारीका सहयोग नहीं मिला और निपुणिका को किसी पुरुषका सहारा नहीं प्राप्त हुआ। विशुद्ध नारीसे द्विवेदीजीका क्या अभिप्राय है पता नहीं लगता। भट्टिनीके अभावमें महामाया और निपुणिकाकी सार्थकता पूर्ण नहीं है। उन्हें उनके देवताका आराधक नहीं मिला। इस आराधकके अभावमें गहरे मनोवैज्ञानिक अर्थमें नारीके जीवनको सार्थक नहीं कहा जा सकता। किन्तु क्या गम्भीर मानवीय स्तरपर निपुणिकाकी सार्थकता कम है? बाणभट्टकी उपेक्षा उत्पीड़ाओंसे अभिमण्डित भट्टिनीकी निजी सार्थकता चाहे जो रही हो पर मनुष्यकी दृष्टिसे गहरे ट्रैजिक जीवनकी दृष्टिसे अपने विकारोंमें वह अत्यन्त माननीय और अविस्मरणीय हो उठी है। ऐतिहासिक

चेतनाके लिहाजसे महामायाकी अपनी सार्थकता है। भट्टिनी और सुचरिताकी सार्थकता भागवत धर्मकी सार्थकता अधिक है मानवीयताका कम।

पहले ही कहा जा चुका है कि इतिहासकी प्रामाणिकताके लिए इसमें बहुविध सन्दर्भोंको गूँथा गया है। बाणभट्टकी आत्मकथाके लिए जरूरी था कि बाणभट्टकी शैलीका पैटर्न भी अपनाया जाता, इसके अभावमें प्रामाणिकता संदिग्ध हो जाती। लेकिन यह पैटर्न अनुकृतिके रूपमें न होकर लेखकके सहायकके रूपमें अपनाया गया है। बहुविध सन्दर्भों और पैटर्न विशेषके माध्यम से जिस विशाल सांस्कृतिक पटका निर्माण किया गया है वह स्वयं ही कथा है। इसकी बनावट और बिनावटमें अद्भुत सतर्कता दिखाई देती है। इसका फल यह हुआ कि इसकी आन्तरिक परिपक्वताके साथ अभूतपूर्व फिनिश का सौन्दर्य भी आ गया है। इसके बहिरन्तरकी सतर्क संघटना फ्लाबेयरके 'मादाम बावरी' उपन्यास की याद दिलाती है। इसके शिल्पको कुट्टिम शिल्प कहा जा सकता है। आधुनिक शब्दावलीमें यह 'माजेएक' शैली है। इसके लिए जिस रियाज और तराशकी आवश्यकता होती है वह भी यहाँ मौजूद है। इस तराशके कारण इसकी गत्यात्मकता कहीं कम नहीं आती बल्कि उसका चमक बढ़ जाती है। शिल्पकी पूर्णता ऐसवका लक्ष्य नहीं है क्योंकि वह कथ्यके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

बाणभट्टकी भाँति सूक्ष्म-सश्लिष्ट वर्णनोंमें सन्दर्भित पाण्डित्यपूर्ण संस्कृतिके साथ ऊर्ध्वोन्मुख रसियोंका बड़ी लाभ नहीं होता। कुमार कृष्णवर्धन-द्वारा भट्टिनीको भेंट दी जानेवाली मूर्तिका एक चित्र है "उनके अर्द्ध स्तिमित नयनके ऊपर भ्रू लताएँ धारायन्त्रकी ऊर्ध्व विक्षिप्त पयोरेखाओंकी वक्रता लिये हुए नहीं थीं, बल्कि इस प्रकार छायी हुई थीं कि व नासावंशके छन्दका शमन दे रही थीं। हाथकी अंगुलियाँ स्वाभाविक थीं। गुप्तोंकी मूर्तिकलाके साथ उनका दूरका सम्बन्ध भी नहीं था। समाधि और निद्रामें एक भेद होता है। अधिकांश कुषाण मूर्तियाँ उस भेदका स्मरण भी नहीं होने देतीं, पर यह मूर्ति ऐसा ओज लिये हुए थी कि उसके रोम रोमसे जागरूकता प्रकट हो रही थी।' इस मूर्तिमें वह मुस्कान ओज और जागरूकता दर्शाता है। उसकी कुट्टिम शैलीमें इस मूर्तिका जो प्रतीकात्मक महत्त्व है उसका उल्लेख किया जा चुका है।

धार्मिकाका नृत्य नागरक अभिरुचिका द्योतक है तो आभीर युवतियोंका नृत्य लोकका प्राण चेतनाका। धार्मिकाके मयूर और मद नृत्योंमें उनका रुचि नहीं है क्योंकि वे चित्र प्रवण करता है। भावमुद्राओं करण-कौशलमें रुचि लेनेको भी वह ठीक नहीं समझता। उसके मनमें उत्कण्ठा थी तो धार्मिकाका लास्य मर्मवित् पद-संचार देखनेकी। आभीर युवतियोंके नृत्यकी आवगमयता अद्भुत

झ—'स्त्रियाँ तरंगायित उपान्तवाली लाल शाटिकाएँ पहने हुए थीं और नील कंचुकके ऊपर हारिद्र उत्तरीय धारण किये हुए थीं। वे उन्मत्त भावसे नाच रही थीं। उनके आघूर्णन-वेगसे तरंगायित शाटिकान्त इस प्रकार भ्रमित हो उठता, मानो, अनुरागके समुद्रमें वात्याचक्र चचल हो उठा हो। उनकी चारियाँ तालानुग नहीं थीं, किन्तु इतनी उद्दाम थीं कि उनके हारिद्र उत्तरीय और नील कंचुकका एक घूर्णमान चक्रवाल तयार हो जाता था। दीर्घ वणियाँ झटकन-झटकनके वेगसे धरती और आकाशको काली मसृण रेखाओंसे पूर्ण कर देती थीं। बार-बार ऊपर नीचे आनेवाले लाल करतल आकाश रूपी नील सरोवरमें अधोमुख स्वर्ण कमलोंकी शोभा भर देते थे और क्षीण कटिप्रान्त क्रमश बार-बार झटका खाती हुई पर्वतीय शतावरी लताकी भाँति दर्शकको चिन्तापरायण बना देते थे न जाने कब कौन-सा झटका उन्हें मरोड़ दे।

इस वर्णनमें ताल लयके समन्वयपर नहीं आवेगकी उद्दामतापर जोर दिया गया है जो काव्यकी संवेदनात्मक सम्पदासे पूर्ण है। इस आवेग, और प्रावेगत्ता को वह अपने दृहेदाविल-द्वारा निर्मित करता है। अथवा यों कहिए कि अपने आवेग स्पन्द-चेतनाको अन्वयित करते हुए वह इस विशिष्ट शैली शिल्पको अन्वेषित कर लेता है।

मध्यकालीन राजसभाका यथार्थ चित्र प्रस्तुत करते हुए वह उस समयके बुद्धिजीवीको विस्मृत नहीं करता। राज सभाओंकी उच्छृंखलता, चाटुकारिता खोशलेपनके बीच बुद्धिजीवीकी विचित्र स्थिति थी। हयवचन-द्वारा वह लम्पट कहा जाता है उसे आसन भी नहीं दिया जाता और न ताम्बूल वीटक-द्वारा सम्मानित किया जाता है। वह आकाशसे आगबबूला हो उठा पर मन्त्रबद्ध पददलित सर्पकी भाँति कुछ कर नहीं सका। कर भी क्या सकता था? यह सब होनेपर जब वह राजसभाका सभ्य बन जाता है तो गौरवका अनुभव करता है। बाणभट्टकी यह स्थिति आजके बुद्धिजीवियोंका नक्शा उभारती है। आजका बड़ासे बड़ा साहित्यकार किसी-न किसी सेठ साहूकार, मन्त्री सामन्तका आश्रित है। उनके विरोधमें उसकी आवाज या तो बन्द रहती है या खुलती है तो अपनी अर्थहीनताका जाहिर कर देती है। बाणभट्ट तक तो गनीमत थी क्योंकि सामन्तीय प्रजा पूँजीवादी प्रजकी तरह आत्मकेन्द्रित और रक्तपिपासु नहीं होता।

यह सब होनेपर भी वर्णनाके अन्तरालमें वह सोचता है—'मेरा मन कहता था कि जबतक राज्य रहेंगे, सैन्य संगठन रहेंगे पौरुष दर्पका प्राचुर्य रहेगा, तबतक यह होता ही रहेगा। परन्तु क्या कभी यह भी सम्भव है कि मानव

समाजमें राज्य न हो, सत्य खण्डित न हो, सम्पत्ति मोह न हो?' यह उत्तर आज नहीं पा रहा था। उसका उत्तर उसका प्रश्न है।

परस्पर विरोधी चित्रणोंके आधारपर भी उस युगके साथ आजके युगको समझा जा सकता है। उज्जयिनीके वैभव, प्रशस्त राजमार्ग, उच्चाट्टालिकाओंके आस-पास चोरों, मद्यपों, स्त्रीका शरीर बिक्री करनेवाले लम्पटोंका अड्डा भी था। राजकुलके पुत्र जन्मके सम्बन्धमें होनेवाले उत्सवके विरोधमें उसका अपना सूना जीवन भी उभरता है।

इन समस्त वर्णनोंका प्रयोजन जीवनानुभूतिको सशक्त ढंगसे अंकित करना रहा है। सारे उपन्यासमें प्राणोंका उच्छल वेग देखते ही बनता है। मध्यकालकी जड़िमाको जिस आधुनिक केन्द्र परिदृश्यमें रखा गया है वह हमारी वृत्तिको स्पष्टता बनाता है, आजकी समस्याओंको एक विशेष मजबूत जिम्मेदार सन्दर्भमें रखता है। मौजूदा हालतमें हमारा देश जिस सांस्कृतिक-आध्यात्मिक संकट-बोधका अनुभव कर रहा है उसके सन्दर्भमें इसे देखनेपर इस नतीजेपर पहुँचना होगा कि दो दशक पहले लिखा गया यह काव्य उपन्यास आजकी विद्रूपयुत दृष्टि और मूल्यहीन विघटित स्थितिमें मूल्यवान योग दे सकता है। जीवनकी सार्थकताके साथ-साथ किसी कृतिकी भी सार्थकता होती है। इस उपन्यासमें जिस सार्थकताको अर्थापित किया गया है वह इस कृतिकी सार्थकतासे अन्वित है क्योंकि कृतिकी सार्थकता उसमें अर्थापित जीवनगत सार्थकतासे अभिन्न होती है।



> शोभाका मूल उत्स तो आत्मदानमें है। जहाँ अपने आपको दलित द्राक्षाकी तरह निचोड़कर समर्पित कर देनेकी प्रवृत्ति नहीं है वहाँ कषाय देहधूप परिधेय और विलेपन जैसे मदन द्रव्योंके निरन्तर प्राप्त होते रहनेपर भी और रूप यश प्रभा राग आभिजात्य विलासिता लावण्य छाया और सौभाग्यके सुलभ होते रहनेपर भी सच्चा सौन्दर्य नहीं बन पाता।
>
> —मेघदूत एक पुरानी कहानी

'बाणभट्टकी आत्मकथा'
एक प्रतिक्रिया-धर्मी विश्लेषण

● ●

मधुरेश

किसी सुख्यात और सुप्रतिष्ठित कृतिके, एक लम्बे अर्सेके बाद पुनर्मूल्यांकनमें कई दिक्कतें पेश आती हैं। वे दिक्कतें और भी बढ़ जाती हैं जब वह कृति 'बाणभट्टकी आत्मकथा' जैसी रचना हो, समय-समयपर जिसपर बहुत कुछ लिखा गया हो, लिखा जाता रहा हो और जिसे हिन्दीकी एकमात्र ऐसी कृति होनेका गौरव प्राप्त हो कि सभी दलों और विचारधाराओंके व्यक्तियोंने प्रायः एक ही स्वरमें, शब्द और भाषा बदल-बदल कर उसकी स्तुति प्रशंसा की हो। मेरे साथ कठिनाई और भी अधिक इसलिए है कि न मैं संस्कृतका जानकार हूँ और न ही इतिहासका। लेकिन इन दोनों चीजोंका मेरा अज्ञान कृतिके परीक्षण मूल्यांकनकी दृष्टिसे भले ही मुझमें अपूर्णता और अपात्रताकी चेतना पैदा करता हो लेकिन उसके रसास्वादनमें इससे कोई अन्तर पड़ा है, कमसे कम मैं ऐसा समझ पानेमें असमर्थ रहा हूँ।

'बाणभट्टकी आत्मकथा' को लेकर बहुत पहले ही ऐसा कहा गया था कि हिन्दीके लिए उसकी उपलब्धियाँ नितान्त मौलिक हैं। यह सचमुच ही हिन्दीका दुर्भाग्य है कि ऐसी कृतियोंके भी परीक्षण मूल्यांकनके कोई सुनियोजित प्रयास प्रायः विरले ही हैं। लेकिन निस्सन्देह हिन्दी कथा समीक्षा कमसे कम जागरूक थी कि इस कृतिका महत्त्व प्रतिपादन उसने किया—भले ही उसकी उपलब्धियोंको सम्पूर्णतामें रेखांकित कर सकनेवाले प्रयासोंका अभाव रहा हो।

आज इतने अर्सेके बाद 'बाणभट्टकी आत्मकथा' का मूल्यांकन करते समय पुरानी कही गयी बातोंको दोहराये जानेका खतरा ही सबसे अधिक है। उसके मूल्यांकनका दूसरा तरीका समीक्षकोंके आपसी मतभेदोंकी चर्चा करते हुए निष्पक्ष उसकी उपलब्धियोंकी स्तुतिपरक व्याख्याका हो सकता है। लेकिन सरल होनेपर भी यह ढंग अधिक उपयोगी नहीं है। इस लेखके लिए प्रतिश्रुत होनेके बाद मैंने 'बाणभट्टकी आत्मकथा' को तीसरी बार पढ़ा है और पिछली दो बारकी तरह इस बार भी उसे पढ़नेके बाद ऐसा लगा है कि अपनी इस

मानसिक यात्राके दौरान प्रकृतिके कतिपय सुरम्य स्थलोंसे गुजरा हूँ और उनके जिन पात्रोंकी संगतिका सुलाभ मिला है उनने मुझे एक नये आलोक और गरिमा से सम्पन्न किया है। उसकी भाषा और उपमाओंपर मैं रह रहकर मुग्ध हुआ हूँ। अत अपनी इस मानसिक यात्राके बीचकी अनुभूतियोंको रेखांकित करके कृतिकी सामान्य उपलब्धियोंकी ओर सकेत करना ही मुझे अपेक्षाकृत एक उपयोगी और सरल रास्ता मालूम होता है।

बाणभट्टकी आत्मकथा' का प्रथम पुस्तकाकार प्रकाशन सन् ४६ में हुआ था। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीकी परवर्ती कृतियोंको, जिनमें मृत्युंजय रवीन्द्र' और 'चारुचन्द्रलेख' भी शामिल है देखनेके बाद उनके सृजनके दो स्पष्ट धरातल और स्तर स्पष्ट दिखाई पडते है। मित्रोंके बीच यदि कभी इस विषयपर चर्चा हुई है तो मैंने उनके पूर्ववर्ती लेखनको साधनावस्थाका लेखन और परवर्ती कृतियोंको सिद्धावस्थाका लेखन कहकर समझने-समझानेकी कोशिश की है। 'चारुचन्द्रलेख' या इतर आरोपों प्रत्यारोपोंको बातको ही अपने कथनके प्रमाण-स्वरूप उपस्थित करनेका आग्रह किसी हद तक समस्याका अवैज्ञानिक और अतिसरलीकृत रूप हो सकता है परन्तु दोनों ही कृतियां—बाणभट्टकी आत्म कथा और चारुचन्द्रलेख की उपलब्धियोंमें निश्चय निर्विवाद ही असाधारण रूपसे ऊँच-नीच है। लेकिन 'बाणभट्टकी आत्मकथा' की स्पष्ट दिखाई देनेवाली सफलताके मूलमें कुछ अधिक ठोस और वैज्ञानिक कारण भी रहे है जिनके लाभका सुयोग सुविचिन्त होनेपर भी परवर्ती कृतिको नहीं मिल सका है। बाण भट्टकी आत्मकथा की वर्णन-शैली और रूपाकार ही नहीं, उसके पात्रोंकी निर्मिति और युगकी वास्तविक सत्ताका प्रामाणिक उद्घाटन आदि चीजें मिलकर उसकी उपलब्धियोंका एक ऐसा धरातल देता है जिसके सामने 'चारुचन्द्रलेख'-की उपलब्धियाँ बहुत साधारण और बौनी मालूम होती है। जहाँतक बाण भट्टकी आत्मकथा के रूपाकारका सवाल है उसकी योजना सम्पूर्णतया मौलिक न होनेपर भी अपने पयवेक्षियोंसे अधिक विश्वसनीय फलक सकल रही है। जिस आत्मकथन शैलीका माध्यम बनाकर प्रस्तुत किया गया है उस कथनाकार उसके पहले ही जैनेंद्र कुमारके त्यागपत्र और राहुल साकृत्यायनके सिंह सेना पति' में उपलब्ध हो लेकिन कृतिकी शिल्पगत सफलताकी दृष्टिसे 'बाणभट्टकी आत्मकथा' अपेक्षाकृत अधिक विश्वसनीय ही नहीं उसे सम्पूर्ण ऐतिहासिक आधुनिक सन्दर्भ जोडनेके कारण (इस दृष्टिसे पुस्तकका 'उपसंहार' खास तौर विशेष महत्त्वका है) अधिक सार्थकता-मण्डित भी है।

बाणभट्टकी आत्मकथा' के निर्माणके पीछे बाणभट्ट और ...

के आधारकी चर्चा प्रायः की हुई है। पुस्तककी पादटिप्पणियोंको देखकर संस्कृत की कतिपय अन्य कृतियों और कृतिकारोंके नाम और उस सम्पूर्ण साहित्यकी विशाल परम्पराकी झलकी भी देखनेको मिल जाती है। लेकिन 'बाणभट्टकी आत्मकथा'को पढ़ने और उसके निर्माण-कालको विशेषतया ध्यानमें रखनेसे और भी कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य उद्घाटित होते हैं। व्यक्तिगत रूपसे मुझे ऐसा लगता है कि जहाँ उसकी आत्मामें संस्कृत साहित्यके तत्त्व हैं और भारतकी विशाल मानवतावादी सांस्कृतिक परम्पराका योग है वहीं उसपर, महज उसके बाह्य रूपाकारपर ही नहीं बंगला कथा-साहित्यकी भी सुस्पष्ट छाप है। 'बाणभट्टकी आत्मकथा'का निर्माणकाल वही है जब बंगला कथा जगतमें शरत बाबू और रवीन्द्रनाथकी विजय-दुन्दुभि दिग्दिगन्तमें व्याप्त थी। जहाँ हिन्दीके अन्य अनेक साहित्यकारोंपर उक्त दोनों स्रष्टाओंका प्रभाव अनुवादके माध्यमसे आया द्विवेदीजीको बंगला भाषाके मौलिक अध्ययनका सुलाभ ही नहीं रवीन्द्रनाथके निकट सम्पर्कका सुयोग भी प्राप्त था। 'बाणभट्टकी आत्मकथा'को मैं जब भी पढ़ता हूँ मुझे रह रहकर 'श्रीकान्त' की याद आयी है—आत्मश्लाघा और आत्मप्रताड़नाकी भंगिमा ही नहीं उद्गाराभिव्यक्तिकी शैली, नारी विषयक दृष्टिकोण और प्रेम प्रसंगोंकी नीरव मौन अप्रगल्भ अवतारणाकी दृष्टिका साम्य भी मुझे उसमें दिखाई दिया है। भट्टिनी और निपुणिका ही नहीं सुचरिता और चारुस्मिताके निर्माणके पीछे भी यही दृष्टि और सहृदयता है जिसकी चर्चा शरत की नायिकाओंके सम्बन्धमें बहुधा हुई है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीने बड़ी सहृदयतासे अभिशप्त और प्रताड़ित नारी जातिकी समस्याओंको काढ़िया की है उसमें उच्छ्वास और भावावेगकी आकुलता भर नहीं है यथार्थकी मजबूत और गहरी पकड़ भी शामिल है। "बड़े करुणाजनक संयोगोंके बीचसे मैंने यह अनुभव किया है कि स्त्रीके दुःख इतने गम्भीर होते हैं कि उसके शब्द उसका दशमांश भी नहीं बता सकते। सहानुभूतिके द्वारा ही उस मर्म-वेदनाका किंचित आभास पाया जा सकता है निपुणिकामें इतने गुण थे कि वह समाज और परिवारकी पूजाका पात्र हो सकती थी पर हुई नहीं।" लेकिन स्थितिका उद्घाटन मात्र ही लेखककी सीमा नहीं है वह स्थितिके लिए उत्तरदायी कारणों की खोज करता है और शायद निष्कर्षतक पहुँचता है "निश्चय ही कोई बड़ा असत्य समाजमें सत्यके नामपर घर बना बैठा है।" (बाणभट्टकी आत्मकथा पृ० २६१) श्री हर्ष विरचित रत्नावली में वासवदत्ताकी भूमिका के अवसरपर निपुणिकाने अपनेको निःशेष भावसे समर्पित कर दिया। आचार्य बाभ्रव्यसे उसने सुना था कि 'अपनेको निःशेष भावसे देना ही वशीकरण है' और

भी होने हैं जितना उद्देश्य कुछेक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक पात्रों या युग विशेषकी पुनरवतारणा मात्र होता है। रांगेय राघवका 'मुर्दोंका टीला' सम्बन्धित युगकी धूमिल रेखाओंको स्पष्ट आकार देनेका प्रयास करता है जबकि 'बाणभट्टकी आत्मकथा' बाणके चरित्रके प्रति भी उतना ही आग्रहशील है जितना कि युगकी सम्पूर्ण सत्ताके उद्‌घाटनके प्रति। लेकिन कोई भी उपन्यासकार क्या न हो यदि अपने वर्तमानके प्रति थोड़ी भी दायित्व चेतना भी उसमें है तो वह मात्र अतीतजीवी होकर ही नहीं रह सकता। ऐतिहासिक उपन्यासकी सबसे अधिक सफलता ही इस तथ्यमें निहित है कि अतीतके परिवेशमें वर्तमानको वह कहाँतक समाहित करके चल सका है। 'चीवर' और 'अमिता' में युद्धकी विभीषिकासे संत्रस्त होकर शान्ति स्थापनाका सफल प्रयास किया गया है। 'यशोधरा जीत गयी' में नारीकी गरिमा और आत्मसम्मानकी भावनाको पुनःप्रतिष्ठा मिली है। 'बाणभट्टकी आत्मकथा' का लेखक अपने नायकके प्रति अतिशय मोहाविष्ट है ऐसे संकेत सम्पूर्ण रचनामें बिखरे मिलते हैं लेकिन उसकी व्यक्तिगत और युगकी सामयिक दुर्बलताओंको भी उसने स्पष्ट देखा है।

'बाणभट्टकी आत्मकथा' का आग्रह जैसा कि मैंने अभी निवेदन किया युगकी सत्ताका उद्‌घाटन भी है और अपने नायकके चरित्रकी पुनरवतारणा भी। उसमें कोई भी चीज ऐसी नहीं है जिसकी ओर उँगली उठाकर तत्काल निर्देश किया जा सके कि वह हमारे वर्तमानका सीधे और प्रत्यक्ष रूपमें छूती है। लेकिन फिर भी वह अतीतकी पुनःप्रतिष्ठाको ही अपनी सीमा माननेसे साफ इनकार कर देती है। वर्तमानका बहुत-सी ऐसी समस्याएँ हैं जो उसकी आत्मामें इस प्रकार रच-पच गयी हैं कि अलगसे उनकी ओर संकेत करना इसलिये प्रति ही अन्यायको प्रश्रय देना हो सकता है। नारीके प्रति कुण्ठाहीन सहृदय दृष्टि क्रमशः विरल होते हुए मानवीय तत्त्वोंकी पुनःप्रतिष्ठाका आग्रह आक्रान्ताओंके घर प्रहारोंसे दुर्बल होते हुए राष्ट्रके लिए संजीवनी-सन्देश आदि बहुत सी ऐसी चीजें हैं जो वर्तमानकी होकर भी सार्वकालिक हैं। महामायाके उद्‌बोधनोंमें बहुत सी ऐसी बातें हैं कि यदि पुस्तक चीनी और पाकिस्तानी आक्रमणके बाद लिखी गयी होती तो उन्हें बड़ी सरलतासे सामयिक सन्दर्भमें जोड़ा जा सकता था। हर कहीं लेखककी दृष्टि शाश्वत महत्त्वकी चीजोंकी ओर ही अधिक रही है और वैसी हालतमें कुछ समीक्षकोंको यदि उसमें सामयिक सन्दर्भका अभाव दिखाई दिया है या लेखककी दृष्टि मात्र सौन्दर्यवादी मालूम हुई है तो यह आश्चर्यकी बात नहीं है। आचार्य सुगतभद्र कुमार कृष्णवर्धन और भट्टिनी सारे ही पात्र घूम फिरकर एक ही बिन्दुको छूते-से मालूम पड़ते हैं।

भट्टिनीको लेकर, कुमार कृष्णवर्धनके सम्मुख जब बाणभट्ट अलौकिक साहसका प्रदर्शन करता है तो ब्राह्मणके अन्दर ऐसे विरल तत्त्वोंको देखकर कुमारको आश्चर्य होता है। आचार्य सुगतभद्र पुलकित होकर कहते हैं "क्या ब्राह्मण और क्या श्रमण, मनुष्यता दोनों ही जगह विरल है कुमार!" (पृ० सं० ६३) आचार्यका यह संक्षिप्त वक्तव्य एकसे अधिक कारणोंसे महत्त्वपूर्ण है। यह एक ओर जहाँ मानवीय तत्त्वोंकी विरलता और स्खलनको रेखांकित करता है वहीं दूसरी ओर ऐसा संकेत भी छोड़ता है कि यही बाण उसी अनुपलब्ध विरल प्राय मानवताका निष्ठापूर्ण अन्वेषक ही नहीं उसका स्वयं एक सार्थक प्रतीक भी है।

कुमार कृष्णवर्धन कहता है "इतिहास साक्षी है कि ऋषी-मुनी बातको व्याख्या क्यों कर देना या मान लेना सत्य नहीं है। सत्य वह है जिससे लोकका आत्यन्तिक कल्याण होता है। ऊपरसे वह जैसा भी गठ क्या न दिखाई देता हो, वही सत्य है।" (पृ० सं० १०१-१०२) बाणभट्ट स्वयं सोचता है, महा-पुरुषोंने करुणा और मैत्रीके उपदेश दिये हैं, भ्रातृभाव और जीव दयाके बहुत प्रयत्न किए हैं, पर उन्हें सफलता नहीं मिली है। क्या संसारकी मनमें मूल्यवान् वस्तु इसी प्रकार अपमानित होती रहेगी? मेरा मन कहता था कि जबतक राज्य रहेंगे, सैन्य संगठन रहेंगे पौरुषदर्पका प्राचुर्य रहेगा तबतक यही होता रहेगा" (पृ० सं० ११६)

भट्टिनीको दूसरे देशों और जातियोंकी सामाजिक अवस्थाको देखनेका अवसर भी मिला है। उसकी दृष्टि अपेक्षाकृत अधिक खुली और उदार है। सामाजिक जटिलताओं और मिथ्याडम्बरोंके प्रति वह अतिशय असहिष्णु एवं कटु है। वह बाणभट्टसे कहती है "यदि दुर्गो तुम यदि किसी यवन कन्यासे विवाह करो तो इस देशमें यह भयंकर सामाजिक विद्रोह माना जायगा। परन्तु यह क्या सत्य नहीं है कि यवन कन्या भी मनुष्य है और ब्राह्मण कवि भी मनुष्य है! महामाया जिन्हें म्लेच्छ कहती हैं वे भी मनुष्य हैं। क्या भट्ट तुम यह नहीं हो सकता कि ऊँचा भारतीय भावना उत्तर पहुँचायो जो मन और निकृष्ट सामाजिक जटिलता यहाँसे हटाया जा सके। जबतक ये लोग बातें साथ-साथ नहीं हो जाती तबतक शास्वत शांति असम्भव है। महामाया आधी ही इस ओर है। बौद्ध सन्यासियों ने भी आधा ही देखा था। भट्ट, तुम यदि इस पूर्ण सत्यका प्रचार कर सको तो धन्य हो!" (पृ० सं० २३८-२३९)

बौद्धों और ब्राह्मणोंके निरन्तर आपसी संघर्ष देशको खोखला कर रहा है। बौद्ध राजाको अधिकांश प्रजा उनके धर्मको स्वीकार नहीं करती है। सुचरिता स्थितिका बड़ा सटीक और तथ्यपूर्ण विश्लेषण करती हुई कहती है "धर्मोत्तर

गुरु भदन्त वसुभूति बौद्धधर्मको निर्वासित ही छोड़ेंगे और भवभूतिके प्रतिभट परमस्मार्त आचार्य मेधातिथि—जो आजकी सभाके गुप्त सूत्रधार थे—सनातन धर्मको पुनः प्रतिष्ठित करके ही दम लेंगे। मनुष्य चाहे चूल्हे भाड़में जाय इन्हें अपने धर्ममतका डिण्डिम पीटना है। एककी पीठपर राज्य शक्ति है और दूसरेकी हथेलीमें प्रजाका विद्रोह है। इस जय पराजयकी प्रतिद्वन्द्वितामें मनुष्यका चाहे सत्यानाश ही क्यों न हो जाये।" (पृ० सं० २२७)

भारतीय और पाश्चात्य सभ्यताओंके मौलिक अन्तरको भी बाणभट्टने समझानेकी कोशिश की है। भारतीय साधनाके महत्त्वको वह किंचित गर्वसुन्दर वाणीमें इस प्रकार प्रस्तुत करता है "बन्धन ही सौन्दर्य है, आत्मदमन ही सुरुचि है, बाधाएँ ही माधुर्य हैं। नहीं तो यह जीवन व्यर्थका बोझ हो जाता म्लेच्छ जातिमें इसी संयमका अभाव है, आत्मनियन्त्रणकी कमी है। उन्हें यही चाहिए। भारतीय समाजने बन्धनको सत्य मानकर संसारको बहुत बड़ी चीज दी है।" (पृ० सं० २९०)

कुछ आलोचकोंने 'बाणभट्टकी आत्मकथा'की एकाध नगण्यप्राय ऐतिहासिक असंगतियोंकी चर्चा भी की है। डॉ० देवराज उपाध्यायको हूण और तुरुरमिलिन्दकी समकालीनता आपत्तिजनक लगती है। डॉ० भगवतशरण उपाध्यायको समुद्रगुप्तकी ध्वजा कुम्भाके पार फहरानेवाली बात इतिहास विरुद्ध लगनेपर भी वह उसे क्षमा कर देनेकी उदारता दिखाते हैं। इतिहासका आधार लेकर लिखे गये बहुत-से साहित्य ग्रन्थोंपर मुझे डॉ० भगवतशरण उपाध्यायकी समीक्षाएँ पढ़नेका सौभाग्य मिला है। और मेरे लिए यह सचमुच ही सुखद आश्चर्यकी बात थी कि 'बाणभट्टकी आत्मकथा' ही एक मात्र ऐसी पुस्तक है जिसे लेकर उन्होंने सन्तोष व्यक्त किया है "इतिहासका विद्यार्थी जब ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर ग्रन्थकी आलोचना अथवा अध्ययन करता है तो उसमें और ग्रन्थकारमें एक प्रकारकी होड़ लग जाती है—लुकाछिपीकी। मुझे सन्तोष है कि अनवरत छिद्रान्वेषणके बाद भी मैं श्री द्विवेदीजीके ऐतिहासिक निरूपणमें कोई छिद्र न पा सका।" (द्वैमासिक 'प्रतीक' संख्या १०—हेमन्त)

बाणभट्टकी आत्मकथाकी भाषागत दुरूहता और बोझिलताको लेकर लगाये गये चन्द्रगुप्त विद्यालंकारके आरोपोंका निराकरण 'प्रतीक'के उसी अंकमें प्रकाशित डॉ० प्रभाकर माचवेने अपनी समीक्षामें किया है। व्यक्तिगत रूपसे संस्कृतका विद्यार्थी न होनेपर भी ऐसी कोई दुर्बोधता मुझे उसमें नहीं प्रतीत हुई जो उसे पढ़ सकनेमें किंचित भी बाधा दे। इस सफलताका मूल एक ओर जहाँ द्विवेदीजीका विशाल हिन्दी संस्कृत ज्ञानमें है, क्योंकि शब्द-चयन और

भाषाको सँवारनेके लिए उन्हें कोई अतिरिक्त श्रम नहीं करना पड़ा है, वहीं शिल्प सम्बन्धी उनकी दूरदर्शितामें भी है। वह भली भाँति जानते थे कि बाणकी भाषाका रूप आजके पाठकको अधिक रुचिकर और बोधगम्य नहीं होगा। इसीलिए उन्होंने एक ऐसी स्थिति चुनी जो रचनाको केवल दुर्बोध होनेसे ही नहीं बचाती अपितु उसे अधिक विश्वसनीय भी बनाती है। उन्होंने उसे यह कहकर प्रस्तुत किया है कि एक आस्ट्रियन महिलाको मिली हुई पोथीका यह अनुवाद मात्र है। ऐसा करनेसे उन्हें भाषाके क्षेत्रमें स्वतन्त्र रह सकनेका अधिकार मिल सका है। यही कारण है कि संस्कृतनिष्ठ शब्दावलीके साथ उन्होंने दरवाजा, बाजार, इशारा, जँचा, मामूली, हैरान, अजीब, जरूरत, शामत, शानदार, अड्डा, आदि शब्दोंका वैकल्पिक प्रयोग किया है। इससे बड़े आश्चर्यजनक रूपसे भाषा जटिल होनेसे बची है और उसमें क्षिप्रता आयी है। इस दृष्टिसे 'बाणभट्टकी आत्मकथा'की भाषा मुझे 'दिव्या'की भाषासे अधिक सुधरी ही नहीं सफल भी लगी है। 'दिव्या'की भाषा अपने युगके संस्कारों और ऐतिहासिक परिवेशके प्रति न्याय न कर सकी हो ऐसा नहीं है, लेकिन वैसा कर सकनेके लिए जो कीमत उसे चुकानी पड़ी है वह उसके श्रमसाध्य होनेकी असाधारण घटनामें परिलक्षित होता है। 'बाणभट्टकी आत्मकथा'में श्रमसाध्य होनेका दोष ही नहीं है।

मैं डॉ० शिवप्रसाद मिश्रका आभार मानता हूँ कि उनकी योजनामें सहयोग देनेके कारण मुझे फिर एक बार इस कृतिको पढ़नेका अवसर मिल सका है। आज जब कलात्मक क्षेत्रमें भूखी पीढ़ी और बीट आन्दोलनकी चर्चा व्याप्त है, अनुभूतिकी सचाई और यथार्थकी सीधी पकड़के नामपर सब कहीं निराशा, कुण्ठा, अवसाद और प्रयोजन-हीनताका बोलबाला है, 'बाणभट्टकी आत्मकथा'का वाचन अपनेमें एक सुखद अनुभव रहा है। बहुत पहले आचार्य नलिनविलोचन शर्माने इसके बारेमें लिखा था कि हिन्दीके आठ-दस उत्कृष्ट उपन्यासोंमें यह एक है। उसके बाद तो हिन्दीमें बहुतसे अच्छे उपन्यास आये हैं या आ रहे हैं, लेकिन निस्सन्देह 'बाणभट्टकी आत्मकथा'की स्थिति अप्रभावित ही रही है।

■

अनीर दया

बाणभट्टकी आत्मकथा

• •

देवराज

'बाणभट्टकी आत्मकथा' श्री हजारीप्रसाद द्विवेदीका पहला उपन्यास है। हिन्दीमें कोई दूसरा व्यक्ति इस तरहके उपन्यास या कथाको लिख सकता था, ऐसी कल्पना करना कठिन है। पं० रामचन्द्र शुक्ल शायद संस्कृत साहित्यके उतने सरस-सहृदय पाठक न थे। भारतीय संस्कृतिके अन्य भागोंसे भी उनका ऐसा गहरा परिचय न था। द्विवेदीजीकी प्रधान विशेषता है—कठोर पाण्डित्यके साथ एक अपूर्व सहज सरलता तथा मस्तीका योग। द्विवेदीजी पूरी डिसिप्लिनके साथ पाण्डित्यपूर्ण प्रन्थोंका निर्माण ही नहीं करते, वे उन्मुक्त निर्द्वन्द्वतासे हँस भी सकते हैं। सम्भवतः इस समय अनेक दृष्टियोंसे वे हिन्दी माध्यमसे बोलनेवाले दो एक श्रेष्ठ वक्ताओंमें हैं।

हाँ, द्विवेदीजीने 'बाणभट्टकी आत्मकथा' लिख डाली, मानो पाण्डित्यने अपनी गरिमासे ऊबकर उच्छ्वसित आत्म विनोद करनेका प्रयत्न किया हो। स्वयं बाणभट्ट भी कोरा कलाकार नहीं था, कमसे कम पाण्डित्य प्रदर्शनके प्रति विमुख न था। उसकी अलिखित आत्म-कथा लिखनेका कोई दूसरा अधिकारी हो ही नहीं सकता था।

जिन्होंने बाणभट्टकी कादम्बरी तथा 'हर्षचरित' नहीं पढ़े हैं वे कैसे अनुमान नहीं लगा सकते कि 'कथा'के रूपमें द्विवेदीजीने कितनी महत्त्वपूर्ण चीज हिन्दीको दी है। साहित्यके साथ ही द्विवेदीजी यदि 'क्लासिकल' भारतीय संस्कृतिके गहरे जानकार न होते तो वे हर्गिज इस 'कथा' का निर्माण न कर पाते।

'कथा' में द्विवेदीजीके मुख्य उद्देश्य दो हो सकते हैं—एक प्रसिद्ध बाणभट्टकी लेखन शैलीकी विडम्बना प्रस्तुत करना और दूसरे हिन्दी पाठकोंको संस्कृत साहित्यके विशेषतः बाणभट्टके उज्ज्वल सौन्दर्य-वाधकी समृद्ध अवगति देना। इन दोनों दृष्टियोंसे वे पूर्णतया सफल हुए हैं।

किन्तु द्विवेदीजीका कृतित्व यहींतक सीमित नहीं है। एक स्वतन्त्र

कथाकार एवं कलाकारके रूपमें भी उन्हें आश्चर्यजनक सफलता मिली है। कथा-में उन्होंने एक अनूठी गल्पका प्रयत्न किया है जिसकी सफलताका सबूत उसकी रोचकता है। मानवीय रोचकताकी दृष्टिसे हमें 'कथा' का पूर्वार्द्ध अधिक प्रिय लगा, उत्तरार्द्धकी रचना करते समय सम्भवतः लेखक कुछ ऊब महसूस करने लगा था। 'कथा' अपूर्ण रह जाती अपनी परिणतिकी ओर नहीं बढ़ पाती। इसका एक कारण लेखकका अनावश्यक नैतिक संयम अथवा साहित्यिक साहस-हीनता भी है। लेखक मानो अपनी वाणीपर एक विशेष प्रकारका प्रतिबन्ध या प्रतिरोध लगाकर लिख रहा हो। लेखकने स्वयं इसे स्वीकार किया है—"इस 'कथा' में सर्वत्र प्रेमकी व्यंजना गूढ़ और अस्पष्ट भावमें प्रकट हुई है। ऐसा जान पड़ता है कि एक स्त्री जनोचित लज्जा सर्वत्र उस अभिव्यक्तिमें बाधा दे रही है।' इस बातमें 'आत्म-कथा' पूर्णतया बाणभट्टके अनुरूप नहीं है।

पर 'कथा' में वे सभी विशेषताएँ हैं जो संस्कृतके, और विशेषतः बाणभट्टके गद्य-काव्यमें पायी जाती हैं। जैसा कि द्विवेदीजीने उपसंहारमें लिखा है—"कादम्बरीकी कलामें अतिशयोक्ति, अर्थात् श्लेषण-प्रधान कल्पना वैचित्र्यका प्राधान्य है। कादम्बरीका चित्र खड़े करनेकी कलामें अद्वितीय है, यद्यपि ये चित्र सर्वत्र स्वाभाविक नहीं बनते। उदाहरणके लिए बाणभट्टने महाश्वेताकी शुभ्रताका चित्र खड़ा करनेके लिए कई दर्जन उपमाएँ खर्च कर डाली हैं। इस दृष्टिसे मितभाषी कालिदास और मुखर बाणभट्टमें काफी अन्तर है। और इस दृष्टिसे 'अनेक वे निश्चित चित्र विधान' तथा बाणभट्टके वर्णनोंमें कुछ साम्य है—यद्यपि बाणभट्टमें उतने चातुर्य विदग्धताकी प्रवृत्ति नहीं है। 'कादम्बरी' के वर्णनोंकी भाँति आत्मकथाके वर्णन भी कथा-प्रवाहमें व्याघात उपस्थित करते हैं। मतलब यह कि 'आत्मकथा' की अधिकांश कमियाँ बाणभट्टकी कमियोंका सफल प्रतिफलन मात्र हैं।

बाणभट्टकी सबसे बड़ी शक्ति और अशक्ति है—रागात्मक जरूरतोंके लिए पेश किया कवित्वपूर्ण वर्णनके प्रवाहमें बह जाना। 'कथा' की रागात्मक उत्कटताके मूलपर बाण मानो अपनी ही वाणीके प्रबल आवर्तमें फँसकर रह जाता है। उसका शब्दोंके प्रति उसके संगीतका अनुराग वैसा ही उत्कट है जैसा अँगरेजी कवि स्विनबर्नका। और कविके वर्णनोंका विषय कोई भी वस्तु या स्थान हो सकता है—एक ऋतु या सरोवर उतना ही जितने कि नायक-नायिका अथवा अन्य पात्र। द्विवेदीजीने बाणभट्टकी इन विशेषताओंका पूर्ण निर्वाह किया है। एक नमूना देखिए—

'इसी समय उस राजकुलके बाजा बजाना शुरू किया। मन इस बस

नीयताकी मूर्तिकी ओर देखा। अत्यंत धवल प्रभा-पुंजसे उसका शरीर एक प्रकार ढँका हुआ-सा ही जान पड़ता था, मानो वह स्फटिक गृहमें आबद्ध हो या दुग्ध-सलिलमें निमग्न हो, या विमल चीनांशुकसे समावृत हो या दर्पणमें प्रतिबिम्बित हो या शरत्कालीन मेघपुंजमें अंतरित चन्द्रकला हो। निश्चय ही यह धर्मके हृदयसे निकली हुई है। मानो विधाताने शंखसे खोदकर, मुक्तासे खचकर, मृणालसे सँवारकर, चन्द्रकिरणोंके कूर्चकसे प्रक्षालित कर, सुधा चूर्णसे धोकर, रजत रससे पोंछ, कुटज कुंद और सिंधुवार पुष्पोंकी धवल कांतिसे सजाकर ही इसका निर्माण किया था। अहा, यह कैसी अपूर्व पवित्रता है! यहाँ क्या मुनियोंकी ध्यान सम्पत्ति ही पुंजीभूत होकर विद्यमान है या रावणके भयसे भागी हुई कैलास पर्वतकी शोभा ही स्त्री विग्रह धारण करके विराज रही है या बलरामकी दीप्ति ही उनकी मत्तावस्थामें उन्हें छोड़कर भाग आयी है या मंदाकिनीकी धारा ने ही यह पवित्र रूप ग्रहण किया है।' (पृ० ३९-४१)

भट्टिनीका पहली बार परिचय पानेपर बाणभट्ट उनके पवित्र व्यक्तित्वका इस प्रकार वर्णन करता है—

'उचित स्थानपर विधाताका पक्षपात हुआ है। हिमालयके सिवा गंगाकी धाराको कौन जन्म दे सकता है? महासमुद्रके सिवा कौस्तुभ मणिको कौन उत्पन्न कर सकता है? धरित्रीके सिवा और कौन है जो सीताको जन्म दे सके? मैं बड़भागी हूँ जो इस महिमाशालिनी राजबालाकी सेवाका अवसर पा सका। अहा! किस पाप-अभिसंधिने इस कुसुमकलिकाको तोड़ लिया था? किस दुर्वह भोग लिप्साने इस पवित्र शरीरको कलुषित करनेका संकल्प किया था? किस दुर्निवार पाप भावनाने ज्योत्स्नाको मलिन करना चाहा था? मेरे हृदयकी भक्ति और बढ़ गयी।' (पृ० ५८)

'आत्मकथा'की एक स्पृहणीय विशेषता है उसकी व्यापक विनोद भावना। बाणभट्ट जगह जगह स्वयं अपनेको लक्ष्य करके हँसता है। शुरूमें ही वह बतलाता है, किस प्रकार उसे उसके गाँवके लोगोंने 'बण्ड' (पूँछ कटे बैल) की उपाधि दी थी, जिसे उसने संस्कृत शब्द 'बाण' द्वारा संस्कार करके अपने नामकी इज्जत बचा ली। चौथे उच्छ्वासमें एक पुजारीका बड़ा विनोदपूर्ण वर्णन है। वर्णनको विनोद विनाद पूर्ण बनानेके लिए पुजारी बाबाको बहुत ही विरूप चित्रित किया गया है—यह कादम्बरीकारके युगकी कहानी स्थूलताका संकेत है। या 'आत्मकथा'का हास्य स्वयं द्विवेदीजीकी विशेषता है। छठे उच्छ्वासमें एक बार बाणभट्टसे उसके कहनेपर कि मैं अमंगलसे डरता हूँ उससे इस प्रकार बातें करते हैं—

'ब्राह्मण है न?'

'हाँ, आर्य!'

'तेरी जाति ही डरपोक है। क्यों रे, महावराहपर तेरा विश्वास नहीं है?'

'है आर्य!'

'झूठा! तेरी जाति ही झूठी है!'

पाठक इस संवादकी विनोदात्मकताकी अधिक दाद दे सकेंगे, यदि वे स्मरण रखें कि बाणभट्ट ही नहीं, 'आत्मकथा'का लेखक भी स्वयं ब्राह्मण है।

बाणभट्टकी आत्मकथा पढ़कर मनमें एक प्रश्न उठता है—क्या द्विवेदीजीने अपनी रचनात्मक प्रतिभाका और अधिक सदुपयोग नहीं किया? क्या वे अपना अधिकांश समय अपने शिक्षण-कार्यको ही देते रहे हैं? कहीं इसका कारण उस नैतिक साहसकी कमी तो नहीं है जो 'आत्मकथा'के शृंगारके रस बननेमें बाधक हुई है?



> पागल उसे कहते हैं जिसके हृदयके अभिलाष और उसे व्यक्त करनेवाली उमड़ते स्वरकी वैखरी वाणीमें सामञ्जस्यका बन्ध नहीं रहता। मैं ज्ञानी भी नहीं हूँ क्योंकि ज्ञानी उसे कहते हैं जो सत्यको अनावृत रूपको पकड़ लेनेका दावा करता है। मैं भ्रान्त हूँ, व्याकुल हूँ, कातर हूँ। मुझे सत्यके अनावृत रूपका पता नहीं है परन्तु उसके हिरण्मय आवरण और उसके अन्तरतरके अनभिषिक्त जीवन देवताका सामञ्जस्य मुझे मालूम है।
>
> —मेघदूत : एक पुरानी कहानी

दृष्टिकेन्द्रका स्खलन

● ●

नेमिचन्द्र जैन

परम्परासे, सृजनशील सम्पत्तिका एक रूप निस्सन्देह यह है कि वर्तमान स्थितियोंको अतीतके सन्दर्भमें भी पहचाननेका यत्न किया जाय। अथवा अतीत को किसी आधुनिक दृष्टिकेन्द्रके अन्तर्गत रखा जाय। इस प्रक्रियामें एक ओर अतीत वर्तमानके लिए अधिक सार्थक और महत्त्वपूर्ण बनता है और दूसरी ओर समकालीन अनुभूतिको कालमें गहराईका और तीव्रताका एक सर्वथा नया आयाम प्राप्त होता है। इस भाँति हम अपने-आपको अतीतसे जुड़ा हुआ ही नहीं एक सर्वव्यापक सार्थकताके साथ देख पाते हैं। इसीसे प्रायः प्रत्येक प्रकार की कलात्मक अभिव्यक्तिमें इतिहास और पुराणको नये सिरेसे व्याख्या करनेका उन्हें नये रूपमें प्राप्त करनेका प्रयास बारम्बार होता रहा है। दुर्भाग्यवश हिन्दी कथा साहित्यमें इतिहास पुराणका उपयोग प्रायः इतिवृत्तात्मक अथवा भावुक श्रद्धापूर्ण ही रहा है उनके सृजनात्मक पुनर्निर्माणके प्रयत्न बहुत कम ही मिलते हैं। 'बाणभट्टकी आत्मकथा' के बाद हजारीप्रसाद द्विवेदीका दूसरा उपन्यास 'चारु चन्द्रलेख' इस दृष्टिसे उल्लेखनीय अपवाद है। उसमें लेखकने आधुनिक स्थितियोंकी चेतनाके साथ १२-१३वीं सदीके आन्तरिक कलहसे जर्जर और तान्त्रिक साधनाके मोहमें पथभ्रष्ट भारतीय जीवनमें उस युगकी अराजकता, विशृंखलता, नैतिक हीनता और मूढ़ताके सूत्र और उनकी परिणति खोजनेका प्रयास किया है। उज्जयिनीका राजा सातवाहन, उसकी बत्तीस रानी लक्षणोंसे युक्त रानी चन्द्रलेखा और उसकी सगिनी मैना—क्रिया विभक्त शक्तिके तीन आयरूप ज्ञान इच्छा और क्रिया—एक-दूसरेसे विच्छिन्न हैं सयुक्त नहीं हो पाते और इसीलिए कोई सिद्धि प्राप्त नहीं होती। रानी चेतनाका गतिशील पार्श्व है—इच्छा मात्र मैना उस पार्श्वका प्रतिनिधित्व करती है जो केवल क्रिया मात्र है।

'इच्छा गति मात्र है क्रिया स्थिति मात्र है। इच्छा और क्रियाके अनवरत आघात प्रत्याघातसे जो तरंगमाला विकसित हो रही है वही मेरा इतिहास है

मेरा जीवन है, मेरा संसार है। मैं गाता हूँ, मैं द्रष्टा हूँ, मैं साक्षी हूँ। (पृष्ठ २९३)

किन्तु इच्छा अप्रतिहत है दुर्वार वेगसे गलत दिशाकी ओर बढ़ी चली जाता है और फिर कुण्ठित हो रहती है क्रिया ऐसी है जिसके मूलमें ज्ञान नहीं जिसकी समाप्ति ज्ञानमें नहीं इसलिए इच्छाकी जड़में आत्मघातक अतिरिक्त उसकी अन्य परिणति नहीं। और इच्छा तथा क्रियासे टूटा हुआ यह ज्ञाता, यह चैतन्य, मोहग्रस्त है विमूढ़ है राजे मोहनकेवागा अपराध कलाव है। लेखक दिखाना चाहा है कि भारतीय इतिहासके उस अन्धकार युगके विघटन और स्खलनका कारण यही था पर उसने यह भी कहना चाहा है कि क्या आज भी हमारे जीवनका अराजकता और विशृंखलताका कारण यहां नहीं है कि बुद्धि इच्छा और कर्ममें कोई सामंजस्य नहीं कोई सन्धान नहीं, कोई सन्तुलन नहीं? उस युगकी परिस्थितियों और मन स्थितियोंको प्रस्तुत करनेमें स्थान-स्थानपर लेखकने आधुनिक युगकी गूँज पैदा का है।

'राजाओंका युद्ध समाप्त हो गया। अब वही आशा है तो प्रजाकी संगठित शक्तिमें है। (पृष्ठ १००)

सिद्धियाँ मनुष्यको कुछ विशेष बड़ा नहीं करती। एक साधारण किसान जिसमें दया माया है सच-झूठका विचार है और बाहर भीतर एकाकार है वह भी कम बड़ा सिद्धसे ऊँचा है। (पृष्ठ १५६)

दवाके चरणोंपर सिर रख कर शपथ कर कि तू सदा ज्ञानाम सम्पन्न रखेगा क्रियाको छोटा और बड़ा नहीं मानेगा धरतीको छोटी नहीं धरोहर समझेगा सामन्ता प्रथाको उच्छेद करेगा। (पृष्ठ ८०९)।

इस भाँति बहुत प्रकारसे लेखकने उस युगके जनपथ जात्या स्थितियोंको समझने और पहचाननेका प्रयत्न किया है और इस बहाने लिए उसने पूरे युगके अन्तर्द्वन्द्वको एक उपाख्यानके द्वारा मूर्त करना चाहा है।

जनका राजा मातवाहन एक दिन शौर्य सीख नामक सिद्धको खोजमें निकलता है तो रास्तेमें उसको चन्द्रलेखा नामक एक परम सुन्दरी समस्त स्त्री गुणोंसे सम्पन्न स्त्रीसे भेंट होती है जो स्वयं किसी तपस्वीकी खोजमें है। राजाके यह अपना शक्तिमें सम्मानकी माँग करती है और उसकी रानी बनाकर हैदराबाद हो जाती है। सातवाहन राजधानी लौटकर उसमें विवाह कर लेते हैं और साथ ही उस तरुणी नागनाथकी भी इस निरास्य है। रानी कालिकाकी उसकी सिद्धिमें लगा है और रानीसे चन्द्रलेखाने इस कार्यमें सहायता होनेकी माँग करता है क्योंकि सर्वगुण-सम्पन्न स्त्री द्वारा ही उस राजा सिद्धि सम्भव है।

अतीत क्या

इधर सारा देश तुर्कोंके आक्रमणसे आक्रान्त और भयभीत है। देशके शासकोंके बीच आपसी कलह और कुछ स्वार्थी लोगोंके विश्वासघातके फलस्वरूप उन्हें सफलता भी मिल रही है। विशेषकर पृथ्वीराज और जयचन्दके वैमनस्य तथा ऐसे ही कारणोंसे देश नेतृत्वहीन है। इस स्थितिमें सातवाहनको मन्त्री विद्याधर भट्ट, जो पहले जयत्रिचन्द्रके भी मन्त्री थे, देशका नेतृत्व सम्हालनेके लिए प्रेरित करते हैं। यद्यपि उन्हें यह भी भय है कि राजा कहीं रानी चन्द्रलेखाके अनिन्द्य सौन्दर्यपर लुब्ध और मुग्ध होनेसे अपना कर्तव्य न भुला बैठें। पर रानी स्वयं देशमें चारों ओर घूमकर जनताको जगानेका व्रत लेती है और राजाको भी इसीके लिए प्रेरणा देती है। उनकी प्रेरणासे राजा तो इस कार्यमें लगते हैं, किन्तु रानी स्वयं कुछ समय बाद कोटिवेधी रसकी सिद्धिके लिए तपस्वीके साथ चली जाती हैं। रस अन्ततः सिद्ध नहीं होता और उसके बाद रानी मानसिक दृष्टिसे लगभग अस्वस्थ-सी हो जाती हैं।

सातवाहन और उनके मन्त्री आदि मिलकर तुर्कोंको हरानेके लिए तैयारी करते हैं। उनका संघर्ष कुछेक तान्त्रिक मठोंके महन्तों-योगियोंसे भी है जो तुर्कोंसे मिल गये हैं। दूसरी ओर रानी चन्द्रलेखाकी प्रेरणासे मालव प्रदेशके जनसाधारण, नट आदि, जिसमें मैना, बोधा प्रधान आदि भी हैं राजाकी सहायताके लिए सन्नद्ध हो गये। कई बार शत्रुसे मुठभेड़ होती है—कभी जीत कभी हार। एक ऐसे ही संघर्षमें राजा और रानी दोनों आहत होते हैं और एक-दूसरेसे बिछुड़ भी जाते हैं। स्वस्थ होनेके बाद सातवाहन शत्रुसे फिर लोहा लेनेके लिए अन्य राजाओंकी सहायता पानेका प्रयास करते हैं। पर वे लोग सिद्धों और देवताओंके चक्करमें पड़े हैं और कोई निश्चय करनेमें असमर्थ हैं। अन्तमें सातवाहनकी चन्द्रलेखासे भेंट होती है उस समय जब उनकी प्रिय सहायिका मैना आत्मघात करती है और वे दोनों भी आश्रय छोड़कर अन्धकारमें भागनेको लाचार होते हैं। चेतनाको प्राप्त क्रिया शक्ति नष्ट हो जाती है, और इच्छा शक्ति दिग्भ्रमित है।

कथाका मुख्य सूत्र यही है पर उसके अन्तर्गत बहुत-से अन्य प्रसंग हैं जो उस युगकी धार्मिक और बौद्धिक मान्यताओंपर विश्वासों और क्रिया-कलापोंपर सामाजिक और नैतिक जीवनपर प्रकाश डालते हैं। इनमें चन्द्रलेखाका अपना जीवन-वृत्तान्त है विद्याधर भट्ट द्वारा राजा जयत्रिचन्द्रके राज्य और शासन आदिका वर्णन और उसमें जन्मी हुई चन्द्रलेखाके जन्मकी कथा है चन्द्रलेखाके कोटिवेधी रसकी सिद्धिसे सम्बन्धित अनुभवोंके तथा विष्णुप्रियाके प्रसंग हैं, सीदी मौलाके तिब्बत और मध्य एशियामें भ्रमण तथा विचित्र अनुभवोंको, इतिहास

स्थानकी वज्रपर पूजाकी तान्त्रिक और महायानी बौद्ध अभिचारों क्रियाओंकी कथा है नाटी माताके जीवन और उनके नृत्य तथा चन्द देविक पुत्र जन्तने प्रसंगका सविस्तार वर्णन है व्याघ्र वीथमें श्रृंगार चल्ल द्वारा गिरा बलिक अनुष्ठान तथा अशाम्य भैरव और भद्रकालीके प्रसंग हैं मना और दाना प्रधानक प्रेम प्रसंगके साथ-साथ मैना और सातवाहनके बीच भी एक कोमल सूत्रका उद्घाटन है।

इस प्रकार मुख्य कथा-सूत्र अनगिनती छोटी पगडण्डियोंमें भटकता-उलझता बिखरता चलता है। यहाँ तक कि कई स्थलोंपर प्रासंगिक गौण सूत्र प्रधान हो जाते हैं यद्यपि समस्त बिखरे हुए सूत्रोंको विभिन्न अन्तर्कथाओं और उपकथाओंको एक ही पार्श्वपटके रूपमें बुननेका प्रयत्न भी यथासाध्य लेखकने किया है और वह कौशल कथाको विचार करनेका प्रयास पूरे उपन्यासमें दृष्टिगोचर होता है। किन्तु कुल मिलाकर लगता यही है कि कथाके महान एवं अत्यन्त रोचक युगकी बहुमुखी सांस्कृतिक गाथाको पूरे विस्तारसे कहनेका लोभ लेखक संवरण नहीं कर सका है। वह उस युगके जीवनको उसके विभिन्न स्तरों पर विभिन्न रूपों और आयामोंमें, इतने विस्तारसे जानता है कि उसे सभी कुछ मूल्यवान महत्त्वपूर्ण और सार्थक प्रतीत होता है। लगता है जैसे उस अगाध विराट् भण्डारसे चुनाव करना उसके लिए कठिन हो गया है और अधिकसे अधिक सामग्री प्रस्तुत कर देना ही उसे सर्वोत्तम उपाय जान पड़ा है। इस प्रक्रियामें पाश्वकल्प एक उपाख्यानकी बजाय कथासरित्सागर-जैसा कहानी विस्तार खजाना बन गया है जिसमें एकमेंसे दूसरा आख्यान या निकलता चला जाता है पर कुल मिलाकर रचनाका कोई कलात्मक रूप नहीं उभरता।

वास्तवमें इस उपन्यासकी रचनामें निजी तौरपर लेखकका जो भी उद्देश्य रहा हो उसको कार्यान्वित करनेमें वह कलात्मक कथाकृति और सूचनात्मक शानवर्धक इतिवृत्तके बीच असमंजसमें पड़ गया है जिसके फलस्वरूप दोनोंमें-से एक भी उद्देश्य पूरी तरह सिद्ध नहीं होता। निस्सन्देह पाश्वकल्पका सार्वजनिक रंग रूपनमें अपूर्वतम और अनूठा है। सातवाहनकी वनमें चन्द्रलेखासे भेंट और राजधानीमें लौटकर उससे विवाह तकका प्रसंग कुछ इस प्रकार रखा गया है कि वह अपने सूक्ष्म कलाबोधमें काव्यात्मक व्यंजनामें भाव और विचारके सुकुमार संतुलन और नियोजनमें, अभिव्यक्तिके निखार और संयममें एकदम बेजोड़ है। इस स्थलपर कथामें आधुनिक उपन्यास (नॉवेल)के अनेक तत्त्व मौजूद हैं जो उसे समकालीन कथा रचनाका एक अत्यन्त विशिष्ट और सार्थक प्रकार बनाते हैं। कथाका यह उठान पाठकके मनमें ऐसी छवियाँ मूर्तिमान् करता

अतीत कथा

है जो न केवल अपने रूप और आयामोंमें नयी है, बल्कि साथ ही जीवनके नये अर्थोंकी ओर ले जानेकी सम्भावनाएँ भी प्रस्तुत करती है।

इसके बाद ही लेखक फिरसे सौनी मौलाके प्रसंगको बताता है जिसकी खोजमें निकलनेपर राजाकी चन्द्रलेखासे भेंट हुई थी। किन्तु सौनी मौलाकी लम्बी कहानी अपने-आपमें पर्याप्त रोचक और तरह-तरहकी जानकारीसे भरपूर होनेपर भी, मूलतः अवान्तर और अनावश्यक जान पड़ती है। उसके बाद फिर कुछ देर तक विद्याधरभट्ट द्वारा जयिचन्द्रके दरबारके वृत्तान्त और चन्द्रलेखाके जन्मकी कथामें, तथा उसके बाद युद्धके लिए मालव जनपदके उद्बोधनके प्रसंगमें, लेखक किसी हद तक मूल कथा-सूत्र ही नहीं उसके व्यंजना प्रधान रूपकी ओर भी लौटनेका प्रयास करता है। किन्तु खल दलको जाग्रत और संगठित करनेके लिए जन सहयोगकी आवश्यकताके विचारका समावेश वह यहीं करता है। और इस तत्वके समावेशमें यद्यपि उपन्यास अपनी प्रारम्भिक भावभूमिसे कुछ उतरता हुआ जान पड़ता है फिर भी एक प्रकारकी सार्थकता बनी रहती है।

किन्तु इस स्थलपर गधया सात्म सातवाहनका ही सर्वस्व नहीं डूबता बल्कि पूरे उपन्यासपर ऐसा अनभ्र वज्रपात होता है जिससे 'लहलहाती लता' अचानक ही सूख जाती है। इसके बाद कथा अनेकानेक सम्बद्ध-असम्बद्ध प्रसंगों और प्रसंगान्तरोंमें भटकने लगती है। मूल भाववस्तु खो जाती है और उस कालके जीवनपर उसके दृष्टिपूर्ण तथा दृष्टिहीन विश्वासोंपर धार्मिक और तान्त्रिक अभिचारोंपर सामाजिक और राजनतिक परिस्थितियोंके विवरणोंपर आग्रह बढ़ जाता है। यह बात जितनी दिलचस्प है उतनी ही अनिवार्य और स्वाभाविक है कि अब लेखक उन तान्त्रिक प्रक्रियाओं और विश्वासोंको मानव स्थिति और नियतिके साथ मार्मिक रूपमें जोड़नेके बजाय उनके मनोवैज्ञानिक आधार प्रस्तुत करने लगता है। तान्त्रिक साधनाओंको किसी आधुनिक वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्यमें देख सकनेकी बजाय लेखक उनकी व्याख्या और अर्थ खोजता है और लगता है जैसे उनका रोचक रहस्यमयतामें वह स्वयं खो गया हो। पौराणिक अथवा मध्ययुगीन कर्मकाण्ड संस्कार अभिचार आदिको या तो एक कलात्मक रचनात्मक जीवन-पद्धति और उसकी अनिवार्य ट्रेजेडी के रूपमें देखा जा सकता है या बौद्धिक स्तरपर उसकी ऐतिहासिक-वैज्ञानिक समाजशास्त्रीय समीक्षा हो सकती है। किन्तु उन्हें एक स्वतन्त्र रहस्यमयी सत्ता देकर उसका रोमांचकारी वर्णन विवरण तिलिस्मानी प्रभाव भले ही उत्पन्न करे, कोई कलात्मक सार्थकता नहीं प्रदान कर सकता। चारुचन्द्रलेखमें लेखक इस मायाजालसे अपनी रक्षा नहीं

चर सका है और उसकी भाववस्तु एक मानवीय दस्तावेज़के बजाय प्राय एक रहस्य कथा बनकर रह गयी है। उपन्यासके परवर्ती अंशमें सातवाहन और चन्द्रलेखा किसी आधुनिक उपन्यासके सार्थक पात्र नहीं, एक रोमांचक कथाके रोमांटिक नायक-नायिका मात्र बने रहते हैं।

भावभूमिका यह स्खलन परिवर्तन एक और रूपमें दिखाई पड़ता है। उपन्यासके इस अंशमें मैना क्रमशः प्रधानता प्राप्त करती है। किंतु मैना सम्बन्धी प्रसंगोंका अंकन अपेक्षाकृत यथार्थवादी है। अब लेखक जीवनकी अभिव्यंजनाप्रणाली काव्यात्मक रूपकी बजाय अधिक सीधे प्रत्यक्ष रूपमें प्रस्तुत करता है और कथाका उद्घाटन प्राय विवरणात्मक और घटना प्रधान हो जाता है। यदि अब भी उसमें काव्यात्मकता बची रहती है तो वह मैनाके दुहरे व्यक्तित्वके कारण उसके एक सर्वथा भिन्न कोटिके अंतःसंघर्षके कारण, क्योंकि साथ उसके प्रेमके बावजूद राजा सातवाहनके प्रति उसके मनमें एक अत्यन्त कोमल भावनाका उदय हुआ है। यदि एक स्तरपर मैना चेतनाके क्रिया-तत्त्वकी प्रतीक है तो एक अन्य स्तरपर वह साधारण, अविशिष्ट सीधे-सादे अकृत्रिम जीवनकी भी प्रतिनिधि है—ऐसा जीवन जो सामान्य परिचित भाषा और आवेगोंके रूपमें देखा जाना और समझा जा सकता है। इस दृष्टिसे मैना चन्द्रलेखा और सातवाहनसे सर्वथा भिन्न है और जीवनके एक अलग ही स्तरको सूचित करती है। यदि उपन्यासके प्रतीकात्मक रूपको छोड़ दें तो मैना और चन्द्रलेखाके बीच यह भिन्नता कवि कल्पनाका (फैन्टेसी) अपने-आपमें पर्याप्त रोचक और विविधतापूर्ण है। चन्द्रलेखा और मैना सचमुच भिन्न प्रकारकी नारियाँ होकर भी अपने अपने ढंगसे अपूर्व महिमामयी हैं और अपना विशिष्ट आकर्षण बनाये रखती हैं। इसलिए उपन्यासके इस अंशमें यदि उसका प्रतीकात्मक उपाख्यान मूलक रूप टूटता है तो एक नया सार्थकता और प्राणवत्ता उसे मैनाके रूपमें प्राप्त होती है। मैना जैसे धन्वन्त जीवनकी प्राणदायी बयार इस मन्त्र-तन्त्रमय आबद्ध तथा नाना षड्यन्त्रों द्वारा धूम्रमय अवरुद्ध-अवगुंठन प्रसंगोंमें बहा लाती है। उसके व्यक्तित्वमें एक प्रकारकी सहजता, मधुरता और स्फूर्ति है जो उस पूरे सघन वातावरणमें अपूर्व और अप्रत्याशित लगता है जैसे अनगिनती छाया-आकृतियोंके बीच कहीं जीवन हो।

मैनाके इस विशिष्ट रूपका उल्लेख इसलिए आवश्यक है कि उपन्यासके इस अंशमें लगता है जैसे लेखकका दृष्टिकेन्द्र चन्द्रलेखासे खिसककर मैनापर आ गया हो। वास्तवमें उपन्यासमें दृष्टिकेन्द्रका यह परिवर्तन जितना अप्रत्याशित है उतना ही उसके मूल कथ्य तथा उसके रूपको तोड़नेवाला भी। मैनाका चरित्र

अपने आपमें चाहे जितना मोहक हो, पर वह समस्त रचनाको केन्द्र विच्युत ही करता है क्योंकि वह चन्द्रलेखाकी प्रतिमाको तोड़ देता है। मैनाकी तुलनामें अब चन्द्रलेखा इतनी निष्प्राण और जड़ लगती है कि उसकी कोई विशेष सार्थकता ही नहीं रह जाती। यहाँतक कि उपन्यासमें मैना और चन्द्रलेखाका जो सम्बन्ध है मैना उसके प्रति जो भक्तिभाव प्रदर्शित करती है, वह भी असंगत सा प्रतीत होने लगता है।

यहाँ आकर अब लेखककी द्विधा एकदम स्पष्ट हो जाती है। वह निश्चय नहीं कर सका है कि चाहता क्या है। उसकी दृष्टिका केन्द्र चन्द्रलेखा है या मैना? दोनोंमें-से किसके धरातलपर वह अपने कथ्यको प्रस्तुत करना चाहता है? उसका कथ्य है क्या? मैनाके एक बार सामने आ जानेपर चन्द्रलेखा वास्तव ही नहीं लगती उसकी समस्त असाधारणता कृत्रिम लगने लगती है। यह भी विश्वसनीय नहीं जान पड़ता कि मैनाकी तुलनामें चन्द्रलेखाकी अयथार्थता दिखाना ही लेखकका उद्देश्य है। क्योंकि उपन्यासका जैसा प्रारम्भ और रूपबन्ध है, प्रतीकार्थकी जैसी प्रतिष्ठा उसमें की गयी है उसमें प्रधानता चन्द्रलेखाकी ही है। वास्तवमें स्थितिके इस अन्तर्विरोधका लेखकके पास कोई समाधान नहीं। परिणति मैनाके आत्मघातमें होती है जो अतिनाटकीय और आरोपित लगती है। या इसी बातको दूसरी दृष्टिसे कहें तो, उस कृत्रिम अवास्तव लोकमें जीवनका अपघात अवश्यम्भावी ही है। इस प्रकार यह विरोध जीवन और अजीवनके बीच, यथार्थ और अयथार्थके बीच हो जाता है जीवनमें ही इच्छा और कर्मके बीच, यथार्थके ही दो स्तरोंके बीच नहीं स्थापित हो पाता। क्योंकि चन्द्रलेखा और मैना एक ही चेतनाके दो स्तरोंकी नहीं बल्कि अन्तमें चेतन और अचेतन की प्रतीक जैसी जान पड़ती हैं। दृष्टिकेन्द्रकी यह विच्युति इस उपन्यासकी बड़ी भारी दुर्बलता है।

प्रतीकात्मक स्तरपर उपन्यासमें शायद लेखक यह कहना चाहता है कि ज्ञान इच्छा और क्रियाका अन्त तक कोई स्थायी निर्विघ्न सामंजस्य नहीं हो पाता। पहले ज्ञान अकेला है इसलिए असमर्थ है, व्यर्थ है। अचानक इच्छाशक्ति से उसका संयोग होता है और चेतना सिद्धिकी ओर बढ़ती जान पड़ती है। पर यह संयोग क्षणिक सिद्ध होता है। जल्दी ही इच्छा भटककर पथभ्रष्ट हो जाती है यद्यपि इस बीच वह चेतनाको क्रियाशक्तिसे सम्बद्ध करनेमें सफल हुई है। पर इच्छाके अभावमें चेतना आहत है, क्षत विक्षत है। इसलिए क्रियाशक्ति बहुत सफल नहीं हो पाती। चेतना क्रियाशक्तिसे प्रभावित होकर भी इच्छाशक्ति की ही खोजमें बेचैन है। स्वयं क्रियाशक्ति इच्छाशक्तिके मत्सरसे आक्रान्त है।

अन्तमें क्रियाकी सार्थकता भी चुक जाती है और चेतनाको इच्छाशक्ति प्राप्त हो जानेपर भी, अन्धकारमें निर्वासनके अतिरिक्त कोई पथ नहीं बचता।

किन्तु दृष्टिकोणके बदल जानेके कारण इस प्रतीकार्थकी भी उपन्यासमें कोई स्पष्ट उपलब्धि मानवीय अनुभूतिके रूपमें नहीं होती। कथाका प्रत्येक तत्व अपने स्थानसे हटा हुआ, धुँधला और अस्पष्ट जान पड़ता है और पूरा उपन्यास अपने समग्र रूपमें कोई समन्वित प्रभाव मनपर नहीं छोड़ता। 'चारुचन्द्रलेख' न तो सफल रूपक या उपाख्यान है, न किसी युगके यथार्थ जीवनकी मर्मदर्शी आधुनिक कथा। वह विभिन्न प्रकारकी संवेदनशीलताओंका रूपहीन संग्रह या प्राणहीन मिश्रण मात्र रह गया है। इसीलिए वह आधुनिक जीवनकी कोई सार्थक व्याख्या या गहरी चेतना भी उत्पन्न नहीं करता।

दूसरे शब्दोंमें इसी बातको यों कह सकते हैं कि 'चारुचन्द्रलेख'में मानवीय तत्त्वकी बड़ी क्षीणता है। उसमें उत्कट जीवनानुभूतिका अभाव है, अपार तथ्य समूहके जालका प्रपंच अधिक। कथानककी रोचकता और रोमांचक रहस्यमयता-पर इतना बल है कि मानवीय चरित्र या तो जीवन्त नहीं, केवल नाम भर हैं, या प्रतीक मात्र हैं, अथवा अपूर्ण और अविकसित रह गये हैं। वे अपने-आपमें अथवा कुल मिलाकर, कोई संयोजित समन्वित प्रभाव तो छोड़ते ही नहीं।

ऊपर मनाके जीवन्त होनेकी बात कही गयी है। इस प्राण-तत्त्वका कुछ-कुछ स्पर्श बोधा प्रधान और नाटी माताम भी मिलता है और उस हद तक मनको छूता भी है। पर वह भी इतना क्षीण और बाह्य है कि किसी सार्थक स्तर तक नहीं उठता। नाटी माताकी जीवन-कथा उसका सहज भक्तिभाव और आत्मोत्सर्ग, एक प्रकारकी करुणासे परिपूर्ण हैं। किन्तु उसका सारा प्रसंग इतना पृथक् और स्वतः सम्पूर्ण है कि नाटी माताके जीवनको लेकर एक पूरा उपन्यास ही लिखा जा सकता था। 'चारुचन्द्रलेख'के अपने विस्तारमें उसका स्थान बड़ा प्रासंगिक है, रोचक और सूचनात्मक वह चाहे जितना क्यों न हो। इसलिए न तो उसकी अपनी पूरी सम्भावनाएँ विकसित हो पाती हैं न कोई सार्थक आभास वह मूल कथा-सूत्र में ही जोड़ता है।

मानवीय तत्त्वके रूपमें चन्द्रलेखा दो भिन्न स्तरोंपर अंकित है। यदि उसके परवर्ती रूपको एक व्यक्तित्वके विघटनके रूपमें देखा जाये, तो वह भी सुचिन्तित और कलात्मक दृष्टिसे भली भाँति परिकल्पित नहीं जान पड़ता। प्रारम्भमें वह अभिभूत करती है और उसकी एक विशेष प्रकारकी प्रतिमा हमारे मनपर अंकित होती है। किन्तु बादमें लगभग अकारण ही वह इतना निस्तेज पड़ जाती है कि उसपर दया भी नहीं आती उसमें कोई सहानुभूति तक नहीं बचती यद्यपि

राजा तथा अय सभी व्यक्ति (और इस प्रकार उनके माध्यमसे स्वय लेखक) अब भी उसके उसी पूव रूपका स्मरण करके अपना आदर प्रकट करते रहते ह। यह अपने-आपमें भी विचित्र और अस्वाभाविक लगता है। साथ ही एक और भी प्रश्न ह। क्या इच्छा शक्ति अपने-आपमें इतनी दयनीय और असहाय होती है ? क्या इतनी सारी तेजस्विता इस प्रकार लगभग अकारण ही स्खलित और अजर हो सकती ह ? किन्तु उसके अजर होनेका रूपायन भी यदि जीवत और सप्राण हो तो बडा तीखा और प्रखर मानवीय वक्तव्य हो सकता है और होना चाहिए। चारुचद्रलेखमें बस यही नहीं होता। प्रारम्भिक तीव्रताके बाद धीरे धीरे चद्रलेखा धुधो-सी चुपचाप पृष्ठभूमिमें चली जाती ह और कथा अय अनगिनती निरथक तथा शू य प्रदशोंमें भटकती रहती ह।

चद्रलेखाके विषयमें लेखकको एक और अक्षमता सामने आती ह। मानवीय स्थितिको दष्टिसे उसका और मैनाका सम्बध कितने ही स्तरोंपर एक ऐसे गहरे अन्तर्विरोध और सघषकी सम्भावनाओंसे भरपूर ह जिससे इस उपयासको असाधारण गहराई और तीव्रता तथा साथकता प्राप्त हो सकती थी। इच्छा और क्रियाके बीच तीव्र आकषण और असह्य विकर्षण, उनका अनिवाय द्वद्व और तनाव, तो बडी गहरी कायात्मक अथवत्तासे युक्त ह। यदि उसे सचमुच उस युगके जीवनमें पहचाना और प्रस्तुत किया जा सकता तो पूरी रचना न केवल उस युगकी एक उत्कट मानवीय स्थितिको यक्त करती बल्कि वह आजके समकालीन जीवनके लिए भी अत्यधिक साथक और मूल्यवान हो उठती। दिलचस्प बात यह ह कि चद्रलेखा और मैना, दोनोंके व्यक्तित्वोंमें इसकी पर्याप्त सम्भावनाएँ मौजूद ह सातवाहनके साथ जिस प्रकारसे दोनोको सम्बद्ध किया गया ह वह उनके गहरे अतर्विरोधके लिए बना ही मानवीय और महत्त्वपूण आधार प्रस्तुत करता ह। पर लेखकने उन दोनोंको अपने-अपने स्थानपर आकषक और मोहक बनाकर छोड दिया ह। उनके व्यक्तित्वकी निहित साथक मानवीय सम्भावनाओंपर उसकी दृष्टि नहीं जाती। इसके बजाय वह अय रोमाचक और
पाना। इधर उधर भ्रमणमें खो जाता ह।

से उसक नवीय तत्त्वकी इस उपेक्षाका एक अय रूप है स्वय राजा सातवाहन। प्रतीक
यह सयोग ■ नान अथवा चेतनाका प्रतिनिधि ह जो इच्छा और क्रियाशक्तिके
है यद्यपि इस और विमूढ ह। पर उपयासके प्रारम्भसे ही वह जम निरा
पर इच्छाके उसका अपना कोई व्यक्तित्व ही नहीं ह कोई प्रेरणा नहीं ह कोई
वस्तु सफल ह। इतनी प्रधान स्थितिमें ऐसे अभावात्मक वैशिष्ट्यहीन, निष्क्रिय
की ही गो पनेका क्या कलात्मक अभिप्राय हो सकता ह? वह प्रारम्भमें अन्त तक

केवल रोता झींकता ही रहता है। चन्द्रलेखाको और उसका व्यवहार जैसा दीनतापूर्ण है वह भी कुछ विचित्र और असंगत ही लगता है। सातवाहनको ऐसा चरित्र बनानेकी प्रतीकात्मक आवश्यकता जो भी रही हो, मानवीय घात-प्रतिघातके स्तरपर, जीवन्त व्यक्तियोंके बीच सम्बन्धके स्तरपर उसकी कोई सार्थकता नहीं जान पड़ती। सृजनात्मक लेखनमें व्यक्तियोंका प्रतीकमूलक प्रयोग बड़ी गहरी मानवीय अनुभूति और दृष्टिकी माँग करता है। रवीन्द्रनाथ टगोरके 'रक्तकरबी' 'मुक्तधारा' या 'राजा' आदि नाटकोंमें पात्र पूर्णतः प्रतीकमूलक होते हुए भी अपनी चरम मानवीय सत्ता बनाये रखते हैं। इसी कारण ये नाटक एकसे अधिक स्तरपर सक्रिय और सजीव हो पाते हैं। किन्तु सृजनात्मक लेखनमें चरित्रोंकी मानवीय सत्ता किसी भी कारण उपेक्षित नहीं की जा सकती, एक बार चाहे उनका प्रतीकात्मक रूप भले ही अस्पष्ट हो जाये। चारुचन्द्रलेखमें पात्रोंका मानवीय रूप प्रायः विघटित हो जाता रहा है। कुल मिलाकर उसमें मानवीय तत्त्वके चित्रणमें समग्रता, प्रौढ़ता, जीवन्तता और गहराईका अभाव दिखाई पड़ता है।

मानवीय तत्त्वकी यह दुर्बलता सम्भवतः बुद्धिविलासके प्रति उचितसे अधिक मोहका कारण भी है। इसीसे रचना किसी समग्र, समन्वित मानवीय अनुभूतिको सम्प्रेषित नहीं करती। जो अनुभूति उसमें है भी, उसमें कोई तीव्रता नहीं है। उसमें भावाभास है भावाकुलता नहीं। एक प्रकारकी कृत्रिमता, यान्त्रिकताके कारण भावाधार अत्यन्त दुर्बल और अशक्त लगता है। यही कारण है कि उसमें इतना प्रसंग विविधता और घटनाबहुलता है और विभिन्न घटनाएँ और प्रसंग अपने आपमें ही साध्य और लक्ष्य बन गये हैं। वे अत्यन्त ही रोचक और प्रभावशाली अवश्य हैं पर स्वतः सम्पूर्ण हैं। उनकी कलात्मक सार्थकता, संयोजन, परस्पर-सम्बद्धता और आन्तरिक अनुपातका कोई ध्यान नहीं रखा गया है। उपन्यासके अनगिनती प्रसंगोंमें-से किसी एकपर दृष्टि डालते ही यह स्पष्ट प्रकट हो जाता है।

यह बात हम उपन्यासके रूपबन्ध और शिल्पपर भी लाती है। चारुचन्द्रलेख में कथाएँ विभिन्न और अलग अलग स्थानोंसे संकलित-एकत्रित हैं और बिखरे हुए सूत्रोंके द्वारा कथाका उद्घाटन और विकास किया गया है। कथाको एक साथ ही प्रतीकात्मक और सहज मानवीय स्तरोंपर गतिशील बनानेका प्रयास ▪। इस उद्देश्यके अनुरूप ही कथामुख यह सूचित करता है कि किन्हीं अघोरनाथ नामक साधुको वहाँ कथाके अंश मिले थे, जिन्हें उसने व्योमकेश शास्त्रीके पास प्रकाशनार्थ भेजा ▪। समग्ररूपमें कथा सातवाहनके अपने वृत्तान्तके रूपमें लिखा

गयी है। वह मुख्य पात्र ही नहीं कथाका वर्णनकर्ता भी है। पर कथाके भीतर भी कई वर्णनकर्ता हैं जिनमें स्वयं चन्द्रलेखा प्रमुख है। वह सीधा वर्णन भी करती है और उसके द्वारा अन्य पुरुषमें अपने ही अनुभवका वर्णन भी दिया गया है। एक जगह उसकी लिखी पोथी भी सातवाहन पढ़ता है। इनके अतिरिक्त विद्याधर भट्ट, सीदी मौला, बोधा प्रधान, मैनल और जल्हन आदि विभिन्न स्थलोंपर कथाके विभिन्न अंशोंका वर्णन करते हैं। एक-दो स्थलोंपर विभिन्न व्यक्तियोंके वार्तालाप सुने जानेकी युक्तिका भी प्रयोग किया गया है। इस प्रकार वर्णनमें विविधता और रोचकता लानेके लिए कई प्रकारकी युक्तियाँ, रूढ़ियाँ, रीतियाँ प्रयोगमें लायी गयी हैं। उपसंहारमें प० व्योमकेश शास्त्रीकी टिप्पणीमें रूपसम्बन्धी कुछ विशेषताओंकी चर्चा भी की गयी है

कुछ बातें उनके (अघोरनाथ) के समाजिस्थ चित्तमें प्रतिफलित हुई थी । ऐतिहासिक दृष्टिसे कथामें असंगति नहीं है। ऐसा लगता है कि किसीने ऐतिहासिक तथ्योंको सोच विचारकर इसीमें पिरोया है। कथा दनन्दिनी शैलीमें है। कथामें ऐसे विचार मिलते हैं जो आधुनिक युगकी देन हैं। कथामें सांस्कृतिक और धार्मिक तत्त्व हैं, पर उन्हें आधुनिक शिक्षा प्राप्त व्यक्तिके संस्कारसे समावृत होना पड़ा है। परन्तु कथाका स्वर विश्वसनीय है। अघोरनाथके लिए भी यह असम्भव ही जान पड़ता है कि इसमें-से तथ्य और कल्पनाको अलग-अलग करके दिखा दें। वस्तुतः इस दृष्टिसे कथामें एक जीवन्त ऐक्य है।' (४३८)

व्योमकेश शास्त्रीकी यह टिप्पणी बड़े दिलचस्प ढंगसे इस कथाकी रूप और शिल्पगत समस्याओंका निर्देश करती है। सचाई यह है कि इस उपन्यासमें हर स्तरपर अन्वितिका अभाव है चाहे उसके प्रतीकात्मक रूपको लें चाहे मानवीय रूपको। इस उपन्यासमें कलात्मक अन्विति तथ्य और कल्पनाके ऐक्य द्वारा नहीं, दोनों विभिन्न स्तरोंपर उनके अन्तःसमन्वित और परस्पर समन्वित होनेमें ही आ सकती थी। तथ्य और कल्पनाके ऐक्यने तो कुछ ऐसी रोचक कौतूहलपूर्ण रहस्य-कथा गढ़ डाली है जिसमें प्रतीकात्मक अथवा प्रत्यक्ष मानवीय दोनोंसे किसी प्रकारकी सम्पूर्ण सार्थकता नहीं उत्पन्न हो सकी है।

कुल मिलाकर इस रचनाके रूपमें बिखराव अधिक है। हर प्रसंग अपने आपमें सम्पूर्ण जान पड़ता है। शायद इसका एक कारण तो यह है कि यह उपन्यास खण्ड-खण्ड करके लिखा गया है। यह 'कल्पना'में क्रमशः प्रकाशित हुआ था। यह खण्ड खण्ड करके रचे जानेकी छाप इसके पूरे रूपबन्धपर वर्तमान है। वह समग्रताका प्रभाव उत्पन्न ही नहीं करता। इसकी चरम परिणति है

इसके अन्तमें। ऐसा लगता है अचानक लेखकको किसी-न-किसी प्रकार इसे समाप्त कर देना आवश्यक जान पड़ा। इसलिए लेखक एक ओर तो बड़े ही नाटकीय बल्कि अति-नाटकीय ढंगसे लगभग अकारण ही मनासे आत्मघात करा देता है और दूसरी ओर, उतने ही रहस्यपूर्ण और रोमांचकारी रूपमें रानी और सातवाहनकी बहुत दिनों बाद भेंट कराता है, रात्रिके अंधकारमें छिपकर एक साथ भाग निकलनेके लिए। यह नाटकीय अन्त पाठकको झटका देता है और बहुत सुविचारित नहीं लगता, और न किसी मूलभूत उद्देश्यकी सिद्धिमें सहायक हो जान पड़ता है। यद्यपि यह भी ठीक है कि पूरी कथा जिस प्रकारसे चलती रही है, उसे कहीं भी रोका जा सकता है, कहीं भी तोड़ा जा सकता है, क्योंकि सम्पूर्ण रूपबन्धकी अन्वितिका कोई प्रश्न ही शायद लेखकके सामने नहीं है। प्रसंग प्रधानताके आधारपर कथा रचनामें अन्वितिका कोई महत्त्व सम्भवतः होता भी नहीं।

खण्ड-खण्डमें लिखी जानेका एक अन्य प्रभाव है स्थितियों भावदशाओं तथा विचारोंकी पुनरावृत्ति। तर्कोंके साथ मुठभेड़में विभिन्न अभिचारोंके वर्णनोंके उत्कर्ष-बिन्दुमें, राजा सातवाहनकी मानसिक निष्क्रियता और जड़ताके उद्घाटनमें बार-बार एक ही प्रकारकी युक्तियोंका प्रयोग दिखाई पड़ता है। इसी कारण सम्पूर्ण कथाके भीतर गतिकी बड़ी भारी विषमता है। उसमें सहज आन्तरिक लय नहीं दीख पड़ती, उसकी द्रुतता और मन्दताके बीच संयोजन तथा समंजन नहीं जान पड़ता। प्रतीकात्मक स्तरपर रची जानेवाली कथाकी यह अनिवार्य आवश्यकता है। इस आन्तरिक गति और लयके अभावमें कोई प्रतीकात्मक रचना जिसका मूल रूप अपनी व्यंजनात्मकताके कारण काव्य जैसा होता है, जीवन्त नहीं हो सकती। चारुचन्द्रलेखकी आन्तरिक गति न पूर्णतः काव्यात्मक है न पूर्णतः इतिवृत्तात्मक। कथ्यकी आन्तरिक अन्वितिके अभावमें रूपबन्ध और शिल्प भी शिथिल होकर बिखर गया है।

इस प्रकार यद्यपि चारुचन्द्रलेखमें ऐतिहासिक परिवेशकी नवीनता तथा मूल कथा सूत्रकी चामत्कारिक मौलिकता है, उसमें निहित आधुनिक सम्भावनाओंमें सार्थकता, और उनकी परिकल्पना और रूपमें काव्यात्मकताका आश्वासन है, फिर भी वह कलात्मक उपलब्धिके स्तरपर बड़ा गहरा असन्तोष मनमें छोड़ जाता है। कुछ ऐसा अनुभव होता है जैसे पाठक कहीं ठगा गया हो। इस दृष्टिसे शैलीकी रहस्यमय रोचकता यदि एक ओर पाठकको अन्त तक उलझाये और अटकाये रखती है तो दूसरी ओर अपनी रिक्तता और लक्ष्यहीनताके कारण ही और भी तीव्र असन्तोष उत्पन्न करता है। इस दृष्टिसे चारुचन्द्रलेख द्विवेदीजीके

पहले उपन्यास बाणभट्टकी आत्मकथासे कितना भिन्न है, और इस युगके अन्य सम्भावनापूर्ण, किन्तु अन्ततः उत्कृष्ट कलाकृति होते होते रह जानेवाले उपन्यासोंसे कितना समान है। उसके पीछे विचारोंकी पुष्टता और गम्भीरताकी कमी नहीं, किन्तु वे सर्जनात्मकताके स्तरपर सार्थक जीवनानुभूति और उसकी समन्वित अभिव्यक्तिके रूपमें नहीं प्रस्तुत हो पाते और अपनी समस्त मौलिकताके बावजूद अपर्याप्त और सतही भावावेगमें अपना अस्तित्व खो बैठते हैं। चारुचन्द्रलेख आधुनिक हिन्दी उपन्यासके चरम सार्थकताके स्तर तक पहुँचते-पहुँचते रह जानेका एक और भव्य उदाहरण है।



गोरखनाथने किसीसे भी समझौता नहीं किया, मोक्ष भी नहीं, वेदसे भी नहीं। परन्तु फिर भी उन्होंने समस्त प्रचलित साधना मार्गसे उचित भाव ग्रहण किया। केवल एक वस्तु वे कहींसे न ले सके, वह है भक्ति। वे ज्ञानके उपासक थे और लेशमात्र भावुकताको भी बरदाश्त नहीं कर सकते थे। और यदि सचमुच ही भाग और विभाग कल्पित हैं, कल्प और विकल्प मिथ्या हैं, संसार मृग मरीचिका है, युक्तियाँ परम तत्त्वके विषयमें भिन्न भिन्न विचार प्रकट करती हैं और अखण्ड सच्चिदानन्द ही सत्य है तो भावावेशका स्थान कहाँ।

—नाथ सम्प्रदाय

चारुचन्द्रलेख

• •

नवलकिशोर

'चारुचन्द्रलेख' अद्भुत उपन्यास है—जो मध्यकालीन भारतकी तान्त्रिक साधनाओंका आलेख है, एक प्रेम-कहानी है, १२-१३वीं शतीके भारतकी राजनीतिक दशाका चित्र है, अतीतके पुनरन्वेषण तथा वर्तमानके प्रक्षेपण एवं भविष्यके निर्देशनका प्रयास है और इन सबके अतिरिक्त एक प्रतीक कथा है। अपार तथ्य समूह और अविरल पाण्डित्यका प्रवाह उपन्यासमें है और है रूप, शोभा और प्रकृतिका विलास। लेखक यदि 'बाणभट्टकी आत्मकथा' जैसा श्रेष्ठ उपन्यास नहीं दे पाया तो इसका कारण यह नहीं कि वह असाध्य साधनमें प्रवृत्त हुआ है, उसकी विफलता इस बातमें है कि एक औपन्यासिक कलाकृतिकी रचनाके बजाय उसने अपने संचित ज्ञानके कथात्मक प्रकाशनको लक्ष्य बना लिया है। एक श्रेष्ठ उपन्यास न होते हुए भी हिन्दी-उपन्यासके इतिहासमें 'चारुचन्द्रलेख' महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इतिहास-पुराणके सर्जनात्मक पुनर्निर्माणकी दिशामें यह एक उल्लेखनीय प्रयास है।

'कथामुख' में समस्त स्त्री-गुणोंसे विभूषित सातवाहनकी एकमात्र रानी चन्द्रलेखाकी सहायतासे नागार्जुन-द्वारा कोटि वेधि रसकी सिद्धिका प्रयास, रससिद्ध होते ही नागार्जुनकी हत्या और देवताधिष्ठित रसके तत्काल तिरोहित होनेका आख्यान दिया गया है। 'प्रबन्ध चिन्तामणि'की इस कथापर टिप्पणी करते हुए लेखकने कहा है "इसकी कहानीमें यह नहीं बताया गया कि चन्द्रलेखा या उसके पुत्रोंपर क्या बीती। हाल ही में अघोरनाथ नामक औघड़ साधुका विचित्र रूपमें इस कथाका बाकी हिस्सा मिल गया है।" स्पष्ट है कि औघड़ साधु जो आधुनिक विचारोंके पुरानी परिपाटीमें शिक्षित सिद्ध हैं हजारीप्रसाद द्विवेदीके व्यक्तित्वका तत्सम रूप है और 'चारुचन्द्रलेख' इस कथासे प्रेरित उदार उपन्यासकारकी सृष्टि है।

१२-१३वीं शतीका समय भारतके राजनीतिक पराभवके साथ सांस्कृतिक

है। इस बालको छोड भी दें तो कोई अन्तर नही पडता। लेखक अल्प वचारिक आधारपर ही उपन्यासमें साधनाओ और सिद्धियाकी माया तोडना चाहता ह।

तान्त्रिक साधनाओका वणन रहस्य और रोमाचके धरातलपर हुआ ह। इनके चामत्कारिक प्रभावको कम करनेके लिए लेखकने मनोवज्ञानिक आधार प्रस्तुत करनका प्रयास किया हैं। उनका समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य भी उसने नहीं दिया है। यह एक दिलचस्प तथ्य ह कि वण विभक्त समाजमें तान्त्रिक साधनाएँ वण विभागके अस्वीकारको लेकर चली ह और निम्न जातियोम उनका प्रभाव अधिक रहा ह। अत एक पूरी समाज व्यवस्थाको मानव अधिकाराके इतिहासके सन्दभम रखकर भी देखा जा सकता था। उपन्यासकारका मुख्य प्रयोजन तान्त्रिक साधनाओके तात्त्विक अध्ययन, प्रकार निरूपण और अनुष्ठान विधियाकी कथा निरुद्ध करनेका हो गया ह। उसने अपनी अधीत सामग्रीका इतना खुलकर उपयोग किया ह कि उपन्यास तान्त्रिक साधना पद्धतियोके लिए एक परिचयात्मक ग्रन्थ बन गया ह मानवीय भाग्यकी कहानीका विषय बनकर ही ये तान्त्रिक साधनाएँ उपन्यासको विशिष्टता दे सकती थी। चूँकि ऐसा नही हुआ, अत सवथा अछूती भूमिपर लिखा जाकर भी 'चारुचन्द्रलेख' एक कला-कृति नही बन पाया।

उपन्यासकी राजनीतिक कथा सामन्ती व्यवस्थाकी आलोचनाके लिए और प्रजातन्त्रके जयघोषके लिए प्रयुक्त हुई ह। मातभूमिकी रक्षाके लिए रानी समस्त प्रजामें आत्मगौरव और प्रतिरोधकी भावना उत्पन्न करनेकी बात कहती ह। विदेशी शत्रुओसे कोई प्रत्यक्ष सघष नहीं होता, मुख्य सघष उन धुडक माधुआस ही होता ह, जो आक्रान्ताओके सहायक है। सातवाहन राजाकी अपेक्षा एक छोटे जननायक-जसा चित्रित हुआ ह, जिसका किसी य सघपसे प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही ह। कथाम राजनीतिक दाँव-पचाकी कल्पना विलास अवश्य ह। अक्षोभ्य भैरव आविष्ट भावमें सामन्ती प्रथा और सामन्ती-सघ-व्यवस्थाकी आलोचना करते हं। कथा स्वयमें न सामन्ती-व्यवस्थाके दाँपाको प्रत्यक्ष करती ह और न जन चतनाका उद्बुद्ध करनेका विधान। ऊँच नीच, धम-सम्प्रदाय कुल मिथ्या भिमानका मिटानेकी बात वचारिक धरातलपर ही होती ह और लेखकका श तान्त्रिक मानवतावाद अरूप ही रह जाता ह।

'चारुचन्द्रलेख'म जसे घटनाओंका घटाटोप ह वसे ही पात्रोकी बहुलता भी है। उपन्यास चरित्र प्रधान है लेकिन एक भी जीवन्त व्यक्तित्ववाला पात्र नही ह सभीके चरित्र एकदम सपाट हैं। चन्द्रलेखाके व्यक्तित्वहीन अस्तित्वकी कथा

हम कर चुके हैं। राजाको प्रत्यक्ष पात्रका द्रष्टा बना दिया गया है। उसका अपना कोई व्यक्तित्व नहीं है—पतिके रूपमें भी नहीं, प्रेमीके रूपमें भी नहीं और राजाके रूपमें भी नहीं। वह नेय है—स्तम्भकी भाँति, मूककी भाँति। प्रधानपात्रोंमें केवल एक मैना है, जिसका चरित्र जीवन्त लगता है। मैनसिंह और मैनाके रूपमें उसका दुहरा व्यक्तित्व नाटकीय है और राजासे सम्पर्कमें रोमाण्टिक प्रभाव लिये है। लेकिन घटनाओंको अपने हाथमें लेनेकी उसकी व्यग्रता, सङ्कटमें घुस जानेका साहस, राजाके लिए पूर्ण आत्मदान आदि का यथार्थ स्थितियोंमें अंकन किया गया है। चन्द्रलेखाके स्थानपर क्रमशः मैना ही उपन्यासमें प्रधानता पा लेती है।

राजा-चन्द्रलेखा और मैना प्रेम-कथाके त्रिकोण बिन्दु बनते हैं, पर रेखाएँ नहीं मिलतीं। मैनाको सातवाहनको प्रथमबार देखनेमें ही ऐसा लगता है जैसे जन्म-जन्मान्तरसे इसी रूपको खोजती फिर रही थी। अतः उसने आत्म-दान कर दिया। रानीके-दीदाके धनपर उसे लोभ नहीं है अतः उसके दानमें सत्त्वोद्रेक है, लेकिन नारी विग्रह बाधक है—गंगाजलकी धार देनेमें आगे उतरकर फूल भी वह जाना चाहता है। राजाके मनमें भी मोह है लेकिन उसका भी कोई अर्थ नहीं। लेखककी भावुक आदर्शवादी दृष्टि एवं रोमाण्टिक प्रसंगको लाकर भी उसे पूरी सम्भावनाओं तक नहीं ले जाती। यह ऐसा स्थल था जहाँ मानवीय सम्बन्धोंकी जटिलताके अन्वेषणका पूरा अवसर था।

राजा रानी और मैना एक प्रतीक कथा भी बनाते हैं। राजा ज्ञान-शक्ति है, रानी इच्छा-शक्ति और मैना क्रिया-शक्ति। अकेला ज्ञान (राजा) अक्षम है, वह इच्छा-शक्ति (रानी) के सहयोगसे सिद्धिकी ओर बढ़ता है, लेकिन इच्छा क्रिया (मैना) से योग करानेपर भटक जाती है। इच्छाके अभावमें ज्ञान निष्क्रिय है, अतः क्रिया भी सफल नहीं होती। ज्ञानको अन्ततः पुनः इच्छाशक्ति मिलती है तबतक क्रियाशक्ति समाप्त हो चुकी होती है (उपन्यासका अन्त मैनाके अपघातके साथ होता है)। लेखक त्रिपुरके इस सम्प्रदायको कामायनीकारकी भाँति किसी ज्योति रेखाके काल्पनिक समाधानसे नहीं मिटाता और यथार्थ युगकी असफलताको चित्रित करते हुए वर्तमानमें भी उस परम्परापर [illegible] करता है। लेकिन उपन्यासकी कथामें जीवन्तताके अभावमें इस प्रतीक कथाका कोई अर्थ नहीं रहता।

'चारुचन्द्रलेख'में सम्बद्ध असम्बद्ध, प्रासंगिक-स्वतन्त्र उपकथाएँ मुख्य कथाकी क्षीणताको भर देती है। ऐतिहासिक प्रसंगों और प्रसंगच्युत कथाओंसे लेखक रोचकता लानेका प्रयास करता है। सीदी मौलाकी कथा, कदम्बवास आश्रिता वारनटीकी नृत्य-कथा जयित्रचन्द्र और सूहवदेवीका प्रसंग, जयित्रचन्द्र और परमर्दिदेवकी कथा चन्द्रप्रभाका प्रेम प्रसंग और चन्द्रलेखाकी जन्मकथा चन्द-वरदिय हाहुलीराय और जल्हन प्रसंग, मनाकी जन्मकथा, अक्षोभ्य भैरव व भद्रकालीकी कथा—ये कथाएँ अपने-आपमें उद्देश्य हो गयी हैं। कथानायकके समान कथाको भी सबको साथ लेकर चलनेकी समस्या हो गयी है। ये कथाएँ अपने-आपमें भले ही रोचक हों, उपन्यासमें ये एक पूरी संगतिका निर्माण नहीं करतीं। ये उपन्यासको व्यर्थकी पृथुलता देती हैं।

'बाणभट्टकी आत्मकथा' में एक कथा शिल्पको आविष्कृत कर द्विवेदीजीने हिन्दी उपन्यासका एक नया प्रतिमान स्थापित किया था। कल्पित कथाको विश्वस्त बनानेके लिए एक प्राप्त दस्तावेजके रूपमें उसे रखनेकी भूमिका उपन्यासके इतिहासमें बहुत पहले प्रयुक्त हो चुकी है। अतः उस प्रयोगमें कोई नवीनता नहीं थी लेकिन कथा शिल्पकी मौलिक खोज संस्कृत कथा परम्परामें नये अभिनिवेश-द्वारा नयी सृष्टि है। आत्मकथाकी शैलीका ऊपरी साम्य कादम्बरीकी शैलीसे है पर वह आधुनिक उपन्यासके लिए नवीकृत प्रविधि थी। चारुचन्द्रलेख में कथाकारकी कथाशिल्पकी खोज नहीं है, आत्मकथाकी शैलीको अपना लिया गया है, अतः केवल दोहराव ही हो सकता है। 'आत्मकथा'की जो माँग थी वही माँग 'चारुचन्द्रलेख'की नहीं है। वहाँ कथा एक सीमित परिधिमें थी, यहाँ लेखक उसे विराट फलकपर प्रस्तुत करता है। सातवाहनका दूसरे पात्रोंकी मनःस्थिति जाननेके लिए चोरीसे बात सुनना होती है। इसस चरित्रोंके उदय रूपमें आनेकी सम्भावना समाप्त हो जाती है। राजाके चोरीसे कथा सुननेकी बातमें मनोवैज्ञानिक अभिप्रायका आरोपण, जैसा कि एक समीक्षकने किया है, बेहूदा है। चोरीसे सुननेकी पद्धति यहाँ लेखककी विवशताका परिणाम है (क्योंकि उसके सिवा उसे घटना विकास और चरित्रांकनका विकल्प नहीं सूझता),—पात्रकी मनोवैज्ञानिक लाचारी नहीं है। रूप शोभा, प्रकृतिका उसी प्रकारका आलंकारिक वर्णन है जैसा 'आत्मकथा'में था। प्राचीन कवियों लेखकोंके शब्दोंमें अपनी ओरसे वर्णनकी कोई संगति मुझे नहीं दिखाई देती। चन्द्रलेखाके रूप वर्णनमें पद्मावतके कवि (लेखकने कमसे कम इस ऋणको स्वीकार नहीं किया है) के शब्द देकर किस पाठकको सन्तुष्ट नहीं किया जा सकता। इससे लेखककी स्वयंकी

शक्ति अनभिव्यक्त ही रह जाती है और पाठकको केवल पठितका पढ़नेका ही आनन्द मिल सकता है। 'आत्मकथा'की शैलीको दोहरानेसे 'चारुचन्द्रलेख'में अभिव्यक्तिकी सीमाएँ निश्चित हो जाती हैं और कथा अपनी अभिव्यक्तिके लिए कथाकारसे कोई नयी माँग नहीं कर पाती।

उपन्यासमें चीनी आक्रमणकी छाया है और शत्रुके प्रतिरोधके लिए जनतामें आत्मबलमें सचारका सन्देश है। लेकिन यह बहुत सतहपर आ गया है। ऐतिहासिक उपन्यासमें केवल वर्तमानकी गूँज होनी चाहिए, द्विवेदीजी यहाँ वर्तमानको अतीतमें निमज्जित कर देते हैं। इसलिए सामन्तवादकी आलोचना और प्रजातन्त्रीय मानववादका जयघोष कथाकी गहराईसे नहीं आता।

'चारुचन्द्रलेख' विचारोंका उपन्यास नहीं है, जिसमें किसी विचार-परम्पराको मूर्त रूप दिये जानेकी कोशिश की जाती है। वह हिन्दीके अधिकांश उपन्यासोंकी तरह निबन्धात्मक है जिनमें उपन्यासकी कायामें अनेक निबन्धात्मक टिप्पणियाँ होती हैं। ऐसे उपन्यास शुद्ध और कलात्मक उपन्यासके स्तरको नहीं छूते। आधुनिक उपन्यासमें लेखक अदृश्य होता है, कथा अपने-आप बोलती है। द्विवेदीजीकी औपन्यासिक धारणा पुरानी है, जिसके अनुसार लेखककी अपनी जीवन-दृष्टिका निरूपण आदि अनिवार्य है।

द्विवेदीजीने इस उपन्यासमें सर्वथा नयी भूमिपर इतिहास-पुराणका सर्जनात्मक उपयोग किया है। तान्त्रिक साधनाओंको लेकर लिखा गया यह पहला उपन्यास है और परम्पराका अन्वेषण करते हुए लेखकने जनतान्त्रिक मानववादी दृष्टिको प्रतिष्ठित किया है। एक ऐसी कृति उन्होंने दी है जो कलात्मक श्रेष्ठताको न छूते हुए भी अपनी मौलिकताके कारण विशिष्ट स्थानका अधिकार पाती है। द्विवेदीजी अपनी कथा-कृति-द्वारा 'मनुष्यके भीतर जो देवता स्तब्ध पड़ा है जो अन्यायके सामने नहीं झुकता, लोभ और मोहके प्रहारोंसे जर्जर नहीं होता, प्रतिकूलसे प्रतिकूल परिस्थितियोंमें भी धार्मिकता, दयालुता, परोपकारको कसकर पकड़नेमें आनन्दित होता है—उस देवताको उद्बुद्ध करनेका लक्ष्य लेकर चले हैं और अपने-आपमें यह कम श्लाघनीय नहीं है।

■

चारुचन्द्रलेख : कुछ शंकाएँ

• •

कुँवर नारायण

'चारुचन्द्रलेख' से ऐसा कोई निश्चित संकेत नहीं मिलता कि उसे ऐतिहासिक उपन्यास ही माना जाये, यद्यपि उसे ऐतिहासिक उपन्यास मानकर भी चर्चा शुरू की जा सकती है। कुछ ऐतिहासिक चरित्रों और घटनाओंके बावजूद उपन्यास कल्पना प्रधान ही रहता है, तथ्य प्रधान नहीं, कल्पना प्रधान भी सजावटके अर्थमें नहीं, वायवीयताके अर्थमें। लेखकका इतिहास-बोध इतिहास ग्रन्थोंपर आधारित न होकर प्राचीन धर्म-ग्रन्थोंपर निर्भर करता है। ऐतिहासिक तत्त्व धर्म-ग्रन्थोंसे भी लिये जा सकते हैं, लेकिन 'चारुचन्द्रलेख' पर धार्मिक बातोंकी शैली और चिन्तन-पद्धतिका अधिक प्रभाव दीखता है, वह दृष्टि नहीं मिलती जिसका सरोकार मूलतः अतीतके वास्तविक जीवनसे हो। शायद इसीलिए 'चारुचन्द्रलेख' का जीवन पक्ष चटक नहीं उभर पाता, लगता है लेखक खिलौनों की तरह पात्रोंसे खेल रहा है।

लेखकने कई जगह आधुनिक समस्याओंकी बात उठायी है, लेकिन उपन्यास का शिल्प इतना शिथिल है कि आधुनिक समस्याओं और ऐतिहासिक कथानकके बीच सामंजस्य नहीं बैठ पाता, जैसे सीढ़ी मौलाकी चौनपर कल्प ! १२वीं १३वीं सदीके गिरजों-कालीन भारतके कई चरित्रोंके माध्यमसे लेखकने हिन्दू धार्मिक मनोवृत्तिका चित्रण किया है जिसे उसने मुख्यतः नाथ सम्प्रदाय—जिसके प्रमुख प्रचारक गोरखनाथ (९वीं १०वीं सदी) माने जाते हैं—के सन्दर्भमें विचारा है। इस धर्मका सिद्धोंके लिए जो भी महत्त्व रहा हो, पर जन साधारणके लिए वह हितकर नहीं सिद्ध हुआ—उसने किसी हद तक पलायनका रास्ता दिखाकर सामाजिक चेतनाको कुण्ठित किया। लेखकने जगह जगह इस ओर संकेत किया है—(पृ० ९९ पर) 'सारा समाज धर्मकी झूठी कल्पनाके कारण जर्जर हो गया है, शतधा विच्छिन्न हो गया है, आत्मगौरवकी भावनासे हीन हो गया है। वीरो, प्रतापी सातवाहन और उनकी रानी चन्द्रलेखा तुम्हारा नेतृत्व इसलिए नहीं कर रहे हैं कि वे धर्मका युद्ध माननेवाले कुछ विशिष्ट

राजपूतोंके प्रतिनिधि हैं। वे सारी प्रजाके प्रतीक हैं ") लेकिन कहाँतक यह इस प्रकारके विचारोंको उपन्यासके शिल्पमें पूरी तरह ढाला पाया है, इसमें सन्देह है। अधिकतर वे वार्तालाप वाग्जाल-द्वारा लोगोंके वक्तव्योंमें प्रकट हुए हैं, चरित्रों और घटनाओंके अनिवार्य संघर्षों-द्वारा उत्पन्न नहीं होते।

शुद्ध औपन्यासिक दृष्टिसे मुझे इस असफलताका मुख्य कारण ऐतिहासिक स्रोतोंका गलत चुनाव लगता है। जिस ऐतिहासिक सामग्रीसे लेखकने कथानक और पात्रोंका चुनाव किया है उसने अधिक प्रामाणिक और विस्तृत सामग्रीको उसने अछूता छोड़ दिया है। हिन्दूकालीन भारतकी बात दूसरी है जबकि अधिकांश सामग्री तत्कालीन धार्मिक और साहित्यिक पुस्तकोंसे ही मिलती है और विधिवत् लिखा गया इतिहास नहींके बराबर है। इसलिए 'शायद' प्रसादके नाटकोंमें प्राचीन भारतका वातावरण एक सजावटके रूपमें ही लाया गया है, घटनाओं, पात्रों और सामाजिक यथार्थपर अधिक जोर नहीं दिया गया। यही प्रवृत्ति इस कालके अधिकांश उन हिन्दी ऐतिहासिक उपन्यासोंमें दिखती है जिनमें प्राचीन भारतको लिया गया है। लेकिन मध्यकालीन और आधुनिक भारतकी स्थिति भिन्न है। खिलजीकालीन भारतका इतिहास अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत सूत्रों-द्वारा भी उपलब्ध है। समकालीन इतिहासकारोंमें बरनी, सिराज, अमीर खुसरो, फरिश्ता, इसामी आदि प्रमुख हैं और विस्तृत वृत्तान्त मिलते हैं जिनके सहारे उस समयके भारतकी सही और जीवन्त सामाजिक तसवीर खींची जा सकती थी, और जिन सत्योंको लेखक 'खून के आँसू'में व्यक्त करना चाहता है उन्हें अधिक ठोस और विश्वसनीय आधार दिया जा सकता था। उदाहरणके लिए भीमा सोम जलालुद्दीन खिलजीके समयमें था और बादशाहके विरुद्ध षड्यन्त्रमें शरीक होनेके अपराधमें उसे हाथी-के पाँवके तले कुचलवाकर मरवा डाला गया था। तारीखे फीरोज़शाहीका लेखक ज़ियाउद्दीन बरनी भीमा सोमको अच्छी तरह जानता था और उस पुस्तकमें विस्तारसे उसके बारेमें लिखा है। 'फुतूहुस्सलातीन' और तारीखे मुबारकशाही' में भी भीमा सोमका जो जिक्र आया है वह बरनीके ज़िक्रसे मेल खाता है। सोने सोमका एक निश्चित ऐतिहासिक व्यक्तित्व है लेकिन 'खून के आँसू' में उसका जो रूप सामने आता है वह मूर्तिपूजकों अथवा हिन्दू पात्रोंके साधुओंके अधिक निकट पड़ता है। उपन्यासमें भीमा सोम यदि हाथीके पाँवके नीचे कुचला जाता होता तो उसके ऐतिहासिक व्यक्तित्वका 'न्याय' पहचान सकना ही कठिन है। इसी प्रकार उपन्यासमें नाटकीय विषमता पैदा की है जिसे उस समयके

धार्मिक और सांस्कृतिक सन्दर्भमें बड़े ही महत्त्वपूर्ण ढंगसे लाया जा सकता था। मिनहाज सिराजने 'तबकाते नासिरी' में बख्तियार-द्वारा नालन्दाके विनाशका विस्तृत वर्णन किया है, किन्तु उपन्यासमें वह किसी लोककथा-सा प्रतीत होता है।

ऐतिहासिक तथ्योंकी यह अवहेलना हो गयी है या किसी विशेष कारणसे की गयी है, इसको विचारनेसे पहले उपन्यासमें उपन्यासके नायक सातवाहनकी स्थितिपर थोड़ा विवेचन आवश्यक है—आवश्यक इसलिए कि ऐतिहासिक उपन्यासोंमें सुविख्यात ऐतिहासिक व्यक्तित्वको नायक बनाना कहाँतक उचित है और कहाँतक उपन्यासके कला-पक्षके लिए घातक इस प्रश्नसे 'चारुचन्द्रलेख'की दूसरी असफलता जुड़ी हुई है। सातवाहनका चरित्र उपन्यासमें न तो कथाकी दृष्टिसे न इतिहासकी ही दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण बन पाया है। एक बार यदि यह मान भी लिया जाये कि ऐतिहासिक दृष्टिसे सातवाहन एक प्रमुख व्यक्तित्व है, तो तुरन्त ही दूसरे प्रकारकी समस्या सामने यह उठती है कि उसमें एक सफल औपन्यासिक नायकके गुण कहाँतक समाविष्ट किये जा सके। प्रसिद्ध ऐतिहासिक व्यक्तित्वपर एक सीमा तक ही कल्पनाका रंग चढ़ाया जा सकता है। वाल्टर स्काटने कभी भी प्रमुख ऐतिहासिक व्यक्तियोंको अपने उपन्यासोंमें नायक नहीं बनाया उन्हें पृष्ठभूमिमें ही रखा। उसने ऐतिहासिक व्यक्तियोंकी अपेक्षा देश कालके प्रामाणिक चित्रणपर अधिक जोर दिया। इसीलिए शायद, लेखकका पिछला उपन्यास 'बाणभट्टकी आत्मकथा' भी 'चारुचन्द्रलेख'की अपेक्षा अधिक सफल रहा। पूरे उपन्यासमें सातवाहन केवल उपस्थित है, सक्रिय नहीं। उपन्यासमें जो कुछ होता है वह सब केवल उसके नामपर। कथानक उसके साथ साथ नहीं उसके बावजूद चलता है। यहाँ तक कि आगे चलकर कथानकका गतिकेन्द्र सातवाहन न होकर मैना या मैनसिंह बन जाता है। लेकिन मैनाका व्यक्तित्व उपन्यासमें इतना व्याप्त होते हुए भी विकसित नहीं हो पाता। अन्तत इसका कारण जगह जगह वह बचकानी कायापलट भी है जो पाठकको कोई स्थायी रागात्मक सम्बन्ध न तो मैना न मैनसिंहके साथ बनने देता है। जहाँतक चन्द्रलेखाका प्रश्न है उसका चारित्रिक महत्त्व उसी समय रद्द हो जाता है जब उसके मानसिक असन्तुलनका आभास करा दिया जाता है। लेखकने रानीके अन्तर्मनमें घटित होनेवाली घटनाओंको नयी व्याख्या देनेका प्रयत्न किया है, लेकिन उसकी चर्चा अभी बादमें करूँगा।

पीछे कहा जा चुका है कि 'चारुचन्द्रलेख'की कथा-वस्तुके लिए लेखक खिलजी कालीन इतिहासकारोंकी अपेक्षा नाथ-साहित्यके अपने विशेष अध्ययनपर

अधिक निर्भर करता है। इसीलिए एक बार उस ओरसे भी उपन्यासपर विचार कर लेना उपयुक्त हो सकता है। लेखकने नाथ-पन्थियोंके इस विश्वासकी चर्चा की है कि सिद्ध लोग चिरजीवी हैं और कालदण्डको खण्डित करके आज भी ब्रह्माण्डमें विचर रहे हैं। सम्भवतः इस धारणाने लेखकको उपन्यासमें कालकी समस्याकी ओर प्रेरित किया। जो कुछ रानी चन्द्रलेखाके अन्तर्मनमें अध-विनिद्रावस्थामें घटित होता है, उसे प्राथमिक महत्त्व देकर उपन्यासके शिल्प या शिल्पहीनताको, जायज ठहराते हुए कहा जा सकता है कि चन्द्रलेखा उपन्यासका प्रमुख पात्र है। जो कुछ होता हुआ देखा जाता है वह उसके ही माध्यमसे। बाह्य यथार्थके यथातथ्य वर्णनकी अपेक्षा यदि चेतना विशेषको साक्षी बनाकर, घटनाओंका विवेचन किया जाये तो निश्चय ही एक वृहत्तर अनुभव-क्षेत्रको उपन्यासमें समेटा जा सकता है—कुछ-कुछ उसी प्रकार जैसे स्वप्नावस्थामें समयका बोध लगभग मिट-सा जाता है। मार्सेल प्रूस्त और जेम्स जायसने अपने विश्वप्रसिद्ध उपन्यासों 'ए ला रेशर्श दू ताम्प्स पर्दू' और 'यूलिसिस'में इसी प्रकारकी तकनीकको अपनाया है। लेकिन 'चारुचन्द्रलेख'में कहाँतक इस तकनीकका सफल उपयोग हो सका, यह सन्दिग्ध है।

प्रूस्त और जायसकी मुख्य चिन्ता थी यथार्थके नये स्तरोंकी खोज। सामाजिक यथार्थवादकी जो नींव १९वीं सदीमें पड़ी और मार्क्सवाद-द्वारा पुष्ट हुई, उसने व्यक्ति यथार्थको लगभग पृष्ठभूमिमें डाल दिया था। २०वीं सदीके आरम्भ होते-होते नये दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक विचारोंने एक बार फिर साहित्यकारोंका ध्यान उस व्यक्तिमनपर केन्द्रित किया जिसे बर्गसाँ, फ्रायड आदिने इतना महत्त्व दे चुके थे। 'चारुचन्द्रलेख'को पढ़कर सहज ही यह प्रश्न उठता है कि लेखकने इस तकनीकको किस उद्देश्यसे अपनाया है। क्या वह यथार्थका कोई नया स्तर खोज सका है? क्या वह मानव अनुभवके आयामको और विस्तृत कर सका है? क्या इस तकनीक-द्वारा इतिहास या धर्मको किसी नये आलोकमें देखा गया है? हमारी दृष्टिमें इतना ही कहा जा सकता है कि यथार्थकी प्रमुखता दर्शानेके उपन्यासोंमें—चाहे वह सामाजिक यथार्थ हो चाहे ऐतिहासिक यथार्थ, चाहे मनोवैज्ञानिक यथार्थ, चाहे धार्मिक यथार्थ—जिस विश्वसनीयताके प्रति कलाकार सतर्क रहता है 'चारुचन्द्रलेख'में उसकी सर्वथा अवहेलना हुई है। लोक-कथाएँ, धर्म ग्रन्थ, सिद्ध-वाणी, भक्ति-साहित्य आदिके पुनरावृत्त लेखकने जिस कथा-शिल्प का निर्माण किया है औपन्यासिक उपलब्धियोंको देखते हुए वह अनिवार्य नहीं सिद्ध होता। यद्यपि उन स्रोतोंका मनोविज्ञान और सामूहिक-मनोविज्ञानसे दूरका नाता ■ अवश्य, किन्तु उस सामग्रीका उपन्यासमें कुशल उपयोग नहीं हो सका।

धार्मिक और सांस्कृतिक संदर्भमें बड़े ही महत्त्वपूर्ण ढंगसे लाया जा सकता था। मिनहाज सिराजने 'तबकाते नासिरी' में बख्तियार-द्वारा नालन्दाके विनाशका विस्तृत वर्णन दिया है किन्तु उपन्यासमें वह किसी लोककथा-सा प्रतीत होता है।

ऐतिहासिक तथ्योंकी यह अवहेलना हो गयी है या किसी विशेष कारणसे की गयी है, इसको विचारनेसे पहले उपन्यासमें उपन्यासके नायक सातवाहनकी स्थितिपर थोड़ा विवेचन आवश्यक है—आवश्यक इसलिए कि ऐतिहासिक उपन्यासोंमें सुविख्यात ऐतिहासिक व्यक्तित्वको नायक बनाना कहाँतक उचित है और कहाँतक उपन्यासके कला-पक्षके लिए घातक इस प्रश्नसे 'चारुचन्द्रलेख'की दूसरी असफलता जुड़ी हुई है। सातवाहनका चरित्र उपन्यासमें न तो कथाकी दृष्टिसे न इतिहासकी ही दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण बन पाया है। एक बार यदि यह मान भी लिया जाये कि ऐतिहासिक दृष्टिसे सातवाहन एक प्रमुख व्यक्तित्व है, तो तुरंत ही दूसरे प्रकारकी समस्या सामने यह उठती है कि उसमें एक सफल औपन्यासिक नायकके गुण कहाँतक समाविष्ट किये जा सके। प्रसिद्ध ऐतिहासिक व्यक्तित्वपर एक सीमा तक ही कल्पनाका रंग चढ़ाया जा सकता है। वाल्टर स्काटने कहीं भी प्रमुख ऐतिहासिक व्यक्तित्वोंको अपने उपन्यासोंमें नायक नहीं बनाया उन्हें पृष्ठभूमिमें ही रखा। उसने ऐतिहासिक व्यक्तित्वोंकी अपेक्षा देश कालके प्रामाणिक चित्रणपर अधिक ज़ोर दिया। इसीलिए शायद, लेखकका पिछला उपन्यास 'बाणभट्टकी आत्मकथा' भी 'चारुचन्द्रलेख'की अपेक्षा अधिक सफल रहा। पूरे उपन्यासमें सातवाहन केवल उपस्थित है सक्रिय नहीं। उपन्यासमें जो कुछ होता है वह सब केवल उसके नामपर। कथानक उसके साथ साथ नहीं, उसके बावजूद चलता है। यहाँ तक कि आगे चलकर कथानकका गतिकेन्द्र सातवाहन न होकर मैना या मनसिंह बन जाता है। लेकिन मैनाका व्यक्तित्व उपन्यासमें इतना व्याप्त होने हुए भी विकसित नहीं हो पाता। अन्त इसका कारण जगह जगह वह चमत्कारी कायापलट भी है जो पाठकका कोई स्थायी रागात्मक सम्बन्ध न तो मैना न मनसिंहके साथ बनने देता है। जहाँतक चन्द्रलेखाका प्रश्न है, उसका चारित्रिक महत्त्व उसी समय रह हो जाता है जब उसके मानसिक असंतुलनका आभास करा दिया जाता है। लेखकने रानीके अन्तर्मनमें घटित होनेवाली घटनाओंकी नयी व्याख्या देनेका प्रयत्न किया है, लेकिन उसकी चर्चा अभी बादमें करूँगा।

पीछे कहा जा चुका है कि 'चारुचन्द्रलेख'की कथा-वस्तुके लिए लेखक खिलजी कालीन इतिहासकारोंकी अपेक्षा नाथ-साहित्यके अपने विशेष अध्ययनपर

अधिक निर्भर करता है। इसीलिए एक बार उस ओरसे भी उपन्यासपर विचार कर लेना उपयुक्त हो सकता है। लेखकने नाथ-पंथियोंके इस विश्वासकी चर्चा की है कि सिद्ध लोग चिरजीवी हैं और काल-दण्डको खण्डित करके आज भी ब्रह्माण्डमें विचर रहे हैं। सम्भवतः इस धारणाने लेखकको उपन्यासमें कालकी समस्याकी ओर प्रेरित किया। जो कुछ रानी चन्द्रलेखाके अन्तर्मनमें अर्ध-विक्षिप्तावस्थामें घटित होता है, उसे प्राथमिक महत्त्व देकर उपन्यासके शिल्प, या शिल्पहीनताको, जायज ठहराते हुए कहा जा सकता है कि चन्द्रलेखा उपन्यासका प्रमुख पात्र है। जो कुछ होता हुआ देखा जाता है वह उसके ही माध्यमसे। बाह्य यथार्थ यथातथ्य वर्णनकी अपेक्षा, यदि चेतना-विशेषको साक्षी बनाकर, घटनाओंका विवेचन किया जाये तो निश्चय ही एक वृहत्तर अनुभव-क्षेत्रको उपन्यासमें समेटा जा सकता है—कुछ-कुछ उसी प्रकार जैसे स्वप्नावस्थामें समयका बोध लगभग मिट-सा जाता है। मार्सेल प्रूस्त और जेम्स जायसने अपने विश्वप्रसिद्ध उपन्यासों 'ए ला रैशर्श दू तान्स पर्दू' और यूलिसिस में इसी प्रकारकी तकनीकको अपनाया है। लेकिन 'चारुचन्द्रलेख'में कहाँतक इस तकनीकका सफल उपयोग हो सका, यह सन्दिग्ध है।

प्रूस्त और जायसकी मुख्य चिन्ता थी यथार्थके नये स्तरोंकी खोज। सामाजिक यथार्थवादकी जो सीख १९वीं सदीमें पनपी और मार्क्सवाद-द्वारा पुष्ट हुई, उसने व्यक्ति-यथार्थको [illegible] पृष्ठभूमिमें डाल दिया था। २०वीं सदीके आरम्भ होते-होते नये दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक विचारोंने एक बार फिर साहित्यकारोंका ध्यान उस व्यक्तिमनपर केन्द्रित किया जिसे बर्गसाँ, फ्रायड आदि इतना महत्त्व दे चुके थे। 'चारुचन्द्रलेख'को पढ़कर सहज ही यह प्रश्न उठता है कि लेखकने इस तकनीकको किस उद्देश्यसे अपनाया है। क्या वह यथार्थके नये स्तरोंकी खोज सका है? क्या वह मानव अनुभवके आयामोंका और विस्तार कर सका है? क्या इस तकनीक-द्वारा इतिहास या धर्मको किसी नये आलोकमें [illegible] है? कलाकी दृष्टिसे इतना ही कहा जा सकता है कि यथार्थका [illegible] उपन्यासोंमें—चाहे वह सामाजिक यथार्थ हो, चाहे ऐतिहासिक [illegible] मनोवैज्ञानिक यथार्थ चाहे धार्मिक यथार्थ—जिस विश्वसनीयता [illegible] सतत रहता है 'चारुचन्द्रलेख' में उसकी सर्वथा अवहेलना हुई है। [illegible] धर्म ग्रन्थ, सिद्ध-वाणी, मणि-मान्त्रिक आदि [illegible] का निर्माण किया है और यामिक [illegible] सिद्ध होता। यद्यपि इन बातोंका मनोविज्ञान और [illegible] जाता है अतएव किन्तु इस मान्यताका [illegible]

अतीत कथा

समय 'चारुचन्द्रलेख'में नितान्त अमानवीय मालूम देता है, जिसके सामने मनुष्य और उसका संकल्प महत्त्वहीन ठहरते हैं। प्रस्तुतके विश्लेषणमें समय मानवीय सन्दर्भमें ही महत्त्व पाता है। एकमें यथार्थ समयसे आक्रान्त है, दूसरेमें वह समयको अर्थ देता है। इसीलिए 'चारुचन्द्रलेख'का कोई ठोस—महत भी नहीं—आकार नहीं बन पाता, और उसका ढाँचा कल्पित कथाओंके संग्रह-सा लगता है जिन्हें किसी प्रवक्ता या यात्री पात्र द्वारा जोड़ दिया गया हो। जहाँ तक पौराणिक विषयोंका सवाल है यह कह देना यहाँ प्रासंगिक होगा कि जेम्स जायसके 'यूलिसिस'का पूरा ढाँचा ही एक पौराणिक 'थीम'पर खड़ा है। 'चारुचन्द्रलेख' की कमजोरीका मुख्य कारण थीम, स्रोत नहीं, उपन्यास शिल्पको ठीकसे न सँभाल पाना है। जिस सामाजिक चेतना और मिथ्या धर्म भावनाकी बात लेखकने जगह-जगह उठायी है, वह उपन्यासका अभिन्न अंग नहीं बन पाता। जोगीले भाषणों, उद्बोधनात्मक वक्तव्यों, नाथपन्थी पूजा साधनाके साथ साथ, एक ऐतिहासिक कथानकका खाका घिसटता हुआ चलता है। सवाल यहाँ उपन्याससे किसी शिल्प या मन्तव्यको गढ़ निकालना उतना नहीं, जितना उसके ठीक ठीक पहचानमें आ सकनेका है। किसी उपन्यासके शिल्पविधानका जटिल होना या एक परिचित शिल्प विधानका उसमें न होना असन्तोषकी बात नहीं लेकिन पाठक उस निरालेपनको किस सन्दर्भमें ग्रहण करे, इसका संकेत स्पष्ट होना चाहिए। 'चारुचन्द्रलेख' की धार्मिक-संवेदना न तो ऐतिहासिक प्रसंगमें ही पूरी तरह बँध पायी है, न उसका आधुनिक विचारोंके आलोकमें ही कोई महत्त्वपूर्ण विवेचन हो सका। शुद्ध मनोरंजनके लिए तो शायद यह उपन्यास लिखा ही नहीं गया था।



> दूसरोंके दिखाये रास्तेपर चलकर प्रयोग करनेकी जरूरत नहीं है। अपनी आँखोंसे अपने वृद्ध जर्जर देशको देखना है और इस चरित्रताके अमृतमें सींचकर इसे महत्तर बनाना है। साहित्यिक प्रयोग करते समय हमें बार बार यह बात सोच लेनी चाहिए। मुझे रंचमात्र भी सन्देह नहीं कि सच्चे साहित्यकारोंमें यह शक्ति है। लेकिन उन्हें अपने उत्तरदायित्वको समझना है।
>
> —सावधानीकी आवश्यकता

शान्तिनिकेतनसे शिवालिक

चारुचन्द्रलेख पार्श्व छवि

• •

कृष्णनाथ

एक क्षणमें क्या हो गया ! यह चित्र बना रहेगा, चित्तमें पत्थरकी लकीर बनकर बना रहेगा, व्याख्याएँ होती रहेंगी, चित्र मुसकराता रहेगा।

'चारुचन्द्रलेख' की एक प्रति कई महीने हुए समीक्षाके लिए आयी। और यह बात यहाँ बनारसमें फैल भी गयी। तो मित्र-मण्डली पूछने लगी कि कहाँ तक पढ़ गये हैं? क्या लिख रहे हैं? शुरूके महीनोंमें तो कह देता कि अभी देख रहा हूँ बहुत बढ़िया चीज है, समय लगता है। लेकिन समयकी भी तो आखिर सीमा है। मित्रोंने दूसरे महीने घेरना शुरू किया। जाहिर है उनकी निगाह समीक्षापर नहीं, किताब पर था। और अब यह कहना कि 'नहीं अभी लिखना शुरू भी नहीं किया, चीजें जमा रहा हूँ", अटपटा लगने लगा। इन सबके ऊपर यह बात तो थी ही कि समीक्षाके लिए सचमुच देर हो रही है।

इसलिए कल यह तय किया कि आज तो जरूर ही लिखना शुरू करूँगा। डायरीमें दर्ज किया ताकि अगर भूल-चूक हो तो यह डायरी उसकी साक्षी रहे। इससे अपनेपर एक अंकुश लग जाता है। लेकिन शामको कई एक साथी इकट्ठा हो गये, चाय पी फिर 'अभ्यास-लाप' से गोदौलिया गया। वहाँसे दशाश्वमेध तक एकाध चक्कर लगाकर कॉफी पी। लौटते-लौटते रातके साढ़े दस बज गये। डायरी लिखने बैठा तो 'चारुचन्द्रलेख' टँगा था। इसलिए रुखी शाम निभानेकी गरजसे किताब उठायी। कुछ प्रसंगोंको दिमाग़में पलटने लगा। कुछ सिलसिला जमने सा लगा। तभी जाने कब नींद आ गयी।

कितनी देर सोया रहा पता नहीं। फिर लगा जैसे कोई जगा रहा है। आँख खुली तो लगा आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी सामने खड़े मूँछों और आँखोंमें ही मुसकरा रहे हैं।

एक बारगी सहसा सामने दीखनेपर अभिवादनके लिए बिस्तरसे जैसे उछल पड़ा। आँखकी कड़ुवाहटको दबाते, पूरा होशको कायम करते, पूछा 'आप

चण्डीगढ़से कब आये ?"

अब द्विवदीजी हँसे। वही ठहाकेवाली हँसी जिसकी गूँज अनुगूँज अब काशीमें कभी-कभी ही सुनाई पड़ती है। बोले "मैं चण्डीगढ़ गया ही कब था। वहाँ तो आचार्य हजारीप्रसाद द्विवदी रहते हैं न ? मैं तो अघोरनाथ हूँ।"

एक पलके लिए तो मैं जैसे सकतेमें आ गया। फिर यह छलना दूर हुई। पण्डित व्योमकेश शास्त्रीकी टिप्पणी कौंध गयी "अघोरनाथ आधुनिक विचारों के, पुरानी परिपाटीमें शिक्षित, सिद्ध हैं। वे भावुक और कल्पनाप्रवण जीव हैं।"

मैंने सिद्ध-साधकवाली बात समझते हुए बैठनेके लिए कुरसी बढ़ायी। द्विवेदीजी उर्फ अघोरनाथजी जमकर बैठे तो कुरसी और कमरा भरा-पूरा लगने लगा।

अब एक अन्तराल आ गया, न अघोरनाथ बोले न कृष्णनाथ।

फिर अघोरनाथजीने ही शुरू किया "आज तो लिखनेका संकल्प किया था न ? फिर यह स्खलन क्या ? 'दीदी' होती तो डाँटती बड़े आलसी हो।"

मैं चुप। दीदीने जिसे बहुत बड़ा आलसी कहा था, वही जब कहे कि 'बड़े आलसी हो' फिर इसे तो मान ही लेना चाहिए।

मुझे विनय-नत देख, वे बोले "इसपर कहातक काम कर डाला ? अब बाधा क्या है ?"

मैंने बताया "एक बार तो काफी अथाह धारावाहिक रूपसे 'कल्पना' में पढ़ा था। समाक्षाके लिए मिलनेपर इसे शुरूसे आखिर तक पूरा पढ़ डाला। अब तो जैसे इसने मुझे छाप लिया, आविष्ट-सा रहा। फिर धीरे धीरे इससे मुक्त होते हुए कुछ प्रश्नोंको उलट-पुलट रहा हूँ। कुछ तय नहीं कर पा रहा हूँ"

कुछ शब्दोंसे, कुछ इशारेसे कुछ सहम-सहम कर इतना कहा ही था कि अघोरनाथजी अनायास ही गदगद होकर बोले "मैं प्रीत हूँ, कृतज्ञ हूँ" कनाउडा हूँ।"

मैं तो त्रस्त हो गया। खैर अगर प्रीत हैं, कृतज्ञ हैं तो चाहे मेरे लिये अकारण ही, लेकिन हैं तो हैं लेकिन यह 'कनाउडा' क्या है ?

फिर मुझे पण्डित व्योमकेश शास्त्रीकी टिप्पणी याद आयी " सर्वत्र उनपर (अघोरनाथपर) पुराने ढंगकी भाषाका आवरण है।"

मुझे त्रस्त देख अघोरनाथजी ठहाका मारकर फिर हँसे। (मेरे मनमें द्विवेदीजीकी हँसी गूँज गयी।)

बोले "उलझनमें हो। वैसे 'उलझना हर समय बुरा नहीं होता।' लेकिन अगर सुलझाना ही चाहते हो तो पूछो, क्या पूछना चाहते हो?"

मैं अपने प्रश्न सरियाने लगा। समझमें न आया कहाँसे शुरू करूँ। फिर शुरूसे ही शुरू करनेका तय पाया। पूछा "'चारुचन्द्रलेख'की कथा क्या है? संक्षेपमें बतानेकी कृपा करेंगे?"

'यह क्या प्रश्न? संक्षेपमें ही कह सकता तो फिर ४४१ पृष्ठोंमें क्यों कहता?'

"अन्यथा न समझें—कहते हैं समीक्षामें 'कृति क्या है?' इसकी व्याख्यासे शुरू करना अच्छा होता है, इसलिए यह प्रश्न है।"

"मैं यह सब कुछ नहीं जानता। यह तो पण्डित व्योमकेश शास्त्रीसे पूछो। हाँ, मुझसे पूछते हो तो मैं तो यही कहूँगा कि अपने पाठकोंसे कह दो कि पहले 'चारुचन्द्रलेख' पढ़ डालें, तब यह बात पढ़ें, चाहे न पढ़ें।"

मैं जब इस बात करनेके लिए बढ़ा तो अघोरनाथजीने डाँटा "एक समय एक काम करनेका अभ्यास करो। प्रश्न-परिप्रश्नमें यह बाधा मुझे सह्य नहीं। यह सब छूट आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी अपने शोध विद्यार्थियोंको देते होंगे, मैं नहीं।"

अब इसके आगे मैं क्या कर सकता था, दीनहीन भावसे सहम गया।

इसपर पसीजकर अघोरनाथजीने कहा "सावधानीसे अध्यवसाय कर तुम अपने शब्दोंमें इस कथाको संक्षेपमें कह सकते हो। कुछ सूत्र तुम्हें इस कथामें, कुछ टिप्पणीमें मिल भी जायेंगे। यह उस समयकी कहानी है जब भारतवर्षके उत्तरी भागपर पूर्ण रूपसे तुर्कोंका राज्य स्थापित हो गया था। विदेशी आक्रमणके प्रतिरोधक समस्त देशकी प्राण-शक्ति ग्रह-गण मन्त्र-तन्त्र, भूत-बेताल, डाकिनी शाकिनी, ऋद्धि सिद्धि, सुन्दरी-साधना, मोहन और उच्चाटनमें लुप्त हो रही थी।"

यह है कथाकी पृष्ठभूमि। इसपर पण्डित व्योमकेश शास्त्रीकी टिप्पणी 'ऐसा लगता है कि किसीने ऐतिहासिक तथ्योंको सोच विचारकर इसमें पिरोया है।'

'इतना तो स्पष्ट है न?" अघोरनाथजीने एक कुशल अध्यापककी तरह पूछा।

मैंने सिर हिलाया।

अघोरनाथने दुहराया 'क्या समझे? यह है इतिहास विधाताकी पाण्डु-छवि। और इतिहासकी इस छविको उभरते हैं व्यक्ति राजा सातवाहन, रानी

चन्द्रलेखा, मैन सिंह–मजा, नाटी माता, वृद्ध मन्त्री विद्याधर, पण्डित धीर शर्मा तरुण तापस सीदी मौला, बोधा प्रधान तथा अन्य। वैसे तो इन नाना चरित्रके नाना रूप ह, लेकिन इनको धुरी युद्ध और प्रेमकी ह। राजा सातवाहन इस कथा-सूत्रको इस तरह याद करता ह "रानीका प्रथम साक्षात्कार, फिर उनकी साधना, फिर युद्ध, फिर उनके लेख, फिर मनाका परिचय—एकपर एक इस प्रकार दिखाई देने लगा जैसे किसी निपुण कविका निबद्ध नाटक अभिनीत होता देख रहा होऊँ।"

"तो सक्षेपम यह है क्रम। यह ठीक है आयुष्मन ?

मेरी तबीयत हुई कि हाथ जोडकर निवेदन करूँ "ठीक है श्रीमान।"

लेकिन आजकी पीढीमे यह विनय कहाँ ? इसलिए इतना ही कहकर रह गया "जी हा, ठीक तो है।"

अघोरनाथजी आधुनिक विचारोके हैं इसलिए ऐसे मेल्त हुएसे बोले "अब और क्या प्रश्न ह ?"

मैने पूछा 'पण्डित व्यामकेश शास्त्रीके अनुसार इस कथाम 'एक जीवन्त ऐक्य है' किन्तु आपकी व्याख्याके अनुसार पूरी कथामें द्वत ह इतिहास और व्यक्तिका द्वत, युद्ध और प्रेमका द्वैत। इनके रहते पण्डित व्योमकेश शास्त्री कसे कह सकते ह कि कथाम एक जीवन्त ऐक्य ह ?

अघोरनाथ मूँछामें मुसकुराते हुए बोले "अघोरनाथ और पण्डित व्योमकेश शास्त्रीम झगडा लगाना चाहते हो। लेकिन यह झगडा है नही। कथाका जीवन्त ऐक्य इसी अनैक्यपर ही ता ह। अनक्यके बिना ऐक्यका क्या मतलब। इस तरह यह एकता इतिहास और व्यक्ति और युद्ध और प्रेमके द्वतके बीच ह।

'और ऐसे ही परस्पर विरुद्ध कितने ही जोड वय यौवन, शिक्षित और अशिक्षित उत्साह, योग्य नेतत्व और कलह वगरहके इस कथामें ह। असलमें तो इन्ही अनेकताओके भीतरोंका एक सूक्ष्म पिरानमे ही तो कथाम एक 'जीवन्त ऐक्य' ह, अन्यथा यह निर्जीव अद्वत हो जाता सर्वोन्य' हो जाता। ह न ?"

मुझे लगा कि मने जो द्वत-अद्वतकी गाँठ बाँधनी चाही थी वह अनायास ही खुल गयी। लेकिन मनकी गाँठ कहाँ खुलती ह ?

इसलिए योगी प्रेम प्रकरणम गहरा उतरनेका गरजमे पूछा 'यह जो प्रेमका त्रिकोण है सातवाहन चन्द्रलेखा और मनाका इसपर कुछ प्रकाश डालनेका प्रसाद हो।"

अघोरनाथने फिर डाँटा 'फिर वही मूढता! अध्ययन-अध्यवसायमें अप्रमाद नहीं ह न। नही तो क्या मने नहीं लिखा ह कि 'न तो प्रेम छिपता ह,

न प्रकाश ।' अब प्रकाशपर क्या प्रकाश डाला जा सकता है ।'

अघोरनाथ आवेशमें आकर बोलते गये — 'तुमने नहीं सुना है कि पानकी तरह प्रेमकी पुत्रिया भी अनन्या, अवमना होती है ? अब तुम यह झीना आवरण भी उठा देना चाहते हो ? तुम नये लोगोंको यह हो क्या गया है ?"

मैं एक चुप, हजार चुप !

अघोरनाथजी कहते गये — "मर्यादाकी सीमामें रहते हुए कथामें यह विरले पण हुआ ही है। देखो, पृ० ४१२ १३ — "इच्छा शक्ति और क्रिया-शक्तिका द्वन्द्व तेजीसे चल पड़ा है। नहीं चाहता कि जो कुछ हो रहा है उसके विश्लेषणमें समय नष्ट करूँ, पर न जाने क्या मन ही नहीं मानता।

मनाका यह भोला-मनोहर मुख जो हृदय-स्थलपर आया सो चिपक ही गया। रण डंका बज गया है, उत्तरसे दक्षिण तक भयंकर घमासानमें बिजली-की भाँति चमक रहा है, पर वह मूर्ति जो चिपकी है वह जम ही गयी है। पीछे हटी है, चाहता हूँ वहाँसे हटा दूँ। न मूर्ति ही हटा पाया हूँ और न पीछेसे मुक्ति ही मिली है। कुछ पीड़ाएँ बेहिसाब मीठा होती हैं।"

मैंने यहीं टोक दिया क्योंकि अघोरनाथ भी साधी मौलाकी तरह बोलने लगते हैं तो लगता है चुप ही न होंगे। चुप होते हैं तो ऐसा लगता है कि अब बोलेंगे ही नहीं। बड़े मस्त मौला हैं।

मैंने कहा — 'यह तो इसके भी पहले सातवाहन कह चुका है — एक क्षणमें क्या हो गया यह चिर बना रहेगा, जिसमें पत्थरकी लकीर बनकर बना रहेगा, व्याख्याएँ होती रहेंगी, चिर मुसकराता रहेगा।'

अघोरनाथको यह क्षण जैसे याद आ गया या जाने क्या हुआ कि वे अभि-भूत-से रहे।

मैं मौन भंग — 'लेकिन यह मेरा चन्द्रलेखापर भी छा गयी है। सो क्या ?'

'इसका उत्तर रानी चन्द्रलेखासे ही सुनो — मैं मैनाकी तुलनामें अत्यन्त नगण्य हूँ। मुझे बहुत आगे बढ़कर तुमने मेरा क्षुद्रताको बचाया किया है। महाराज मुझे दासीकी भाँति क्या नहीं आज्ञा देते ? मैना धन्य है जो तुमसे डरती है, तुम्हारे ऊपर श्रद्धा रखती है तुम्हारे लिए प्राण देती है।"

'यह परिपूर्ण आत्म-समर्पण मनाकी शक्ति है। द्विधा विभाजन चन्द्रलेखाकी कमजोरी है। तरुण-तापस और महाराजके बीच जन शक्ति और तन्त्र-शक्तिकी सापेक्ष बीच चन्द्रलेखाका चित्र दो-टूक खण्डित हो गया है। यह द्विधा विभा-जित व्यक्तित्वका स्वाद ही उसके सन्तुलनको नष्ट होनेका हेतु है। इस ही सम्बा-

धनके माध्यमसे जोडनेका प्रयत्न करते हुए सातवाहनने स्नेहपूर्ण शब्दोंमें कहा, 'रानी चन्द्रलेखे! प्रिये'!

"फिर भी यह खण्डित व्यक्तित्व जुडता नहीं। इसलिए रानी चन्द्रलेखाका मानसिक विक्षेप बना रहता। उन्हें कहीं-कहीं नहीं भटकाता।

"निर्द्वन्द्व तो मैना भी नहीं।" नाटी माता कहती हैं न "मुझे भय लगता है कि उसकी सेवामें मोह है प्रतिदानकी आकांक्षा है, इसीलिए उसमें विक्षेप है, कुण्ठा है। व्रीडा तक तो ठीक है, पर कुण्ठा क्या होगी?'—मैं चुप। "—है न महाराज?"

जवाबमें मैं दुहरा सकता हूँ "यह तो वही कह सकता है अघोरनाथजी, जिसमें मोह न हो कुण्ठा न हो, विक्षेप न हो।"

जो भी हो, यह हुआ प्रेम और उसके द्वन्द्व उसकी पीडा और कुण्ठाके बारेमें।

मैंने एकपर एक जो प्रश्न सरियाये थे उनमें यह युद्धवाले प्रश्न थे। मैंने पूछा "आपकी रायमें, युद्धपर क्या खास बात कथामें आयी है?"

अघोरनाथजी थोडी देर सोचकर, कुछ अटकते हुए-से बोले "विशेष बात विशेष तो जो भारतकी राजनीतिके तीन महादोष गिनाये गये हैं वे विशेष तो कुछ हैं नहीं, शायद सामान्य ही हैं। यहाँ एक बात चुपके-से कह दूँ। यह सब देशकी वर्तमान राजनीतिकी, खास तौरपर युद्धनीतिकी, गहरी टीका है। उदाहरण कोई भी पढकर ढूँढ सकता है। हाँ एक नयी बात जरूर है जो आजके सन्दर्भमें भी विचारणीय है। रानी चन्द्रलेखा साधारण ग्राम बालिकासे सहसा रानी हुई है। वे आवाहन करती हैं 'वीरो, राजाओंका युद्ध समाप्त हो गया। अब कहीं आशा है तो प्रजाकी संगठित शक्तिमें है। मैं तुम्हें उसी शक्तिको उद्बुद्ध करनेके लिए आमन्त्रित करती हूँ। मैं तुम्हारे पीछे प्रजा वर्गको संगठित करनेके लिए प्रयत्न करने जा रही हूँ।

'इसपर विद्याधर भट्टको जैसे झटका लगा। बोले, 'क्या सुन रहा हूँ देवि, अबतक तो युद्ध सैनिकोंका ही कर्तव्य समझा जाता रहा। निरीह प्रजा इसमें क्या कर सकती है भला!'

"स्यात यह विशेष बात है। स्यात यह भी नहीं है, क्योंकि कौटिलीय अर्थशास्त्र शुक्रनीति और कामन्दकीय नीतिसारमें प्रजाके इस विक्रमबलको भी बल माना ही गया है। फिर भी इसपर यहाँ विशेष बल दिया गया है। और फिर राजा रानी दोनोंका साधारण प्रजाके साथ एकमेक हो जानेका व्रत जो लिया वह शायद एक अमली बात है।'

शान्तिनिकेतनसे शिवालिक

"धरती पर विश्वास' इस कथाका आधार है। और 'धरती' से मतलब केवल इस मिट्टीसे नहीं है, किसानों और साधारण लोगोंसे है। मैनसिंह 'मामूली नेगुएका बालक' इसी धरतीकी शक्तिका नायक प्रतीत है। इसी शक्ति बलपर चम्बलके बीहड़ोंमें छापामार लड़ाई लड़ी और जीती गयी। यह एक विशेष बात है न ?"

मैंने हुँकारा भरी।

वैसे अभी कथाके बारेमें बहुत कुछ पूछनेको रह गया था—जैसे तत्त्व-दृष्टि और साधना पर, जाति, वातावरण और कालकी कई एक प्रवृत्तियोंपर, लेकिन आखिर इस कथन विश्लेषणका कहीं तो अन्त करना ही था। इसलिए इसे यहीं खतम कर कुछ मूल्यांकनके प्रश्न पूछना शुरू किया।

मैंने पूछा 'आपकी सम्मतिमें इस कथामें कौन-से प्रमुख गुण-भाव हैं ?'

अघोरनाथजीने इन सवालोंसे बचनेकी कोशिश करते हुए कहा 'इससे मुझे क्या लेना-देना है ? मैं तो आविष्ट-सा था जब यह कथा शिलालेखमें उतरी। पं० श्यामकृष्ण शास्त्रीने टिप्पणीके साथ इसे छपा लिया। अब यह गुण-दोष विवेक भी क्या मैं ही करूँगा ?"

मैंने कहा 'वैसे यह कथा छपी आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीके नामसे है। इसलिए आप निष्पक्ष तो हो ही सकते हैं।

अघोरनाथ हँसे, बोले 'चतुर हो, आचार्य ! अब जिज्ञासा करते हो तो सुनो ! मेरी सम्मतिमें अन्य बातोंके साथ-साथ, इस कथाके तीन गुण हैं। एक तो भारतीय इतिहासके इस युगसे तादात्म्य। यह तादात्म्य शायद एकान्तिक प्रेमसे आता है और जब एक बार सध जाता है तो इतिहासके अन्तस्में ओप लगता है।

'दूसरे, सहजता। इसका एक उदाहरण भर दूँ। राजा सातवाहनको पता चलता है कि रानीकी सहेली मैना वही नेगुएका छोरा मैनसिंह है। मैनसिंह—मैना—मृणावती। अब मैना राजाके पैरपर गिरती है। लेकिन जिस मैनाने बालक-वेशमें दस बार मेरे पैर दबाये थे और धोये थे, वही स्त्री-वेशमें उन्हें छूनेका साहस नहीं कर सकी। पैरोंसे दूर हो उसने सिर धरतीपर रख लिया। आश्चर्य यह कि मैं भी उसकी पीठ थपथपानेका साहस नहीं कर सका। असहाय भावसे ताकता रह गया। ऊपरी आवरण कितना व्यवधान पैदा कर देता है ?

"यह व्यवधान अच्छा है या बुरा, यह अन्य प्रश्न है लेकिन सहज तो है न ?

मैंने फिर हुँकारा भरी।

अघोरनाथजीने तीसरे गुणकी व्याख्या करते हुए कहा, "यह गुण है तारतम्य, नैरन्तर्य सातत्य। अर्थात् कुछ ऐसा है बारहवीं-तेरहवीं शताब्दीके भारतके लिए विशेष होते हुए भी सब सहज, सब समय और सब चीज़ोंपर लागू है।"

'उदाहरणके लिए,'

"उदाहरण चाहे प्रेमसे ले लें या युद्धसे। सोमल्ल दस वर्षसे टीटा और राजा सातवाहनने तीर तरकसमें धर लिये। चन्द्रलेखाने कहा, रानी बना लो। रानी बना लिया। रानीने कहा जभी मेरी इच्छा होगी तभी तुम्हें करना होगा। राजाने कहा, ऐसा ही होगा। अब इसमें जोखिम तो है ही। और यह आज भी बहुत कुछ बना ही है। और आगे भी शायद ऐसा ही रहेगा। है न?

'जी हाँ, है तो। मेरे कुछ मित्र तो ऐसे हैं। हम उन्हें छोटे गुलाम अली कहते हैं।'"

अघोरनाथ हँसे। फिर कहते गये "ऐसे ही जो भारतीय राजनीतिके तीन महादोष हैं वे आज भी हैं। इसी प्रकार कितने ही उदाहरण इस तारतम्य सातत्य या नैरन्तर्यके दिये जा सकते हैं।

"इस तरह मेरी सम्मतिमें अन्य बातोंके अलावा ये तीन गुण हैं
१ सामान्य, २ सहजता, ३ तारतम्य।

अब दोष भी मुझसे ही न पूछो। जो विशेष बातें हैं वे पण्डित व्योमकेश शास्त्रीने अपनी टिप्पणीमें गिना भी दी हैं। उनपर उनसे ही चर्चा कर लेना।'

मेरी आँखोंमें शंका देखकर अघोरनाथने सीधी मौलाकी तरह पूछा "तुम्हारी आँखोंमें शंकाका भाव देख रहा हूँ।"

मैंने टोककर कहा "शंका नहीं जिज्ञासा।"

'जिज्ञासा भी शंका ही है। अच्छा पूछो। क्या पूछना चाहते हो?"

मैंने कहा 'आपने गुणोंकी सूचीमें व्यापकताका ज़िक्र नहीं किया। आज कल इसकी बड़ी चर्चा है। इसपर कुछ प्रकाश डालें।"

अघोरनाथजी जैसे कुछ परशानीमें पड़ गये बोले "व्यापकता व्यापकता बहुत हद तक तो है ही। अब प्रश्न है कि यह व्यापकता कितनी व्यापक है?

इतिहासकी व्यापकताको मनस्वी व्यासके महाभारत-जैसे इतिहाससे लें या वाल्मीकिके रामायण-जैसे ग्रन्थसे, तो निश्चय ही इन प्राचीन ग्रन्थोंकी तुलनामें 'चारुचन्द्रलेख' कम व्यापक है। ऐसे ही गोस्वामी तुलसीदासजीके 'रामचरितमानस' से भी इसकी व्यापकता कम ही है। लेकिन ये तो महाकाव्य हैं। इनकी व्यापकताका इस कथाकी तुलना कहाँ की जा सकती है? फिर व्यापकता ही तो अन्तिम कसौटी नहीं है। गहराई भी तो एक चीज़ है।

अघोरनाथ जम कुछ सोचमें पड गय। थमकर बोले, "एक बात मुझे अब सूझती है। इस कथाकी प्रमुख विशेषता 'चारुता' है 'व्यापकता' नहीं। इसमें शायद गहराई अधिक है, लम्बाई-चौडाई कम ही है। वैसे यह परस्पर विरुद्ध नहीं। भेद मात्राका है, गुणका नहीं।"

मैंने इस बहसको फिलहाल आगे बढाना अच्छा न समझा।

फिर, कई एक बातें स्मिाग्रम थीं। जैसे, पण्डित घोर शर्मा झमाझम पाँच सात संस्कृतके श्लोक बोल जाते हैं। उनका अर्थ वे जानते हैं, हम तो नहीं जानते, और हमारे-जैसे असंख्य पाठक हैं। उनके लिए क्या घोर शर्मा अर्थ कहनेकी आदत भी नहीं लगा सकते? या पण्डित व्योमकेश शास्त्री टिप्पणीमें इनका अर्थ नहीं दे सकते? फिर कुछ उद्बोधन-आवाहनवाले वाक्य हैं। 'उठो, जागो, एक हो जाओ!' जैसी अपीलें हैं।

इसके अलावा, एक बात कथाके अन्तके बारेमें। वैसे जो कुछ चमत्कार हुआ वह किसी एक या दो पात्रके साथ घटता तो स्वाभाविक लगता। लेकिन घटना चक्र बडी तेजीसे चल पडा है। भैरवपादको भद्रकालीका अपहर्त्ता मिल गया है, एक ही धाममें शाह धराशायी हो गया है, भद्रकालके पर-कटे पखीकी तरह गिर गये हैं, मनाने अपने ही आलेमें अपनको खोज लिया है, और वह जिसकी गोदमें है वह रानी चन्द्रलेखा है। इनमें-से एकाध तक तो ठीक है लेकिन सबका सब एक साथ घटना असहज है। लगता है जैसे अब अन्त करना है इसलिए सब कुछ एक साथ गड्ड मड्ड कर दिया गया है।

फिर प्रारम्भमें शीर्षक 'चारुचन्द्रलेख' ऐसा है जैसे कि कोई शहर बननेके पहले चहारदीवारी खींच दी गयी हो और बननेपर शहरका अच्छा-खासा हिस्सा उसके पार बसा हो।

यह सब कुछ बातें मेरे दिमागमें तब भी थीं। लेकिन इनपर चर्चा करना एक तो शिष्टाचारके खिलाफ लगा, दूसरे, इनका एक ही पदमें जवाब मेरे पास है 'समरथको नहिं दोष गुसाईं।' और 'चारुचन्द्रलेख'के 'समर्थ' होनेमें दो राय नहीं।

इसलिए इस कथाकी चर्चा वहीं छोडकर मैंने एक ऐसा प्रश्न पूछा जिसका उत्तर शायद ठीक-ठीक अघोरनाथ ही दे सकते हैं। शायद वह भी नहीं दे सकते।

मैंने पूछा 'इस कथाका प्रयोजन क्या है?'

अघोरनाथने घुडका "ऐसे व्यर्थके कितने प्रश्न तुम्हारे पास हैं? क्या पण्डित व्योमकेश शास्त्रीने 'कथामुख'में नहीं लिख दिया है कि मैं आविद्ध-सा बना लिखता गया।' अब मैं इसका प्रयोजन क्या जानूँ?"

अघोरनाथजीने तीसरे गुणकी व्याख्या करते हुए कहा, "यह गुण है तारतम्य, नरन्तय, सातत्य। अर्थात कुछ ऐसा है बारहवीं-तेरहवीं शताब्दीके भारतके लिए विशेष होते हुए भी, सब सहज, सब समय और सब चीजोंपर लागू है।'

"उदाहरणके लिए, "

"उदाहरण चाहे प्रेमसे ले लें या युद्धसे। कामल दस वर्षमें डाटा और राजा सातवाहनने तीर तरकशमें धर लिये। चन्द्रलेखाने कहा, रानी बना लो। रानी बना लिया। रानीने कहा जसी मेरी इच्छा होगी वसे तुम्हें करना होगा। राजाने कहा, ऐसा ही होगा। अब इसमें जोखिम तो है ही। और यह आज भी बहुत कुछ वसा ही है। और आगे भी शायद ऐसा ही रहेगा। है न?'

'जी हाँ है तो। मेरे कुछ मित्र तो ऐसे हैं। हम उन्हें छोटे गुलाम अली कहते हैं। "

अघोरनाथ हँसे। फिर कहते गये "ऐसे ही जो भारतीय राजनीतिके तीन महादोष हैं वे आज भी हैं। इसी प्रकार कितने ही उदाहरण इस तारतम्य, सातत्य या नरन्तयके दिये जा सकते हैं।

'इस तरह मेरी सम्मतिमें अन्य बातोंके अलावा ये तीन गुण हैं १ तादात्म्य २ सहजता, ३ तारतम्य।

अब दोष भी मुझसे ही न पूछो। जो चिरन्तन बातें हैं वे पण्डित व्योमकेश शास्त्रीने अपनी टिप्पणामें गिना भी दी हैं। उसपर उनसे ही चर्चा कर लेना।'

मेरी आँखोंमें शंका देखकर अघोरनाथने सीन्दी मौलवीकी तरह पूछा 'तुम्हारी आँखोंमें शंकाका भाव देख रहा हूँ।"

मैंने रोककर कहा "शंका नहीं, जिज्ञासा।"

जिज्ञासा भी शंका ही है। अच्छा पूछो। क्या पूछना चाहते हो?'

मैंने कहा "आपने गुणोंकी सूचीमें व्यापकताका जिक्र नहीं किया। आजकल इसकी बड़ी चर्चा है। इसपर कुछ प्रकाश डालें।"

अघोरनाथजी जसे कुछ परेशानीमें पड गये, बोले 'व्यापकता व्यापकता बहुत हद तक तो है ही। अब प्रश्न है कि यह व्यापकता कितनी व्यापक है?

इतिहासकी व्यापकताका मतलब व्यासके महाभारत-जसे इतिहाससे हो, या वाल्मीकिके रामायण-जसे ग्रन्थसे, तो निश्चय ही इन प्राचीन ग्रन्थोंकी तुलनामें चारुचन्द्रलेख कम व्यापक है। ऐसे ही गोस्वामी तुलसीदासजीके 'रामचरितमानस' में भी इसकी व्यापकता कम ही है। लेकिन ये तो महाकाव्य हैं। इनकी व्यापकतामें इस कथाकी तुलना कहाँ की जा सकती है? फिर व्यापकता ही तो अन्तिम कसौटी नहीं है। गहराई भी तो एक चीज है।'

अघोरनाथ जब कुछ सोचमें पड़ गये। थमकर बोले, "एक बात मुझे अब सूझती है। इस कथाकी प्रमुख विशेषता 'चारुता' है 'व्यापकता' नहीं। इसमें शायद गहराई अधिक है, लम्बाई-चौड़ाई कम ही है। वैसे यह परस्पर विरुद्ध नहीं। भेद मात्राका है, गुणका नहीं।'

मैंने इस बहसको फ़िलहाल आगे चलाना अच्छा न समझा।

फिर, कई एक बातें दिमागमें थीं। जब, पण्डित और शर्मा धमाधम पाँच सात संस्कृत श्लोक बोल जाते हैं। उनका अर्थ वे जानते हैं, हम तो नहीं जानते और हमारे-जैसे असंख्य पाठक हैं। इनके लिए क्या धीर शर्मा अर्थ बतलानेकी आज्ञा भी नहीं लगा सकते? या पण्डित व्यासजी शास्त्री टिप्पणीमें इनका अर्थ नहीं दे सकते? फिर कुछ उद्बोधन-आवाहनवाले वाक्य हैं। 'उठो, जागो, एक हो जाओ!' जैसी अपीलें हैं।

इसके अलावा, एक बात कथाके अन्तके बारेमें। वैसे जो कुछ चमत्कार हुआ वह किसी एक या दो पात्रके साथ घटता तो स्वाभाविक लगता। लेकिन चमत्कार-चक्र अपने तमाम चल पड़ा है। भरतपादकी भद्रकालीका अपहृता मिल गया है, एक ही क्षणमें शाह धराशायी हो गया है, भद्रकाली परकोटे पत्तेकी तरह गिर गयी है, मनाने अपने ही भालेसे अपनेको मार लिया है और वह जिसकी खोजमें है वह रानी चन्द्रलेखा है। इनमें-से एकाध बात हो सकती है लेकिन सबका सब एक साथ घटना असहज है। लगता है जैसे अब अन्त करना है, इसलिए सब कुछ एक साथ गड्ड मड्ड कर दिया गया है।

फिर, प्रारम्भमें शीर्षक 'चाण्डालिन' ऐसा है जैसे कि [illegible] पहले सहारनवाली गोद आ गयी हो और बननेपर शहरका [illegible] उसके पार बसा हो।

यह सब कुछ बातें मेरे दिमागमें तब आ रही थीं। लेकिन [illegible] एक तो शिष्टाचारके खिलाफ लगा, दूसरे उनका एक ही [illegible] है 'समरथको नहिं दोष गुसाईं।' और 'चाण्डालिन' [illegible] राय नहीं।

मैंने टोका "शास्त्रीजीने कहा यह भी तो लिखा है कि आप चाहते हैं कि आपकी कथाका प्रचार हो। आप प्रचार क्या चाहते है?"

अघोरनाथ कुछ तो ठिठके, फिर उखडकर बोले "यह मेरे मनकी मौज है, 'स्वान्त सुखाय' ह।"

मैंने फिर टोका "इतना कहकर तो अब गोस्वामी तुलसीदासजी भी नही बच सकते। मनकी मौज ह, तो प्रचारको क्या जरूरत है?"

अघोरनाथ बोले "क्या कथा रोचक नही लगी? लोगोका मनोरजन नही हुआ?'

मैंने कहा "कथा तो बहुत बढिया लगी। शुरुमें ही कह चुका हूँ कि यह मुझपर छायी रही। लेकिन मेरा प्रश्न है कि इतनी बढिया रचनाके लिए कोई बडा ही सकल्प होना चाहिए न?'

अघोरनाथ अब असमजसम पडे "अब बडा-छोटा सकल्प जो ह सो तो यही ह। हा चाहो तो यह जोड सकते हो कि यह विदेशी आक्रमणके सन्दर्भमें प्रजाम आत्म विश्वास बना रहे अपने गौरवमय इतिहासकी प्रेरणा जाग्रत रहे, यह भी इसका एक प्रयोजन ह।"

मुझे सन्तोप तो न हुआ। लेकिन कामचलाऊ जवाब मिल गया। इसलिए इस सिलसिलेका अन्तिम प्रश्न पूछा, "अच्छा यह बताइए कि सामाजिक दृष्टिसे आपकी यह कथा प्रगतिशील है या प्रतिक्रियावादी?"

इस प्रश्नपर अघोरनाथ एसा हँसे कि लगा कि छत ही उड जायेगी। जब हँसी थमी तो बोले 'यह क्या तुम्हारा प्रश्न है? तुम्हारा तो नही ह। हाँ यह प्रश्न अगर कोई पूछे तो उसे नामवर सिहजीके यहाँ भेज देना, वे जवाब दे लेंगे।

म हँस पडा, पछा 'अच्छा महाराज, एक अन्तिम बात। आजकल 'चारुचन्द्रलेख की समीक्षाआम यह बात उठायी जा रही ह कि यह ह क्या? ऐतिहासिक उपन्यास ह? या सास्कृतिक इतिहास? या ऐतिहासिक रोमास ह? या शुद्ध प्रेमकथा ह? आखिर यह है क्या?'

अघोरनाथ इसपर जैसे जी-जानसे बिगड गय, बोले ऐसी आलोचनाएँ तो घर-बठाऊ धधा ह। मुझे इससे क्या मतलब कि यह क्या है? मर लेखे तो यह जो ह, सा ह। हाँ, इन आलोचकोंसे अलबत्ता यह कह दो कि कपट कपाट खोलकर पहले 'चारुचन्द्रलेख' पढें। इसकी सुगन्धसे अभिभूत हो, जैसे मैं हुआ था। फिर लिख सकें तो लिखें। समझे? क्या समझे?

मुझे सकतेमें आया देखकर अघोरनाथ अनायास ही ठहाका लगाते उठ खड़े हुए और जानेको हुए। उनकी हँसी गूँजती ही नहीं, काँपती रही। और तब मेरी आँख खुल गयी। देखा बिल्ली दूधका गिलास गिरा गयी है। गिलास अभी भी जमीनपर खनखना रहा है। बगलमें 'चारुचन्द्रलेख'की प्रति पड़ी हुई है। मैं सोचता हूँ कि यह क्या हो गया? यह है क्या? यह सच है या एक सपना? इस बहसमें पड़े बिना, शेष रातमें इस साक्षात्कारसे प्राप्त प्रश्नोत्तरको लिख डाला।

अब यह जो भी है, सो उसका तत्त्व प्रस्तुत है।



अजनबीपन प्रेमके अभावका द्योतक है, सन्त्रास भविष्यकी उज्ज्वलताके विषयमें निराशाका परिणाम है और अनास्था समाजके प्रतिष्ठित कहे जानेवाले लोगोंके आचरणोंके भोग परायण होनेका फल है। इसमें आस्थाका केवल एक ही स्थान है—वह है साधारण जनताका स्वस्थ मनोबल। आगामी २०-२५ वर्षोंमें देशके समन्वयशील विमर्श सन्त्रासकी जगह आस्था अजनबीपनकी जगह प्रेम और आत्मनाश स्थानपर विश्वासका दर्शन हिल्लोलित होगी। कवितामें इसका महत्त्व बढ़ेगा। वह प्रमुख साहित्यांग नहीं रहेगी कहानीमें राग तत्त्व क्रमशः शिथिल होता जायगा और अर्थाभावसे बोझिल रचनाएँ बढ़ती जायेंगी। यथार्थवादका जो वर्तमान रूप है वह बहुत दिनों तक ज्यों का त्यों नहीं रहेगा। सन् दो हजार ईसवीका साहित्य आधुनिक अर्थमें यथार्थ नहीं होगा। वह बहुत कुछ चरितार्थवादीके रूपमें प्रकट होगा। विभिन्न देशोंकी आन्तरिक व्यवस्थायें भी रह रह कर विस्फोट होता रहेगा। परन्तु इससे साहित्यको नयी नयी शक्ति भी प्राप्त होती रहेगी। आगामी ३३ वर्षोंमें हिन्दी साहित्य स्वस्थ होगा अर्थात् देशके भीतरी जन जीवनकी उगती हुई आकांक्षाओंके साथ कदम रखता हुआ आगे बढ़ेगा। जहाँ तक रचना पक्ष साहित्यका प्रश्न है वह अधिकाधिक जन जीवनके सम्पर्कमें आयगा और जन जीवनको चरितार्थ करनेवाली खोजमें अधिकाधिक संलग्न होगा।

—दिनमान १३ अगस्त १९६७

द्विवेदीजीके उपन्यासोका सास्कृतिक परिवेश

• •

त्रिभुवन सिंह

अबतक प्रकाशित आचार्य हजारीप्रसादजी द्विवेदीके दो उपन्यास 'बाणभट्टकी आत्मकथा' और 'चारुचन्द्रलेख' क्रमसे हर्षवर्द्धन कालीन एव मध्ययुगीन भारतीय सस्कृतिकी सजीव झाकी प्रस्तुत करते है। द्विवेदीजीने जिस कालको अपने उपन्यासोका उपजीव्य बनाया ह उसका सम्बन्ध हमारे अतीत कालीन भारतकी सामन्ती सस्कृतिसे ह। द्विवेदीजीने अपने व्यापक अध्ययन एव अद्भुत रचनात्मक मौलिक प्रतिभाके कारण अतीतमें बिखरे सूत्रोको जोडकर एक ऐसा प्रेरणादायिनी दृष्टिभित्तिका निर्माण किया है कि जिसकी टेक लेकर वर्तमान पीढी अपनी भावी जय-यात्राका सफल अभियान कर सकती ह। इतिहास ही किसी देश अथवा जातिकी सम्पत्ति होता ह। इतिहासमे हुई भूलो एव सफलताओ को सामने रखकर किसी भी जातिको अपने कर्त्तव्यकी भावी रूपरेखा निश्चित करनेमे सहायता मिलती ह। द्विवेदीजी आशावादी प्रगतिशील साहित्यकार ह, जिससे मानवके पराभवकी आशकासे ही वे विचलित हो जाते हैं। उसके सद्गुणो एव महती शक्तिपर-से उनकी आस्था कही भी डिगती नही जान पडती। वे उसकी हीनावस्थाका अनुभव करते हुए भी उसकी अतीत गरिमाका स्मरण दिला कर उसे जातीय गौरवके अनुकूल बनानेकी कामना करते रहते ह। अपने साहित्यके माध्यमसे उन्होने यह जो महत कार्य किया है, उसमे उनके सास्कृतिक परिवेशमें लिखे ऐतिहासिक उपन्यासोने सर्वाधिक योगदान किया ह।

सास्कृतिक ऐतिहासिक उपन्यासोके माध्यममे देशीय एव जातीय सस्कृति तथा परम्परागत मान्यताओका वर्तमान सामाजिक हितमें चित्रण किया जाता ह। यो तो यह प्राय सभी ऐतिहासिक उपन्यासोका प्रिय विषय ह, पर इस प्रकारके उपन्यासोमे ऐतिहासिक पुरुषो एव घटनाओका केवल साक्ष्य भर लिया जाता ह। उपन्यासकारके विषय सग्रहके स्रोत ऐतिहासिक तथ्यात्मक घटनाएँ न होकर तत्कालीन साहित्य तथा लोकजीवनको अनुप्राणित करती हुई चली आती

किंवदंतियाँ एवं आचार विचार हुआ करते हैं, जिनका सजीव चित्रण वह अपनी कल्पनाशक्तिके माध्यमसे करता है। 'बाणभट्टकी आत्मकथा' में आये प्रमुख पात्रोंमें बाणभट्ट, सम्राट हर्षवर्द्धन तथा राज्यश्री-जैसे कुछ पात्रोंको छोड़कर शेष पात्र उपन्यासकारकी कल्पनाकी उपज हैं। जिन घटनाओं एवं परिस्थितियोंकी सहायतासे उपन्यासका कलेवर निर्मित है, उनके उपजीव्य ऐतिहासिक घटनाएँ न होकर सामाजिक एवं सांस्कृतिक घटनाएँ हैं जिन्हें प्रस्तुत करनेमें द्विवेदीजीने तत्कालीन काव्यमें प्राप्त सामग्रीसे सहायता ली है जो उस कालकी सांस्कृतिक झाँकी प्रस्तुत करनेकी दिशामें एकमात्र प्रामाणिक सामग्रीके रूपमें स्वीकार की जा सकती है। 'चारुचन्द्रलेख'के प्रमुख पात्र 'सातवाहन तथा रानी चन्द्रलेखाकी ऐतिहासिकता संदिग्ध है। कथामें रंग भरनेवाले विद्याधर तथा जल्हण-जैसे एकाध नाम उपन्यासमें आये हैं जो उपन्यासकी घटनाओंको इतिहाससे जोड़नेका असफल प्रयत्न करते हैं अन्यथा उस कालमें प्राप्त धार्मिक विषमता, राजनैतिक विशृंखलता, वज्रयानी सिद्धों तथा नाथपंथी योगियोंकी तन्त्र-मन्त्र साधना और अभिचार आदिके चमत्कारके वर्णनमें ही उपन्यासकारने अपनी काल्पनिक प्रतिभाका सर्वाधिक उपयोग किया है।

द्विवेदीजीने संस्कृतिको संकीर्ण अर्थमें न लेकर उसके व्यापक स्वरूपको ही अपने उपन्यासोंमें स्थान दिया है। हिन्दीमें संस्कृति अँगरेजी शब्द 'कल्चर'का पर्याय हो गया है और उसका प्रयोग कमसे कम संकीर्ण और व्यापक दो अर्थोंमें होता है। जिस संस्कृतिको द्विवेदीजी ने महत्त्व प्रदान किया है वह संकीर्ण नहीं बल्कि व्यापक संस्कृति है। इस प्रकार संस्कृति समस्त सीखे हुए व्यवहार—उस व्यवहारका नाम है जो सामाजिक परम्परासे प्राप्त होता है। इस अर्थमें संस्कृतिको सामाजिक प्रथा 'कस्टम'का पर्याय भी कहा जाता है। संकीर्ण अर्थमें संस्कृति एक वांछनीय वस्तु मानी जाती है और संस्कृत व्यक्ति एक श्लाघ्य व्यक्ति समझा जाता है। इस अर्थमें संस्कृति प्रायः उन गुणोंका समुदाय समझी जाती है जो व्यक्तित्व को परिष्कृत एवं समृद्ध बनाते हैं।[1] 'बाणभट्टकी आत्मकथा' में हर्षकालीन भारतमें प्राप्त सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक गतिविधियोंका बड़ा ही सरस वर्णन मिलता है। देशमें लोग ब्राह्मणोंका कितना अधिक सम्मान करते थे, उसका कुछ-न-कुछ आभास तो हमें 'बाण'से प्राप्त हो ही जाता है। ब्राह्मणोंकी सामाजिक स्थितिके सम्बन्धमें वह जो कुछ भी कहता है उससे स्मृतियोंके दृष्टिकोणका समर्थन होता है। 'बाणभट्ट' कृत हर्षचरितमें एक स्थानपर आता है (अमरतुल्यतपोऽपि जात्या द्विजन्मनो माननीया—हर्षचरित पृ० १८) जो

१ हिन्दी साहित्य कोश पृ० ८०१।

केवल जन्मसे ब्राह्मण है, परन्तु जिनकी बुद्धि संस्कारसे रहित है वे भी माननीय
है। 'निपुणिका' और 'भट्टिनी' का बार-बार यह कहना कि बाणभट्ट, तुम ब्राह्मण
हो न ? तथा बाणभट्टको प्रथम भोजन कराकर ही अन्न ग्रहण करना और उसे
एक ब्राह्मणोचित सत्कार देनेके लिए सदैव प्रस्तुत रहना आदि उस युगमें स्वीकृत
ब्राह्मणोंकी सामाजिक श्रेष्ठताका प्रमाण है। निश्चित ही यह एक सामाजिक
शिष्टाचार है जो भारतीय संस्कृतिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग रहा है। 'चारु
चन्द्रलेख' में भी धीर शर्मा और विद्याधर, राजा सातवाहन और रानी चन्द्र
लेखा-द्वारा जिस सम्मान और आदरके अधिकारी माने गये हैं उसमें भी इसी
सांस्कृतिक चेतनाका परिचय मिलता है।

छुआछूतका रोग भी हर्षकालीन भारतमें अपनी पराकाष्ठापर था। 'ह्वेन
सांग'के अनुसार 'कसाई', 'मछुए', 'मेहतर', 'जल्लाद' तथा 'नट' आदिके
निवास-स्थानोंपर पहचानके चिह्न लगा दिये गये थे और वे नगरसे बाहर रहनेके
लिए बाध्य थे तथा गाँवोंमें जाते समय बायीं ओर दबकर चलना उनके लिए
अनिवार्य था। बाणकृत कादम्बरीमें जिस समय चाण्डाल कन्याने सुग्गेको लेकर
राजा शूद्रकके दरबारमें प्रवेश किया उसने राजाको सचेत करनेके लिए कुछ
दूरसे ही हाथमें लिये हुए जर्जरित बाँस-खण्डको पीटा। इस समस्याका प्रवेश
द्विवेदीजीने अपने उपन्यासमें कादम्बरीकारके रूपमें नहीं कराया है। द्विवेदीजी
प्राचीन संस्कृतिके उसी रूपको ग्रहण करना चाहते हैं जो वर्तमान सामाजिक
जीवनको स्वस्थ रूप प्रदान कर सके। अस्वास्थ्यकर सामाजिक कुरीतियोंको
संस्कृतिके नामपर स्वीकार कर लेना उनके लिए कठिन है और यहीं आकर
हमें द्विवेदीजीकी प्रगतिशीलताका परिचय मिल जाता है। समाज विरोधी वर्ग
विर स्वतन्त्रताको भी द्विवेदीजीने कहीं भी अपना समर्थन नहीं दिया है। यही
कारण है कि उन्होंने प्राचीन संस्कृतिमें प्राप्त अस्वस्थ परम्पराओंको अपने ढंगसे
स्वीकार कर उसे समाजके लिए अत्यन्त उपयोगी बना दिया है। भट्टिनी और
निपुणिकाके आचार निष्ठ व्यवहारों-द्वारा जिस शुचिताकी झाँकी मिलती है वह
और कुछ नहीं समाजमें व्याप्त अवांछित छुआछूतका वांछित स्वरूप है।

अन्तर्जातीय विवाहोंका उस समय प्रायः अभाव था, पर कुछ-न-कुछ होते
ही रहते थे। बहुपत्नीत्वकी व्यापक प्रथा थी, इसका संकेत 'बाणभट्टकी आत्म
कथा और चारुचन्द्रलेख' दोनों ही उपन्यासोंमें मिलता है। जहाँ कहीं भी
द्विवेदीजीने इस प्रकारकी दूषित सामाजिक प्रथाओंकी चर्चा की है उनका
अभिप्राय केवल उनका इतिवृत्तात्मक वर्णन प्रस्तुत करना नहीं रहा है, बल्कि
उसके कुपरिणामोंसे पाठकको आगाह करना चाहा है। 'बाणभट्टकी आत्मकथा'

शान्तिनिकेतनसे शिवालिक

में वर्णित राजमहल तथा ठाटे कुल्का अध्यय एव अश्लील दृश्य तथा 'चारुचन्द्र लेख'में आये हिन्दू शासकोंके अन्त पुराका उल्लेख इसी तथ्यकी ओर सकेत करता ह। न जाने कितनी देवियोंके जीवनका सवनाश इस दूषित पथा द्वारा हुआ है—चाहे वह 'महामाया' रही हो अथवा 'नाटी माँ'।

प्रश्न यह उठता है कि 'वतमान' के सन्दभमें विगत सस्कृतिकी चर्चाकी उपयोगिता क्या है? सस्कृतिकी व्याख्या करते हुए यह कहा जा सकता है कि यह जीवनको जीने योग्य बनानेका प्रमुख माध्यम है। इसी आधारपर हम विगत पीढ़ियोंकी सभ्यतापर विचार करते हुए यह कहकर उसकी श्रेष्ठता प्रमाणित करते हैं कि अच्छा होता वह सस्कृति बनी रहती। जिस सस्कृतिकी चर्चा द्विवेदीजीके उपन्यासोंमें हुई है उसका सम्बन्ध सामन्ती सस्कृतिके वैभव और पराभव-काल्से ह। निश्चित ही द्विवेदीजीको उस सस्कृतिमें कुछ ऐसे तत्त्व मिले ह जिससे वतमान विषम घुटनशील जीवनको जीने योग्य बनाया जा सकता ह। सामन्ती सस्कृतिमें भौतिक सुखोंको महत्त्वपूर्ण स्थान मिला था। इसके कारण जिस प्रवृत्तिमार्गी भावनाका उदय हुआ उसकी प्रेरणासे मण्डन और अलकरणकी वृत्ति पुष्ट निकली। इस वृत्तिका उद्गम राजन्य वगकी अन्तश्चेतनामें था जिसने उसके सम्पूर्ण जीवन और परिवेशको अभिभूत कर लिया। बाण-भट्टकी आत्मकथा'में चित्रित और 'चारुचन्द्रलेख' में आये उल्लेखोंसे स्पष्ट हो जाता है कि निवेच्य कालकी सस्कृति मानव जीवनके भौतिक सुख सग्रहकी ओर अत्यधिक अग्रसर हो उठी थी और आध्यात्मिकताकी उपेक्षाके कारण जो असन्तुलन आने लगा था उसने समस्त भारतीय जनजीवनको झकझोर दिया।

अनेक धर्मोंके दुराग्रह, उनकी बहुरगताससे उत्पन्न कलह और विविध प्रकारके अपरिनिवासोंका जो चामत्कारिक वणन द्विवेदीजीके दोनों उपन्यासोंमें मिलता है, उसका एकमात्र कारण यही ह कि द्विवेदीजी जीवनको जीनेयोग्य बनानेवाले उन सभी तत्त्वोंका उल्लेख करना चाहते हैं जिनकी मानवको आवश्यकता ह। प्रचलित सामाजिक धार्मिक एव राजनतिक विकृत स्थितियाँ जो चित्र उपन्यासमें आये हैं, वे इस प्रकार रखे गये ह कि पाठक स्वत ही वांछित अवांछितका निर्णय कर लेता ह। एक ऐतिहासिक परिवेशमें रची गयी कृतिका यही महत्त्व ह। आज विगतको पुनर्जीवित करना अथवा प्रमाण अस्वीकार्य होनेवाली सस्कृतिको आधुनिक परिस्थितियोंमें बलपूर्वक कतिपय असम्भाव्य बातें प्रस्तुत हो सकती हैं। बाणभट्टकी आत्मकथा और 'चारुचन्द्रलेख'में भी इसका अभाव नहीं ह पर द्विवेदीजीने भरसक प्रयत्न किया ह कि भूतकालीन मोनाका सदुपयोग सम सामयिक समस्याके निराकरणमें ही किया जाय।

अतीत मथा

भारत सदासे धर्मप्राण देश रहा है। आज भी धर्मबुद्धिवाला व्यक्ति चाहे किसी भी सम्प्रदायका क्यों न हो सभी धर्मोंके प्रति आदर भाव रखता है। शैव वैष्णव मन्दिरके सामनेसे जब निकलता है तो मस्तक झुका लेता है और ठीक ऐसी ही स्थिति एक वैष्णवकी शिवमन्दिरके सामने आनेपर होती है। हिन्दू जातिके निर्माणमें विविध धर्मोंने समय-समय पर अपना हाथ लगाया है। धर्म युगकी उपज है। जो धर्मयुगीन परिस्थितियोंके साथ लेकर नहीं चलता वह निर्जीव हो जाता है। इतिहास पीछे मुड़कर नहीं देखता, उसके पाँव आगेकी ओर बढ़ते ही जाते हैं। परिस्थितियाँ बदलती रहती हैं जो समय-समयपर आवश्य कतानुसार नवीन धर्मको जन्म देती है। समयक्रममें आये दोषोंको भी धर्मके नामपर स्वीकार कर लेना आस्तिकता नहीं है, ऐसा द्विवेदीजी भी स्वीकार करते जान पड़ते हैं। उन्होंने 'चारुचन्द्रलेख'के अन्तिम पृष्ठपर अघोरनाथका जो परिचय दिया है उसमें और कुछ नहीं उनकी स्वयंकी मान्यताएं है। अतीतकी घटनाओंका उनके लिए क्या महत्त्व है और उसे उन्होंने अपने कथा साहित्यमें क्या महत्त्व प्रदान किया है इसमें स्पष्ट हो जाता है। 'अघोरनाथ आधुनिक विचारोंके पुरानी परिपाटीमें दीक्षित सिद्ध हैं। वे भावुक और कल्पनाप्रवण जीव हैं। कथाओंमें ऐसे विचार मिलते हैं जो आधुनिक युगकी देन हैं पर सर्वत्र उनपर पुराने ढंगकी भाषाका आवरण है।'[1] प्राचीन साहित्य और संस्कृतिके द्विवेदीजी कितने पारंगत पण्डित हैं, इसे सहज ही उनकी कृतियोंसे जाना जा सकता है पर वे सममामयिक परिप्रेक्ष्यमें अतीतको सामने रखकर किस निष्कर्षपर पहुँचते हैं यह विचारणीय है। सत्यको झुठला जाना न तो द्विवेदीजीके वशकी बात है और न तो वे उसे झुठलाना चाहते ही हैं। भारतकी अतीत हिन्दू-संस्कृतिका जयघोष करनेवाले द्विवेदीजी हिन्दू विरोधी इस्लामी संस्कृतिकी शक्ति और सामर्थ्यकी जब चर्चा करने लग जाते हैं तो हम उनकी उदारता और कल्याण दर्शन एक साथ पाते हैं। 'जो महान इस्लाम आ रहा है उसे ठीक-ठीक समझो। उसके एक हाथमें अमृतका भाण्ड है दूसरेमें नग्न कृपाण। वह समानताका मन्त्र लेकर आया है, मनुष्यके आचारोंको चुनौती देनेका अपार साहस लेकर उद्भूत हुआ है और रास्तेमें जो बाधक हो उसे साफ कर देनेका विकट संकल्प लेकर निकला है। उसने लोक-कलेवरको पैरों तले दबाकर उसकी मांस मज्जाके ढेरपर प्रासाद खड़ा करनेकी त्रुटि नहीं दिखायी।'[2] सड़े गले आचारों एवं विषमताओंके जिस विषने देश और जातिको निर्वीर्य बना दिया उसके विरुद्ध

[1] चारुचन्द्रलेख, पृ० ४३८।
[2] „ „ ३८१।

को स्वीकार करनेमें द्विवेदीजीको किसी भी प्रकारकी हिचक नहीं जिससे वे स्पष्ट कह देना चाहते हैं कि हिन्दू संस्कृतिने मांस-मज्जाके ढूहपर जो प्रासाद खड़ा किया है, वह ढहनेवाला है। यदि उसमें आसक्ति रखनेवाले समय रहते नहीं चेत जाते तो उनके अस्तित्वपर ही प्रश्नवाची चिह्न लगा है।

मानवतावादी लेखक होनेके नाते द्विवेदीजीने समाजकी व्यवस्थाको प्रभावित करनेवाले उन सभी तत्त्वोंपर दृष्टि डाली है जो मानवको मानव बनानेमें सहायक सिद्ध होते हैं। समसामयिक समस्याओंके सन्दर्भमें ही वे मानव धर्मकी कल्पना करते हैं न कि जड़ता एवं अन्धविश्वासोंसे ग्रसित रूढ़िवादिताके आधारपर। उनके अनुसार—'सामाजिक मंगलके लिए जो सहज प्रवृत्ति है उसीका नाम धर्म है।"[1] मानवी शक्तिपर भरोसा करते हुए वे कहते हैं—"स्वर्गका देवता पृथ्वीपर भाग-भलकार लेकर नहीं आता। जो लोग धर्मबुद्धि सम्पन्न हैं उन्हींको वे सुबुद्धि और शक्ति देते हैं। यह सुबुद्धि ही देवता है। शक्ति ही देवता है।"[2] जिन लोगोंने धर्मका ठेका ले रखा है और अपने कार्योंसे सामाजिक हितको हानि पहुँचा रहे हैं वे कितने भी महान् और आदरणीय क्यों न हों, द्विवेदीजी उन्हें सम्मान देनेको तैयार नहीं। उन्हें कहते देर नहीं लगती कि यह जो विरतिवज्र है वह किसी समय बौद्ध भिक्षु या वैष्णव भक्त कुछ अजब-सा लगता है।"[3]

टी० एस० इलियटने संस्कृतिके सम्बन्धमें अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि "संस्कृति विशिष्ट लोगोंके एक निश्चित स्थानपर साथ रहने और जीवनयापन करनेका एक निश्चित क्रम है। विशिष्ट लोगोंसे उसका तात्पर्य उन लोगोंसे हो सकता है, जिनकी सामाजिक स्थिति अन्य दृष्टियोंके साथ भौतिक दृष्टिसे भी अच्छी हो। तभी वे समसामयिक परिस्थितियोंपर नियन्त्रण रखते हुए अपने प्रभावका उपयोग कर एक सामाजिक अनुशासनकी सृष्टि कर सकते हैं। सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय जीवनमें पारस्परिक सम्बन्धोंका बड़ा महत्त्व होता है जिसके अभावमें राष्ट्र एवं जातिकी आन्तरिक एकता टूट जायगी। ऐसी राष्ट्रीय संस्कृति जो स्वेच्छया अनियन्त्रित परिस्थितियोंके घात-प्रतिघातके कारण अपनेको अन्य स्रोतोंसे विच्छिन्न कर लेती है वह उपहासका विषय बन जाती है। इसके साथ ही वह देश जो अन्य देशोंकी संस्कृतियोंसे कुछ प्राप्त तो करता है पर उन्हें बदलेमें देनेके लिए उसके पास कुछ नहीं और वह

१ पुनर्नवा, पृ० २८६।
२ „ „ २८८।
३ बाणभट्टकी आत्मकथा, पृ० २९१।

देश जो अपनी संस्कृतिको दूसरेपर लादना तो चाहता है पर दूसरे देशोंसे कुछ ग्रहण नहीं करना चाहता वह आदान प्रदानके अभावसे ग्रसित होता है। बाण भट्ट की आत्मकथा और चारुचन्द्रलेखके द्वारा द्विवेदीजीने हमारी संस्कृतिके कुछ ऐसे गौरवमय पक्षोंका उद्घाटन किया है जो कि वर्तमान पीढ़ीको दायके रूपमें मिले हैं। अपनी प्राचीनताके कारण तो हम अन्य संस्कृतियोंको प्रभावित करते ही रहे हैं, पर साथ ही आज हमारे पास इतनी पूँजी है कि हम दूसरोंको बहुत कुछ दे सकते हैं। जहाँतक हमारी ग्रहणशीलताका प्रश्न है इतिहास साक्षी है हमने सद्गुणोंको बराबर आत्मसात किया है चाहे वे किसी भी संस्कृतिके क्यों न रहे हों। द्विवेदीजीके दोनों ही उपन्यासोंमें विभिन्न विचारधाराओं, कलाओं एवं धार्मिक मान्यताओंका उल्लेख हुआ है पर जान-बूझकर किसीके प्रति पक्षपातका न तो उनमें आग्रह पाया जाता है और न तो किसीके प्रति घृणा उत्पन्न करनेका ही प्रयत्न किया गया है। हर्षवर्द्धनकी राजसभाका जो रूप 'बाणभट्टकी आत्मकथा'में आया है उसमें समन्वयकी भावनाको ही बल प्रदान किया गया है। सम्राट हर्षवर्द्धन स्वयं एक संस्कृत व्यक्ति थे जिनके द्वारा हिन्दू संस्कृतिका अविच्छिन्न विकास हुआ। टी० एस० इलियटका कथन है कि संस्कृतिके विकासमें महत्त्वपूर्ण योग देनेवाला व्यक्ति भी सदा संस्कृत व्यक्ति हो नहीं होता।[1] बाणभट्ट की आत्मकथामें संस्कृत और असंस्कृत दोनों प्रकारके व्यक्तियोंकी चर्चा मिलती है जो तत्कालीन संस्कृतिके विकासमें समान रूपसे अपना योग दान करते हैं। सम्राट हर्षवर्द्धनकी शालीनता तो इतिहास प्रसिद्ध ही है कुमार कृष्णवर्द्धनके जिस उदात्त चरित्रकी कल्पना उपन्यासकारने की है वह आगे आनेवाली सभ्य पीढ़ियोंके लिए अनुकरणीय है। छोटे राजकुलसे चारकी भाँति घुसकर भट्टिनीको निकाल लानेका जो कानूनकी दृष्टिमें अपराध बाणभट्टने किया था उसे क्षमा करनेकी शक्ति कुमार कृष्णवर्द्धन ऐसे संस्कृत राजपुरुषमें ही हो सकती है जो बाण द्वारा कहे गये कटु वचनोंको भी नजरअन्दाज कर जाते हैं। विविध धर्मोंके प्रति कुमारकी सहिष्णुता और 'भट्टिनी'को बहानेके रूपमें समाप्त करनेकी उदारताने उसके व्यक्तित्वको स्पृहणीय बना दिया है। सामन्ती संस्कृतिके विकासमें कुमार कृष्णवर्द्धन-ऐसे केवल संस्कृत राजपुरुषोंका ही योग दान नहीं होता बल्कि छोटे राजकुल जैसे स्थानोंपर भी संस्कृतिका विकास होता

---

1 The person who contributes to culture however important his contribution may be is not always a cultured person —Notes towards the definition of culture T S Eliot

शान्तिनिकेतनसे शिवालिक

है। भोग विलासमें आकण्ठ डूबे छोटे राजकुल-जन सामन्तों-द्वारा ललित कलाओं को प्रश्रय दिया जाता था। यद्यपि वे भोग समारम्भ अपनी ऐहिक इच्छाओंकी तृप्तिके लिए करते थे पर अनजाने वे एक बहुत बड़े समुदायका पोषण करते हुए विभिन्न कलाओंको सदा कर जाते थे। सुबहसे शाम तक सामन्तोंकी बैठकोंका क्रम कला प्रदर्शनका ही क्रम था। यह दूसरी बात है कि उनकी नारीविषयक दुर्बलताके कारण पापाचारको भी बढ़ावा मिलता रहा जिसमें 'भट्टिनी'-जैसी देवियोंको यन्त्रणाएँ सहनी पड़ती थीं। संस्कृतिको अब हम यहाँपर संकीर्ण अर्थोंमें न लेकर व्यापक अर्थोंमें ले रहे हैं।

प्रायः लोग संस्कृतिको धर्मसे अलग करके नहीं देख पाते और इस प्रकार वे संस्कृतिके परिवेशको अत्यन्त सीमित कर देते हैं। जिस प्रकार कलाओंका उदय मानव जीवनको सुखमय बनानेके लिए समय-समयपर होता रहता है उसी प्रकार समय-समयपर धर्मकी रूपरेखा भी निश्चित होती रहती है। "धर्म मानव निर्मित है धर्म मानवका निर्माता नहीं।"[1] कभी-कभी तो धर्मका अन्धानुकरण समाजके विकासमें घातक सिद्ध होता है। इसीलिए कार्ल मार्क्सने धर्मको 'अफीम' की संज्ञा दी है जो लोगोंको सही दिशामें सोचने ही नहीं देता। अतः कभी-कभी संकीर्ण अर्थोंमें स्वीकृत धर्मका बहिष्कार आवश्यक हो जाता है। मार्क्सने स्पष्ट शब्दोंमें स्वीकार किया है कि "यथार्थ मानवीय सुखकी यह माँग है कि उसको उसके लिए मिथ्या सुखकी सृष्टि करनेवाले धर्म का बहिष्कार हो।"[2]

द्विवेदीजीने सबल एवं आवश्यक धर्मके बहिष्कारको मान्यता प्रदान की है। वे स्पष्ट स्वीकार करते हैं— यह सब मिथ्या है। सिद्धियोंके पीछे पागल बननेकी इस हवाने वर्णाश्रम-धर्मको भ्रष्ट कर दिया। कायरता और हताशाका अपना नेता समर्पणवाली भक्तिकी दशा जो होनी चाहिए वही आज इस जन-समूहकी दशा होगी। निरर्थक मन्त्रोंकी निरर्थक रट इसमें प्राण शक्तिका संचार नहीं कर सकती। मनुष्यको देवता बनानेके लिए आत्मविश्वास और दृढ़ संयमकी आवश्यकता है।[3] [illegible] कथा साहित्यमें एक ही धर्म और संस्कृतिके प्रति आस्था व्यक्त की गयी है जो मानवको देवता बना सके। धर्म और कलाका परस्पर सहयोग समाजके लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता है। कलामय संवेदना

---

1 Man makes religion religion does not make man

2 The removal of religion as the illusory happiness of the people is the demand for their real happiness —Karl Marx

3 [illegible], पृ० १२७–१२८।

अतीत कथा

धार्मिक संवेदनासे विच्छिन्न होनेपर दुर्बल हो जाती है और धार्मिकता कलात्मक संवेदनासे विच्छिन्न होकर इसी स्थितिको प्राप्त होती है। द्विवेदीजीने कथा धार्मिक भावनाओंको प्रश्रय नहीं दिया है। वे उसे कल्पना-जगतकी वस्तु न मानकर उपयोगी कलाओंके साथ जोड़ना चाहते हैं। मानवतावादी लेखकके लिए यह आवश्यक भी है। संस्कृतिको पूर्णरूपेण चेतनाका ही विषय नहीं बनाया जा सकता। संस्कृति जिसके विषयमें हम पूर्ण रूपमें सचेत न हों, चेतनाकी समग्रताको प्रस्तुत कर भी नहीं सकती। संस्कृतिका कार्य उन व्यक्तियों की प्रक्रियाओंको निश्चित दिशाकी ओर प्रेरित करना है जो इस बातकी व्यवस्था करना चाहते हैं जिसे सभ्यताकी संज्ञा दी जा सके। 'बाणभट्टकी आत्मकथा'में वर्णित व्यापक संस्कृतिसे अनुशासित विशिष्ट जनसमुदाय ही हर्षकालीन सभ्यता का नियामक है।

एक ओर जहाँ द्विवेदीजी धर्म और सामाजिक व्यवस्थाकी अत्यन्त उदार व्याख्या प्रस्तुत करते हैं, वहीं यह प्रश्न उठता है कि उन्होंने विवेचनाके लिए सामन्ती संस्कृतिको ही क्यों चुना। ऐसे प्रसंगोंकी उद्भावना उन्होंने क्यों नहीं की कि जिसमें मानवको समान अधिकार दिलानेकी हिमायत की जा सकती थी। 'बाणभट्टकी आत्मकथा' और 'चारुचन्द्रलेख' में द्विवेदीजीने धर्म, संस्कृति और समाजव्यवस्थाकी जो लौह प्राचीर खींच दी है, उसमें उनके रोमाण्टिक कहे जाने वाले कल्पनाप्रवण पात्र छटपटा रहे हैं, उनका दम घुट रहा है। वे बन्धनमुक्त होना चाहते हैं, शक्ति संचित करते हैं पर वेदनाकी एक टीस छोड़कर मौन रह जाते हैं। एक ओर तो उनके पात्र समसामयिक समाजव्यवस्थाके बन्धनमें अपनेको बँधा पा रहे हैं, दूसरी ओर उन्होंने अपनी व्यक्तिगत संस्कृतिका भी विकास कर लिया है, जिससे मुक्त होनेकी इच्छा रहते हुए भी परस्पर सम्बन्धोंका विकास उस दिशामें नहीं कर पाते। हाथ बढ़ाते हैं या बढ़ाना चाहते हैं। पर जैसे सामने अग्निपिण्ड हो, जलनेके भयसे हतप्रभ हो जाते हैं। चाहे बाणभट्ट 'भट्टिनी' और 'निपुणिका' हो, चाहे सातवाहन, 'चन्द्रलेखा' और 'मैना'। यह मसोस स्नेह सम्बन्धोंके क्षेत्रमें ही प्रायः देखनेको मिलती है। कहीं-न-कहीं तो संयमको महत्त्व देना ही पड़ेगा अन्यथा अराजकताकी स्थितिमें सामाजिक विशृंखलता समूची आस्थाको ले डूबेगी। पूर्ण समताकी बात कल्पनाकी वस्तु है। पूर्ण समता का अर्थ विश्वजनीन उत्तरदायित्व होता है। समाजमें हर व्यक्ति निम्नतम या अधिकतम उत्तरदायित्वको प्राप्त करता है। यही उत्तरदायित्व सामूहिक हितका केन्द्र बिन्दु बनता है। इस उत्तरदायित्वकी उपलब्धिमें व्यक्तिकी सामाजिक स्थिति विशेष रूपसे उल्लेखनीय होती है।

सामाजिक हितकी दृष्टिसे व्यक्तिके उत्तरदायित्वोंमें भिन्नता भी हो सकती है। ऐसे प्रजातन्त्रमें जिसमें हर व्यक्ति हर परिस्थितिमें समान अधिकारका अधिकारी समझा जाता है, सामूहिक हितके लिए लाभप्रद नहीं सिद्ध हो सकता। यही कारण है कि द्विवेदीजीने अपने कथा-साहित्यमें सबको महत्त्व देते हुए अधिकार और कर्तव्यके परस्पर उपयोगी सम्बन्धोंको महत्त्वपूर्ण माना है। योग्यतानुसार अवसर प्रदान करनेवाली समाज-व्यवस्थाको स्वीकार कर लेनेमें कोई हर्ज नहीं, चाहे वह वर्णाश्रमकी हो अथवा अन्य किसी धर्मके आधारपर विकसित हुई हो। ऐसा करनेके कारण ही द्विवेदीजी अपने उपन्यासोंमें एक विकासशील संस्कृतिको समाहित कर सके हैं। संस्कृतिको कोई एक निश्चित रूप रखा नहीं है। थोड़ा-बहुत साम्य रखनेवाली विभिन्न गति-विधियोंकी यह निर्मिति है। इसमें मनुष्य-द्वारा परम्पराकी चेतना, उत्तरदायित्वता तथा शालीन व्यवहार सम्बन्धी विषयोंकी रक्षाके लिए पूर्ण अवकाश रहता है। द्विवेदीजीके सभी उपन्यास ऐसे प्रसंगोंसे भरे पड़े हैं।

मैथ्यू आर्नल्ड ने लिखा है कि वह कौन-सा महत्त्वपूर्ण पहलू है जिसको संस्कृति सम्भावित करती है। इसका उत्तर देते हुए उसने कहा है कि वह महत्ता है, जो ऐसी आध्यात्मिक परिस्थितियोंको उद्भासित करती है जिसमें प्रेम, अभिरुचि और समाजके लिए विशिष्ट भाव होता है। कलाकार सम्पूर्ण सांस्कृतिक परिवेशपर दृष्टिपात करके कलाकृतिके लिए इसकी उपयुक्तता या अनुपयुक्ततापर विचार करता है। उसके साथ सार्वजनिक अभिरुचि, उच्चवर्ग और निम्नवर्गके सम्बन्ध, धर्मका प्रभाव तथा नैतिकता और राजनैतिक विचारोंकी व्यवस्था किसी-न-किसी रूपमें विद्यमान रहती है। चेतना जनतामें पलनेवाले विचारोंको ही संस्कृतिका अन्तिम रूप मान लेना कभी भी समाजके हितमें नहीं हो सकता। "मानव अस्तित्वका आधार मानव चेतना नहीं है बल्कि मानवका सामाजिक अस्तित्व ही उसकी चेतनाका निर्णायक है।"[1] द्विवेदीजीने मानवके सामाजिक अस्तित्वको स्थिति प्रदान करनेके लिए ही सम्भवतः ललित कलाओंके महत्त्वको स्वीकार किया है। चित्रकला और संगीत-कला सामन्ती संस्कृतिका महत्त्वपूर्ण अंग रही है। इन कलाओंका उपयोग व्यक्तिको सम्पन्न बनानेसे लेकर उसे समय-समयपर उपयोगी शिक्षा प्रदान करने

---

१ It is not the consciousness of human beings which determines their existence—It is their social existence which determines their consciousness —Karl Marx

तकके लिए होता रहा है। निरंकुश शासकाके स्वभाव परिवर्तनमे लेकर प्रेम प्रसगोमें आत्मविस्तार तक यह कला सहयोगी सिद्ध होती रही है। चित्रकलाकी लोकप्रियताके दर्शन हमें 'बाणभट्टकी आत्मकथा' और 'चारुचन्द्रलेख' दोनो ही उपन्यासोंमें होते हैं। 'बाणभट्टकी आत्मकथा'मे उज्जयिनीकी प्रधान गणिका 'मदनश्री' प्रेमासक्तिके कारण बाणभट्ट का चित्र बनाती है और 'चारुचन्द्रलेख' में 'मैना' 'सातवाहन'का चित्र बनाती है। ये दोनो चित्र परोक्षमे बनाये जाते है और दोनो ही चित्र उन नारियोंके सम्मुख आते है जो चित्रके आधारपर व्यक्तिको किसी-न किसी रूपमें प्रेम करती है। चित्र बनाये भी गये है ऐसी नारियो-द्वारा जो मौन प्रेमकी शिकार बन चुकी है। दोनो चित्रोंके बननेका रहस्योद्घाटन प्रेमिकाओ द्वारा मूल व्यक्तिसे समय आनेपर किया जाता है। उपन्यासकारने एक तीरसे दो शिकार किया है। पुरुषके समयका आदर्श भी उसके पाठकोंके सामने रख दिया और चित्रकलाकी लोकप्रियताका उल्लेख भी हो गया। 'बाणभट्ट के सम्मुख 'मदनश्री'की पराजय और मैना के सामने 'सातवाहन का सयम पुरुष जातिके लिए गौरवका प्रसग है। बाणभट्टकी आत्मकथामे हर्षवर्धनकी राजसभाका रोचक वर्णन करते समय भी द्विवदीजी चित्रकलाका उल्लेख करना नहीं भूले। 'कुछ तो ऐसे ढीठ थे जो भरी सभामें किसी रमणीके कपोल देखकर तिलक रचना कर रहे थे।'[1] इस प्रकार कलाओका अनुचित ढगसे भी उपयोग किया जाना रहा पर यह उच्छृखलता सर्वत्र नहीं बल्कि विलासी सामन्तोकी गोष्ठियोमे ही थी पर इस क्षत्रम मिलती थी। सगीतकी लोकप्रियता तो पूरे समाजमें ही थी। दाम्पत्य जीवनको सुखी बनानेके लिए नारियाँ अपनेमे जिन जिन कलाओका विकास करती थी उनमें सगीत प्रमुख था। 'बाणभट्ट'ने भी जब पहला बार छोटे राजकुलमें बन्दिनी भट्टिनी को देखा तो वह वीणा बजा रही थी। चारुचन्द्रलेख के नारी पात्र भी समय समयपर अपनी सगीतप्रियताका परिचय देते है। अभिनय तो इतना लोकप्रिय था कि सम्भ्रान्त नारियें एव विद्वान भी स्वय अभिनयकी भूमिकामें उतरते थे। बाणभट्टकी गारी भटकाना नाटक मण्डलीका लेकर ही हुई है और राज-सभामें सम्मानित स्थान प्राप्त कर राजाके हाथसे ताम्बूल ग्रहण करनेका गौरवलाभ करनेपर भी वह निपुणिका के साथ अभिनयकी भूमिकामें उतरता है, जिसमे निपुणिका की ऐहिक लीला भी समाप्त हो जाती है। कलाओकी नर्तकियोकी एव एव भगिमाओ तथा उसके सामाजिक सम्मान एव उपयोगको इतिहास सम्मत व्याख्या करते समय द्विवेदीजीने उनके स्वरूपको ममुरित रखा है।

शान्तिनिकेतनसे शिवालिक

1 बाणभट्टकी आत्मकथा, पृ० २४६।

अभिनयके पश्चात् 'भट्टके आग्रह भरे स्वरको सुनकर जब निपुणिका खड़ी हो गयी तो 'उसका बाया हाथ कटिदेशपर न्यस्त था, कंकण कटाग्रपर सरक आया था, दाहिना हाथ शिथिल श्यामलताके समान झूल पड़ा था। उसकी कमनीय कल्पना नृत्यभंगीसे जरा झुक गयी थी, मुखमण्डल श्रमबिन्दुओंसे परिपूर्ण था।'[1] एक ओर तो कलाके प्रति सामान्य नागरिकोंके मनमें श्रद्धा भाव लक्षित होना और दूसरी ओर शासकों-द्वारा उनका इस दुर्बलताका अनुचित लाभ उठानेका भी प्रयास सहज मिल जाता है। प्रसिद्ध नर्तकी चारुस्मिता के नृत्यके प्रति थानेश्वर के निवासियोंमें अपूर्व प्रेम था पर कवि 'धावक' ने सच ही कहा है कि "चारुस्मिताका नृत्य कायकुब्जेश्वर विद्रोही जनताको वशमें ले आनेका अस्त्र है।"[2]

जीवन संस्कृतिमें अभिरुचि अथवा लालित्यबोधका महत्त्वपूर्ण स्थान होता है और द्विवेदीजीके विवेच्य काव्यकी संस्कृति इस दिशामें अत्यन्त गौरवमयी रही है—ऐसा उनके वर्णनोंसे मिलता है। नागरक की यह अभिरुचि—भावना व्यक्तिसे आरम्भ होकर समाज और राष्ट्र तक जाती है। वात्स्यायन द्वारा कामसूत्र में नागरक गृहका वर्णन जिस प्रकार किया गया है उपन्यासकारने भट्टिनी के थानेश्वर स्थित गृहका वर्णन भी उसी प्रकार किया है। भट्टिनी जिस घरमें बैठी थी वहाँपर उसकी बगलमें एक वेदिकापर माल्य चन्दन और अनेक प्रकारके उपलेपन रखे हुए थे। एक छोटी-सी स्फटिक पीठिकापर सुगन्धित सिक्थ करण्डक (मोमबत्तीकी पिटारी) और सौगन्धिक पुटिका (डब्बा) रखा हुआ था, खूँटियोंपर लाल कपड़ेमें लिपटी हुई एक वीणा रखी थी।[3] प्रसाधनोंके वैविध्य और उनके प्रयोगके प्रति अभिरुचिका उल्लेख करनेके लिए उपर्युक्त प्रसाधन सामग्रीकी चर्चा की है। भोजन समय चार फेंके गये थे उन पत्तलिकाओंमें नागकेसर (मधुबन) मन शिला हरिताल, हिंगुल, और राजावर्तका चूर्ण रखा हुआ था।' स्पष्ट हो यह प्रसाधनके चित्रकर्मकी सामग्री थी। इससे स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्तिके प्रसाधनोंके प्रति उत्पन्न अभिरुचिका विकास चित्रकलाके अनुराग तक होता है। चित्रकलाको सदा प्रसाधनों के लिए प्रसाधनके प्रयासकी भाँति उसकी संस्कृतिका एक अंग बन गया थी।

सामाजिक रुचिमें परिवर्तन आने ही सौन्दर्यके प्रति व्यक्तिके दृष्टिकोणमें भी परिवर्तन हो जाता है। द्विवेदीजीने अपने उपन्यासोंमें अनेक रूपवती नारियों

1 बाणभट्टकी आत्मकथा पृ० २१।
2 वही, पृ० ३८२।
3 वही, पृ० ३६।

अतीत कथा
८३

का आवश्यक चित्र खींचा है। पर कहींसे भी बीसवीं शताब्दीकी उस नारीकी छाया उनपर नहीं पड़ने पायी है, जो जीवनके हर क्षेत्रमें पुरुषोंसे प्रतिद्वन्द्विता करती हुई समान अधिकार प्राप्त करनेके लिए आन्दोलन करनेको तैयार है और जो भौतिकवादी आडम्बरपूर्ण प्रसाधनोंसे सज धजकर लोगोंकी आँखोंको चौंधिया देनेकी होड लगा रही है। नारियोंका सौन्दर्य उनके प्रसाधनोंपर नहीं बल्कि उनके गुणोंपर आधृत है जो स्वाभाविक लज्जा एवं संकोचके कारण और भी आकर्षक बन जाता है। द्विवेदीजी जब नारी-सौन्दर्यका चित्रण करने लगते हैं तो उनके सम्मुख अतीतकालीन भारतकी वे महिमामयी नारियाँ आकर उपस्थित हो जाती हैं, जिन्हें चित्रित कर संस्कृत-काव्यके स्रष्टा अमर हो गये। वह सौन्दर्य ऐसा सौन्दर्य है जिसे देखकर पतित व्यक्तिके हृदयमें भी भक्तिकी भावना उत्पन्न हुए बिना नहीं रहती। इस प्रकारके सौन्दर्यको आकर्षक बनानेके लिए जिन ललित कलाओंकी लोकप्रियता मिल रही थी वे सभी संस्कृतिकी अंग हैं, द्विवेदीजीने अपने उपन्यासोंमें जिनका जमकर वर्णन किया है।

कला मानव जीवनका अद्भुत प्रतिफलन है। इसके अन्तर्गत अन्तर्दृष्टि और और अनुभूतिके अभूतपूर्व स्वरूप सन्निहित रहते हैं। जिस किसी भी समाजकी निश्चित संस्कृति होती है वही उपयुक्त प्रकारकी कलाका उद्भावक होता है। प्रश्न यह उठता है कि कलाका-क्या महत्त्व है और उसका मानवके विकास क्रममें क्या सम्बन्ध है? उत्तरस्वरूप यही कहा जा सकता है कि यह मात्र बौद्धिक अनुरंजन नहीं अपितु बौद्धिक जीवनकी अपरिहार्य आवश्यकता है। यह मात्र धर्म नहीं अपितु धर्मके साथ विकसित होकर उसे संवर्द्धित करते हुए उसकी प्रमुख निर्माणिका है। 'बाणभट्टकी आत्मकथा' और 'चारुचन्द्रलेख' दोनों ही उपन्यासोंमें राजा प्रजाके सम्बन्धोंकी चर्चा दार्शनिक चिन्तनके स्वरूप, तत्त्वचिन्तन, नारी पुरुषके स्वस्थ सामाजिक सम्बन्धों, वास्तविक धर्म रक्षणके प्रति आग्रह, पर-नारीके प्रति अनास्था स्त्रीके वास्तविक स्वरूपकी चर्चा, सात्त्विक प्रेमके महत्त्व सामाजिक सन्दर्भमें सच-झूठकी वास्तविक स्थितिसे लेकर लोक जीवनमें रानीको दिये जानेवाले सम्मानकी विशद व्याख्या हुई है। इस प्रकार द्विवेदीजीने संस्कृतिका उदात्त चित्र ही न प्रस्तुत कर उसका सर्वांगीण रूप ही समाजके लिए सामने रखते हुए प्रस्तुत किया है।

जीवनमें सन्तुलनका होना आवश्यक है। संस्कृति इस बातको प्रतिपादित करती है कि पूर्णताके मानदण्ड मात्र भौतिक नहीं अपितु अन्य रूपमें आध्यात्मिक भी हैं। अतएव इसकी दृष्टिमें धर्मका सापेक्ष महत्त्व होता है। अगर संस्कृतिमें इस प्रकारके आध्यात्मिक स्वरूपोंके लिए आग्रह न हो तो सम्पूर्ण सभ्यताके विनष्ट

हो जानेका भय बना रहता है। संस्कृति सर्वप्रथम व्यक्तिपर दृष्टिपात करती है। द्विवेदीजीने पात्रोंके व्यक्तित्वपर विशेष बल दिया है और उनके जितने प्रमुख पात्र हैं उनकी अपनी एक अलग संस्कृति है। पर अपनी वैयक्तिक विशेषताओंके साथ वे अपने समाजके अविच्छिन्न अंग भी बने हुए हैं। यही उनकी सबसे बड़ी विशेषता है। जिन पात्रोंको मूल समाजसे नहीं मिला वे तान्त्रिक अथवा सिद्ध हैं जो किसी न किसी अभावके कारण कुण्ठित जीवन व्यतीत करनेके लिए विवश हुए हैं। संस्कृति व्यक्ति-स्वभाव, वाणी और अभिव्यक्ति-क्षमता रहन-सहनपर दृष्टिपात करती हुई उनपर गम्भीरतापूर्वक विचार करती है। इस विचारकी परिधि पर्याप्त व्यापक होती है। संस्कृति मात्र मशीनी सभ्यताका अतिक्रमण करती है। यह घृणासे घृणा करती है। इसकी एक निश्चित चाह होती है और इस चाहका समन्वय आदर्श और प्रकाशमें होता है।

यह अपनी इस अभिलाषाको प्रचारित करनेका उपक्रम करती है और यह क्रिया तबतक चलती रहती है, जबतक व्यक्ति पूर्णताको नहीं प्राप्त कर लेता। द्रष्टव्य है कि द्विवेदीजीके दोनों ही उपन्यासोंकी कथा भी अधूरी रह गयी है और उनकी कथाके विशेषकर प्रमुख पात्रोंका जीवन भी अधूरा रह गया है। पर ऐसा नहीं है कि वे अपूर्ण हैं। पूर्णताके चित्र उनके मस्तिष्कमें हैं जिसे जीवनमें उतारनेके लिए वे बेचैन हैं, उतारनेका वे प्रयत्न भी करते हैं और पूर्ण होते-होते उनके सामने कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्य आ जाते हैं कि वे वैयक्तिक पूर्णता प्राप्तिके प्रयत्नमें निमग्न हो उन्हें छोड़कर भिन्न सामाजिक कार्योंमें संलग्न हो अपनी निजी कल्पनाको पाठकोंको सुपुर्दकर एक स्थायी स्मृति छोड़कर चले जाते हैं। यहाँपर हमें द्विवेदीजीके कुशल साहित्य शिल्पी होनेका परिचय भी मिल जाता है और उनकी उदात्त प्रगतिशील संस्कृतिका बोध भी हो जाता है।

भारतवर्षका धर्म-चक्रस्थान बहुत-से छिद्र हो गये हैं।[1]

'आचारवत्ताके विनाशका हेतु व्यर्थका कुलाभिमान है।

—'हमें कुछ ऐसा करना चाहिए कि सारी प्रजा दुर्भेद्य चट्टानकी तरह हो जाय। किसीको उसकी ओर आँख उठानेका साहस न हो।'[2]

— मैं स्पष्ट देख रहा हूँ आभीरोंके नगर-नगरपर गर्जन है ... इस देशको वही बचावेगा जिसके पास सहज जीवनका कवच होगा, संयमकी तलवार

---

१ चारुचन्द्रलेख।

२ वही।

३ वही।

होगी, धैयका रूप होगा, साहसका ढाल होगी, मत्रीका पात्र होगा, धमका नेतृत्व होगा।"[1]

— "अमृतके पुत्रो, नगाधिराज हिमालयकी शीतल छातीमें आज हलचल दिखाई दे रही है। जवानो, प्रत्यन्त दस्यु आ रहे हैं।"[2]

"आर्यावर्तके तरुणो जीना सीखो, मरना सीखो, इतिहाससे सीखना सीखो। आर्यावर्त नाशके कगारपर खड़ा है। जवानो, प्रत्यन्त दस्यु आ रहे हैं।"[3]

ऐसे सम्बोधनोंमें आचार्य द्विवेदीजीका भविष्यद्रष्टा साहित्यकार अतीत संस्कृतिके आलोकमें वर्तमानकी मांगें प्रस्तुत करता हुआ कर्तव्यके प्रति हमें जागरूक बनाता है। प्रतीक तत्वके प्रयोगमें द्विवेदीजीने सममामयिक सन्दर्भोंका ध्यान रखा है। हमारी संस्कृति कभी भी जड़ और मकाण नहीं रही है। बाणभट्टकी आत्मकथामें बाराहकी मनिका प्रतीकात्मक प्रयोग हमारी जिस सांस्कृतिक उदारताको व्यक्त करता है उसी प्रकारकी व्यंजना 'चारुचन्द्रलेख'में द्विवेदीजीने नाटी माँ द्वारा बार-बार गाये जानेवाले श्लोकमें की है।

'गताऽहं कालिन्दीं गृहसलिलमानेतुमनसा
घनद्वारमेघगगनतलमभितो मेदुरमभूत।
घनान्धारासारप्रपतमसहाया शिथिलं,
जयत्वङ्के गच्छन्नटुलटकलः को पि चपलः॥

मानवके सामाजिक अस्तित्वको दृढ़ करनेवाली विकासमान संस्कृतिके परिवेशमें लिखे गये आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीके उपन्यास साहित्यकी अनुपम देन है।



> दिल्लीमें गुलामोंका राज्य है। सबके सब चुगलखोर परिग्रहीन क्रूर गवार। नाश हो जायगा इस मल्लतन्त्रका। गाँठ बाँध लो महाराज जिस सल्तनतमें सबको अपनी-अपनी पड़ी हो जिसमें बड़ेसे बड़ेको अपना सिर बचानेकी ही चिन्ता पड़ी हो जिसमें प्रजाके सुख दुःखमें कोई मतलब ही न हो वह नाशके कगारपर रहती है। वे भाग्यहीन दण्डके बलपर राज चाहते हैं। सब मरकर जी उठेंगे।
>
> —चारुचन्द्रलेख

---

१ चारुचन्द्रलेख।
२ बाणभट्टकी आत्मकथा।
३ वही।

निर्बन्ध चिन्तन

*

हिन्दीभाषाका निबन्धकार अलौकिक धुनकी तरह रागातुर शिवकी तरह अवधूत कृष्णकी तरह बाहर मनमौजी और देवगुरुकी तरह ध्यानमग्न है। वह वसन्तकी अगवानीके लिए सबसे आगे जानेको आतुर है वह त्रिपुरसुन्दरीके सम्भारकी आकांक्षासे पुलकित होनेवाला है वह निरावृत वासना ढोकर इतना है पर इसकी भी दुर्भावनाके स्पर्शसे कुम्हला जाता है। वह कठोर पाषाणको लेकर अपना योग सम्पन्न करता है परन्तु इसके साथ ही वह पारस्परिक है वह सबके लिए आत्म-हानीके लिए प्रस्तुत अक्षय है वह मरुतोंका वशवृत कल्पवाला हिमालयकी गरिमाका साक्षी है पर अपने व्यक्तित्वका प्रभाव बनाकर सामने समर्पण करनेको तनिक भी प्रस्तुत नहीं है।

—विद्यानिवास मिश्र

निबन्धकार द्विवेदीजी
कुछ प्रभावांकन
• •

विद्यानिवास मिश्र

मित्रोंका आग्रह है कि मैं द्विवेदीजीकी निबन्ध-शैलीका असफल नकलची हूँ—नकलची तो सफल कभी होता नहीं, सफल हो जाये तो फिर नकलची क्या—और मुझसे कहा गया है कि द्विवेदीजीके निबन्धकार रूपपर प्रभावांकन प्रस्तुत करूँ। अगर मैं अपने माडलका राज खोलता हूँ तो फिर नकलचियोंमें होड़ मच सकती है और अगर छिपाता हूँ तो फिर लिखूँ क्या? तो दोनों छोरोंके बीच चलूँगा।

द्विवेदीजीके निबन्धोंको मैंने पहले नहीं पढ़ा था, मैंने पढ़ा था उनका उपन्यास 'बाणभट्टकी आत्मकथा'। इसने गद्यका जादू मुझपर उतना नहीं छाया, जितना उसके पात्रोंका। कि[illegible] विमदर [illegible] और भैरवी तुरत छा गये। संस्कृतमें मूल कादम्बरी और हर्षचरित पढ़नेके संस्कारने भट्टिनी-कादम्बरी, सुचरिता-महाश्वेता, निउनिया-पत्रलेखा समीकरण बना डाले, पर गहरा प्रभाव निउनियाका ही पड़ा, वही निउनिया मैना होकर चारुचन्द्रलेखमें पुनः अवतीर्ण हुई। द्विवेदीजीकी निउनिया समष्टि चित्तके पारावारके ऊपर व्यष्टिचित्तमें उमगती विजय-रेखा है। निउनियाके चरित्रका एक ही सन्देश था—प्रीतिकी गहरी सचाई सामान्य मापदण्डोंसे पहचानी नहीं जा सकती, विद्या और सदाचारके दर्प उसके आगे चूर चूर हो जाते हैं। तभी लगा था कि इस व्योमकेश पाण्डित्य पाषाणके भीतर अमृतका सोता है। उसके बाद 'कबीर' पढ़ा, उसके बाद उनके निबन्ध पढ़े और फिर उनसे भेंट हुई, अपनापा बढ़ा। उनकी मस्तीभरी हँसी और उनके गढ़े कथानकोंने अन्तरकी सम्भावनाएँ पाट दीं। तब निबन्धकारको समझना आसान हो गया। पण्डितके आतंक और कथाशिल्पीके जादू दोनोंके प्रभाव आत्मीयताके प्रभावमें नीचे दब गये। द्विवेदीजीकी परिभाषाके ही अनुसार 'व्यक्तिगत निबन्ध निबन्ध इसलिए है कि वे लेखकके समूचे व्यक्तित्वसे सम्बद्ध होते हैं, लेखककी सहृदयता और चिन्तनशीलता ही उसके बन्धन हैं।" सहृदयता और चिन्तनशीलता दोनों ही निबन्धकारके बन्धन हैं, उन्मुक्त व्यक्तित्व

ही इस बन्धनसे छुटकारा है। द्विवेदीजीके निबन्धकारने इस उन्मुक्त व्यक्तित्वको पानेकी आकुलता पैदा की, इसके बाद उनकी शैलीका प्रभाव तो अपने आप ही पड़ जाता, क्योंकि शैली तो सहज भावकी अनुवर्तिनी है,

'स्फुरत्स्वनानाविलासकोमला रसेन गत्या स्वयमभ्युपागता'

और मैंने द्विवेदीजीके शब्दों और भावोंकी चोरी चाहे न भी की हो, उनके व्यक्तित्व की उन्मुक्तता चुरानेका यत्न जरूर किया और अगर किसीने यह चोरी पकड़ ली तो क्या कहें, उन्मुक्तता भी कहीं छिपाये छिपती है। अब कोई आलोचक द्विवेदीजीकी ही तरह उद्धरण देना चाहे तो दे दे—'भाँते दुरजो कहा सजनी निहुरे निहुरे कहुँ ... की चोरी' ।

— द्विवेदीजीका निबन्धकार ... की तरह रागाकुल, 'शिरीष' की तरह अवधूत, 'कुटज' की तरह बीहड़ मार्गोंको और देवदारु की तरह व्योमकेश है। वह वसन्तकी अगवानीके लिए सबसे आगे जानेको आतुर है वह शिरीषकुसुमोंके पद सञ्चारकी आशङ्कासे पुलकित होनेवाला है वह निर्धूमक तापसे ठठाकर हँसता है, पर दूसरोंकी दुर्भावनाओंसे सहसा मुरझा जाता है, वह 'कठोर पाषाणको भेदकर पातालकी छाती चीरकर अपना भोग्य संग्रह करता है, 'वायुमण्डलको चूसकर झञ्झा-तूफानको रगड़कर अपना प्राप्य' वसूल करता है, 'आकाशको चूमकर उल्लास खींच लाता है परन्तु इसके साथ ही वह 'नारसिमत' है, वह मेघके लिए आत्मदानके लिए प्रथम अध्य है वह 'मुड़कट्टा' का पराभूत करनेवाला हिमालयको गरिमाका सखा है, पर अपने व्यक्तित्वको प्रेषणीय बनानेके लोभमें समझौता करनेका हामिर भी प्रस्तुत नहीं। इस निबन्धकारकी इसकी आकांक्षा नहीं कि लोग-उसके चमत्कृत हों, न इसकी आकांक्षा है कि लोग मनित्यादि चरणोंमें आते हों। पाठकको बिमाव लिए, इसका आवाहन है, पास आओ, और पास आओ, मैं घर-द्वारका आदमी हूँ घर द्वारकी ही बात करूँगा।

द्विवेदीजी बहुश्रुत हैं और हैं बहुपाण्डित्य भी, पर पाठक 'भारके बोझे' न कहीं नहीं और न बघारें स्वच्छताकी लिरत हो रहते हैं, वे पाठको उपयोग निबन्धोंकी व्यापक आयाम देनेके लिए करते हैं और कभी उपयोग गहराई देनेके आयाम देनेके लिए इस दोनोंके उपयोगसे उनके निबन्धोंमें तीन आयामोंका उभार आ जाता है, पर तीनों रेखाके रूपमें उनका व्यक्तित्व ही बराबर आधार बना रहता है। उन्हींके शब्दोंमें 'व्यक्तिगत निबन्धका लेखक किसी एक विषयको छेड़ता है, किन्तु जिस प्रकार वीणाके एक तारको छेड़नेसे बाकी सभी तार झंकृत हो उठते हैं, उसी प्रकार उस एक विषयको छूते ही लेखककी चित्तभूमिपर बँधे हुए सकड़ों विचार बज उठते हैं। यहाँतक कि विचारप्रधान निबन्धमें भी

उनका व्यक्तित्व इतने स्पष्ट रूपमें सामने आता है कि समूची 'विचार शृंखला व्यक्तिनिष्ठ विश्वास और निष्ठाके आलोकसे उद्भासित' बनी रहती है। उनके व्यक्तित्वकी तलवार म्यानमें कभी बन्द नहीं रह पाती, उनका छन्द अर्थमें बँधा नहीं रह पाता। बड़ा ही दुर्निवार व्यक्तित्व है, निउनियाके प्रेमकी तरह गम्भीर-पर सदैव स्मयमान। पर यह व्यक्तित्व बड़ा पर्युत्सुक व्यक्तित्व है, बालककी तरह मात्र कौतुकी नहीं, वह महाकालकी रहस्य लीलासे उन्मथित है, वह सूर्यको पृथ्वीसे मिलानेके लिए व्याकुल है, वह शास्त्रको लोकसे जोड़नेके लिए व्यग्र है, वह संस्कृतको हिन्दीपर न्योछावर करनेके लिए उत्कण्ठित है और वह राष्ट्रको मनुष्यसे समंजस करनेके लिए चिन्तित है। इसीलिए वह मनुष्यके हर अनुभवको छेड़ता है, उसकी हर एक सांस्कृतिक उपलब्धिके मर्मको गुदगुदाता है और प्रकृतिके हर विवर्तनको कुरेदता है, और मनुष्य उसकी परम्परा और उसके देश कालको जोड़नेका जुगाड़ करता रहता है। द्विवेदीजीके निबन्धोंका संयोजन-तन्त्र इसी व्यक्तित्वका भी सहज परिणाम है, इसीलिए वह सायास ढला नहीं लगता, इसीके सहारे साधारण-सा बिम्ब आने कितनी वस्तुओंको, कितनी विचार-धाराओंको जोड़नेका माध्यम बन जाता है। गाँठ जोड़नेवाली निउनिया नाइन हर गाँठमें अपनेको हल्दीके रूपमें अर्पित करती चलती है, हँसती और हँसी लुटाती हुई, बस नेगमें उसी प्रकार सहज अर्पित भाव माँगती है। निबन्धकारकी यह संयोजना ही उसका गोपन रहस्य है, जो उसी प्रकारका भाव होनेपर खुलता है।

द्विवेदीजी घोर आशावादी हैं, वह मानते हैं कि मनुष्यकी धर्मबुद्धि और उसकी सहज सौन्दर्य प्रेरणा उसका अन्तर्निहित सत्य है, वह एक न एक दिन अवश्य प्राप्त होगी। इसीलिए उनकी भाषामें संशय नहीं, भय नहीं। यह जरूर है कि वे आत्म-अविश्वस्त भी नहीं हैं और बार-बार आत्मालोचनके लिए तैयार हैं कि 'हम अपनी दुर्बलताओंको महनीय बनानेका यत्न तो नहीं कर रहे हैं, अपनी अक्षमताओंको गौरव देनेके लिए तर्काभासोंका सहारा तो नहीं ले रहे हैं' और वे चिन्तित भी हैं कि हमारे देशमें शिक्षा स्वप्न पराङ्मुख हो गया है और 'इस घर छोड़ पढ़ाईकी बड़ी जाँच अब आवश्यक हो गयी है'। परन्तु उनका विश्वास अडिग है अपने देशके भविष्यमें, केवल इसलिए कि मनुष्य और मनुष्यके सहज धर्मभावमें उनकी श्रद्धा अविचल है। इस विश्वास और आशावादके कारण ही वे बिना किसी द्वेषभावके अधूरे और अधकचरे सत्योंका खण्डन लीलाभावसे कर देते हैं। हाँ, यह जरूर है कि इसी कारण वे स्वतन्त्रताके बीस वर्षोंके मोहभंगके अवधिके मारे अभागोंको अप्राप्य भी लगते हैं। लगता है वे कहीं ऊँचे ठहर गये

है, जम गये हैं वे उतरेंगे नहीं और हम हैं कि—

अपने इधरके निबन्धोंमें द्विवेदीजी शास्त्रीय हो गये हैं, 'शास्त्र इस भाव जगतके सत्यको उन्मीलित करते हैं। शास्त्र इसलिए मान्य है' और वे 'धार्मिक विप्लवकी निस्सारता' प्रतिपादित करने लगे हैं, कदाचित व्यवस्थाके लिए यह आग्रह वय परिपाक और कछुआ धर्मी आभिजात्यके विकासका फल हो, पर है कुछ अटपटा द्विवेदीजीके सुपरिचित रूपसे असमञ्जस। उनके साधक रूपका जो प्रभाव है वह उनके सिद्ध रूपका नहीं। व्यक्तिगत रूपसे कम-से-कम मैं उनके धनुर्धरवाले रूपका ही मुरीद हूँ, उनके अभिषिक्त रूपसे प्रसन्नता तो होती है, पर अपनापा नहीं होता। उद्वेग और आवेगमें एक मादकता है, उस क्षणकी भाषामें एक लहक है और उनकी ओजमें एक झकझोरनेवाली शक्ति है, जो उनके शान्त निरुद्विग्न रूपमें प्राप्य नहीं है। हो सकता है यह आग्रह मात्र विचार चित्तका आग्रह कहा जाय, पर विचार चित्तके कुछ आग्रह हमारे नहीं हटते, उन्हींमें से यह एक है। पर क्या करूँ, लाचार हूँ न तो मैं द्विवेदीका आराधक हूँ न उनका आलोचक ही न तो उनका अनुवर्ती अनुज हूँ इसलिए इतना ढीठ शायद जरूरतसे कुछ ज्यादा ही। इसलिए अपने आग्रहको सामने रखनेमें सकोच नहीं होता। द्विवेदीजीके निबन्धकारमें जिस समग्र ओजस्वी व्यक्तित्वका दर्शन हुआ है वह मेरे लिए बराबर स्पृहणीय रहेगा।



> मुझे स्पष्ट दिखाई दे रहा है कि झूठी विद्वेष प्रचारिणी और विषैली बातोंका जितना तेजीसे प्रचार किया गया है उतना ही निर्दयता-पूर्वक इन शुभ विधायी वाणियोंकी अवहेलना की गयी है। साहित्यकारके चिन्ता करनेका यह बड़ा भारी प्रश्न है। हार तो मानी ही नहीं है। हमें आज सावधानीसे बाधक तत्त्वोंका अध्ययन करना है और देखना है कि हमारे मंगल प्रयत्न उनसे दीन सिद्ध न हों।
>
> —साहित्यकारोंका दायित्व

शान्तिनिकेतनसे शिवालिक

निबन्धकार द्विवेदीजी

• •

प्रभाकर माचवे

हजारी प्रसादजीका स्मरण आते ही मुझे सन् '३८ में शान्ति निकेतनमें हुए उनके प्रथम दर्शनकी याद हो आती है। तब उनकी दाढ़ी थी और वे 'हिन्दी पण्डित' कहलाते थे। उन्होंने ही हमें कलाभवन दिखाया, नन्दोबाबूसे मिलवाया —उस इण्टरव्यूको मैंने 'विशाल भारत'में प्रकाशित किया था। उनका मुक्त हास्य तब भी वैसा ही सरल सहज था। उसके बाद अनेक बार मिलना हुआ, मेरठकी साहित्य परिषद्में, इलाहाबाद रेडियोपर या तब बनारसमें, और अकादेमीमें मेरे जून '५४में आनेके बाद अनेक बार। द्विवेदीजी मूलतः गपशप करनेवाले, गोष्ठी सल्लापमें बहुत आनन्द लेनेवाले रसिक हैं। उनके पास चुटकुलोंका और लतीफ़ोंका खज़ाना है। 'प्राचीन भारतमें मनोविनोद' उनका अद्भुत ग्रन्थ है। इसी कारणसे जो प्राचीन संस्कृत या आदि मध्ययुगीन हिन्दीका गहरा अध्ययन उन्होंने किया उसमें-से भी निकले 'बाणभट्टकी आत्मकथा' या 'चारु चन्द्रलेख' जैसे रोचक उपन्यास या फिर कबीरपर पुस्तक। उनकी विद्वत्ता कहीं भी बोझिल नहीं है। वे आटोग्राफ देते हैं "चलिए हाथी ज्ञानका सहज दुलीचा बाँधि"

इसी स्वभावका एक लक्षण यह भी है, और जो रवीन्द्रनाथके सम्पर्कमें उन्होंने सीखा जान पड़ता है कि वे तरुणपीढ़ीके सदा साथ रहे हैं। 'बोलो मारुयश मरण' अज्ञेयका 'आरती'में गद्यनुमा पद्य लिखा। 'कवि मैं भवानीप्रसाद मिश्रपर वैसा ही आत्मीयतामय लिखा। सन् '५०में मेरे 'खरगोशके सींग'की भूमिका लिखी। नवीनतम नयी कविता आलोचनाके प्रयोगात्मक निकट जागृति जाहिर किया। उनका यह श्लथ लघु निबन्धोंके लिए सर्वथा उपयुक्त है। और 'अशोकके फूल', 'आम फिर बौरा गये', 'जब दिमाग खाली रहता है', 'नाखून क्यों बढ़ते हैं' जैसे उनके निबन्ध हमेशा याद किये जायेंगे।

उनके निबन्धोंका पहला गुण है प्रकृतिसे प्रगाढ़ प्रेम। सूक्ष्म अवलोकन और स्वस्थ अवगाहनसे वह अनुस्यूत है। 'शिरीषके फूल' निबन्धका यह अंश देखिए

"जहाँ बैठक यह लेख लिख रहा हूँ उसके आगे पीछे, दायें, बायें, शिरीषके अनेक पेड़ हैं। जेठकी जलती धूपमें, जब कि धरित्री निर्धूम अग्निकुण्ड बनी हुई थी, शिरीष नीचेसे ऊपर तक फूलोंसे लद गया था। कम फूल इस प्रकारकी गरमीमें फूल सकनेकी हिम्मत करते हैं। कर्णिकार और आरग्वध (अमलतास) की बात मैं भूल नहीं रहा हूँ। वे भी आस पास बहुत हैं। लेकिन शिरीषके साथ आरग्वधकी तुलना नहीं की जा सकती। वह पन्द्रह-बीस दिनके लिए फूलता है। वसन्त ऋतुके पलाशकी भाँति। कबीरदासको इस तरह पन्द्रह दिनके लिए लहक उठना पसन्द नहीं था। यह भी क्या कि दस दिन फूले और फिर खंखड़-के-खंखड़—'दिन दस फूला फूलिके खंखड़ भया पलास'। ऐसे दुमदारोंसे तो लँडूरे भले। फूल है शिरीष। वसन्तके आगमनके साथ लहक उठता है, आषाढ़ तक तो निश्चित रूपसे मस्त बना रहता है।" (कल्पलता, पृ० २१)

हजारीप्रसादजीके निबन्धोंकी दूसरी मनको मोहनेवाली विशेषता है उनमें परिहास तथा विनोद। सतीशचन्द्र कालेज, बलियामें दिये दीक्षान्त भाषण जैसे गम्भीर अवसरपर भी वे उससे चूकते नहीं

"कोढ़पर खाज यह कि हमारे देशके अनेक प्रौढ़ जन जो इन युवकोंके भाग्यका निर्णय किया करते हैं प्रायः यह प्रचारित करते हैं कि इन युवकोंके ज्ञानका स्तर बहुत नीचा है ये अपने प्रान्तके गवर्नरका नाम भी नहीं जानते। बरसों सपना सदर मुकामका इन्हें कुछ पता नहीं है, अपने जिलेके रेलवे पुलकी कोई खबर नहीं रखते, अखबारमें प्रतिदिन छपकर दूसरे दिन बासी हो जानेवाली घटनाओंका कोई हिसाब नहीं रखते—सब प्रकारसे अक्षम और गँवार हैं। युवकोंके चरित्रबलका उपहास तो किया ही जाता है, यदि कहीं कोई आत्म विश्वासकी क्षीण रेखा उनमें रह भी गयी हो तो यथासम्भव उसे पोंछ देनेका प्रयास किया जाता है। (विचार प्रवाह, पृ० २७२)

उनके परिहास व्यंग्यके हजारों उदाहरण उनके ग्रन्थमें उनके अन्तेवासी, प्रशंसक और सब कोई जानते हैं। अगलमें वे जमा किये जायें तो एक पुस्तक तैयार हो जाये। इनके पीछे उनकी उदारता, अपनापनेका भाव सदा रहता है।

जब 'कवियोंका भविष्य'में लिखते हैं

'बम्बईके हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनके अवसरपर कवि सम्मेलन हुआ था। उसका धारा प्रवाहिक दिन तक चलती रही। एक बैठकमें उपस्थित होनेका अवसर मुझे भी मिला था। मैं श्रोताओंमें बैठा था और उनकी मुखाकृति देख रहा था। कवियोंमें एक सज्जन बहुत कम मशहूर आये जिनका नाम प्रतिमास दो चार अखबारोंमें छपा करता है। अधिकांश कवि श्रोताओंके लिए मजाकके पात्र

थे और अधिकांश श्रोता इसीलिए तमाम आये हुए जान पड़ते थे कि जरा उनका दिल बहल जायेगा और जरा मज़ा आ जायेगा। जो साहित्यिक श्रोता वहाँ उपस्थित थे वे निराश थे और एकाध तो अन्य साहित्यिकोंको देखकर इस प्रकार शर्माकर नम्रियत देने लगते थे मानो किसी लज्जाजनक जगहपर अचानक पकड़े गये हों। संक्षेपमें कवि सम्मेलन उत्साह, मज़ाक़, मौज, निराशा और लज्जाका मिला जुला रूप था। मुझे वास्तविक हिन्दी भाषाकी शक्ति और प्रकृतिका प्रत्यक्ष साक्षात्कार हुआ इस गद्य युगमें भी इस भाषाके पेटमें कितने कवि पड़े हुए हैं!" (हमारी साहित्यिक समस्याएँ, पृ० २०)

गम्भीरसे गम्भीर सम्मेलन या आयोजनमें भी हजारीप्रसादजी अपनी यह हास्यप्रियता नहीं भूलते। बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्के अध्यक्ष पदसे दिये भाषण 'अथापवाद'के आरम्भमें भुसुकको कथा पठनीय है।

द्विवेदीजीके निबन्धोंमें सर्वत्र उनकी बाल-सुलभ सरलता, निर्व्याज भाव और दुर्दान्त आशावाद दिखाई देता है। रवीन्द्रनाथ भी वर्षांकी पीढ़ीके जीवनी शक्ति विश्वासी मनीषियोंमें-से एक थे। हजारीप्रसादजीपर भी उनकी आशीर्वाया बराबर है। 'कुटज' निबन्धमें वे कहते हैं

"कितनी कठिन जीवनी शक्ति है। प्राण ही प्राणको पुलकित करता है, जीवनी शक्ति ही जीवनी-शक्तिको प्रेरणा देती है। ... जीना चाहते हो? कठोर पाषाणको भेदकर, पातालकी छाती चीरकर अपना भोग्य संग्रह करो, वायु मण्डलको चूसकर, झंझा तूफ़ानको रगड़कर, अपना प्राप्य वसूल लो, आकाशको चूमकर, अवकाशकी लहरोंमें झूमकर, उल्लास खींच लो। कुटजका यही उपदेश है।" (कुटज, पृ० ६७)

हजारीप्रसादजीके द्वितीयके लिखित निबन्धोंकी सबसे बड़ी गुणवती बात है उनकी ऋजु प्रसन्न, गद्यकाव्य जैसी भाषा शैली। उसमें बँगलाका लालित्य और भोजपुरी मुहावरोंका लहापन, संस्कृतकी तमाम विदग्धता और संदर्भ प्रचुरता और 'बाउल' और भावमयी सन्तोंका फक्कड़पन एक साथ घुल मिलकर एक अद्भुत रसायन उपस्थित करता है। जब डॉ० राधाकृष्णन्के दर्शन छोटे संस्कृति या अन्य विषयके भाषणमें एक संस्कृत वचन या आप्त वाक्य या श्लोक अवश्य होता था—यदि राजधानीमें आम चर्चा होती थी "आज राष्ट्रपतिके भाषणमें संस्कृत 'कोटेशन' नहीं आया, आज मूडमें नहीं थे!"—वह ही हजारीप्रसादजीका कोई भी ऐसा निबन्ध नहीं है जो संस्कृत मिथक-कथा, काव्य सन्दर्भ, उद्धरणसे खाली हो। वे अपना गद्य शैलीको संस्कृत छिड़ककर मशालेदार बनाते हैं। जैसे देवदारु का यह उद्धरण देखिए

'लेकिन देवदारु है शानदार वृक्ष। हवाके झोंकेसे जब हिलता है तो इसका अभिजात्य झूम उठता है। कालिदासने इसी हिमालयके उस भागकी, जहाँसे भागीरथीके निर्झर झरते रहते हैं, शीतल मन्द सुगन्ध पवनकी चर्चा की थी, उन्होंने शीतलताको भागीरथीके निर्झर सीकरोंकी देन कहा, सुगन्धिको आसपासके वृक्षोंके पुष्पोंके सम्पर्ककी बदौलत घोषित किया, लेकिन मन्दीके लिए मुहुः कम्पित देवदारुको उत्तरदायी ठहराया।" (कुटज, पृ० ९३)

हजारीप्रसादजीके निबन्धोंके सर्वोत्तम स्थल वहाँ होते हैं जहाँ वे संस्मरणात्मक हो उठते हैं। ज्योतिषविषयक उनके लेखोंमें, स्थानविषयक लेखोंमें (यथा वैशाली आदि) और रवीन्द्रनाथ सम्बन्धी लेखोंमें इसका पुट अधिक है। वहाँ द्विवेदीजी पुस्तकोंसे अधिक अपने जीवनकी पुस्तकसे कुछ सुनाते हैं। और उनके भीतरका काव्यमय उच्छ्वास अधिक मनोरम हो उठता है। हजारीप्रसादजीके भीतर कहीं एक उदार मानववादी छिपा है जो निरन्तर भावोंके कठमुल्लेपनसे लड़ता रहता है। उन्हींके भीतर कहीं भारतीय संस्कृतिकी प्राचीनताके प्रति आदरमिश्रित सम्भ्रम है तो उसकी जाति-पाँति जैसी जकड़नके प्रति घोर विद्रोह। पूर्वी उत्तरप्रदेश और शान्तिनिकेतनका यह संगम मन कभी कभी प्रचण्ड गर्वमें ओजस्वी, आवेशपूर्ण बना देता है, 'हिन्दीकी पंजाबको देन', 'हिन्दीका वर्तमान और भविष्य', 'राष्ट्रीय संकट और हमारा दायित्व' आदि ऐसे ही स्वरमें हैं। ये परस्पर विरोधी प्रभाव उनमें एकात्म हो गये हैं— इसीमें हजारीप्रसादजीके निबन्धकारकी सीमा और सामर्थ्य छिपी है। वे पक्षधर नहीं हैं, न वे किसी भी पक्षका पूर्वाग्रह स्वीकारते हैं।

इसीलिए वे 'मानवधर्म' में कहते हैं

'युद्ध और शोषणके कोलाहलोंके भीतर मानवताकी देवी चुपचाप किन्तु निश्चित गतिसे विजय-यात्राकी ओर बढ़ रही है। लोगोंको दुकानदारी, मदान्धता और गर्वोन्मत्तताके प्रति इतना क्षोभ हो जाता है कि वह वस्तुतः वीणाके तारकी तैयारीका कोलाहल है। जिस समय यह वीणा प्रस्तुत हो जायेगी, उस समय उसकी मनोहर ध्वनि हृदयको आनन्द विह्वल कर देगी। इस प्रकार मेरा विश्वास है कि मनुष्यताकी मोहन वीणा अवश्य प्रस्तुत होगी। पर यही विजय यात्राका अन्तिम लक्ष्य नहीं है। मनुष्य इस विराट विपुल ब्रह्माण्डका क्या नगण्य एक सामूली दल है? कौन कह सकता है कि किसी दिन मानवता महाकाल देवताके किसी विराट योजनाका एक नगण्य अंश है?' (कुटज, पृ० १०५)

['मेरे अपने समीक्षात्मक निबन्ध' और 'हिन्दी निबन्ध' ग्रन्थोंमें द्विवेदीजीपर विस्तारसे लिखा है, वह पाठकोंके देखनेमें आया होगा। हिन्दी साहित्यको

कहानी' नामक मेरी पुस्तकमें भी कुछ पृष्ठ विशेष रूपसे उनपर हैं।]

हजारीप्रसादजीका प्रमुख ललित निबन्ध शैली एक ओर लैम्ब और हैज़लिटकी याद दिलाती है तो दूसरी ओर गार्डिनर और आल्डस हक्सलेकी। बँगलामें बंकिमचन्द्र और अन्नदाशंकर रायकी शैलियोंका, क्षितिमोहन सेन और सैयद मुजतबा अलीकी शैलियोंका इकट्ठा मज़ा यहाँ है। मराठीके नरसिंह चिन्तामणि केलकर और अनन्त काणेकर, दुर्गा भागवत और इरावती कर्वेकी शैलियोंका सम्मिश्रण जैसे उनमें यहाँ है। गुजरातीके आनन्द शंकर बापू भाई ध्रुव और ज्योतीन्द्र दवे, कन्हैयालाल मुन्शी और चन्द्रवदन मेहताकी शैलियोंका जैसे सम्मिलन हो गया है। तमिलके राजगोपालाचारी और शिवज्ञान ग्रामणी, नाडाडी और सोमसुन्दरमका सम्प्रेषण, या कन्नडके श्री मंजेश पै और गोकाक, कारन्त और गुण्डप्पाकी निबन्ध-शैलियोंका मनोरम संगम दिखाई देता है। उर्दूके शिबली और हाली, पतरस और मौलाना आज़ादकी लताफ़त और इल्मगाईका जैसे मजमुआ उनके यहाँ है। और उन निबन्धोंको पढ़ते हुए बार बार लगता है कि मानो झुटपुटेमें हम कोई पुराने महलका खँडहर देख रहे हैं, मानो दूरसे बाँसुरी सुनाई दे रही है और हमसफर हमसे जल्दी ही बिछुड़नेवाला है यह सुख-स्वप्न हमें कहींका नहीं रहने देता। जी उचाट हो जाता है और 'रम्याणि वीक्ष्य ' वाला भाव फिर फिर मनके भीतरसे उठता है।

हजारीप्रसादजीकी शैलीकी अनुकृति हिन्दीमें हुई पर उनकी बात हमें औरोंमें नहीं मिली, न विद्यानिवास मिश्रमें, न भगवतशरण उपाध्यायमें न 'बकलम खुद' के नामवर सिंहमें। वे अपनी जगह अनुपमेय हैं। और इससे बढ़कर और कोई प्रमाण मौलिकताका नहीं हो सकता। साहित्यिक सौन्दर्य अक्षुण्ण, अप्रतिहत होता है।

■

आज क्या सम्प्रदायवादको बहुमान देकर परस्पर विच्छिन्न होनेकी जरूरत है? क्या शैव क्या वैष्णव क्या जैन क्या बौद्ध—सभीपर विपत्तिकी घोर घटा छायी हुई है। यदि हम अपने बाह्य विभेदों पर अब भी अड़े रहेंगे तो विनाश निश्चित है। एक मन्त्रकी बिना योग्यकी साधना समूचे भारतको ग्रास किये जा रही है सिद्धियोंके नामपर अत्यन्त निचली श्रेणीकी कामुकताको उत्तेजना दी जा रही है। महाचीनके निम्नस्तरसे आयी हुई यह साधना हमारे देशके बड़े-बड़े साधकोंतकको अभिभूत कर रहा है।

—चारुचन्द्रलेख

अशोक के फूलसे देवदारु वन तक

• •

कृष्णबिहारी मिश्र

'बाणभट्टकी आत्मकथा' की दीदीने पुरुष जातिको सावधान करते हुए कहा है, "प्रमाद, आलस्य और क्षिप्रकारिता—तीन दोषोंसे बचो।" यह उस व्यक्तिकी रचना है जिसने पूरी तरह इस चेतावनीको स्वीकार किया था। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि पं० हजारीप्रसाद द्विवेदीका व्यक्तित्व इन अभावोंसे पूर्णतया मुक्त है। उनका कृतित्व उनके अथक परिश्रम और विराट साधनाका परिणाम है। दुनियाके झंझटोंको ताकपर रखके प्रमाद और आलस्यसे छोड़कर द्विवेदीजीने भारतीय वाङ्मयका गम्भीर अध्ययन किया। इसी प्रकार द्विवेदीजी क्षिप्रकारितासे भी मुक्त हैं यानी किसी बातमें इन्हें जल्दी नहीं रहती। उनके निकट सम्पर्कमें रहनेवाले इस बातकी साक्षी देंगे। द्विवेदीजी प्रायः भीतरसे पनडब्बा मँगाकर अपने हाथसे पान लगाकर अतिथि-सत्कार करते हैं। और यदि संयोगवश कभी आपने उनके हाथका लगाया पान खाया हो, उन्हें पान लगाते देखा हो तो आप भी इस तथ्यको अस्वीकार नहीं करेंगे। चुन चुनकर पानके पत्ते द्विवेदीजी निकालते हैं, अँगोछेसे पोंछते, जरा टूंग देते हैं और फिर धीरे धीरे उसपर चूना और फिर कत्था लगाते हैं, एक निश्चित मात्रामें सुपारी डालकर पानको मोड़ते हैं। बात चीत और ठहाका चलता रहता है और बड़े प्रेमसे अतिथियोंको पान थमाते हैं। आप ध्यानसे देखें तो अपने बात व्यवहारमें द्विवेदीजी क्षिप्रकारिताको नहीं आने देते, ठीक वैसे ही रचना अथवा लेखनमें वे क्षिप्रकारितासे बचना चाहते हैं।

इतने बड़े गद्यका निर्माण करनेके बाद द्विवेदीजी जब कहते हैं कि "कवि बनना है मेरे दोस्तो, तो फक्कड़ बनो। निरोपकी मस्तीको धार दो," तो उनका मतलब सिर्फ इतना ही रहता है कि रचनाके पहले पूर्वग्रह छोड़ना जरूरी है, मान और यशसे विरत होना जरूरी है। "कालिदास महान् थे, क्योंकि वे अनासक्त रह सके थे। कुछ इसी श्रेणीकी अनासक्ति आधुनिक हिन्दी कवि

सुमित्रानन्दन पन्तमें ॥। कविवर रवीन्द्रनाथमें यह अनासक्ति थी" और मैं जोर देकर कहना चाहता हूँ कि निबन्धकार हजारीप्रसाद द्विवेदीमें भी यह अनासक्ति है। द्विवेदीजी ठठाकर हँसते हैं, अपनी घनी (किन्तु छोटी) मूँछोंके बीच अंगुली रखकर गम्भीर विषयोंपर सोचते हैं, खाली समयमें तरह-तरहके विनोद करते हैं, फूल पौधोंकी और कुत्ता मनाकी कहानी कहते हैं, तन्त्रशास्त्रसे लेकर रवीन्द्रनाथ तक बातें करते हैं। और प्रायः मौजमें संस्कृत और अपभ्रंशकी कविताएँ सुनाते हैं। द्विवेदीजीका यह सम्पूर्ण आत्मतत्त्व उनके निबन्धोंमें प्रस्फुटित हुआ है।

हिन्दीके एक समय आचार्यने द्विवेदीजीके निबन्धोंकी विशेषताकी ओर संकेत करते हुए दिल्लीकी एक साहित्य सभामें कहा था कि गुलेरीजी और द्विवेदीजीके निबन्धोंमें इतनी अन्तर्कथाएँ हैं कि बिना उनकी जानकारी रखे उनके निबन्धोंका ठीकसे समग्र पाठ सम्भव नहीं है। यह सोलहों आने सच है कि द्विवेदीजीके निबन्धोंके पूरे आस्वादनके लिए एक सांस्कृतिक पाठिका और साहित्यिक संस्कार, आवश्यक है। किन्तु जो इससे वंचित हैं वे भी द्विवेदीजीके निबन्धोंसे पन्द्रह निराश नहीं होंगे। यह द्विवेदीजीके सहज शिल्पकी निजी विशेषता है। इनके निबन्धोंके बीच-बीचमें भारतीय मनीषा अपने मुखश्रीसे घूँघट हटाकर मनुष्यको एक कारुणिक दृष्टिसे निहारने लगती है। उसे देखकर सामान्य पाठककी आँखें चौंधियाने लगती हैं और एक ही छविको विविध रूपोंमें देखकर वह आश्चर्यमें पड़ जाता है। लेकिन चतुर पाठककी आँखें उस छविको पहचानती हैं। तथापि एक ही रूपको उनके निबन्धोंमें बार-बार देखकर भी उसकी आँखें थकती नहीं। अतल मानसिक भूख इनके निबन्धोंकी ओर बड़ी त्वराके साथ दौड़ती है, एक विशेष प्रकारकी तृप्तिका अनुभव होता है। मगर ऐसा नहीं होता कि मन भर जाय। एक बार पढ़कर हम उसे सदाके लिए बन्द नहीं कर देते। एक बार पढ़ लेनेपर हम प्रयोजन निवृत्त नहीं हो जाते यानी कि उन्हें बार-बार पढ़नेकी इच्छा रह जाती है। और यह द्विवेदीजीके शिल्पकी बहुत बड़ी उपलब्धि है कि एक ही वस्तुको भिन्न भिन्न सन्दर्भोंमें उपस्थित कर उसमें एक विशिष्ट भव्यता भर देते हैं, नया आकर्षण उत्पन्न कर देते हैं। इनमें कहीं कहीं आवृत्ति भी है। लेकिन यह कमजोर पाठककी पकड़के बाहर है अपनी शैलीके बलपर द्विवेदीजी कभी कभी यानी जब कमजोर स्थल आता है, पाठकको विवशकर मुग्ध कर देते हैं। जिससे उनकी कमजोरी प्रत्यक्ष होकर सामने नहीं आ पाती।

गुलेरीजीके बादकी पीढ़ीके निबन्धकारोंमें पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी सबसे शान्त निबन्ध-लेखक हैं। आचार्य शुक्लके निबन्धोंमें—मेरा मतलब व्यक्ति व्यंजक निबन्धोंसे है—बौद्धिकता कुछ अधिक है। द्विवेदीजीमें अनुभूतियाँ अधिक

हैं यानी वे एक हद तक लारिकल और रोमण्टिक हैं जो कदाचित रवीन्द्रनाथका प्रभाव है और यह प्रभाव ग्यारह वर्षोंके सम्पर्कका स्वाभाविक परिणाम है। मेरा अनुमान है कि द्विवेदीजी योजना बाँधकर लिखने नहीं बठते होंगे। वीणाका एक तार छूनेपर जसे पूरे झङ्कृत हो उठते हैं, वैसे कोई बात द्विवेदीजीको छू देती है, उनकी प्रतिभाको उकसा देती ह और तब जब वे कलम उठाते ह बहुत-सी बातें सहज हो फूटती चली जाती हैं द्विवेदीजी उसे सजाते जाते हैं, और इस प्रकार उनकी रचना एक रूप ले लेती है। इसी अर्थमें इन्हें लीरिकल कहा जा सकता ह।

द्विवेदीजीके व्यक्तित्वमें सौजन्य और सादगी ह। एक बार उन्होंने बातचीतके सिलसिलेमें कहा था कि जयशंकर बाबूसे परिचय हो जानेपर जब वे द्विवेदीजीसे खडी बोलीमें बात कर रहे थे, द्विवेदीजीने उन्हें टोका था और यह कहकर कि 'मेरी भी मातभाषा भोजपुरी ह' उनसे भोजपुरीमें बोलनेका प्रकारान्तरसे आग्रह किया था। उनके स्वभावकी यह सादगी उनके निबन्धोंमें भी ह, उदाहरणके लिए 'वसन्त आ गया' 'एक कुत्ता और एक मना,' और 'शिरीषके फूल'को देखा जा सकता ह। किन्तु जब कभी द्विवेदीजी 'धनिशील चिन्तन में डूबते हैं तो सीधे कालिदासके लोकमें पहुँच जाते हैं उनके भीतरका बाणभट्ट सामने आकर उज्जयिनी गवाक्षोंसे झरनेवाले सौन्दर्यको निहारने लगता ह। एकाक्षवाही रथपर धन्धर उबड़ खाबड रास्तेसे होकर अपने गाँवकी ओर जाते समय द्विवेदीजीको अचानक एक धक्का लगता ह जो उनकी स्मृतिको कुरेद देता ह उनके भावुक मनको जगा देता ह और पुरातनकी यादकर व सोचने लगते ह हिमालयके उस विषम पार्वत्य पथपर एक दिन मातलि नामक कोई सारथी भी रथ हाँक रहा था और यह मरा सारथी भी एक अमधुष्की और पाताल-वासी राजमार्गपर अपना रथ हाँक रहा ह। उस दिन उर्वशी और पुरूरवा उसपर बठे थे, एकाध और सुन्दरियाँ भी रही होंगी, धक्का उस दिन भी लगा था, पर वहाँ शरीर और चित्त दोनों ही सिहर उठे थे रोमाच स्वेद और हृतकम्पका एक साथ ही आक्रमण हुआ था। हाय! कौन जाने मरे चरित्र काव्यके भावी कालिदासको यह धक्का याद भी आयेगा या नहीं। अगर आये तो समाजशास्त्रके उस अप्रदूतका यह अपमानित, अवहेलित धक्का वह कभी नहीं भूलेगा। उस अपने अनिगम समन्वीय उद्गिरण करनेवाले महाकाव्यमें इस धक्केका अनयका चित्रण जरूर करना होगा। माधुर्यपक्ष और वृजुआ मनोभावपर भी इसी धक्केन उसे एक ठोकर जरूर मारते जाना पडेगा। धक्का राह ने औरोंको भी जाने कई बार लगता ह, मगर उन धक्कोंका उनपर कोई असर नहीं। द्विवेदीजीका धक्का और

है। ऐसा धक्का जो अपने विगत स्वर्णयुगके ऐश्वर्यकी याद दिलाता है, वर्तमान सामाजिक व्यवस्थाकी ओर सोचनेके लिए प्रेरित करता है और विवश कर देता है साम्राज्यवादके खिलाफ़ आवाज़ उठानेके लिए। उनके भीतरका विवेक उन्हें सावधान करता है, 'डिफ़ीटेड मेण्टलिटी'—पराजित मनोभाव। सामने दुर्भेद्य अनजान दुर्ग है, बाहरका शोषण और भीतरकी लूट जारी है, और तुम गुप्तकालके स्वप्न देख रहे हो। इसे ही पराजित मनोभाव कहते हैं। आजका हरेक कवि, हरेक लेखक इसी पराजित मनोभावका शिकार है। अँगरेज़काल गुप्तकाल नहीं है, वर्तमान अतीत जैसा मोहक नहीं है। उज्जयिनीकी अभिसारिकाएँ न जाने कौन सी गुदगुदी पैदा करके और न जाने कौन-सा वैराग्य उद्दिप्त करके अस्त हो गयीं। आज बड़े-बड़े नगरोंके वेश्यालय देशकी समस्त नागरिकता, समग्र काव्यकला, समग्र आचार-परम्परापर मानो बड़े प्रश्नवाचक चिह्न हैं। वर्तमान युग युवती विधवाओं द्वारा अभिशप्त है, अपमानित, दलित सधवाओं-द्वारा अवरुद्ध है, निरुपाय सामाजिकों-द्वारा कलंकित है। इस असौन्दर्यके दहमें काव्यकला टिक नहीं सकती। साफ़ करो पहले इस जंजालको, इस कूड़ेको, इस आवर्जनाको, इस अन्धकारको। द्विवेदीजीको ऊँचा उठानेको देखकर कोई जनवादी पाठक या समीक्षक इन्हें पुराणपन्थी या पलायनवादी समझनेकी भूल न करे। धरतीसे नाता तोड़कर व सपनेके लिए व्योमविहारी बन जाना नहीं चाहते। दृश्यमान जगतके सन्तापसे आँख मूँदकर वे चिन्मय सत्ताकी महत्ता नहीं समझाते। हर वक्त अन्यलोकमें विचरनेवालोंको द्विवेदीजी पराजित मनोभावसे पीड़ित समझते हैं। ऊपरका उद्धरण इस बातको प्रमाणित करता है। इससे कुछ और आगे बढ़कर और अधिक स्पष्ट रूपसे उन्होंने एक जगह लिखा है, "लोग कहते हैं—इस जगतकी समस्त गतिविधियोंसे परे कोई ऐसा परात्पर ब्रह्म है जो शाश्वत है, जो त्रिकालमें सत्य है जो सदा-सर्वदा बना रहनेवाला है। होगा। परन्तु मैं कहता हूँ कि मनुष्यकी मानसिक भूख भी बहुत कुछ शाश्वत ही है। मनुष्यकी उद्दाम लालसा का, पराजित बुभुक्षाकी और दुर्दमनीय जिजीविषाकी चिर पुरातन और चिर नवीन कहनेकी इच्छा होती है। वैरागी कहता है कि यह भूख तुम्हारा शत्रु है, किन्तु कहनेकी इच्छा होती है कि इस भूखमें ही मनुष्यता है।" द्विवेदीजीके साथ मार्क्सवादी बिल्ला न होनेके कारण इन्हें बुर्जुआ, धुरीहीन और रहस्यवादी समझ लेना समझदारीकी बात नहीं कही जा सकती। बल्कि सच तो ये है कि द्विवेदीजी सदा साम्राज्यवादके विरोधमें बोलते हैं, उस व्यवस्थाके खिलाफ़ आवाज़ उठाते हैं जिसका प्रत्यक्ष परिणाम सामाजिक वैषम्य है। इस वैषम्यका परिणाम दारिद्र्य है, परमुखापेक्षिता है, हीनता है जिसे देखकर द्विवेदीजीके मनमें कई प्रश्न उठते

है "क्या सचमुच कला भी गरीबोंके लिए हो सकती है? समाजवाद गरीबोंके लिए है या गरीबीके ध्वंसके लिए? वह जो चिथड़ोंमें लिपटी हुई ज्वराक्रांत बुढ़िया कराहती हुई हाथमें तेल चिट्टा-लुप्त शीशी लिये नगरीके चिकित्सालयकी ओर भागी जा रही है कलाका निर्माण क्या उसीके लिए होगा? या मारिए गोली कलाको। रामराज्यकी भारी भरकम भित्ति क्या इन्हीं मुर्दे कंधोंपर स्थापित होगी? हरगिज नहीं। समाजवाद इन मूढ़, निर्वाक्, दलित, अपमानित, हीन, निर्वीर्य और तजोहीन पुरुष और स्त्रियोंका ध्वंस कर देगा अवश्य विध्वंसनका, विशिष्यमानका नहीं। इन्हीं निर्वीर्य जन समूहमें तेजोदृप्त जन समूहका अवतार होगा पहले रामका अवतार, फिर रामराज्यकी स्थापना।'

देशके इस दारिद्र्यको देखकर द्विवेदीजीका दिल भारी हो उठा और उनके मनमें उन्होंने कहा, "जब कि दिमाग खाली हो और दिल भारी हो तब शास्त्र चर्चा अच्छी नहीं लगती।' और तभी कहींसे एक गठीले बदनवाला पठान युवक हींग बेचते आ पहुँचा। गुरुदेव रवीन्द्रनाथकी लम्बी दाढ़ी देखकर उसके मनमें कई तरहकी शंकाएँ उठीं और अंतमें द्विवेदीजीके सामने एक प्रश्न रखकर वह चला गया। "मुसलमान भी नहीं, ईसाई भी नहीं, तो क्या हिन्दू है?' यही वह प्रश्न था उस पठान युवकका जो द्विवेदीजीको एक गहरी चोट दे गया, उनकी प्रतिभाको जैसे किसीने उकसा दिया हो, सोचनेको मजबूर कर दिया हो कि इस अभागे देशमें जो मुसलमान भी नहीं, ईसाई भी नहीं, वह हिंदू होता है। यह पठान युवक पाणिनि और यास्कका वंशज है, पर चूँकि वह मुसलमान है इसीलिए वह हिंदू नहीं। इसने पूर्वजोंने वैदिक साहित्यक अनमोल अक्षोंका सम्पादन किया था, पर चूँकि वह मुसलमान है इसलिए वह हिंदू नहीं और इसलिए उसके लिए वह साहित्य कुफ्र है।" यह सोचते ही द्विवेदीजीके सामने तत्काल ही भारतीय संस्कृतिकी अभाव-उपलब्धियोंका एक दृश्य नाच गया। अफसोसकी बात केवल इतना ही नहीं है कि पाणिनि और यास्कके वंशज आज हींग बेचते हैं बल्कि और भी ढेर सी बातें हैं जो हमारे स्वाभिमानको धक्का देती हैं "कुमारजीवके धर्म-सम्बन्धी आज सामानके हिंदुओंकी बहू-बेटियोंका व्यवसाय करते हैं, और इस बातको भी कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि कालिदासका विहार भूमिमें आज ऐसी सभ्यता (या बर्बरता) का ताण्डव हो रहा है जो किसका मर्म दिया न हीं रह सकता, फिर भी भरोसा यह है कि वह रस बचा रहा है। आज नहीं कल वह अपना प्रभाव फैलायगा ही, लेकिन मैं दूसरी बात सोच रहा हूँ कहते हैं फल परिपाकमें कृष'—अर्थात दरख्तको पहचान फलसे होती है। आज जो हिंदुओंकी दुरवस्था है, वह है तो उसी वृक्ष

विशोषित समृद्धि कालीन सभ्यताका परिणाम। कम कहूँ कि वह अच्छा थी, जब कि उसका परिणाम स्पष्ट ही बुरा नजर आ रहा है।" यह एक ज्योतिषके आचार्य और साहित्यके उस पण्डितकी वाणी है जो अपनेको अनास्तिक कहता है, बूढ़ोंको झुककर प्रणाम कर उन्हें अपरिमित श्रद्धा देता है, देवस्थानके सामने माथा झुकाकर सहज ही अपनी जीवन्त आस्थाकी विज्ञप्ति देता है।[1]

इसे मैं व्यक्तिगत रूपसे जानता हूँ कि ज्योतिषके आचार्य होकर भी फलित ज्योतिषमें द्विवेदीजीका विश्वास नहीं है। मुझे एक बार उन्होंने बताया था कि जब मैं शान्तिनिकेतन पहुँचा तो वहाँके लोग यह जानकर कि काशीका पण्डित आया है, मेरी ओर आकृष्ट हुए और जब उन्हें मेरे ज्योतिषाचार्य होनेका पता चला तो उन लोगोंने बड़ी श्रद्धासे मेरे सामने अपनी जन्म पत्री और हाथ पसार दिया था। जन्म पत्री और हस्त रेखा देखे बिना ही अटकलसे मैंने उन भाग्य धारियोंके भाग्यके बारेमें जो कुछ कह दिया संयोगवश वह सच निकल गया, परिणामतः मेरे यहाँ ऐसे लोगोंकी भीड़ लगने लगी थी और किसी तरह उनसे पिण्ड छुड़ाया था। इस विद्यामें मेरा विश्वास नहीं है।' सुननेवालोंको शायद यकीन न हो, लेकिन यह सच है कि द्विवेदीजी रूढ़ियोंके शत्रु हैं। फिर भी ज्योतिष और शास्त्रके आचार्य होनेके कारण पण्डितोंकी पंचायतमें तथा ठाकुरजीके बटोरमें वे सम्मानपूर्वक बुलाये जाते हैं। पण्डितोंकी पंचायतसे हटाकर उन्हें क्षण भरके लिए उनकी कल्पना अपने पंखोंपर बैठाकर एक दूसरे लोकमें उड़ा ले जाती है। वहाँ द्विवेदीजीने जो देखा उसे बड़े स्पष्ट ढंगसे व्यक्त किया है, "मुझे ऐसा जान पड़ा है मैं सारे जगतके छोटे मोटे व्यापारको देख सकता हूँ। मेरी दृष्टि समुद्र पार करके अद्भुत कमरोंमें पहुँची। यद्यपि मनुष्योंमें किसीको फुरसत नहीं जान पड़ी, सबका समयके लाले पड़ थे। सारे द्वीपमें एक भी ऐसा गाँव नहीं मिला जहाँ पण्डित एकादशी व्रतके निर्णयकी पंचायत बैठ सकें। सभी व्यस्त, सभी चंचल, सभी तत्पर। मैं आश्चर्यके साथ इनकी अपूर्व कर्मशक्ति देखता रह गया। महीसे लाल, काली, नीली आदि अनेक तरंगें वहाँ बराबर निकल रही थीं और सारे जगतके वायुमण्डलपर भी ये बार-बार आघात करती हुई नजर आयीं। वह भी कुछ विक्षुब्ध हो उठा। ये विचारोंकी लहरें थीं।"

इसी प्रकार ठाकुरजीके बटोरमें बैठकर द्विवेदीजीने (एक अव्यावहारिक

---

[1] द्विवेदीजीने एक बार मुझसे कहा था कि नियमोंका प्रतिबन्ध मुझे मान्य नहीं है, इसीसे मैं एक अनास्तिक हूँ। इसी प्रकार ज्येष्ठ वृद्धोंका पैर छूते और दुर्गा मन्दिरके सामने माथा नवाते मैंने उन्हें देखा है।

की तरह लोगोंके रुचिका खयाल किये बिना) बड़े उत्तेजित भावसे कहा था, 'जो ठाकुर जातिविशेषकी पूजा ग्रहण करके ही पवित्र रह सकते हैं, जो दूसरी जातिकी पूजा ग्रहण करके अग्राह्य चरणोदक हो जाते हैं, वे मेरी पूजा नहीं ग्रहण कर सकते। मेरे भगवान् दीन और पतितोंके भगवान् हैं। जाति और वर्णसे परेके भगवान् हैं, धर्म और सम्प्रदायके ऊपरके भगवान् हैं। वे सबकी पूजा ग्रहण कर सकते हैं और पूजा ग्रहण करके अब्राह्मण चाण्डाल सबको पूज्य बना सकते हैं।' द्विवेदीजीकी इन पंक्तियोंमें रवीन्द्र और गांधीजी साथ बोल रहे हैं।

द्विवेदीजीके निबन्धोंमें दो अतिवादी प्रवृत्तियोंका निषेध दिखाई पड़ता है। पुरातनको एकदम बेकार समझकर नये जमानेके जो लोग परम्पराच्युत हो गये, उनसे द्विवेदीजीका समझौता नहीं हो सकता, क्योंकि द्विवेदीजीने परम्पराको कहीं छोड़ा नहीं, बल्कि उसे नये आलोकमें देखा है। कहना अनुचित न होगा कि द्विवेदीजीके व्यक्तित्वकी भित्ति ही पुरातनपर आधृत है, उसपर आधुनिक रंग चढ़ाकर उसमें नये प्राणकी प्रतिष्ठा की गयी है। नये साहित्यकारोंने जहाँसे अपनी दृष्टि हटा ली है, द्विवेदीजीकी दृष्टि वहीं ठहरती है। शवसाधना का रहस्य उद्घाटित करते हुए द्विवेदीजीने लिखा है, 'शवकी पीठपर मन्त्र तन्त्रसे चाहे जितनी साधना की जाये, जबतक उसका मुख साधककी ओर नहीं होता, तबतक समझना चाहिए कि साधक सिद्धिके निकट नहीं आया है, शव तब भी शव ही है, उसमें शक्तिका संचार नहीं हुआ है। शवकी साधना तभी पूर्ण होती है जब उसका मुख साधकके सामने होता है, वह उससे जीवित मनुष्यकी भाँति बात करता है। प्राचीन मानव साधकको यह बात याद रखनी होती है। हम ऐसे साधकोंको जानते हैं जिन्होंने अपने गम्भीर अध्यवसायसे प्राचीन युगका मुख अपनी ओर फेर लिया है। तुलसीदास ऐसे ही साधक थे। उन्होंने जो कुछ पढ़ा, गुना उसे निःशेष भावसे भविष्यके निर्माणमें लगा दिया। केवल ज्ञान भार है [illegible] मुक्तिका भार [illegible] जाता। वह भी बाह्याचार मात्र है, मृत है। ज्ञानका रूप मुक्ति है। इसी प्रकार अनेक उपेक्षित पुरानी वस्तुओंको एक नयी उपयोगिता देकर द्विवेदीजीने अपने निबन्धोंमें यत्र-तत्र व्यक्त किया है। एकदम आधुनिक बन जानेकी जो हवा बही, वह द्विवेदीजीको छूकर निकल गयी, इतने भारी व्यक्तित्वको अपने साथ उड़ा नहीं पायी। इसी प्रकार एक दूसरी अति[illegible] द्विवेदीजीने निषेध किया और वह है पण्डिताईका दम्भ। [illegible] अन्तिम पंक्तियाँ इस प्रकार हैं, [illegible] जो उसी मस्तीसे हँस रहा है। पुराने [illegible] इस दम्भवाला उन्माद होता है। वह अपनेको पण्डित समझता है।

पण्डिताई भी एक बोझ है—जितनी बीमारी होती है उतनी ही तेजीसे डुबाती है। जब वह जीवनका अंग बन जाती है तो सहज हो जाती है। तब वह बोझ नहीं रहती। वह उस अवस्थामें उदास भी नहीं करती।' और इसीलिए साहित्य के नये मूल्यकी ओर संकेत करते हुए द्विवेदीजीने कहा था कि 'विचारगत उन्मुक्तता बड़ी चीज है, क्योंकि वह बड़ी सम्भावनाओंसे भरी है। उसका स्वागत होना चाहिए। उसका स्वस्थ विकास हुआ तो भारतीय साहित्यका अच्छा अध्ययन होगा और उसके मर्मको हम अच्छी तरह समझ सकेंगे। इसी प्रकार 'साहित्यका प्रयोजन—लोक कल्याण' मानते हुए द्विवेदीजीने कहा है, 'दृढ़तापूर्वक कहना चाहता हूँ कि मनुष्यको अज्ञान, मोह, कुसंस्कार और परमुखापेक्षितासे बचाना ही साहित्यका लक्ष्य है। इससे छोटे लक्ष्यकी बात मुझे अच्छी नहीं लगती।'

निस्सन्देह डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी वर्तमान व्यक्तिव्यंजक निबन्धकारोंमें श्रेष्ठतम हैं। अत्यन्त सामान्य विषयकी चर्चा-द्वारा सरल शैलीमें बड़ी बड़ी बातें कह जाना द्विवेदीजीकी अपनी विशेषता है। 'नाखून क्यों बढ़ते हैं?' अपनी नादान बिटियाके इस प्रश्नके जवाबमें बड़े ही रोचक ढंगसे सहज भाषामें द्विवेदीजी कहेंगे, *'नाखूनका बढ़ना मनुष्यके भीतरकी पशुताकी निशानी है और* उसे नहीं बढ़ने देना मनुष्यकी अपनी इच्छा है। अपना आदर्श है। बृहत्तर जीवनमें अस्त्र-शस्त्रोंको बढ़ने देना मनुष्यकी पशुताकी निशानी है और उनकी बाढ़को रोकना मनुष्यत्वका तकाजा है। मनुष्यमें जो घृणा है, जो अनायास—बिना सिखाये—आ जाती है, वह पशुत्वका द्योतक है और अपनेको संयत रखना, दूसरेके मनोभावोंका आदर करना मनुष्यका स्वधर्म है।' कम्बख्त नाखून बढ़ते हैं तो बढ़ें मनुष्य उन्हें बढ़ने नहीं देगा। 'एक कुत्ता और एक मैना' की चर्चा द्वारा गुरुदेव रवीन्द्रनाथकी मनोदशाका परिचय अपने पाठकोंको द्विवेदीजी बड़ी सुगमतापूर्वक दे सकते हैं। मैना-दम्पतिके सम्भाषणके उल्लेख द्वारा उनके दाम्पत्य भावनाकी झाँकी प्रस्तुत कर मनुष्यपर व्यंग्य कस सकते हैं। निबन्धका शीर्षक होता है, 'अशोकके फूल' और उद्देश्य होता है, इतिहासके बड़े तथ्यका उद्घाटन करना। लोग-बाग जानते हैं कि वसन्त एक निश्चित समयपर आता है मगर द्विवेदीजी कहते हैं कि वसन्त आता नहीं, ले आया जाता है। जो चाहे और जब चाहे अपनेपर ले आ सकता है। 'द्विवेदीजीकी प्रतीति है कि वसन्त भागता भागता चलता है। देशमें नहीं कालमें। किसीका वसन्त पन्द्रह दिनका है तो किसीका नौ महीनेका।' इस प्रकार बड़ी सहज भाषामें महान् उद्भावना कर जाना निबन्धकार द्विवेदीजीके लिए आसान है। इनके पत्रोंके आरम्भ और

उनके शब्दोंको सटा देनेपर वे एक श्रेष्ठ निबन्धका रूप ले लेते हैं जैसे मेरी जन्मभूमि नामक निबन्ध श्री बैजनाथ सिंह विनोद के नाम लिखा गया पत्र है। ऐसे ही दो और पत्रोंको मैंने देखा है एक 'नयी धारा' के सम्पादक रामवृक्ष बेनीपुरीके नाम और दूसरा इसके (शान्ति सप्तति अंक) सम्पादक अमृतरायको।

द्विवेदीजीने मौजमें एक बार कहा था कि मैं अपने ढंग अनार्किस्ट हूँ। इसका उल्लेख मैंने ऊपर किया है। सचाई यह है कि द्विवेदीजीके कृतित्व और व्यक्तित्वसे जिनका अच्छी तरह परिचय है वे इस बातसे कतई सहमत नहीं होंगे। सामाजिक मर्यादा और धार्मिक संयमका अतिक्रम कर जाना द्विवेदीजीके व्यक्तित्वके अनुकूल नहीं है। उनके निबन्धोंमें उनकी प्रकृति झाँकती है, उनकी भाषामें उनका वक्ता (ओरेटर) बोलता है एक विशेष प्रकारका उतार चढ़ाव लिये हुए। विचार और अनुभूतियाँ एकमें सम्पृक्त होकर अभिव्यक्त हुई हैं। कहीं-कहीं बाच बीचमें विनोद भी है। लेकिन व्यंग्यको मात्रा उनके निबन्धोंमें कम है। व्यंग्य है भी तो उतना उत्तप्त और तीखा नहीं चलती जैसा कि भारतेन्दु और निरालामें है, कहीं कहीं शुक्लजीमें भी। कबीरके सिलसिलेमें स्वयं द्विवेदीजीने व्यंग्यकी बड़ी अच्छी परिभाषा दी है। व्यंग्य वह है जहाँ कहनेवाला अधरोष्ठमें हँस रहा हो और सुननेवाला तिलमिला उठा हो और फिर भी कहनेवालेको जवाब देना अपनेको और भी उपहासास्पद बना लेना हो जाता हो। कबीरदास ऐसे ही व्यंग्यकर्ता थे।' और द्विवेदीजी ऐसे ही व्यंग्यकर्ता हैं लेकिन प्रभावक जब वे बातचीतकी भूमिपर रहते हैं। इनके निबन्धोंमें इस श्रेणीका व्यंग्य कहीं नहीं दिखाई पड़ता। कहीं है भी तो अत्यन्त शान्त। उनके निबन्धोंको आलोक और प्रसन्नतापर एक विशेष प्रकारकी शान्तिका शासन दिखाई पड़ता है अर्थात वह शान्तिपूर्ण आज जो रवीन्द्रनाथकी कृतियोंकी विशेषता है। कदाचित यह शान्ति उनमें मानवतावादके अधिक निकट पड़ती है, और इसलिए उस धरातलपर भी द्विवेदीजी हटा नहीं सकते। द्विवेदीजीका स्वच्छन्दता धारा निरालाका स्वच्छन्दतावाद नहीं, बल्कि छायावादियों (हिन्दी स्वच्छन्दवादियों) में पनपी प्रवृत्तिसे इनका अधिक साम्य है।

द्विवेदीजी कभी कभी एकाध वाक्यमें ही अपना वक्तव्य समाप्त कर देते हैं, जैसे ' इधर इतने दिन इधर में भी थोड़ी सुख है। मगर सभी दुनिया दूसरोंके सुख मरता जा रहा है और विनोदको उठा उपस्थित करनेके लिए यह कहना कि "सुना बचनार फूलकी लताई बहुत भाती है। सबसे बड़ी बात यह है कि इस फूलको पंखुड़ियाँ भी बन सकती हैं। द्विवेदीजी प्रायः प्रारंभ ऐसी बात करनेपर अनुभव कर उठते हैं। इसी प्रकार वेणुवनकी चर्चामें प्रायः दो ही

स्य निकालकर रख दिया जाय तो आप ध्यानसे देखें, यह पूरा वक्तव्य है,
डर यह है कि हस्तिनापुरवाला केतु दण्डकारण्यके राजाका नाश कर डालता
। मुझे आशंका हुई कि दण्डकारण्य कहीं हैदराबादकी रियासत तो नहीं है।"
आगे भी दो पंक्तियाँ हैं, "बुरा मैं किसीका नहीं सोचना चाहता। भगवान
करें, दण्डकारण्य भूलोकमें कहीं हो ही नहीं।" लेकिन दण्डकारण्य भूलोकमें है
है और द्विवेदीजीको आशंका है कि वह हैदराबादकी रियासत है जो पापकी
नावपर खड़ी है। एक और वाक्य देखिए, "प्राय मोहक वस्तुओंको देखकर
मनहूस लोगोंको याद आ जाती है। सबको आती है क्या ?", और किसीको
आवे न आवे द्विवेदीजीको आम्रमंजरी देखकर मिठ्ठूकी याद जरूर आती है।"
मिठ्ठू-जो संसारका सबसे पुराना, सबसे खूसट, सबसे क्रोधी और सबसे
दकियानूस प्राणी है।" इसी तरह एक बार ऐसकावी समस्याके बारेमें
सोचते हुए [illegible] द्विवेदीजीको कलकत्तेके चिड़ियाघरके वनमानुषकी भी याद
आयी थी और उन्होंने अपनी पूर्व धारणामें किंचित संशोधन कर लिया था और
अब उनकी रायमें वस्तुतः संसारके सभी वनमानुष गम्भीर और तत्त्वदर्शी
दिखाई देते हैं।" द्विवेदीजीकी शैलीका एक रूप यह है और एक यह है जब वे
संस्कृतनिष्ठ भाषा और लम्बे लम्बे वाक्योंका प्रयोग बाणभट्टकी तरह या कवि
रवीन्द्रनाथकी तरह करने लगते हैं। बाणभट्टके अलावे और भी बहुत से संस्कृत
महाकवियोंका प्रभाव द्विवेदीजीपर होगा। मगर जो सबसे स्पष्ट और गहरा प्रभाव
है वह रवीन्द्रनाथका है। यह प्रभाव इतना मुखर है कि द्विवेदीजीके निबन्धोंको
पढ़ते समय पाठकको कभी यह भ्रम भी हो सकता है कि हम कहीं रवीन्द्रनाथको
तो नहीं पढ़ रहे हैं। इसी प्रभावके कारण द्विवेदीजीमें अतिरिक्त भाव प्रवणता
और कहीं-कहीं अतिरिक्त उच्छ्वास भी दिखाई पड़ता है। यह व्यक्तिव्यंजक
निबन्धकी विशेषता हो सकती है मगर समीक्षा जैसे शास्त्रीय विषय विवेचनमें
यह एक [illegible] रूप ले लेता है। उदाहरणके लिए हम 'सूर साहित्य' को देखें,
उसमें उच्छ्वासकी मात्रा बहुत अधिक है, द्विवेदीजीकी अन्य समीक्षा कृतियोंमें
भी एक अतिरिक्त भाव प्रवणता दिखलाई पड़ती है। कदाचित इसे ही लक्ष्य कर
डॉ० देवराजने कहा है कि 'वस्तुतः द्विवेदीजी एक शुद्ध समीक्षक नहीं हैं।' मेरे
कहनेका आशय सिर्फ इतना ही है कि द्विवेदीजीकी शैलीमें एक उच्छ्वास है,
उसका आधिक्य एक सरसता है जो समीक्षामें बाधक सिद्ध होती है। द्विवेदीजी
किसी प्रकार कठोर किसीको नाखुश करना नहीं चाहते, इसलिए शुद्ध समीक्षामें
जो एक साहस और तटस्थता अपेक्षित है वह बाधित होकर दब जाती है।
मेरा मतलब सिर्फ इतना ही है। उनका पाण्डित्य तो एक आश्चर्यजनक परिमाणसे

अन्तके शब्दोंको हटा देनेपर वे एक श्रेष्ठ निबन्धका रूप ले लेते हैं जैसे मेरी जन्मभूमि नामक निबन्ध श्री बैजनाथ सिंह 'विनोद' के नाम लिखा गया पत्र है। ऐसे ही दो और पत्रोंको मैंने देखा है, एक 'नयी धारा' के सम्पादक रामवृक्ष बेनीपुरीके नाम और दूसरा हंसके (शान्ति सुरक्षा अंक) सम्पादक अमृतरायको।

द्विवेदीजीने मौजमें एक बार कहा था कि मैं अपने ढंग अनार्किस्ट हूँ। इसका उल्लेख मैंने ऊपर किया है। सचाई यह है कि द्विवेदीजीके कृतित्व और व्यक्तित्वसे जिनका अच्छी तरह परिचय है वे इस बातसे कतई सहमत नहीं होंगे। सामाजिक मर्यादा और वैधानिक संयमका अतिक्रम कर जाना द्विवेदीजीके व्यक्तित्वके अनुकूल नहीं है। उनके निबन्धोंमें उनकी प्रकृति झाँकती है, उनकी भाषामें उनका वक्ता (आरेटर) बोलता है एक विशेष प्रकारका उतार चढ़ाव लिये हुए। विचार और अनुभूतियाँ एकमें सम्पृक्त होकर अभिव्यक्त हुई हैं। कहीं-कहीं बीच बीचमें विनोद भी है। लेकिन व्यंग्यकी मात्रा उनके निबन्धोंमें कम है। व्यंग्य है भी तो उतना उत्तप्त और तीखा नहीं यानी जैसा कि भारतेन्दु और निरालामें है कहीं कहीं शुक्लजीमें भी। कबीरके सिलसिलेमें स्वयं द्विवेदीजीने व्यंग्यकी बड़ी अच्छी परिभाषा दी है। व्यंग्य वह है जहाँ कहनेवाला अधरोष्ठोंमें हँस रहा हो और सुननेवाला तिलमिला उठा हो और फिर भी कहनेवालेको जवाब देना अपनेको और भी उपहासास्पद बना लेना हो जाता हो। कबीरदास ऐसे ही व्यंग्यकर्ता थे।[1] और द्विवेदीजी ऐसे हो व्यंग्यकर्ता हैं, लेकिन तभीतक जब वे बातचीतकी भूमिपर रहते हैं। इनके निबन्धोंमें इस श्रेणीका व्यंग्य कहीं नहीं दिखाई पड़ता। कहीं है भी तो अत्यन्त शान्त। उनके निबन्धोंकी शैलीके ओज और प्रखरतापर एक विशेष प्रकारका शान्तिका शासन दिखाई पड़ता है अर्थात् वह शान्तिपूर्ण ओज जो रवीन्द्रनाथकी कृतियोंकी विशेषता है। कदाचित् यह शान्ति उनके मानवतावादके अधिक निकट पड़ती है, और इसीलिए हम चाहकर भी द्विवेदीको हटा नहीं सकते। द्विवेदीजीका स्वच्छन्दतावाद निरालाका स्वच्छन्दतावाद नहीं, बल्कि छायावादियों (हिन्दी स्वच्छन्दवादियों) में पन्तकी प्रवृत्तिसे इनका अधिक साम्य है।

द्विवेदीजी कहीं कहीं एकाध वाक्यमें ही अपना वक्तव्य समाप्त कर देते हैं, जैसे "'अगर रगरे बगरे डगरे में भी कोई तुक है।' मगर सभी दुनिया इसीको तुक कहती आ रही है और विनोदका छटा उपस्थित करनेके लिए यह कहना कि "मुझे कचनार फूलकी लगाई बहुत भाती है। सबसे बड़ी बात यह है कि इन फूलोंकी पकौड़ियाँ भी बन सकती हैं। द्विवेदीजी प्रायः धोरेसे ऐसी बात कहकर अट्टहास कर उठते हैं। इसी प्रकार केतुदर्शनकी चर्चासे केवल दो ही

वाक्य निकालकर रख दिया जाय तो आप ध्यानसे देखें, वह पूरा वक्तव्य है, “डर यह है कि हस्तनक्षत्रवाला केतु दण्डकारण्यके राजाका नाश कर डालता है। मुझे आशंका हुई कि दण्डकारण्य कहीं हैदराबादकी रियासत तो नहीं है।” आगे भी दो पंक्तियाँ हैं, “बुरा मैं किसीका नहीं सोचना चाहता। भगवान करें, दण्डकारण्य भूलोकमें कहीं हो ही नहीं।” लेकिन दण्डकारण्य भूलोकमें ही है और द्विवेदीजीको आशंका है कि वह हैदराबादकी रियासत है जो आपकी नोकपर रखी है। एक और वाक्य देखिए, “प्राय मोहक वस्तुओंको देखकर मनहूस लोगोंको याद आ जाती है। सबको आती है क्या?', और किसीको आवे न आवे द्विवेदीजीको आम्रमंजरी देखकर बिच्छूकी याद जरूर आती है।” बिच्छू—जो संसारका सबसे पुराना, सबसे खूसट, सबसे क्रोधी और सबसे दकियानूस प्राणी है।' इसी तरह एक बार लेखकोंकी समस्याके बारेमें सोचते हुए अचानक द्विवेदीजीको कलकत्तेके चिड़ियाघरके वनमानुषकी भी याद आयी थी और उन्होंने अपनी पूर्व धारणामें किंचित संशोधन कर लिया था और अब उनकी रायमें वस्तुत संसारके सभी वनमानुष गम्भीर और तत्त्वदर्शी दिखाई देते हैं।” द्विवेदीजीकी शैलीका एक रूप यह है और एक यह है जब वे संस्कृतनिष्ठ भाषा और लम्बे लम्बे वाक्योंका प्रयोग बाणभट्टकी तरह या कि रवीन्द्रनाथकी तरह करने लगते हैं। बाणभट्टके अलावे और भी बहुत से संस्कृत मनीषियोंका प्रभाव द्विवेदीजीपर होगा। मगर जो सबसे स्पष्ट और गहरा प्रभाव है वह रवीन्द्रनाथका है। यह प्रभाव इतना मुखर है कि द्विवेदीजीके निबन्धोंको पढ़ते समय पाठकको कभी यह भ्रम भी हो सकता है कि हम कहीं रवीन्द्रनाथको तो नहीं पढ़ रहे हैं। इसी प्रभावके कारण द्विवेदीजीमें अतिरिक्त भाव प्रवणता और कहीं कहीं अतिरिक्त उच्छ्वास भी दिखाई पड़ता है। यह ललितनिबन्धकी विशेषता हो सकती है, मगर समीक्षा जैसे शास्त्रीय विषय विवेचनमें यह एक न्यूनता रूप ले लेता है। उदाहरणके लिए हम 'सूर साहित्य' को देखें, इसमें उच्छ्वासकी मात्रा बहुत अधिक है, द्विवेदीजीकी अन्य समीक्षा कृतियोंमें भी एक अतिरिक्त भाव प्रवणता दिखाई देती है। कदाचित् इस ही लक्ष्य कर डॉ० देवराजने कहा है कि 'वस्तुत द्विवेदीजी एक शुद्ध समीक्षक नहीं हैं। मेरे कहनेका आशय सिर्फ इतना ही है कि द्विवेदीजीकी शैलीमें एक उच्छ्वास है, उनका शैलीमें एक करुणा है जो समीक्षामें बाधक सिद्ध होती है। द्विवेदीजी किसी प्रकार कठोर किसीका अपमान करना नहीं चाहते, इसलिए शुद्ध समीक्षामें जो एक शास्त्रीय और तटस्थता अपेक्षित है वह बाधित होकर रह जाती है। मेरा मतलब सिर्फ इतना ही है। उनका पाण्डित्य तो एक आश्चर्यजनक परिमाणमें

युक्त है। यह भी सच है कि आचार्य शुक्लके बाद आधुनिक साहित्य और
साहित्यिकोंपर आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीका
ही सबसे अधिक प्रभाव दिखाई पड़ा। निरालाजीका प्रभाव दूसरे प्रकारका
था। और अज्ञेयजी ज़रा बादमें आये और उनका प्रभाव ज़रा और बादमें एक
खास सीमा रेखा लिये हुए पड़ा।

'देवदारु'के जंगलमें बैठकर द्विवेदीजी मुड़कट्टोंकी भीड़ देखते हैं तो उत्साहित
होकर कहते हैं कि "लाख लाख मुड़कट्टोंको गुलाम बना सकता हूँ। भूतोंमें जैसे
मुड़कट्टे होते हैं, आदमियोंमें भी कुछ होते हैं। मस्तक नामकी चीज़ उनके पास
होती ही नहीं। मस्तक ही नहीं तो मस्तिष्क कहाँ, लता ही कट गयी तो फूलकी
सम्भावना ही कहाँ रही—'लताया पूर्वलूनाया प्रसूनस्योद्भवः कुतः।'" ये
मुड़कट्टे यानी कटे मस्तिष्कवाले, आश्चर्य है कि कटे मस्तिष्कवाले होकर भी
दूसरोंका मूड़ काटनेकी तेज़ बुद्धि रखते हैं।' जाति वृद्धिकी चिन्ता शायद इनकी
प्रधान चिन्ता होती है। और चिन्तन चूँकि बेमूड़के चलता है, इसलिए मूड़वालों
के काम नहीं आता। इन मुड़कट्टोंके बारेमें द्विवेदीजीके वक्तव्यका अर्थ जहाँतक
मैं समझ सका हूँ यह यही है और इतना और भी है कि मुड़कट्टोंका वास केवल
उन घोर देहातोंमें ही नहीं होता जहाँ फचफची गायत्री का 'यज्ञाश्रम पाठ
करनेवाले पण्डितजी रहते हैं बल्कि आज तो इनकी संख्या उन नगरों महानगरोंमें
अधिक बढ़ती जा रही है जहाँ सभ्यता संस्कृतिकी ढोंग हाँकनेवाले अधिक हैं,
महाविद्यालय और विश्वविद्यालय हैं वाकचित्र्यमें पलनेवाले और शिक्षित पढ़े
जानेवाले लोगोंकी बहुसंख्या है, विज्ञान सभा और लोकसभा है, न्यायालय और
उच्च न्यायालय है नेता है—अभिनेता है, कवि और महाकवि है महात्माके चले
है और वही मुड़कट्टोंकी भारी पलटन है। 'फ्रेन परिवीयने वृष।' महात्माके महान
जीवन दर्शनके प्रति अनास्थाकी हवा उठ रही है कि उनके चले देशकी नैतिकताको
'धर्मेके भावपर उतार लाये हैं। और देश मुड़कट्टोंकी मारका शिकार हो गया
है कि भयंकर भ्रान्ति है, बौद्धिक जड़ता है और राज राज मुड़कट्टोंकी पलटन
बढ़ता जा रहा है। क्योंकि देवदारुका स्वच्छंदसे पाठ करनेवाले पण्डित उठ गये
हैं या 'भूतभगावन' क्रियामें उदासीन हो गये हैं।

कमून्दा यह पलटा एक महामुड़कट्टेका मूड़वाला मानकर पूजता है।
लेकिन इन कमून्दाओंको कौन समझाये कि वह महामुड़कट्टा यदि मूड़वाला

१ मेरे गाँव करयाँमें मुड़कट्टोंको मुड़कटवा कहते हैं। यानी कटे मूड़वाला और मूड़
काट लेनेवाला भूत। ऐसी एक धारणा है। किसे लेकर गाँवके निकट ही मेरा
गाँव है, इसलिए मुड़कटवा और मुड़कट्टा दो नहीं एक है।

होता तो तुम्हारे लिए विजातीय होता, उसपर तुम्हारी आस्था नहीं होती, उसे अपना आका मानकर तुम न चलते। पौर्वियवादी इस महामुडक्ट्टेकी भाषाका अर्थ सबको नहीं लगता। अपनी भाषाका असली अर्थ वह खुद ही समझता है। और मुडक्ट्टाकी पल्टनको समझाने क्या लेना देना! द्विवेदीजी कहते हैं, "जो सबको लगे वह अर्थ है, जो एकको ही लगे वह अनर्थ है।" पौर्वियासे उठनेवाली हवा अनर्थकी हवा है और यह रोग और विषैली हवा यदि देवदारु उगानेवाली जमीनको छूने लगी हो तो उसे वहीं दफ़ना देना जरूरी है कि महामुडक्ट्टेको यह एहसास हो जाय कि भारतकी धरतीपर—हिमालयकी चोटियोंपर देवदारुका वन है, मुडक्ट्टाका पौध अब यहाँ नहीं उग सकती।

हँसी-हँसीमें बड़ी बात कहनेका द्विवेदीजीको सहज अभ्यास है। जब वे कहते हैं कि "आज देवदारुके जंगलमें बैठा हूँ। लाख लाख मुडक्ट्टोंको गुलाम बना सकता हूँ" तो शुद्ध हँसी नहीं करते बल्कि एक बड़ा संकेत देते हैं कि मुडक्ट्टोंकी जड़ उखाड़ फेंकनेके लिए जंगलों और गाँवोंमें जाकर पेड़ पौधोंकी जाति पहचानना जरूरी है, मिट्टीका रहस्य जानना जरूरी है। लोक सभासे भाषा हाउस तक ही जिनकी सीमा है कि कवि गोष्ठियोंसे लेकर सेठोंके दरबारों तकमें ही जिन्हें बैठनेका अभ्यास है वे तो देवदारुसे भी डरेंगे और मुडक्ट्टोंसे भी। मानो मित्रसे भी और अमित्रसे भी। इस प्रकारके जीव जिन्हें मित्रसे भी भय हो और अमित्रसे भी उनकी स्थिति सबसे बुरी होती है। कदाचित इसीलिए वैदिक ऋषिने कामना की थी 'अभयं मित्रादभयं अमित्रात्' मित्रसे अभय हो और अमित्रसे अभय हो। अभय बड़ी चीज है। बिना इसे प्राप्त किये 'मुडक्ट्टे' को भगाना तो दूर देवदारुकी लकड़ी भी पकड़नेकी शक्ति नहीं रह जाता। और जानी हुई बात है कि जब लकड़ी पकड़नेकी भी शक्ति नहीं रह जाती तो आदमी जमीन पकड़ लेता है। शक्तिकी पूजा सनातन मालूम होती आ रही है। देवदारु-जैसा उन्नत होकर जो मस्तीमें झूम नहीं सकेगा और जिसमें विपत्तियोंके असंख्य थपेड़ोंको सह सकनेकी शक्ति देवदारु-जैसी यदि नहीं होगी तो वह 'भूत भगावन' कलामें सिद्ध नहीं हो सकता। कोरी 'फचफची गायत्री' से काम नहीं चलेगा। इससे मुडक्ट्टोंकी बाढ़ बढ़ती जायेगी।

सचमुच दुल्हआ बन जाना बड़ी बात नहीं है क्योंकि तब आदमी खिलौना बन जाता है। बड़ी बात है देवदारुकी तरह नाचे न उतरना, हर बहेतू हवाके साथ समझौता न करना। हजारीप्रसाद द्विवेदीके 'देवदारु' शीर्षक निबन्धकी अन्तिम पंक्तियाँ बड़ी अर्थपूर्ण हैं—'देवदारु बारम्बार कम्पित होने रहनेमें एक प्रकारकी मस्ती अवश्य है। युग-युगान्तरकी सचित अनुभूतिने ही मानो यह मस्ती

प्रदान की है। ज़माना बदलता रहा है, अनेक वृक्षों और लताओंने वातावरणसे समझौता किया है, कितने ही मैदानमें जा बसे हैं और खासी प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली है, लेकिन देवदार है कि नीचे नहीं उतरा, समझौतेके रास्ते नहीं गया और उसने अपनी खानदानी चाल नहीं छोड़ी। झूमता है तो ऐसा मुसकराता हुआ मानो कह रहा हो, मैं सब जानता हूँ, सब समझता हूँ, तुम्हारे मनमें मुझे मालूम है—मुझसे तुम क्या छिपा सकते हो—'मोने दुरहीं कहा मजनी निठुरे निठुर कहूँ ऊट की चारो।' हजारी बपके उतार चढ़ावमें ऐसा निर्मम साथी दुर्लभ है।'

आज पहाड़ी भगाकर ऊँचे बननेकी काशिशमें हम कितने हास्यास्पद बनते जा रहे हैं और नीचे रास्तेसे ऊँची भूमि पानेकी हमारी—महत्त्वाकांक्षा हमें कितनी बदरूप और कमज़ोर बनाती जा रही है, यह कहनेकी बात नहीं है। कहना तो यह है कि आज देशके नेता—कलाकार और पण्डितोंने अपनी सही ज़मीन छोड़कर दरबारी गचसे समझौता कर लिया है, अपनी खानदानी चाल छोड़कर नीचे उतर आये हैं और नयी चालका अभ्यास शुरू कर दिया है और कुछ धरती छोड़कर आकाशमें उड़ने लगे हैं शायद इसीलिए युगकी विसंगतिपर चोट करनेकी उनकी शक्ति क्षीण हो चुकी है और इतना ही नहीं इन्हें विदेशी विचार कलमका अपना मूल उत्स माननेमें गौरव बोध होने लगा है। स्वाभाविक रूपसे वाणी ऐसी निकलने लगी है जिसका अर्थ किसीको न लगे। जिसकी वाणी उसीका अर्थ! द्विवेदीजी कहते हैं 'पागलका लगना एकका लगना होता है—कविका लगना सबका लगने लगता है' अर्थात "जिसका लगना सबका लगे वह कवि है, जिसका लगना सिर्फ उसे ही लगे औरका नहीं, वह पागल है।" पागलोंकी संख्या आज बढ़ रही है। लेकिन जब पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी जैसे चिन्तक लेखक हैं तो एक भरोसा है कि भारतमें अभी देवदारु जीवित है, हजारी बपकी भारतीय परम्पराके गवाह जीवित हैं और 'अशोकके फूल' हैं जो संकेत देते हैं कि 'स्वर्गीय वस्तुएँ धरतीसे मिले बिना मनोहर नहीं होतीं।

■

आचार्य द्विवेदीके निबन्ध

● ●

रमेशचन्द्र शाह

हिंदी-साहित्यकी कोई भी चर्चा छिड़नेपर अन्यान्य शिकायतोंके साथ एक आम शिकायत जो बहुधा सुननेको मिलती है, वह यह कि इसमें निबन्धकी विधा अन्य विधाओंकी अपेक्षा काफी पिछड़ी हुई है। विश्वकी अन्य भाषाओंकी तुलनामें भी अपने यहाँके निबन्ध-साहित्यके दारिद्र्यका रोना प्रायः रोया जाता है। यह दूसरी बात है कि भारतेन्दु युगसे लेकर अधुनातन निबन्धकारों तक विस्तृत सुदीर्घ परम्परासे घनिष्ठ परिचय रखनेवाला पाठक वस्तुस्थितिको इतना निराशाजनक माननेके लिए तैयार न हो।

भाषा और विषय वैविध्यकी दृष्टिसे देखा जाय तो हिन्दीने अपने विकासकी इस अल्पावधिमें जितनी प्रगति की है वह किसी भी भाषाकी सार्थक उपलब्धिसे तुलनीय ठहरायी जा सकती है। न केवल विषय निष्ठ, गम्भीर और आलोचनात्मक निबन्ध अपितु आत्मव्यंजक निबन्धकी भी अविस्मरणीय मुद्राएँ अधिकाधिक छवियाँ हमारे निबन्धकारों द्वारा मूर्त हुई हैं। निबन्धका "टाइप" हो कोई प्रकार, कोई रूप हो जिसकी उपलब्धि न सही तो उपलब्धिका आभास या बीज तक अपने यहाँ विद्यमान न हो। बल्कि बहुत सम्भव है कि एक स्वर ऐसे भी यहाँ मौजूद हों जो हमारे बिल्कुल अपने हों और जिनकी अनुगूँज तक अन्यत्र न सुनाई पड़े। पं० माधव मिश्रका "सब मिट्टी हो गया" और अध्यापक पूर्णसिंहका 'आचरणकी सभ्यता' इस प्रसंगमें अनायास स्मरण हो आते हैं। दूसरी ओर लोगोंका यह कथन कि हमारे यहाँ मान्तेन या चार्ल्स लैम्ब-जैसे टक्करके निबन्धकार नहीं हैं एक तथ्य है, पर इस तथ्यको स्वीकारनेमें हमें कोई हीनताका बोध नहीं होता। कारण—ये प्रतिभाएँ अपने ही साहित्योंमें क्यों, समूचे विश्वके निबन्ध साहित्यमें अकेली और अनन्य हैं। इनका प्रादुर्भाव परम्परासे नहीं होता, व्यक्तित्वकी किन्हीं अबूझ और असामान्य संघटनाओंसे प्रेरित होता है।

भाषा और वैविध्यकी दृष्टिसे तो नहीं किन्तु गुणकी दृष्टिसे हमारे निबन्ध साहित्यमें जो एक न्यूनता मुझे आखिर तक खटकनेवाली है, वह यह है कि

इसके अन्दर बहुत कम ऐसी रचनाएँ हैं जिनमें रचनाकारके सम्पूर्ण व्यक्तित्वकी सर्वथा सन्तोषजनक और साहित्यिक अभिव्यक्ति पायी जा सके। दूसरे शब्दोंमें अपने यहाँके निबन्धोंकी सबसे बड़ी कमी यह मालूम देती है कि उनकी आत्मव्यंजना कुछ दृष्टियोंसे सफल और मनोरंजक होकर भी कई स्तरोंपर अस्पष्ट या अधूरी ही रह जाती है। बुद्धिको सन्तुष्ट करनेके सारे उपादान भी आ जुटे होंगे तो हृदय प्यासा ही रह जायगा, या रंजकता भरपूर मिलेगी तो साहित्यिकता तिरोहित हो जायगी, तर्क होगा तो इतना कि पाठक दस बैठकोंमें भी निबन्धको पूरा न कर पाये, और भावना होगी तो इतनी कि समूची रचना ही सिसकियोंमें डूबने उतराने लगे। निबन्ध व्यक्तिका हृदयग्राही आलेख प्रस्तुत करता भी है तो वह व्यक्ति तक ही सीमित हो रहता है। व्यक्तित्वके माध्यमसे समाज और विश्व मानवताके व्यापक और गहरे सन्दर्भोंको उजागर नहीं कर पाता। उनकी संवेदनाका स्तर भी उतना ऊँचा नहीं होता जितना कि विधाके महारथियोंमें पाठकको देखनेको मिलता है। हिन्दीके अधिकांश निबन्धोंमें व्यक्तित्वका या तो एक ही आयाम उभरेगा या फिर एकाधिक आयाम उभरते भी प्रतीत होंगे तो उनमें सामंजस्य नहीं हो पायगा। हृदय और मस्तिष्कका पार्थक्य स्पष्ट झलक जाता है। यही बिखराव शैली पक्षमें भी प्रतिबिम्बित होता है। हिन्दी निबन्धके अन्दर शैलियोंका पर्याप्त वैविध्य है। पर विषय और निर्वाह, भाव और भाषाकी पूर्ण पारस्परिक निर्भरता बहुत कम देखनेको मिलती है। हमारे शैलीकारोंमें शैलीकी सचेष्ट आराधना जितनी दिखाई पड़ती है उतनी भाव और मनःस्थितिके अनुरूप सटीक व्यंजना ढूँढनेकी साधना नहीं दीखती।

इस गुणका उत्कर्ष हिन्दी निबन्धके अन्दर कहीं मिलता है तो आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीके कृतित्वमें। वास्तवमें व्यक्तित्व और साहित्य, आत्म और समष्टिकी समन्वित सन्तोषजनक (और कलात्मक) अभिव्यक्ति लगभग अपवाद रूपमें हम द्विवेदीजीके निबन्धोंमें पाते हैं। अभिव्यक्तिके स्तरपर भी वहाँ अन्योन्याश्रयता वही अविभक्त एकता उनमें सुलभ होगी। हिन्दी गद्य इन थोड़े-से निबन्धोंमें प्रौढ़त्व और परिष्कारकी जिन ऊँचाइयोंको छू सका है वे अधिकांश निबन्धकारोंके लिए यद्यावधि अनधिगम्य बनी हुई हैं। क्या सरल, क्या अलंकृत दोनों ही प्रकारोंके गद्यकी उत्कृष्ट बानगियाँ यहाँ उपलब्ध हो सकती हैं। किन्तु प्रथम श्रेणीके शैलीकार होते हुए भी उनमें शैलीकारीका कोई सायास अनुरोध नहीं मिलेगा। वे शब्द शिल्पी ही नहीं, शब्द शास्त्री भी हैं। सर्जक ही नहीं, पण्डित भी हैं। और इन दोनोंका मणिकांचन संयोग उन्हें जहाँ एक ओर नीरस और बोझिल होनेसे बचाता है, वहीं उन्हें भाषा शैलीके अतिरिक्त सम्मोहनसे ऊपर

रखता है। "निबन्ध गद्यका निकष है"—यह उक्ति द्विवेदीजीके विषयमें पूर्णतः चरितार्थ होती है।

हमारे अधिकांश निबन्धकार—मुख्यतः भारतेन्दु और द्विवेदी-युगके लेखक—या तो "भाव अनूठो चाहिए, भाषा कोसिउ होय"के सिद्धान्तका अनुगमन करते प्रतीत होते हैं या "शैली ही व्यक्तित्व है" वाली आधुनिक (और निर्दोष) मान्यताकी सहज आत्मतुष्टतामें बहकर दूसरे अतिरेकमें पहुँच जाते हैं और व्यक्तित्व तथा व्यक्तिगत निबन्धकी चरमसिद्धि शैलीके सौन्दर्यमें ही एकान्ततः निहित मानकर शैलीगत प्रभावोंके अन्वेषणमें ही अपनी सारी शक्तियोंको केन्द्रित करने लगते हैं। साधनमें उन्हें साध्यका भ्रम होने लगता है। नतीजा यह होता है कि शैली व्यक्तित्वका दर्पण न होकर व्यक्तित्वका आवरण प्रत्युत उसका 'ग्रहण' (eclipse) बन जाती है। आचार्य द्विवेदीकी कला इन दोनों अतियोंसे मुक्त है। भावोंके अनूठेपन—प्रखर ज्ञान चेतना और उदार मानवीय दृष्टिकोण—के साथ-साथ उनमें भाषाके भी वह अनूठे अभिप्राय देखने होते हैं जो हमें लैम्ब और हेज़लिट सरीखे अमर निबन्धकारोंका स्मरण दिलाता है। इस सन्दर्भमें लैम्बका उल्लेख यद्यपि अनावश्यक और अतिरिक्त प्रतीत होगा पर इन पंक्तियोंके लेखकको इसमें कोई ऐसी अप्रासंगिकता नहीं दिखाई देती।

जिस प्रकार चार्ल्स लैम्बने अतीतयुग (एलिज़ाबेथन और जैकोबियन युग का) कई मनीषियोंका आत्मसात्करण करके अपनी सर्वथा मौलिक और अनन्य प्रतिभाका निर्माण-संस्कार किया था—लगभग उसी प्रकार आचार्य द्विवेदीकी प्रतिभामें भारतीय वाङ्मयकी प्राचीन और मध्ययुगीन अनेक रत्नराशियोंका आलोक समाया हुआ है। दोनों ही अपने कवित्वकी आत्मा और शैलीमें समान रूपसे अतीतकी मार्मिक रागोद्दीपनकारी अवतारणा करते हैं। हाँ, इस अवतारणाके स्वरूप और इसमें जो अन्तर है वह दोनोंके निजी और विशिष्ट व्यक्तित्वोंका अन्तर है और यह सर्वथा स्वाभाविक है। लैम्बमें कलाकारकी तन्मयताका पुट अधिक है, मनुष्यकी ऐतिहासिक परम्पराओं और सांस्कृतिक पृष्ठभूमिका चिन्तन उतना नहीं। उसकी साहित्यिक रुचियाँ बहुत संकुचित (पर गहन) और उसकी अपनी व्यक्तिगत रुचियोंसे प्रेरित होनेके कारण सीमित थीं। साहित्यिक या विराट मानवीय सम्बन्ध इतिहासका जो व्यापक दर्शन द्विवेदीजीकी नैबन्धिक कृतियोंमें पद-पदपर उभरता है वह लैम्बमें कदाचित् ढूँढनेपर भी न मिले। वह तो मानवीयता (उसकी करुणा और उसका हास्य-रस) लैम्बमें कूट-कूटकर भरी हुई है। बल्कि लैम्बका पाठक—प्रत्येक पाठक—जो सख्य जितनी जल्दी प्राप्त होता है उतना शायद द्विवेदीजीका नहीं। लैम्ब—अपेक्षाकृत अधिक आत्मीय है

क्योंकि वह अपेक्षाकृत अधिक लौकिक और अधिक 'साधारण' भूमिकापर पाठक से सम्बन्ध स्थापित करता है। किन्तु सहानुभूति और उदार मानव प्रेम समान रूपसे दोनोंके कृतित्वकी प्रेरणा हैं। दृष्टियाँ अवश्य भिन्न हैं। सम्भवतः यह भिन्नता व्यक्तित्वसे भी अधिक दोनोंके जातीय और धार्मिक परिवेशकी भिन्नता है।

चार्ल्स लैम्बसे द्विवेदीजीके निबन्धोंकी तुलना इसलिए भी अधिक सार्थक जान पड़ती है कि दोनों साहित्यके महान् अध्येता और आस्वादक हैं। जिस प्रकार लैम्बकी हर सृजनात्मक चेष्टा उसके गहन अध्ययनसे प्रदीप्त है उसी प्रकार द्विवेदीजीकी भी। निबन्ध क्षेत्रमें ही क्यों—समूचे हिन्दी साहित्यमें, सृजन और अध्ययन, प्रतिभा और पाण्डित्यका ऐसा विलक्षण संयोग अनन्य है। चूँकि लैम्बके निबन्ध अधिक 'वैयक्तिक' हैं अतः उसकी प्रतिभाका पाण्डित्य विषयकी अपेक्षा शैलीके पक्षमें अधिक प्रस्फुटित हुआ है। इसीलिए उसके 'एसेज़' में हम शैलीकी अनेक सुषमाओं और क्षमताओंके दर्शन करते हैं। द्विवेदीजीमें यह क्षमता निबन्धकी अपेक्षा उपन्यासमें अधिक व्यक्त हुई है।

द्विवेदीजीके निबन्ध किसी एक विशिष्ट 'व्यक्ति चेतना' के वाहक नहीं हैं। वे एक ऐसी समृद्ध और सूक्ष्म अन्तर्दृष्टिके माध्यम बनकर आये हैं जो मानवको उसकी समग्रतामें—कई कई कालों और कई-कई संस्कृतियोंके परिप्रेक्ष्यमें निरन्तर विकसनशील किन्तु 'चिरन्तन' मानवको उद्घाटित करना चाहती है। उनका 'सत्य' इस या उस व्यक्तिका निजी, प्राइवेट सत्य नहीं अपितु सबका 'मानुष सत्य' है। द्विवेदीजीके लगभग सभी निबन्ध इसी दिक्कालनिरपेक्ष मानवीय 'सत्य' को निरावरण करनेकी महत्त्वाकांक्षा और अनुसन्धित्सासे प्रेरित हैं। यही कारण है कि शैलीका उतना नकटय न होनेपर, उनकी अपील अधिक सार्वजनीन है। इतना अवश्य है कि जिस प्रकार चार्ल्स लैम्बका पूरा मर्म जाननेके लिए पाठकके पास थोड़ा बहुत विद्वत्ताकी पूँजी भी अपेक्षित है, उसी प्रकार आचार्य द्विवेदीजीके निबन्ध फलोंका पूर्ण रस लाभ उन्हीं रसिकोंके लिए सम्भव है जो प्राचीन संस्कृत साहित्य और मध्ययुगीन सन्त साहित्यमें कुछ गति रखते हैं। फर्क इतना ही है कि लैम्बके निबन्ध पाठकोंसे जिस प्रकारकी विद्वत्ताकी अपेक्षा रखते हैं वह लैम्बकी नितान्त व्यक्तिगत रुचियोंसे आक्रान्त होनेके कारण अधिकांश लोगोंकी सहानुभूतिके दायरेसे बाहर पड़ जाती है। (इसीलिए लैम्ब उस अर्थमें 'लोकप्रिय' कदापि नहीं है जिस अर्थमें स्टीवेंसन या ए० जी० गार्डिनर लोकप्रिय हैं।) जब कि द्विवेदीजीका पाण्डित्य जन-जनकी सहानुभूति और रुचिके निकट पड़ता है। क्योंकि उसकी जड़ें हमारी लोक संस्कृतिके अन्दर बहुत गहरी धँसी हुई हैं।

यह लोकतत्त्व उनके सभी निबन्धोंकी आधारशिला है। विषय चाहे 'अशोकके फूल' हो, चाहे 'सन्तोंका सूक्ष्म वेद' वे अपने इस मूलसे पल भरको भी विच्छिन्न नहीं हो पाते। शास्त्रके सूक्ष्मातिसूक्ष्म लोकोंमें विहार करते हुए भी उनके मनकी डोर निरन्तर इसी मूल मानव-सत्यसे बँधी रहती है। 'ठाकुरजीकी बटोर' शीर्षक निबन्धमें उन्होंने एक स्थलपर लिखा है कि "साधारण मनुष्यके लिए समझ पाना बड़ा कठिन है कि कब पण्डितका शास्त्र उसकी बुद्धिको दबा देता है और कब उसकी बुद्धि शास्त्रको।" द्विवेदीजी स्वयं अनेक शास्त्रोंके मर्मज्ञ हैं। पर वे कोरे शास्त्रज्ञानकी विडम्बनाओंसे भली भाँति परिचित हैं। वे लोकदृष्टिसे ही शास्त्रगत सत्यका मूल्यांकन करते हैं। उनका विश्वास है कि 'पण्डितकी शास्त्र-संगति लोक-परम्परासे ही लग सकती है'। तथापि हजलिटकी तरह उन्होंने 'पण्डितोंकी अक्षमता' पर प्रहार नहीं किये क्योंकि 'पाण्डित्य'में जो एक महिमा, एक दीप्ति होती है, वह लोक-दृष्टिके सतहीपन और अस्थिरताका उपचार करती है, एक प्रकारसे उसे सन्तुलित और सम्पूर्ण करती है। द्विवेदीजी इस तथ्यको हृदयंगम कर चुके हैं। उनका पाण्डित्य उनकी शोध-वृत्तिको उकसाता है और वस्तुके प्रस्तुत सौन्दर्यमें लीन उनके मनको हठात् खींचकर उसकी परम्पराका अनुसन्धान करने और उसके मूल तक पहुँच जानेकी ओर प्रेरित कर देता है। तथापि उनकी यह प्रवृत्ति निबन्धको तनिक भी बोझिल नहीं बनने देती। प्रत्युत उसकी रमणीयतामें चार चाँद लगा देती है। 'अशोक'—'शिरीषके फूल' और 'आमके बौर' उनकी विद्वत्ताके संस्पर्शसे सप्राण-सवाक हो उठते हैं—मनुष्यकी जययात्राके जीवन्त आलेख। यह वह ज्ञान नहीं जो जानकारीके थानसे थक चुका होता है। यह प्रज्ञाकी वह तेज है जो रचनाकी विधायक कल्पनाके लिये नये क्षितिज, नये आकाशको उन्मुक्त कर देता है। उसे एक विलक्षण अन्तर्दृष्टिसे सम्पन्न कर देता है।

आचार्य द्विवेदी 'कला कलाके लिए' वाले सिद्धान्तको नहीं मानते। उनकी दृष्टिमें तो "सारे मानव-समाजको सुन्दर बनानेकी साधनाका नाम ही साहित्य है।" उनके निबन्धोंमें भी वही सोद्देश्यता, सत्यकी वही आकुल अनुसन्धित्सा सर्वत्र व्याप्त है जो उनके शोध ग्रन्थोंमें। इन निबन्धोंमेंसे अधिकांश साहित्य और उसकी आलोचनासे सम्बन्धित हैं और इस नाते 'आत्म-निबन्ध'के क्षेत्रसे दूर पड़ते हैं। फिर भी यह कहना कि वे 'ललित चिन्तन'की परिधिसे बाहर हैं उनके साथ अन्याय होगा। गहन उदार, निराग्रह मानव-प्रेम उनके चिन्तनका नियामक है। उनकी विद्वत्ता तटस्थ सत्योंमें नहीं, बल्कि अतीत और वर्तमानके रागात्मक सम्बन्धोंको प्रकाशित करनेमें प्रकट होती है। किन्तु सर्वत्र स्निग्ध होता है

और संवेदना विद्वत्तासे प्रखर। दूसरे शब्दोंमें यह कहा जा सकता है कि आचार्य द्विवेदीके निबन्धोंमें विद्वत्ता ही नहीं, विद्वत्ताका रसावेश भी है।

यह विद्वत्ताका रसावेश उनके शुद्ध ललित निबन्धोंपर भी छाये हुए है। इनकी संख्या अनुमानतः दो दर्जन होगी। हिन्दी निबन्धका चरम उत्कर्ष इन रचनाओंमें देखा जा सकता है। इनमें निबन्धकारके द्रष्टा और भोक्ता दोनो स्वरूपोंकी झाँकियाँ मिलती है। लेखकके 'आत्म' की, उसके व्यक्तित्वकी मनोरम छटाएँ तो इनमें विद्यमान है ही। मगर उसके साथ साथ भारतीय साहित्य और संस्कृतिकी अनुपम सुरभि भी इनमें आद्यन्त परिव्याप्त है। एक पाश्चात्य पण्डितने निबन्धकी परिभाषा करते हुए लिखा है कि 'किसी चीजसे प्रभावित और प्रतिहत व्यक्तिकी मनोदशाका हूबहू चित्र ही निबन्ध है।" कहना न होगा कि "अशोकके फूल" "आम फिर बौरा गये" और 'वसन्त आ गया है" के रचयितामें इस वर्णनकी नैसर्गिक प्रतिभा प्राचुर्य है। किन्तु पर्याप्त आत्मव्यञ्जक माधुर्य लिये रहनेपर भी द्विवेदीजीके ये निबन्ध उस अर्थमें 'पर्सनल' नहीं है जिस अर्थमें लैम्ब या मान्तेनके निबन्ध। इनमें अहंका उद्रेक नहीं, विलय है। उनका 'अहं' किसी बहुत बड़ी सत्ता, बहुत बड़ी शक्तिके प्रति समर्पित है। महानताका अनवरत सम्पर्क और चिन्तन मनन उन्हें स्वयंका—अपनी मानस-तरंगोंको—अतिशय गम्भीरतापूर्वक लेने और मात्र उन्हींको शब्दबद्ध करनेमें अपनी सिद्धि समझनेसे रोकता है। यही कारण है कि उनके निबन्धोंमें अहंका वह अनुरणन विस्फूर्जन, व्यक्तिगत राग विरागोंकी पग पगपर घोषणा करनेका आग्रह नहीं मिलता जिससे कि द्वितीय वर्ग सांस्कृतिक चेतना सम्पन्न निबन्धकार तक बुरी तरह आक्रान्त है। वयक्तिक निबन्धकारकी सर्वप्रथम विशेषता उसकी आत्मीयता होती है। यही लेखककी महानताका रहस्य है। 'मैं' की आत्यन्तिक परिव्याप्तिके बावजूद वह पाठककी ममता पा लेता है—इसके मूलमें यही मधुर आत्मीयता है। द्विवेदीजीके निबन्धोंका स्वर भी बहुत 'आत्मीय' है। पर आत्मीयता लब्धियुक्त आत्मीयता नहीं है। दोनोंमें स्तर भेद है, पर प्रभाव एक सा है। द्विवेदीजी पाठककी अपेक्षा अपने विषयके साथ आत्मीय हैं। पाठकको चमत्कृत या चमत्कृत कर देनेकी लालसा उनमें नहीं क्योंकि उनकी चेतना तो विषयके साथ एकात्म है। उनका अहं तो उसकी मार्मिक भावनामें लीन है। अतः पाठक उनके साथ सहज भावसे, बिना किसी आतंक और संकोचके विषयके अन्दर प्रविष्ट हो सकता है। पं० रामचन्द्र शुक्लने माधवप्रसाद मिश्रके निबन्धोंकी आलोचना करते हुए यह विचार व्यक्त किया था कि "मिश्रजी बिना किसी अभिनिवेश (उपदेशात्मक या व्यावहारिक प्रयोजन) के नहीं लिख सकते।'

आचार्य द्विवेदीके निबन्धोंका सबसे बड़ा आकर्षण मेरी दृष्टिमें यह है कि नाना मत मतवादोंका उच्चस्तरीय विवाद करते हुए उनका स्वर शुरूसे आखिर तक सौम्य और स्निग्ध बना रहता है। कोई अतिरिक्त आवेश या आवेग उनपर हावी नहीं हो सकता। उनके इस वैशिष्ट्यका अहसास तब होता है जब उनका कोई निबन्ध पढ़नेके बाद हम किसी समानधर्मा समकालीन रचनाकार और अभिमुख होते हैं। एक सहज प्रसन्न व्यक्तित्वका आलोक उनके निबन्धोंसे फूटता रहता है।

हमारे यहाँ अधिकांश निबन्धकारोंमें जो एक आडम्बरप्रियता और स्थान-अस्थानपर अपने वाग्वैदग्ध्यका प्रदर्शन करते चलनेका आग्रह दिखाई देता है उसका आभास तक आचार्य द्विवेदीमें नहीं मिलता। उनका वाग्विलास बहुत मार्जित और संयत होता है क्योंकि उसपर विद्वत्ताका अंकुश रहता है और कलाकारका सौन्दर्य-बोध। उनकी विनोदप्रियता भी स्मित हास्यमें झलकती है—अट्टहासमें नहीं। उनके स्वभावमें व्यंग्य भी नहीं है। व्यंग्यका [illegible] देखनेके लिए हमें बालकृष्ण भट्ट और डॉ० विद्यानिवास मिश्रके पास जाना होगा। तीखा और तिक्त व्यंग्य भी आचार्य द्विवेदीके निबन्धोंमें नहीं उभरता। उनके सर्वव्यापी और उदग्र 'ह्यूमर' से उनके हास्यका धरातल भिन्न है। वह उनकी कलाके लिए प्रयोजनीय भी नहीं।

किन्तु उनकी कुछ ऐसी कलागत विशेषताएँ हैं जो आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीके निबन्धोंमें भी यत्र-तत्र देखी जा सकती हैं। कुछ-कुछ वैसी ही मायावरी कल्पना, वैसी ही असामयिक प्रासंगिकताएँ, वैसी ही शब्द और वाक्योंकी काव्यमय अनुगूँज और उक्तियोंके मार्मिक प्रयोग उनके ललित निबन्धोंमें भी विद्यमान हैं। विषयके सांगोपांग विवादकी अपेक्षा उसे मुक्त आसंगकी पद्धतिसे विश्लेषित करना उन्हें प्रिय है, निबन्धको उसके अनुकूल निबन्ध स्वातन्त्र्यकी भूमिकापर प्रतिष्ठित करनेवाला अँगरेजोंमें लैम्ब है। हिन्दीमें यदि इसमें कुछ नूतनता कहीं है तो आचार्य द्विवेदीको ही उसका प्रथम श्रेय दिया जाना चाहिए, जब वास्तव अर्थमें जिसे विचारकी एकता (unity) कहते हैं उसका बहुत कुछ आग्रह द्विवेदीके निबन्धोंमें नहीं है और यह सर्वथा उचित और वांछनीय है। यद्यपि ललित निबन्धका अनुशासन साधारण निबन्धसे भिन्न होता है, उसकी एकता तर्क और युक्तिके परम्परागत नियमोंसे परे होती है। उसका विकास तो प्रतीतिकी तरह कल्पनासे निर्देशित होता है। आचार्य द्विवेदीके निबन्धोंको 'गद्य प्रगीत' की संज्ञा तो नहीं दी जा सकती क्योंकि उनका कवि इस हद तक मानसिक उद्गार या भावावेग निर्भर नहीं रहता, न कवि-सुलभ एकान्तिक सौम्य

बाधपर हों। फिर भी यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि हिन्दी निबन्धकारोंमें 'मुक्त आगम'का कलात्मक निर्वाह द्विवेदीजी ही कर सके हैं। यहाँपर वे अनन्य हैं। जिस खूबीके साथ वे विषयसे विषयान्तर करके नाना आयामोंमें कल्पनाकी लीला विलास दिखाकर अन्तमें पुनः सारे सूत्रोंको एकत्र करके उनका तारतम्य बिठा देते हैं, वह अन्यत्र दुर्लभ है। एक जगह उन्होंने लिखा है—"मेरा मन अधभूले इतिहासके आकाशमें चीलकी तरह मँडरा रहा है। कहीं कोई चमकती चीज नजर आयी नहीं कि झपट्टा मारा।' यह वाक्य उनकी रचना प्रक्रियाके रहस्यपर प्रकाश डालता है।

एकदम बतरसिया ढंगसे मामूली सी बातका बातकी बातमें कल्पनाके पंखों पर बिठाकर ऊँचे उड़ जाना और एक असाधारण धरातलपर उसकी चर्चा करना उनकी अपनी विशिष्टता है। पाठक बिना किसी बोझ या थकनका अनुभव किये उनका अनुसरण कर सकता है। उदाहरणके लिए उनका 'नाखून क्यों बढ़ते हैं' पढ़ जाइए। कितना कुछ हाथ लगता है और प्रारम्भसे उपसंहार तक कहीं भी पढ़नेमें आयासकी अनुभूति तक नहीं होती। कल्पनाकी कमाल देखनी हो तो उनके 'क्या आपने मेरी रचना पढ़ी है?' और 'जबकि दिमाग खाली है' शीर्षक निबन्धोंका आस्वाद लेकर देखिए। लेखनीका यह लाघव हिन्दीके कितने निबन्धकारोंको सिद्ध हो सका है?

भाषाकी दृष्टिसे भी द्विवेदीजीके निबन्ध लेखकोंका मार्गदर्शन कर सकते हैं। संस्कृतके विद्वानोंमें जो एक अत्यधिक अलंकरणप्रियताका आग्रह अक्सर देखा जाता है वह यहाँ लगभग नहींके बराबर मिलेगा। अलंकरण उसी सीमा तक स्वीकारा गया है जहाँतक वह निबन्धकी कलात्मक सिद्धिमें बाधक नहीं बनता। उनके विचारात्मक निबन्धोंमें भी विषय प्रतिपादनकी दृष्टिसे एक समर्थ आचार्यका कौशल सर्वत्र झलकता है। किन्तु अध्यापककी उपदेशात्मक अथवा ज्ञानीके दम्भमोहसे वे सर्वथा मुक्त हैं।

वैचारिक दृष्टिकोणकी उदारता भी इन निबन्धोंको विशिष्टता प्रदान करती है। भारतीय संस्कृतिके इस अनूठे मन्त्रद्रष्टाकी यह उक्ति कितनी सार्थक है।—"मैं ऐसा नहीं मानता कि जो कुछ हमारा प्राचीन है जो कुछ हमारा विशेष है उससे ही हम चिपटे रहें। पुरानेका मोह सब समय वाञ्छनीय नहीं होता, मरे बच्चेको गोदमें दबाये रहनेवाली बँदरिया मनुष्यका आदर्श नहीं बन सकती।'

बौद्धिकता और हार्दिकताका आदर्श समायोजन इन निबन्धोंमें देखा जा सकता है। यह सामंजस्य किसी कोरे सैद्धान्तिक समन्वयवादका फल नहीं है। वह तो एक विशाल सर्वग्राही संवेदना और परिपक्व प्रतिभाकी उपज है।

द्विवेदीजीके ठेठ विचार प्रधान निबन्ध भी तार्किक रूक्षतासे मुक्त होते हैं। बुद्धि और हृदय दोनोंके दावोंपर बराबर ध्यान दिया जाता है किन्तु दोनोंके स्तर अलग अलग नहीं जान पड़ते। यह पार्थक्य शुक्लजीके निबन्धोंमें स्पष्ट दिखाई दे जाता है। वहाँ हृदय और बुद्धिकी सत्ताएँ एक दूसरेसे कटी फटी सी प्रतीत होती हैं। उनमें सहयोग तो दूर रहा, सह अस्तित्व तकका निर्वाह मुश्किलसे हो पाता है। शुक्लजीके निबन्ध शुक्लजीके सम्पूर्ण व्यक्तित्वका दर्शन नहीं करा पाते। वैचारिक व्यक्तित्व ही प्रकट होता है, व्यक्तित्वके और पक्ष या तो सामने आते ही नहीं और अगर आते भी हैं तो बहुत हिचकते झिझकते हुए। एक एक वाक्य में दबा दबाकर विचार ठूँसनेका आग्रह उनके निबन्धको इतना सटत और सघन घना देता है कि उसमें हृदयके छलकनेकी कोई गुंजाइश ही नहीं रहती। कभी-कभार कुछ तरलताका आभास मिल भी जाता है तो वह पृष्ठभूमिकी कठोरता और कसावटमें घुल मिल नहीं पाता। पूरे निबन्धसे उसका कोई सहज सम्बन्ध नहीं उभरता। बुद्धि हृदयको समानताके स्तरपर भेंटती नहीं—बल्कि जैसे उसपर कोई अहसान करके थोड़ी रियायत बख्श देती है। अतः प्रभाव समरस नहीं हो पाता।

दूसरी ओर हम देखते हैं कि आचार्य द्विवेदीके निबन्धोंमें हृदयकी मुक्तावस्था और मस्तिष्ककी स्थितप्रज्ञताका एकत्र निर्वाह सम्भव हुआ है। वे अपने ललित वाक्योंमें विचारका भावन और भावनाका विचार करते हुए प्रतीत होते हैं। हृदय और बुद्धिकी दो धाराएँ निर्विरोध बड़े सहज भावसे हिल मिलकर एक दूसरेको और संयुक्त रूपसे लेखककी कल्पनाको अग्रसर करती प्रतीत होती हैं। इसी बातको यों भी कह सकते हैं उनकी बहुमुखी कथकता ही मानक व्यासपीठपर आसीन होकर मुखरित होती है। इसमें रंचमात्र भी सन्देह नहीं कि शुक्लजीके निबन्ध साहित्यका एक विशिष्ट स्तर, एक ऐतिहासिक महत्त्व है। यह भी हमें मानना पड़ेगा कि उनके क्षेत्रमें उनसे टक्कर ले सकने लायक कोई प्रतिभा अभी तक हिन्दीमें अवतरित नहीं हुई। फिर भी—सब दृष्टियोंसे विचार करनेके उपरान्त निष्कर्ष यही निकालना पड़ता है कि आचार्य शुक्लकी अपेक्षा आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीका निबन्धादर्श ही इस विधामें हिन्दीकी सर्वोच्च सम्भावनाओंका संकेत और पूर्वाभास प्रस्तुत करता है।

■

द्विवेदीजीके निबन्ध साहित्यमें— 'मानव'

विनोदिनी सिंह

आधुनिक युगके साहित्यमें मानवके मूल्यांकनका प्रश्न महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। आजके साहित्यकारके समक्ष देवता गौण हैं, मानव प्रमुख है। इसलिए स्थूल रूपमें कहा जा सकता है कि मानव जीवनकी प्रगति, मानवका विकास, मानव की भावना ही साहित्यकी आत्मा है।

प्राचीन साहित्यमें भी 'मानव' को प्रश्रय मिला था, परन्तु तत्कालीन साहित्यमें उसके जीवनके समग्रकी प्रधानता नहीं थी। प्राचीन साहित्यकारोंने मानवके उदात्त चरित्रको महत्त्वपूर्ण माना था, आधुनिक साहित्यकार मानवके सम्पूर्ण व्यक्तित्वको साहित्यका आधार मानता है। 'चरित्र' को स्वीकार करनेका अर्थ है, उसके समाजानुकूल विचारोंके आधारपर ही उसका मूल्यांकन परन्तु व्यक्तित्वको स्वीकार करनेका अर्थ है, उसकी सबलताओं और दुर्बलताओंकी एक साथ स्वीकृति।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदीके युगमें भी मानवतावादी विचारधाराको प्रश्रय मिला था परन्तु उसमें आदर्शका स्वर ज्यादा मुखर था।

प्रगतिवादी साहित्यकारोंके आविर्भाव कालमें 'मनुष्य' फिर एक बार नवीन रूपमें साहित्यका विषय बना।

उसके नवीन रूपको डॉ० धर्मवीर भारतीने स्पष्ट करते हुए लिखा है— "मनुष्यकी गरिमा नये स्तरपर उदय हुआ और माना जाने लगा कि मनुष्य अपनेमें स्वतन्त्र सार्थक और मूल्यवान है। वह आन्तरिक शक्तियोंसे सम्पन्न चेतन स्तरपर अपनी नियतिके निर्माणके लिए स्वतन्त्र निर्णय लेनेवाला प्राणी है। सृष्टिके केन्द्रमें मनुष्य है।"[1]

'प्रसरण युग' के साहित्यमें 'मनुष्य' की इस गरिमामयी सत्ताका विस्तारक

---

१ मानव मूल्य और साहित्य, डॉ० धर्मवीर भारती—भूमिका पृ० ६, प्रथम संस्करण।

साथ विश्लेषण डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदीने किया है। डॉ० द्विवेदीकी दृष्टि एक ऐसे साधककी दृष्टि है जो जगतको विदेह रूपमें अनासक्त योद्धाकी भाँति स्वीकार करती है। उसके लिए जो मूल्य सुखका है, वही दुःखका है। उसके लिए जीवन यदि 'सत्य' है तो मृत्यु अनिवार्य सत्य है।

डॉ० द्विवेदी जब भी साहित्यके लक्ष्य, साहित्यके उद्देश्य, साहित्यकी सीमा, साहित्यकी भावना, साहित्यकी भाषाकी चर्चा करते हैं, उनके मस्तिष्कमें 'मानव' अपने प्रखर तेजके साथ मूर्तिमान रहता है। डॉ० द्विवेदी मानते हैं कि "मनुष्य की पशुताको जितनी बार भी काट दो, वह मरना नहीं जानती।" परन्तु वे यह नहीं मानते कि यदि पशुता मर नहीं सकती तो उसे उसी रूपमें छोड़ दिया जाय। 'पशुता' समाप्त हो या न हो, उसे समाप्त करनेकी चेष्टा मानवका धर्म है। 'मानव' का व्यक्तित्व इतना व्यापक है कि उसे किसी दायरेमें नहीं रखा जा सकता। उसका वास्तविक विकास जब भी होगा, ऊर्ध्वमुखी होगा।

यशपाल जैनने इसी विचारधाराको स्वीकार करते हुए कहा है—

"मनुष्यके व्यक्तित्वका सम्भावना क्षेत्र असीम है, वह कुछ भी बन सकता है। इसका 'अन्तर्गुहावासी' उतना ही रहस्यमय है जितना ब्रह्म, उतना ही वस्तुसम है जितना वैज्ञानिक सिद्धान्त, उतना ही दुर्निवार है जितना प्रलय और उतना ही काम्य है जितना परम पुरुषार्थ।"[1]

इस प्रकार 'मानव' का मूल्यांकन किसी एक 'परिभाषा' में बाँधकर नहीं किया जा सकता। 'मानव' का मूल्यांकन उसकी समस्त विशेषताओंके साथ किया जाना चाहिए।

डॉ० द्विवेदीने निबन्ध साहित्यको अपनी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विधाके रूपमें स्वीकार किया है।[2] इनका निबन्ध साहित्य इनकी विचारधाराका प्रतिनिधित्व करता है। फलतः इनके निबन्ध साहित्यको इनके विविध विचारोंका 'कोष' कहा जाये तो अत्युक्ति नहीं होगी।

इन विचारोंमें 'मानव का मूल्य निर्धारण करनेवाले विचार' सर्वोपरि महत्त्वपूर्ण हैं। डॉ० द्विवेदीने मानवके सर्वगुण सम्पन्न रूपकी ही कल्पना की है। इनके मानवतावादी विचारोंके मूल केन्द्र कालिदास, कबीर, गांधी, रवीन्द्र और चन्द्र रहे हैं। कबीरकी फक्कड़ मस्ती, गांधीकी पर-दुःखकातरता, रवीन्द्रकी परमुखापेक्षिताके प्रति विरक्ति, कालिदास और चन्द्रका अनासक्त रूप डॉ० द्विवेदीके 'मानव' सम्बन्धी विचारोंकी मूल भूमि है।

---

१ माध्यम पृ० १२ मुणांक १० मई १९६७।

२ २१-१-६० को हुई व्यक्तिगत बातचीतके आधारपर।

फलत डा० द्विवेदीका 'मानव अनेक शक्तियोंका स्वामी, स्वाभिमानी, आत्मिक सुखोंके प्रति आसक्त, अपनी संस्कृति और परम्परामें विश्वास रखने वाला, आधुनिकता और पुरातनतामें समन्वय स्थापित करनेवाला प्राणी है।

डा० द्विवेदी जब मानवके शक्तिकी सीमा निर्धारित करनेकी चेष्टा करते हैं तो उन्हें कोई सीमा रेखा नहीं मिलती। उनकी आँखोंके समक्ष जीवतत्त्वके उद्भव और मानव रूपमें उसकी परिणतिका सम्पूर्ण चित्र अंकित हो जाता है। वे देखते हैं मानवकी जिजीविषा शक्तिका प्रसार रूप।

"न जाने किस पुण्य क्षणमें किसी अज्ञात कालके अज्ञात मुहूर्तमें हमारा यह ग्रह पिण्ड जिसका नाम पृथ्वी दिया गया है सूर्य मण्डलसे टूट गया था, उस समय यह ज्वलन्त गैसोंसे भरा हुआ था। शुरूसे अन्ततक केवल तापसे परिपूर्ण यह त्रुटित धरित्री खण्डके किस कणमें जीव तत्त्व वर्तमान था, कोई नहीं जानता। न जाने कबसे जीव तत्त्व उन तप्त धातुओंमें छिपा हुआ अनुकूल अवसरकी प्रतीक्षामें बैठा हुआ था। समस्त जड शक्तिके मस्तकपर पैर रखकर जब वह मृदुल तृणांकुरके रूपमें पैदा हुआ तो पृथ्वीके इतिहासमें अघटित घटना घटी थी। जीव-तत्त्वकी ऊर्ध्व गामिनी वृत्ति आजतक समस्त जड तत्त्वोंको परास्त करके विराज रही है। जीव-तत्त्व विकसित होता गया एक कोषसे अनेक कोषोंमें सरल संघातसे जटिल समूहके रूपमें, कर्मेन्द्रिय प्रधान जीवोंसे ज्ञानेन्द्रिय प्रधान जीवोंके रूपमें और अन्तमें उसने मनुष्यके रूपमें अपनेको प्रकट किया। मनुष्य उसकी अन्तिम परिणति है[1]।"

युग, धर्म जाति साम्राज्य और समृद्धि मनुष्यको नहीं बाँध पाते हैं। सबका उन्नयन और पतन होता रहता है, मनुष्य फिर भी बचा रहता है।

'विपत्ति और कष्ट आते हैं और चले जाते हैं, समृद्धि और धनाढ्यता फेन बुद-बुदके समान काल स्रोतमें उत्पन्न होती है और विलीन हो जाती है साम्राज्य और धर्म राज उठते हैं और गिर जाते हैं परन्तु मनुष्य फिर भी बचा रहता है[2]।"

मानवकी दुर्दम्य जिजीविषाके मूलमें उसका स्वाभिमान निहित रहता है। उसके अन्तरका गौरव ही उसे समस्त विषमताओंसे विलग रखता है। यही स्वाभिमान व्यक्तिको पतनोन्मुख होनेसे बचाता है। दूसरे शब्दोंमें इसे मानव धर्म कहा जा सकता है।

---

१ विचार प्रवाह, पृ० २०८ प्रथम संस्करण।
२ अशोकके फूल, पृ० १०३ आठवाँ संस्करण।

"वह आत धर्म उसे आत्मा कहिए या जो कुछ भी कहिए, बहुत शक्तिशाली जीवनोपादान है। उसके सन्तुष्ट होनेसे मनुष्य बड़ी आसानीसे विरोधों और उपहासकी उपेक्षा कर सकता है।"

मानवके अन्तरकी पशुता उसे बार बार लालच देकर अपनी ओर आकर्षित करती है, परन्तु उसकी, अन्तरकी पशुताको समाप्त करनेकी इच्छा उसके स्वाभिमानसे प्रेरित है। यही स्वाभिमानकी भावना मानवके अन्तरमें मनुष्यताके धर्मको जागृत करती है।

"बाटनेकी जो प्रवृत्ति है वह उसकी मनुष्यताकी निशानी है और यद्यपि पशुत्वके चिह्न उसके भीतर रह गये हैं, पर वह पशुत्वको छोड़ चुका है। पशु बनकर वह आगे नहीं बढ़ सकता[1]।"

स्वाभिमानसे प्रेरित मनुष्यताका धर्म मानवको जगत्के भौतिक उपकरणोंके प्रति अनासक्त बना देता है। ऐहिकताके स्थानपर वह शाश्वत सुखोंकी खोज की ओर उन्मुख होता है। डा० द्विवेदी शाश्वत सुखोंकी खोजकी ओर उन्मुख मानवको ही अपना लक्ष्य मानते हैं, क्योंकि वे जानते हैं।

"सीमाओंमें बँधी हुई वस्तुके पानेसे मनुष्यकी वह चिर अतृप्त लालसा अतृप्त ही रह जाती है। युग-युगसे मनुष्यने यह धारणा बना ली है कि सीमाओंमें बँधे हुए पदार्थोंसे पाये जानेवाला सुख क्षणिक है, उससे मनुष्यकी शाश्वत तृप्ति नहीं होती। वास्तविक सुखके लिए कुछ इससे बड़ी वस्तु, कुछ सीमातीत वस्तु चाहिए[2]।"

डॉ० द्विवेदीकी दृष्टिमें 'सीमातीत' सुख वही है जो मानवको सामान्य दुर्बलताओंसे ऊपर उठानेकी क्षमता रखता हो, मानवको महान बनानेकी इच्छा रखता हो, उसे परमुखापेक्षितासे विमुख करनेकी शक्ति रखता हो।

"मनुष्यमें यदि विवेक नहीं जागृत हो सका, यदि उदारता, समता और सहिष्णुशीलताका विकास नहीं हुआ, यदि आत्म-सम्मान और पर-सम्मानके महान् तत्त्वोंको नहीं अपना सका, यदि उसमें सन्तोष और श्रद्धाका विकास नहीं हुआ तो वह 'पशु'से अधिक भिन्न नहीं है[3]।"

मनुष्यकी यही सहिष्णुशीलता, समता और उदारता उसके अन्तरमें पर दुःख-कातरताकी भावनाको जागृत करता है। वह दूसरोंके परिवेशमें अपनेको

---

१ कल्पलता पृ० १ चतुर्थ संस्करण।

२ विचार और वितर्क पृ० ५०, द्वितीयावृत्ति १९५७ ई०।

३ कल्पलता पृ० १४१, चतुर्थ संस्करण।

डालकर अपना मूल्यांकन करता है। वह यह सोचता है कि परिस्थिति विशेषमें जैसा दुःख सुख उसने अनुभव किया वैसा ही दूसरे भी अनुभव कर सकते हैं।

यही वह सीमान्त है, जहाँसे वह ऊर्ध्वगामी होकर 'शिवत्व'को स्वीकार करता है। 'शिवत्व'की यह प्रेरणा मानव अपने वातावरणसे तो प्राप्त करता ही है, प्रकृतिके जड़ और चेतन अंग भी यही सीख देते प्रतीत होते हैं। यह 'शिवत्व' ही डा० द्विवेदीकी दृष्टिमें 'आत्म दान' या परोपकार है। 'मानव' इसी 'शिवत्व'का प्रतीक बने, डॉ० द्विवेदीकी यही कामना है।

"जानता हूँ मूल स्वर प्रेमका है, आत्म दानका है, दलित द्राक्षाके समान अपने आपको निचोड़कर महा अज्ञातको तृप्ति साधनाका है। सारी धरित्री इसका सबूत है, चराचरमें व्याप्त व्याकुल मनोवेदना इसका समर्थन करती है। सचारी भावसे व्याकुल होनेकी जरूरत नहीं है। प्रत्येक कटुतिक्त रस मधुर रस को अन्ततः सहायता ही पहुँचाता है। वसन्तका काल समस्त चराचरको उन्मथित करके समूची धरत्रीको पुष्पाभरणा बनाके और मनुष्यके चित्तमें कोमल वृत्तियोंको जागरित करके यही सन्देश दे जाता है कि सार्थकता आत्मदानमें है। यह सृष्टि का इतना व्यापक आयोजन व्यर्थ नहीं है। अपने आपको निछावर कर देनेके आनन्दसे ही यह आरम्भ होता है और उसीमें इसकी चरितार्थता है। ये युद्ध और प्रतिहिंसाके भाव क्षणिक हैं—स्थायी है अपनेको उत्सर्ग करके महाकालकी लीलामें सहायक होनेकी मानसोल्लासिनी वेदना।"[1]

जब भी मानव 'आत्मदान'की बात सोचता है उसके समक्ष अतीतकी गरिमा, वर्तमानका श्रम और भविष्यकी आशा तीनों एक सूत्रमें बँधकर उपस्थित होते हैं। वह 'आत्मदान'की प्रेरणा पाता है अपनी परम्परासे, और वर्तमानमें वह क्रियाशील होता है 'आत्मदान'के लिए और यह क्रिया भविष्यके लिए आशाका सञ्चार करती है। इसलिए यदि 'मानव' अपने भविष्यके स्वर्णिम रूपके प्रति आशावादी दृष्टि रखता है तो उसे अपनी संस्कृति और परम्पराको स्मरण रखना होगा।

डॉ० द्विवेदीने 'संस्कृति'का विशेष व्यापक ग्रहण किया है। वे एक जाति, एक देश, एक सम्प्रदाय एक युगमें बँधकर 'संस्कृति'की रूप रेखा नहीं बनाते हैं। इन्होंने मानवके लिए ग्राह्य संस्कृतिको सार्वभौम रूपमें स्वीकार किया है।

"हमारे देशका सांस्कृतिक इतिहास इस मजबूतीके साथ अदृश्य काल विधाताके हाथों सी दिया गया है कि उसे प्रान्तीय सीमाओंमें बाँधकर सोचा ही

---

[1] कुटज, पृ० १३६, प्रथम संस्करण।

नहीं जा सकता। उसका एक टाँका यदि काशीमें मिल गया तो दूसरा बंगालमें, तीसरा उड़ीसामें और चौथा महाराष्ट्रमें मिलेगा और पाँचवाँ मालाबार या सीलोनमें मिल जाय तो आश्चर्य करनेकी कोई बात नहीं है।"[1]

केवल 'संस्कृति'की सीमा ही नहीं, संस्कृति शब्दके मूलमें निहित 'सत्य' भी सार्वभौम होना चाहिए। डॉ० द्विवेदीकी दृष्टिमें संस्कृतिके मूलमें निहित 'सत्य'-का रूप 'अविरोधी' होना चाहिए। 'अविरोधी सत्य'का अर्थ है, वैसा सत्य जिसे भिन्न देश, जाति और वातावरणसे सम्बद्ध मनुष्य एवं परात्पर स्थित होकर स्वीकार करें। 'संस्कृति'का यह 'सत्य' मानवताकी ओर उन्मुख होकर ही अविरोधी होता है।

"मैं संस्कृतिको किसी देश विशेष या जाति विशेषकी अपनी मौलिकता नहीं मानता। मेरे विचारसे सारे संसारके मनुष्योंकी एक सामान्य मानव संस्कृति हो सकती है। नाना प्रकारकी धार्मिक साधनाओं, कलात्मक प्रयत्नों और सेवा भक्ति तथा योग मूलक अनुभूतियोंके भीतरसे मनुष्य उस महान् सत्यके व्यापक और परिपूर्ण रूपको क्रमशः प्राप्त करता जा रहा है जिसे हम 'संस्कृति' शब्द-द्वारा व्यक्त करते हैं।"[2]

अपनी परम्पराओं और संस्कृतिमें विश्वास रखते हुए भी डॉ० द्विवेदी आधुनिक दृष्टि रखते हैं। इनकी आस्था निरन्तर विकासशील मानव-समुदायमें है। वे मानते हैं सृष्टिके कण-कणमें विकास होता है। जमकर रहनेवाला मृत्युके निकट है।

"हिलते डुलते रहो, स्थान बदलते रहो, आगेकी ओर मुँह किये रहो तो कोड़की मारसे बच भी सकते हो। जमे कि मरे।"[3]

डॉ० द्विवेदीका 'मानव' परम्परा और संस्कृतिसे सम्बद्ध सार्वभौम सत्यसे प्रेरित होकर भी आधुनिक बुद्धिसे परिचालित है।

'आधुनिक' शब्द द्वयर्थक है। एक ओर तो यह शब्द 'विकास'के सिद्धान्तको प्रतिपादित करता है और दूसरी ओर यह शब्द कुछ अभावोंकी ओर भी संकेत करता है। मनुष्य पर ही निर्भर है कि वह इस शब्दको किस रूपमें स्वीकार करता है।

जहाँतक 'अभाव'का प्रश्न है आधुनिक कालके विज्ञानोंने विविध रूपमें इस

---

१ कल्पलता पृ० १८८, चतुर्थ मुद्रण।

२ अशोकके फूल, पृ० ७७, आठवाँ संस्करण।

३ कल्पलता, पृ० २१, चतुर्थ संस्करण।

समझने और व्यक्त करनेका चेष्टा की है। इसी चेष्टाके फलस्वरूप विविध 'वादों'का आविर्भाव हुआ है।

तीन 'वाद' विशेष आधुनिक युगमें ज्यादा प्रचलित हैं—साम्राज्यवाद, साम्यवाद और समाजवाद। साम्राज्यवाद पूँजीवादी मनोवृत्तिका पोषक है और वैषम्य ही इसका इष्ट है। साम्यवाद, परम्परा और संस्कृतिको रूढ़िग्रस्त मानकर उसके परित्यागमें विश्वास रखता ■। परन्तु समाजवाद अपने वास्तविक अर्थमें सत अंश जहाँ भी मिले उसे स्वीकार कर लेनेमें विश्वास करता है। 'रईमा' उसे प्रिय है, रूढ़ियोंका जाल काट देना उसका धर्म है, अतीतकी गरिमा उसे गौरवान्वित करती है, भविष्यकी आशा उसे गतिशील बनाती है। फलतः समाजवादीके लिए दो कगारोंके बीचकी समतल भूमिपर चलना ज्यादा आनन्ददायक है।

डॉ० द्विवेदीकी आधुनिक दृष्टि समाजवादको इसी विशेष अर्थमें देखनेमें विश्वास रखती है। द्विवेदीजीका मानव इन विशेषताओंसे पूर्ण होकर शाश्वत सत्यके अधिक निकट जाता है। 'समाजवाद' जब समन्वयकी साधनाको स्वीकार कर लेता है, तभी डॉ० द्विवेदीका मानव उसे स्वीकार करता है। डॉ० द्विवेदी इसी विचार विशेषका ग्रहण करते हुए धर्म और जातिकी नवीन व्याख्या प्रस्तुत करते हैं।

"जो ठाकुर जाति विशेषकी पूजा ग्रहण करके ही पवित्र रह सकते हैं, जो दूसरी जातिकी पूजा ग्रहण करके अग्राह्य चरणोदक हो जाते हैं, वे मेरी पूजा नहीं ग्रहण कर सकते। मेरे भगवान दीन और पतितोंके भगवान् हैं, जाति और वर्णसे परेके भगवान् हैं। धर्म और सम्प्रदायके ऊपरके भगवान् हैं। वे सबकी पूजा ग्रहण कर सकते हैं और पूजा ग्रहण करके अब्राह्मण, चाण्डाल सबको पूज्य बना सकते हैं।[1]

डॉ० द्विवेदीका मानव आधुनिक दृष्टि रखता तो है परन्तु वह 'शाश्वत जीवन और 'शाश्वत सत्य' में विश्वास भी रखता है। 'शाश्वत जीवन' और शाश्वत सत्य युगकी सीमामें बँधा नहीं रहता। वह अतीत वर्तमान और भविष्यको एक सूत्रमें बाँधकर निरन्तर आगे बढ़ता जाता है। यदि वह ऐसा नहीं करता है तो वह आधुनिक युगके 'अभाव' को ही केन्द्र मानकर उसीके चारों ओर चक्कर काटता रह जायेगा, परन्तु यदि वह समन्वयको जीवन और सत्यकी शाश्वतताके लिए स्वीकार कर लेता है तो विकासका पथ सदा उसके

---

[1] बल्लभगा पृ० ८०, चतुर्थ संस्करण।

लिए प्रशस्त रहेगा—

"आन्तरिक शुचिता और बाहरी संयमके लिए हमें नवीन और पुरातन समस्त उपलब्ध साधनोंका उपयोग करना चाहिए। दोनोंमें समता बनी रहनी चाहिए।"[1]

इस प्रकार डॉ० द्विवेदीका 'मानव' इन विशेषताओंको ग्रहण करनेके बाद ही शाश्वत 'सत्य के दर्शन करता है। यह विशेषताएँ जब डॉ० द्विवेदीके 'मानव' द्वारा सम्पूर्णतः स्वीकृत हो जाती हैं, तब डॉ० द्विवेदी युद्ध और हिंसाके कगार पर खड़े, एक धक्केकी राह देखते हुए विश्वके लिए सुखमय भविष्यकी आशा करते हैं।

"यह आशाजनक समाचार है कि संसारके प्रत्येक देशके लोग उन समस्त आचरणोंको श्रेष्ठ समझते हैं जिन्हें प्रत्येक युगके महापुरुष बड़ा कहते आये हैं। मनुष्यता आज भी आसुरी वृत्तिसे श्रेष्ठ मानी जाती है। आशा की जानी चाहिए कि एक ऐसा समय आयेगा जब समस्त संसार हिंसा, घृणा और छीना झपटीके विषाक्त वातावरणसे मुक्त होगा।"[2]

इसलिए साहित्यके रचयिताओंके लिए डॉ० द्विवेदीका सन्देश है कि जब किसी विशेष भावके लिए कसौटीकी आवश्यकता हो तो 'मानव' से बढ़कर दूसरी कोई भी कसौटी नहीं है। साहित्यकार कभी भी नहीं भटकेंगे, यदि वे अपने चिन्तनका केन्द्र 'मानव' को मान लें।—

"वास्तवमें हमारे अध्ययनकी सामग्री प्रत्यक्ष मनुष्य है। आपने इतिहासमें इसी मनुष्यकी धारावाहिक जय यात्रा पढ़ी है, साहित्यमें इसीके आवेग उद्वेगों और उल्लासोंका स्पन्दन देखा है, राजनीतिमें इसके लुका छिपीके खेलका दर्शन किया है, अर्थशास्त्रमें इसकी रीढ़की शक्तिका अध्ययन किया है। यह मनुष्य ही वास्तविक लक्ष्य है।'[3]

डॉ० द्विवेदीकी दृष्टिमें मानव चरम विकासका परिचायक है। वह 'सृष्टिकी सबसे बड़ी साधना है।"[4]

इस प्रकार मानवीय गुणोंके प्रति आसक्ति सद्वृत्तियोंमें विश्वास द्विवेदीजीकी आत्माका मूल स्वर है। यही उनके साहित्यका मेरुदण्ड है।



---

१ कल्पलता, पृ० ५०, चतुर्थ संस्करण।
२ वही, पृ० १३ वही।
३ अशोकके फूल पृ० १८२ आठवाँ संस्करण।
४ विचार प्रवाह, पृ० २२२, प्रथम संस्करण।

विविध

*

द्विवेदीजी मुख्यतः एक पण्डित हैं एक महान् पण्डित या स्कॉलर जिनका प्रमुख क्षेत्र सांस्कृतिक इतिहास है। द्विवेदीजीकी मैक्डानल्ड विन्टरनित्स आदिसे जो तुलना की गयी है वह बहुत समीचीन है। द्विवेदीजी साहित्यके साधारण इतिहासकारोंसे भिन्न और महत्तर हैं। साहित्य संस्कृतिकी एक अभिव्यक्ति है साहित्यके इतिहास-द्वारा समग्र जातीय संस्कृतिपर प्रकाश डालना द्विवेदीजीका लक्ष्य है।

—देवराज (प्रतिक्रियाएँ)

सहज साधना

● ●

परशुराम चतुर्वेदी

प्रस्तुत पुस्तकके अन्तर्गत डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदीके वे चार व्याख्यान संगृहीत हैं जो, 'मध्यप्रदेश शासन-साहित्य-परिषद्'की ओरसे आयोजित हुए थे और जो स्व० पं० रविशंकर शुक्लके मन्त्रित्वकालमें नागपुरमें दिये गये थे। इसकी 'भूमिका' उक्त परिषद्के अध्यक्ष पं० द्वारिकाप्रसाद मिश्र द्वारा लिखी गयी है। व्याख्यानोंके चार शीर्षक क्रमशः 'साधनाकेन्द्र', 'शब्द-साधना' 'सुरति और निरति' तथा 'मधुरोपासना'के रूपमें, दिये गये हैं और वे सभी लगभग एक ही आकार-प्रकारके हैं।

द्विवेदीजीने अपने प्रथम व्याख्यानका आरम्भ इस प्रसंगके साथ किया है कि "आधुनिक मनुष्य अपने पूर्ववर्तियोंसे बहुत-कुछ भिन्न हो गया है और उसकी दृष्टि पहलेकी भाँति अधिकतर परलोकपर केन्द्रित न रहकर निश्चित रूपसे इहलोकमें निबद्ध हो गयी है।" अठारहवीं शताब्दीके युक्तिवादी विचारकों (रैशनलिज्म) ने ईसाई धर्म-संगठनकी धर्म भावनाकी जगह जिस मानवतावादके सिद्धान्तका प्रचार किया था, उसकी प्रतिष्ठा पीछे कई प्रकारसे होती चली आयी और तदनन्तर धर्म भावनाके क्षेत्रमें जहाँ मानव-सेवा, समाज-सेवा चिकित्सालय मातृ-सदन-स्थापना जैसी प्रवृत्तियाँ इसकी अयत्नसिद्ध उपज रहीं वहाँ राजनीतिमें प्रजातन्त्र, समाजवाद शान्तिवाद प्रभृति बातें भी सामने आ गयीं और वास्तवमें, इनके कारण मनुष्यकी सत्ता ही साध्य एवं साधन भी बन गयी। फिर तो ऐसी मानवतावादिनी मान्यताओंके प्रभावमें साहित्यके अन्तर्गत, वैयक्तिक स्वाधीनताका प्रश्न भी खड़ा हो गया जिस कारण एक नवीन क्रान्तिको प्रश्रय मिला। परन्तु यह मुक्ति व्यष्टि-मनुष्यको नहीं प्रत्युत समष्टि-मनुष्यको ही, आर्थिक सामाजिक व राजनीतिक शोषणसे, मुक्त करनेसे सम्बन्ध रखती थी। अतएव यह विषय भी क्रमशः विचारणीय बन गया कि मनुष्यकी ऐसी कामनाका मूल उत्स क्या है? तथा किस प्रकार उसकी ऐसी इच्छा-शक्ति वर्तमान भौतिकवादी वातावरणमें रहते हुए भी, उसमें उत्पन्न हो सकती है? अथवा वास्तवमें जड़

जगत एवं चेतनके द्वन्द्वमें, चेतनके क्रमिक उन्मेष तथा उसके स्वरूपका रहस्य क्या है? वह चित शक्ति क्या है जो मनुष्यको सदा स्वाभाविक रूपमें प्रेरित करती रहती है तथा इसका कोई अंतिम गूढ़ उद्देश्य भी हो सकता है?

प्राचीन कालके ऋषियों मुनियोंने सोचा था और उन्होंने, प्रत्यक्ष दिखनेवाला इस प्रश्नपर विचार करते समय, अपने इस चेतनाके अन्तरतरमें प्रवाहित विराट चेतनाके रूपमें उस विराट इच्छा शक्तिके मूल स्रोतका पता लगा लिया था। उन्होंने मनुष्यकी महिमाका सन्धान करते हुए जड-चेतनके उपयुक्त द्वन्द्वकी गहराईमें प्रवेश किया और यह निश्चय किया कि जो पिण्डमें है वही ब्रह्मांडमें भी है तथा यदि मध्ययुगीन सन्तों एवं भक्तोंकी साधनापर विचार करें तो पता चलेगा कि इन्होंने भी यही स्वीकार किया। इन्होंने, इसी कारण, मानव-देहकी श्रेष्ठतापर पूरा बल दिया और नाथ, साधकोंसे लेकर बौद्ध सिद्धों नाथों एवं सन्तों तकने इसपर प्राय एक समान विचार प्रकट किये। इन्होंने इसके आधार पर यह भी निष्कर्ष निकाला कि मनुष्यका वास्तवमें, केवल इसलिए कष्ट है कि उसे वस्तुस्थितिका यथार्थ ज्ञान नहीं है। यदि वह इस उद्देश्यको लेकर अनुसन्धानमार्गपर अग्रसर हो जाये तो उसे अपने विवेक-बलके द्वारा यह स्पष्ट हो जा सकता है कि सबके मूलमें कोई परतत्त्व है जो जड एवं चेतन दोनों रूपोंमें अभिव्यक्त होता है और वही योगियोंका 'शिव' तथा वेदान्तियोंका ब्रह्म है। वह तत्त्व स्वयं निर्गुण, निष्पन्द एवं सच्चिदानन्दस्वरूप है किन्तु उसकी किसी सर्जनेच्छाके कारण सृष्टिका स्फुरण अस्तित्वमें आ जाता है। अतएव, जबतक हमें उक्त शिव तथा ऐसी शक्तिके बीच सामरस्यका प्रत्यक्ष अनुभव नहीं हो जाता तबतक हमारे लिए उपयुक्त रहस्यका ठीक पता पाना सम्भव नहीं है।

इसी प्रकार दूसरे व्याख्यानमें बतलाया गया है कि जिस परतत्त्वकी चर्चा पहले की जा चुकी है वह 'इन्द्रियग्राह्य सत्य' नहीं है। भारतीय वैदिक ऋषियों तथा अतिप्राचीन सुमेरियन एवं बेबिलोनियन सभ्यतावाले पण्डितोंकी भी मान्यताओंके अनुसार, दृश्यमान जगतकी सृष्टिका मूल तत्त्व 'जल' था और जलका ही चित शक्तिरूप शब्द है जो इस प्रकार उसकी बुद्धिका काम करता है। यह उसकी मानसी धारणा है जिसे हम ब्रह्माण्डकी चित शक्तिका प्रतीक 'शब्दब्रह्म' भी कह सकते हैं तथा इसी कारण, इस शब्दकी साधना ही हमारा परम लक्ष्य होना चाहिए। शब्दके स्वरूपका विवेचन करते समय यहाँपर कहा गया है कि उसके सूक्ष्म एवं स्थूल-जैसे दो भेद हैं और उसकी परा, पश्यन्ती मध्यमा एवं वैखरी नामक चार अवस्थाओंका भी यहाँ उल्लेख किया गया है। इसके अलावा यहाँपर यह भी बतलाया गया है कि जिस प्रकार ब्रह्माण्डके पक्षमें, महाबिन्दुके

विस्फोटके पहले उसकी 'परा' अवस्था रहा करती है उसी प्रकार पिण्डमें भी कुण्डलिनीके गतिशील होनेके पूर्ववाली किसी स्थितिका अनुमान, उसके निष्पन्द रूपमें, किया जा सकता है। यहाँपर पिण्डमें अवस्थित न समझे जानेवाले अनेक स्थलोंकी ओर भी संक्षिप्त संकेत कर दिया गया है और फिर कहा गया है कि साधकका कर्तव्य है कि वह गुरूपदिष्ट संकेतोंके आधारपर निरन्तर अभ्यासके द्वारा, विश्वव्यापी चैतन्यकी अभिन्नताका अनुभव करे। इस प्रकारकी साधनाको ही संतोंने 'सुमिरन'की संज्ञा दी है जिसके भीतर उस चैतन्यको अपने ध्यानमें लानेकी प्रक्रिया भी समाविष्ट हो जाती है। द्विवेदीजीने इसी प्रसंगमें, संतों द्वारा प्रयुक्त कतिपय अन्य शब्दोंकी भी व्युत्पत्तिपर प्रकाश डाला है और बतलाया है कि किस प्रकार उन्होंने अनेक पुराने शब्दोंके रूपोंमें किंचित परिवर्तन लाकर उन्हें कोई-न-कोई ऐसा पारिभाषिक रूप दे दिया है जिसकी उचित व्याख्या करते समय हमें उनकी अर्थ गम्भीरताके साथ उनकी यथेष्ट सरलता भी हृदयंगम होने लगती है।

'सुरति और निरति' शीर्षकवाले तीसरे व्याख्यानमें कहा गया है कि 'सत्ता मात्रमें, तत्त्व मात्रमें, भाग मात्रम और प्रकाश मात्रम एक ही चित शक्ति एवं ही 'परासंविद्' व्याप्त है, 'इस कारण जो कुछ भी हमें इन्द्रियग्राह्य प्रतीत होता है यह सभी कुछ उसीका 'विलास' हो सकता है। अतएव, यही हमें 'परतत्त्व' तक पहुँचानेमें सहायिका बन सकती है, परावाक भी उस परासंविद्का ही रूप है तथा इच्छा भी उसीका विकास है। परावाक अव्यक्तावस्थासे व्यक्त होनेकी ओर प्रवृत्त हो जानेकी अवस्था है और पिण्डमें उसका स्थान मूलाधार चक्र है। योग-साधनाके विभिन्न रूपोंका लक्ष्य 'ब्रह्म-साक्षात्कार' कहा जा सकता है जिसके निमित्त की जानेवाली आवश्यक प्रक्रियाओंका यहाँ वर्णन किया गया है तथा उसके लिए प्रयुक्त होनेवाले अनेक पारिभाषिक शब्दोंकी यथास्थल व्याख्या भी की गयी है। परन्तु इसके साथ ही यहाँपर यह भी कह दिया गया है कि संतोंने इन सभीको सहजरूप देकर उसे 'सुरति' या स्मृति-तत्त्वापर ही केन्द्रित कर दिया है। 'सुरति' शब्दके अन्तर्गत, स्मरणकी प्रक्रियाके अतिरिक्त, प्रीतिके भावपर भी जोर दिया गया है। सुरति' आन्तर विषयोंके प्रति आसक्ति सूचित करती है जहाँ 'निरति', बाह्य विषयोंके प्रति अनास्था तथा वैराग्य भाव उत्पन्न करके वसी अन्तर्मुखी प्रवृत्तिका प्रश्रय दिया करती है। अतएव संतों द्वारा निर्दिष्ट सुरतियोग' एक प्रकारकी प्रेम-साधना है जिसे उन्होंने उक्त ब्रह्म-साक्षात्कारके लिए आवश्यक माना है। इसकी सहायतासे ही हमें स्थायी सिद्धि प्राप्त होती है और हमें अपूर्व रहस्य भी कुछ-न-कुछ अवगत

होने लगता ह ।

'मधुरोपासना' नामक चौथे या अंतिम व्याख्यानके अन्तगत, सवप्रथम, 'रूप की परिभाषा देते हुए, कहा गया ह कि वह 'अरूप गतिमय असीम'को सीमामें उपलब्ध करनेका परिणाम कहा जा सकता ह । जीव स्वय सीमामें बँधा हुआ है और वह प्रत्येक वस्तुको नाम और रूपकी सीमामें बाँधकर देखना चाहता है तथा इसीलिए अरूपको स्मरण कर वह उसे प्राप्त करना भी चाहता ह । यही उसके लिए सहज माग ह, क्योकि प्रत्येक पिण्डमें अरूपकी झलक आ जा सकती ह । साधकका काम यही हुआ करता ह कि जब कभी सयोग या भाग्यसे वह अरूप सौन्दय उसे झलक जाता है उसी क्षण उसे वह अपना गुरु मान लिया करता ह । मानव-गुरु उस वास्तविक गुरुको प्राप्त करनेमे सहायक मात्र हुआ करता ह और वह सब आता है जब, क्षणिक दशनके अनन्तर चित्तम उद्भूत व्याकुलता उत्पन्न हो गयी रहती ह तथा जिस दिन एक क्षणका वियोग असह्य हो उठता ह और सच्चे प्रेमोदयका अवसर उपस्थित हो जाता ह । वास्तवम अपने हानेकी चरितार्थता किसीके लिए हानेम ही हो सकती ह और इसीलिए वह अपने भीतर उसे स्वीकार कर क्रमश अपने लिए एक दृष्टि पा लिया करता ह । फिर तो इसके फलस्वरूप लाक लाज और शास्त्रके प्रति निष्ठा भी उसे अपने मागसे विचलित नहीं कर सकती और वह अपने 'भाव में आ जाता ह । मनुष्यका भाव वही ह जो वह वस्तुत ह, जिस कारण उस भाव जगानेके साधकके लिए यह आवश्यक ह कि वह अपना प्रकृतिको पहचान ले । यह भाव ही जब गाढ या 'सान्द्र' बन जाता ह तब 'रस' नामसे भी अभिहित हुआ करता ह । किन्तु भक्तोके इस 'रस में और काव्य रस में यह भेद ह कि भक्ति-रसमें जहा चिन्मुसना रहा करती ह वहाँ आलकारिकोका रस वस्तुत जडामुख हुआ करता ह । भक्ति रसके भी यहांपर फिर शान्त, दास्य सख्य एव वात्सल्य जैसे चार भेदोको बतलाकर उन सभीमे श्रेष्ठ मधुर रस को ठहराया गया ह जिसके अनुसार एक वष्णव भक्त उसके आलम्बनस्वरूप श्रीकृष्णसे प्रेम करने लगता ह और वह स्वय अपनको राधिका या चन्द्रावलीकी स्थितिम अनुभव करने लग जाता ह । यह मधुर रसकी साधना सहज साधनाका अद्भुत विकास ह जिसने निगुण भावसे भजन करनेवालाको भी प्रभावित किया था ।

इस चौथे व्याख्यानको समाप्त करनेके पहल, इसके अतिम अशमें, एक प्रश्न इस रूपमें उठा दिया गया ह 'क्या इस साधनाकी पृष्ठभूमिमें जा दशन ह वह हमारे सामूहिक उत्थानके लिए भी कुछ द सकता ह ? ' क्या हुआ जो दो चार व्यक्ति परम पद प्राप्त कर गये । ससारकी समस्या तो इससे सुलझ

नहीं जायेगी। उसको विशाल पैमानेपर सुलझानेकी जो सुविधाएँ हमें जड विज्ञानने दी हैं, क्या उनका इस तत्त्ववादसे कोई सामंजस्य भी हो सकता है?" इसका उत्तर भी यहाँपर अपने ढंगसे दिया गया है और कहा गया है कि आज सामूहिक मानवके लिए जो प्रयत्न हो रहे हैं वे निस्संदेह स्तुत्य हैं, किन्तु उनके मूलमें कोई ऐसी विचारधारा नहीं है जो गहराईमें जाकर ऊपरी सतहकी समस्त हलचलको एक निश्चित लक्ष्यकी ओर ले जा सके। एक ही विश्व-ब्रह्माण्ड-व्याप्त मूल चित् शक्ति समस्त प्राणिजगतमें व्याप्त है और मनुष्यके रूपमें इसीका सर्वोत्तम विकास हुआ है। अतएव, जो कुछ उस चित् शक्तिके अनुकूल किया जा सकता है वही ग्राह्य और आदरणीय है और जो प्रतिकूल जाता हो वह अग्राह्य है। सक्षेपमें जो विचार और प्रयत्न केवल स्थूल जगतको दृष्टिमें रखकर किया जाता है वह स्थूल होता है। यही, स्थूल रोगोंके कारण द्वन्द्व और संघर्ष पैदा कर सकता है, किन्तु जिन प्रयत्नोंसे मनुष्यका चिन्मय स्तर प्रभावित होता है वह अधिक महत्त्वपूर्ण है। सन्तोंकी वाणीका आज इसलिए उपयोग है कि वह मनुष्य पर मशीनके महत्त्वका प्रत्याख्यान करती है और वह जडोन्मुखी यान्त्रिकताकी जगह चिन्मुखी मानवताको बडी चीज समझती है, क्योंकि केवल मात्र मानवतावाद एक अस्पष्ट और लक्ष्यहीन तत्त्ववाद है और चिन्मुखी मानवताका सिद्धान्त स्पष्ट और सोद्देश्य विचारवाद है जिसे हम उसका विरोधी न मानकर उसका पूरक ही समझ सकते हैं।

इस प्रकार जिस आधुनिक मानवतावादके प्रश्नको छोडकर प्रस्तुत पुस्तकमें संगृहीत व्याख्यानोंका आरम्भ किया गया था उसे यहाँपर, अन्तमें, तत्त्वतः एकांगी ठहराया गया है और उसकी आवश्यक पूर्तिके लिए उस मध्ययुगीन मानवतावादकी ओर ही संकेत किया गया है जिसे तत्कालीन सन्तों एवं भक्तोंने अपने भारतीय तत्त्ववादके आधारपर अपनाया था। पुस्तकमें वर्णित सहज साधनाका लक्ष्य एक ऐसी दृष्टिको प्राप्त कर लेना है जो, वस्तुस्थितिके मूल आधारका सम्यक् विवेचन कर लेनेपर निर्धारित की गयी हो तथा जो न केवल मानव समाज प्रत्युत एक ही साथ प्राणि-मात्र तकको ध्यानमें ला सकती हो। उसमें ऐसी व्यापकता आ जानेपर आधुनिक समस्याओंका सुव्यवस्थित रूपमें हल किया जाना कभी असम्भव नहीं कहला सकता। इसमें सबसे बडी कठिनाई यह है कि आधुनिक मानवकी दृष्टिकोण बहुत-कुछ उस भौतिकवादके आधारपर निर्मित हो गया है जिसके अनुसार मनुष्य केवल जडतत्त्वके ही क्रमिक विकासका फल है और उसे अपनी वर्तमान अवस्था पारस्परिक होड एवं चिरकालीन संघर्षके द्वारा प्राप्त हो सकी है तथा उसके इसी प्रकार अग्रसर होते जानेमें ही

अपना कल्याण भी निहित है। इस कारण उसका ध्यान जितना अपने अधिकारों को प्राप्त करनेकी ओर केंद्रित है उतना अपने कर्तव्योंपर भी विचार कर लेनेकी ओर नहीं है। पश्चिमी मानवतावादी पण्डितोंने उसमें कुछ-न-कुछ सुधार, ईसाई धर्मकी परोपकारसम्बन्धी भावनाके प्रकाशमें प्रयत्न किया है और तद नुसार उन्होंने क्रमशः किसी न किसी ऐसे समाजवादका भी आदर्श रखा है जिसे व्यवहारमें लाकर अनेक समस्याएँ दूर की जा सकती हैं। किंतु यह भी कोरे विज्ञानपर आश्रित है जिसका कार्य प्रत्यक्षतः दैहिक सुखोपभोगकी व्यवस्था तक ही सीमित रह जाना जान पड़ता है और यह उस आत्मज्ञानपरक शान्तिको भी प्राप्त करानेमें सर्वथा असमर्थ रह जाता है जिसे मध्यकालमें यहाँ, नर-देहको साधन बनाकर, उपलब्ध किया जा सकता था। सच्चे मानवतावादके विचारसे वस्तुतः ज्ञान एवं आत्मज्ञान, इन दोनोंको, एक-दूसरेका पूरक बनाकर उपयोगमें लानेकी आवश्यकता है।

जहाँतक पुस्तकके प्रमुख विषय—सहज साधनाके स्वरूपका परिचय दिलाने की बात है इस कार्यको यहाँपर सुचारु रूपसे निभाया गया है। जैसा इस पुस्तकके 'निवेदनके' प्रारम्भमें कहा गया है, 'सहज' शब्दको, प्रायः 'ह' और 'ज' इन दोनों अक्षरोंको क्रमशः 'हठयोग' एवं 'जपयोग'के लिए प्रतीक मानते हुए उन दोनों साधनाओंके सम्मिलित रूपका बोधक ठहराया जाता है और उन दोनोंके एक साथ चलनेका संकेत, इन दोनों अक्षरोंमें पहले आये हुए 'स' के आधारपर स्वीकार कर लिया जाता है। इस कथाका समर्थन एक प्रकारसे उन सारी बातोंके द्वारा भी किया जा सकता है जिनका वर्णन क्रमशः चारों व्याख्यानोंके अंतर्गत किया गया है। इनमें अनेक ऐसी जटिल परिभाषाओं तथा प्रक्रियाओंका समावेश कर लिया गया दीख पड़ता है जिनका प्रसंग, स्वभावतः केवल संक्षिप्त रूपमें ही आनेके कारण कभी-कभी अस्पष्ट एवं दुरूह अथवा अनावश्यक तक प्रतीत हो सकता है।

यदि यहाँ वर्णन-शैलीकी रोचकता और मौलिकता सहायक न होती तो कई स्थलोंका नीरस बना रह जाना भी कोई आश्चर्यकी बात न थी।

पुस्तक रूपमें एक साथ संगृहीत हो जानेपर भी सभी व्याख्यान अपने-अपने मूल रूपोंमें ही प्रकाशित कर दिये गये हैं, जिसके कारण उनमें एक ऐसी सजीवता सुरक्षित रह गयी है जो हमें सहसा आकृष्ट कर लेती है और हम सहर्ष उत्सुक बनकर आगे बढ़ने लगते हैं।

प्रस्तुत पुस्तकमें एक महत्त्वपूर्ण किंतु गूढ़ समझे जानेवाले विषयपर बड़े सुन्दर ढंगसे प्रकाश डाला गया है।



'मृत्युंजय रवीन्द्र' दो समीक्षाएँ

● १

बनारसीदास चतुर्वेदी

गुरुदेव [कवीन्द्र श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर] के विषयमें यदि कोई हिन्दीवाला अधिकारपूर्वक लिख सकता है तो निस्सन्देह वे बन्धुवर हजारीप्रसाद द्विवेदी ही हैं। उन्हें शान्तिनिकेतनमें बीस वर्षतक अध्ययन-अध्यापन करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। यही द्विवेदीजीके जीवनका स्वर्णिम युग कहा जा सकता है। वहाँ द्विवेदीजीने अपने समयका सर्वोत्तम उपयोग किया—ग्रन्थोंके पढ़नेमें ही नहीं, महापुरुषोंके चरित्रके विश्लेषणमें भी। मुझे भी चौदह महीने तक शान्तिनिकेतनमें रहना पड़ा और वहाँकी तीर्थयात्रा तो मैंने द्विवेदीजीसे भी बारह वर्ष पहले की थी, पर बंगला भाषा न जाननेके कारण मैं बंगाली भाइयोंके निकट नहीं पहुँच सका और न गुरुदेवका ही विशेष अध्ययन कर सका।

'मृत्युंजय रवीन्द्र' द्विवेदीजीके बीस वर्ष-व्यापी गम्भीर अध्ययनका शुभ परिणाम है। इस संग्रहके कई महत्त्वपूर्ण लेख 'विशाल भारत' में सर्वप्रथम छापनेका सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ था और द्विवेदीजीकी उत्तरोत्तर बढ़ती हुई प्रतिभा तथा निपुणताको हमने अपनी आँखों देखा है। इस संग्रहके कई लेख हमने नेत्रकष्ट होनेपर भी पढ़ लिये और उनसे हृदयको परम सन्तोष और शान्ति भी मिली।

गुरुदेवके जन्म दिवसके उत्सवका बड़ा ही मनोज्ञ वर्णन द्विवेदीजीने किया है। उनका निम्नलिखित वाक्य कितना हृदयस्पर्शी है—

"[illegible]

आँगनमें जो सदा रहत तिनका अब बात कहानी भयो वर'

गुरुदेवके कई मधुर हास्योंका भी उल्लेख इस ग्रन्थमें हुआ है। कई लेख ऐसे हैं जिन्हें लिखनेका अधिकार केवल द्विवेदीजीको ही प्राप्त है—यथा 'रवीन्द्रनाथ और हिन्दी साहित्य', 'रवीन्द्रनाथ और आधुनिक हिन्दी साहित्य' और 'रवीन्द्रनाथकी हिन्दी सेवा'।

द्विवेदीजीके एक लेखमें हिन्दी भवनकी स्थापनाका वृत्तान्त पढ़कर पुरानी

स्मृतियाँ जाग्रत हो आयी। द्विवेदीजी बड़े हास्यरसिक हैं और एक दिन सन्ध्याके समय जब आकाशमें रंग विरंगे बादल दीख पड़ रहे थे और हम लोग साथ साथ टहल रहे थे, द्विवेदीजीके साथ मजाक करते हुए ही हिन्दी भवनकी कल्पना की गयी थी। उसके तीन वर्षके भीतर ही उस कल्पनाने साकार रूप धारण कर लिया! मैं अपनेको शान्ति निकेतनका हेड पण्डा कहा करता था और द्विवेदीजी असिस्टेण्ट पण्डा थे। हिन्दीवालोंके आतिथ्यका भार प्राय उन्हींपर पड़ता था। वे भी क्या दिन थे!

'खाटको टाटी जहासे तोडी वही मोटी'—किसी चतुर्वेदीकी गढ़ी हुई यह कहावत द्विवेदीजीके इस सग्रहपर लागू होती है। रवीन्द्रनाथके राष्ट्रीय गान' तो इतना स्फूर्तिप्रद गेय है कि उसे पाठ्य-पुस्तकोंमें उद्धृत किया जाना चाहिए। अन्तमें गुरुदेवकी कुछ कविताओंके अनुवाद भी दे दिये गये हैं। यदि उन्हें बन्धुवर श्यामसुन्दरजी सनीमे छन्दबद्ध करा दिया गया होता तो और भी अच्छा होता। 'जाना है, जाना है आगे जाना है' भी बहुत उच्चकोटिकी रचना है जिसमें गुरुदेवकी प्रगतिशील प्रवृत्तिके उज्ज्वल दर्शन होते हैं। गुरुदेवकी जन्मपत्री भी दे दी गयी है जिससे द्विवेदीजीके समानधर्मा ज्योतिषियोंको कुछ लाभ होगा।

इलाचन्द्र जोशी

रवीन्द्रनाथकी मृत्युके बाद हिन्दीमें उनके जीवन और साहित्यसे सम्बन्धित इतनी कम पुस्तकें प्रकाशमें आयी कि लगता था जैसे हिन्दी-जगत उन्हें या तो एकदम भूल गया है या उनकी चर्चाको ही महत्त्वहीन समझने लगा है। कविकी जन्म शतवार्षिकी देश भरमें बड़े समारोह और आडम्बरके साथ मनायी गयी। हिन्दी क्षेत्रमें भी मनायी गयी। पर लगा कि केवल औपचारिकताके निवाहके लिए ही यह महापर्व मनाया गया और हमारे युग-बोधक साहित्यकारोंके भीतर कोई विशेष प्रेरणा जगा सकनेमें न रवीन्द्रनाथका साहित्य ही सफल रहा न उनका विराट व्यक्तित्व। रवीन्द्र-साहित्यके प्रेमियोंको लगने लगा था जैसे उस महा साहित्यकी सभी प्राण धाराएँ एक विशाल मरु प्रान्तरमें एक एक करके सोती चली जा रही हैं। और वे हताश होकर, निरुपाय भावसे, निष्क्रिय अवस्थामें यह सब देखते रह जा रहे थे।

पर बहुत दिनों बाद जब आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीकी पुस्तक 'मृत्युंजय रवीन्द्र' सामने आयी तब उसे पढ़कर फिर एक बार लगा कि वे अमर धाराएँ कभी खो नहीं सकती और गहन मरु उदरको चीरती और फाड़ती हुई वे युग-युगमें नये-नये रूपोंमें हमारे आगे प्रकट होती रहेंगी। हजारीप्रसादजी एक लम्बे अरसे तक कविके निकटतम सम्पर्कमें रहे हैं और कविको भीतर और बाहरसे जानने और परखनेका अपूर्व सौभाग्य उन्हें प्राप्त रहा है। द्विवेदीजी स्वयं भी कलाप्राण हैं। कविका हृदय उन्होंने पाया है और भावात्मक संवेदनशीलता उनमें कूट-कूटकर भरी हुई है।

'मृत्युंजय रवीन्द्र'में संकलित विषय तीन खण्डोंमें बाँटे गये हैं। प्रथम खण्डमें महाकविके व्यक्तित्व सम्बन्धी विषयोंकी चर्चा की गयी है, जिनमें अधिकांश संस्मरणात्मक हैं। 'गुरुदेवके संस्मरण', 'रवीन्द्रनाथकी दिनचर्या', 'एक कुत्ता और एक मैना' और 'प्रयागमें कवि रवीन्द्रनाथ'—ये चार निबन्ध इस खण्डमें संकलित किये गये हैं। सभी संस्मरणोंमें द्विवेदीजीकी सुकुमार भाव-वेदना रह रहकर छलकती हुई सी लगती है। एक महान मर्मी कविके छाया-कुंज और भावायतनकी छायाके नीचे अन्तरंग रूपमें बिताये गये दिनोंकी भाव विभोर और स्नेह सरस बातें रह रहकर लेखकके भीतर जैसे मीठी टीस मारती रहती हैं।

अत्यन्त उदात्त क्षणोंमें कविके अन्तरसे फूट पड़नेवाले विचारोंसे लेकर, साधारणसे साधारण क्षणोंमें जग उठनेवाली सुकुमार भावुकता और सामान्यसे सामान्य अवसरोंपर बिखर पड़नेवाले हास्य और निष्कलुष व्यंग्यकी फुलझड़ियाँ उनके व्यक्तित्व-सम्बन्धी प्रायः सभी निबन्धोंमें सहज रसमयता आ गयी है। १९१४में रवीन्द्रनाथने प्रयाग प्रवासके अवसरपर 'बलाका' में संकलित जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और बहुचर्चित कविताएँ लिखी थीं (जिनमें 'ताजमहल' शीर्षक विख्यात कविता भी सम्मिलित है) उनकी चर्चा भी अत्यन्त रोचक और मार्मिक बन पड़ी है।

दूसरे भाग ('कृतित्व') में रवीन्द्रनाथके विचारों और रचनाओंपर विविध रूपोंमें प्रकाश डाला गया है। महाकवि मानवताकी अंतिम विजयपर किस दृढ़तासे मृत्यु-पर्यन्त विश्वास करते रहे यह बात इस खण्डके प्रथम चार निबन्धोंमें प्रभावशाली ढंगसे समझाया गयी है। फिर भी वर्तमान मानवकी आत्मविद्रोही और आत्मघाती योजनाओंने जीवनको कैसा कुत्सित वीभत्स और नारकीय बना दिया है, यह बात भी महाकवि भूले नहीं पाये थे। मृत्युके कुछ समय पूर्व अपनी एक कवितामें अपनी क्षुब्ध आत्माका आक्रोश उन्होंने इन शब्दोंमें व्यक्त किया था

"जिस दिन मेरा चैतन्य सुप्तिकी अन्ध गुहासे मुक्त हुआ, उस दिन उसने, एक दुःसह विस्मयकी आँधीके साथ दारुण दुर्योगके बीच, मुझे न जाने किस नरकाग्निवर्षी ज्वालामुखीके गिरिगह्वरके किनारे लाकर खड़ा कर दिया।

मैंने देखा कि वह ज्वालामुखी गरम धुएँके रूपमें मनुष्यका तीव्र अपमान उगलता हुआ फुफकार रहा है, अमंगल ध्वनिसे धराको कम्पित कर रहा है और वायुमण्डलके रन्ध्र-रन्ध्रमें कालिमा पोत रहा है।

मैंने इस युगकी आत्मघाती मूढ़ उन्मत्तता देखी, और यह भी देखा कि उसके समूचे शरीरमें विकृतिका घिनौना परिहास छा गया है। एक तरफ है स्पर्धित क्रूरता मत्तभावका निर्लज्ज हुंकार, और दूसरी ओर है भीरुताका दुविधा भरा पद-संचार, कृपणता छातीसे चिपका हुआ सतर्क सम्बल।

जितने भी प्रौढ़ और प्रतापशाली राष्ट्रपति हैं उन सभीने मंत्र-सभाके मण्डप-तलमें, संशय और संकोचवश, अपने समस्त आदेशों और निर्देशोंको होंठोंसे दबाकर पीस रखा है। इधर वैतरणी नदीके उस पारसे दानव पक्षियोंके दलके दल क्षुब्ध शून्यसे उड़े आ रहे हैं। ये नर मांसके भुक्खड़ गिद्ध अपने यन्त्र रूपी पंखोंको फड़फड़ाकर जीवनको अपवित्र कर रहे हैं।

हे महाकालके सिंहासनपर बैठे हुए विचारक, मुझे शक्ति दो, मुझे शक्ति दो। मेरे कण्ठमें वज्रवाणी संचारित करो, ताकि मैं इस शिशुघाती नारीघाती कुत्सित बीभत्सताको धिक्कार दे सकूँ—वह धिक्कार जो लज्जातुर इतिहासके हृदयमें उस समय भी स्पन्दित होता रहेगा जब यह रुद्धकण्ठ, भयार्त, शृंखलित युग चुपचाप अपने चिता भस्मके नीचे, प्रच्छन्न होता दिखाई देगा।"

आजकी पतित और भ्रमित मानवताके प्रति इस दुर्धर्ष आक्रोश भरे वज्र धिक्कारकी गूँज महाकविने बहुत दूर तक पहुँचायी है। आजीवन सत्य सुन्दर मंगल और शान्त शिव-अद्वैतम का उद्घोषक यह मन्त्रद्रष्टा ऋषि संकीर्ण राजनीतिकी स्वार्थान्ध रश्मिक पागलोंकी तरह इतराते हुए हिंसा रत युग मानवका महापतन देखकर अपने ईश्वरको लाल अंगारोंकी तरह जलते हुए स्वरमें पुकारते हुए अपनी मृत्यु शय्यामें लेटा हुआ कहता है

'भगवान्, तुमने युग-युग में बार-बार इस दयाहीन संसार में अपने दूत भेजे हैं।

वे कह गये हैं सब को क्षमा करो।

कह गये हैं प्रेम करो अन्तरसे विद्वेष का विष नष्ट कर दो।

वरणीय हैं वे, स्मरणीय भी।

तो भी आज दुर्दिन के समय उन्हें, निरर्थक नमस्कार के साथ, बाहर के द्वार से ही लौटा दे रहा हूँ।
मैंने देखा है, गोपन हिंसा ने कपट रात्रि की छाया में निस्सहाय को चोट पहुँचायी है।
मैंने देखा है, जबरदस्त के प्रतीकारविहीन अत्याचार से न्याय की वाणी चुपचाप एकान्त में रो रही है।
मैंने देखा है, तरुण बालक उन्मत्त होकर दौड़ पड़ा है—बेकार ही पत्थरपर सिर पटककर मर गया है।
कैसी निकट यन्त्रणा है उसकी!
आज मेरा गला रुँध गया है, मेरी बाँसुरी का संगीत खो गया है।
अमावस्या की कारा ने मेरे संसार को दुःस्वप्न के नीचे लुप्त कर दिया है।
इसीलिए तो आज मेरी आँखों से तुमसे पूछ रहा हूँ।
जो लोग तुम्हारी हवा को विषाक्त बना रहे हैं, उन्हें क्या तुमने क्षमा कर दिया है?
उन्हें क्या तुम प्यार कर सके हो?"

फिर भी—युगके विकराल बपरीत्यके बाद भी—इतिहासकी अविरल धारा अपना काम करती हुई चलती है। सृजन और विनाशकी बहिरंग और अन्तरंग लीलाएँ, निरन्तर किसी रहस्यमय नियमसे, मृत्युके नये-नये पर्योंमें जीवनको भटकाकर फिर फिर नये सत्यका निर्माण करती चली जाती है। और यही जीवन है—नित नया और चिर पुराना।

मृत्युञ्जयी रवीन्द्रनाथ इसी अटल विश्वासके कवि थे और अन्ततक रहे। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीने अपने अधिकांश निबन्धोंमें कविके व्यक्तित्व, कृतित्व और दर्शनके इस पहलूपर विशेष जोर देकर बहुत महत्त्वपूर्ण काम किया है।

इस संग्रहमें रवीन्द्रनाथके कथा-साहित्यकी बहुत चर्चा नहीं पायी जाती। उनके नाटकों और काव्योंपर ही विशेष बल दिया गया है। अधिकांश निबन्ध बहुत छोटे हैं और अधूरे-से लगते हैं। निबन्धोंके विषय इतने व्यापक हैं, लिखावट की शैली ऐसी हृदयग्राही है कि उनके छोटे आकारसे एक प्रकारकी अतृप्ति-सी पाठकके मनमें बनी रह जाती है। वह प्रत्येक विषयपर और अधिक जानना, और अधिक सुनना और समझना चाहता है—विशेष रूपसे इस कारण कि उनका अनुभवी लेखक महाकवि निकटतम सम्पर्कमें रह चुका है।

रवीन्द्रनाथने अपने जीवनके अंतिम दिनोंमें जो दुवाठीकी तरह दिप दिप करके जलनेवाली कविताएँ लिखी थीं उनकी भी ज्ञानवर्धक चर्चा द्विवेदीजीने की है। रवीन्द्रनाथके हिन्दी प्रेमपर भी दो-एक निबन्धोंमें अच्छा प्रकाश डाला गया है। बीच-बीचमें कविताओंके जो अनुवाद, उद्धरणके रूपमें, दिये गये हैं उनकी भाषा मूलकी तरह सहज लगती है। अनुवाद चाहे गद्यमें दिये गये हों चाहे मुक्त छन्दमें वे सभी प्रभावशाली हैं।

पुस्तकके तृतीय और अंतिम भागमें रवीन्द्रनाथकी तेईस चुनी हुई कविताओंके अनुवाद प्रवाहशील मुक्त छन्दोंमें दिये गये हैं। परिशिष्टमें रवीन्द्रनाथकी जन्मपत्री भी दी गयी है, जिसे पढ़ना और पढ़कर समझाना द्विवेदीजीका पुराना और प्रिय विनोद रहा है।

कुल मिलाकर 'मृत्युंजय रवीन्द्र' रवीन्द्रनाथ और उनके साहित्यपर एक विशेषज्ञ-द्वारा लिखे गये महत्त्वपूर्ण और पठनीय निबन्धोंका संग्रह है। इसमें कमी एक ही दिखाई देती है और वह यह कि ये निबन्ध योजनाबद्ध नहीं हैं, और आलोचित विषयोंकी केवल छिटपुट झाँकियाँ प्रस्तुत करते हैं।

आज दुनियाको यह बतानेकी आवश्यकता आ पड़ी है कि रवीन्द्रनाथने मानवीय इतिहासकी निरन्तरताको और आजके विश्वमंचपर अवतरित नये मानवका मूल्यांकन—वृहत देश और महाकालकी पृष्ठभूमिमें—किन किन रूपोंमें किया है, और अनेक राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक चक्र जालोंमें उलझे वर्तमान युगको उनका अंतिम सन्देश क्या है। इस महाप्रश्नके इस महत्तर उत्तरको समझानेके लिए यह आवश्यक है कि द्विवेदीजी-जैसे अधिकारी व्यक्ति एक नयी योजनाके साथ रवीन्द्रनाथके व्यक्तित्व और कृतित्वपर और अधिक विस्तृत प्रकाश डालनेका काम हाथमें ले लें।



मूल चैतन्य धारा कमलात्माकी इच्छा शक्तिका ही रूप है। वह गतिमात्र है। क्रिया शक्ति स्थिति मात्र है। गति और स्थितिके द्वन्द्वसे ही रूप बनता है। गति चित् तत्त्व है स्थिति अचित् तत्त्व है। चिन्मयी गति बारम्बार अचिन्मयी स्थितिमें रोकी जाती है। चैतन्य धारा बारम्बार जड़में स्थित आकर्षण शक्तिसे नीचेकी ओर खींची जाती है।

—कालिदासकी लालित्य योजना

मेघदूत : एक पुरानी कहानी

रवीन्द्र भ्रमर

आचार्य श्री हजारीप्रसाद द्विवेदीकी प्रस्तुत रचना कई दृष्टियोंसे विचारणीय है। पहला सवाल इसके स्वरूपके विषयमें उठाया जा सकता है। यह क्या है? अनुवाद है, टीका या व्याख्या है या कुछ और है। जैसा कि इसके नामसे ही ध्वनित होता है, महाकवि कालिदास कृत अमर काव्य 'मेघदूत' इसकी रचनाका प्रधान उपजीव्य है अर्थात् यह कृति 'मेघदूत' पर आधारित है। किन्तु यह कोई टीका या अनुवाद नहीं है। मैं इसे व्याख्या भी नहीं कहना चाहूँगा। वस्तुतः यह एक स्वतन्त्र कृति है जिसमें लेखकने 'मेघदूत'के छन्दोंका उपयोग क्रमशः अपने भावोच्छ्वासकी अर्गलाके रूपमें किया है। लेखककी बहुविज्ञता तथा पुरानीसे पुरानी बातको नये सन्दर्भ एवं नूतन उल्लासके साथ व्यक्त करनेकी उसकी क्षमताके कारण यह रचना मूल्यवान् एवं मनोहर हो उठी है। इस कृतिके सम्बन्धमें 'निवेदन'के दो पृष्ठोंमें स्वयं लेखकने कुछ महत्त्वपूर्ण विचार व्यक्त किये हैं—" परन्तु जब आँखें कमजोर हों, लिखने-पढ़नेपर सख्त पाबन्दी हो और पुस्तक खोलनेपर मित्रोंकी आरम्भ डाँट पड़नेकी भी आशंका हो तब उपाय ही क्या है? इसीलिए कोई टीका या व्याख्या लिखना तो सम्भव नहीं था, जो कुछ लिखा या लिखाया गया वह 'गप्प'से अधिककी मर्यादा नहीं रखता। इसीलिए मैंने इसका नाम भी दिया—मेघदूत : एक पुरानी कहानी।' अपने इस निवेदनमें लेखकने जिसे 'गप्प' कहा है वह बड़ा महत्त्वपूर्ण शब्द है। हिन्दीमें आ जानेपर दुर्भाग्यवश इसकी जो भी गति हुई हो, किन्तु संस्कृतमें यह शब्द है जिसका अर्थ होता है [illegible]। प्रस्तुत कृतिके सन्दर्भमें इसके हिन्दी तथा संस्कृत दोनों ही अर्थोंको लिया जाये तो कुछ अनुचित न होगा क्योंकि इसमें लेखकने 'मेघदूत'के संक्षिप्त कथा-तन्तुओंके आधारपर कल्पना तथा चिन्तनका नूतन वितान तानने की चेष्टा की है। एक बात और। लेखकने इस कृतिको 'स्वान्तः सुखाय' माना है। "स्वान्तः सुखाय अर्थात् अपने अन्तःकरणके सुखके लिए। 'स्वान्तः सुखाय' बहुत [illegible] शब्द है। परन्तु मैंने [illegible] दो बार

निबंधों और पुस्तकोंकी रचना सचमुच स्वांतः सुखाय की है, उनमें यह भी एक है।" इस प्रकार लेखकने इस कृतिको 'स्वांतः सुखाय' मानकर इसकी प्रकृतिके एक और पक्षको स्पष्ट करनेकी चेष्टा की है। अंतःकरणके सुखके लिए रची गयी कृतियाँ प्रायः विषयि प्रधान हुआ करती है। ऐसी कृतियोंमें लेखककी निजी दृष्टि और स्वगत चिंताधाराकी प्रधानता होती है। व्यक्तित्वका धनी कोई भी लेखक जब भी कुछ लिखता है तो उसके उद्वेलित मानसकी प्रतिच्छवियाँ अंकित हो उठती है। मेघदूत एक पुरानी कहानी'को मैं इसी परिप्रेक्ष्यमें एक विषयि प्रधान रचना कहना चाहता हूँ। कालिदासका 'मेघदूत' अपनी जगहपर है किन्तु यहाँ तो श्री व्योमकेश शास्त्री (लेखकका छद्म नाम) के पाण्डित्यपूर्ण तथा सहज उल्लासमय व्यक्तित्वकी मनोहर चंद्रिका छिटकी हुई है।

भारतीय साहित्यमें मेघदूत'का स्थान अत्यंत महत्त्वपूर्ण रहा है। रसराज शृंगारके वियोग पक्षसे उद्वेलित तथा प्रिया विरहकी कामाग्निसे मनोव्यथाससे आद्यंत मुखरित यह काव्य शताब्दियोंसे सहृदयजनोंका कण्ठहार बनता आया है। इसपर अनेक टीका टिप्पणियाँ की गयी है, अनेक व्याख्याएँ लिखी गयी है तथा इस देशकी भाषाओंके अतिरिक्त अँगरेजी, जर्मन, फ्रेंच आदि युरोपीय भाषाओंमें भी बराबर इसके अनुवाद प्रकाशित होते रहे है। साराश यह कि 'मेघदूत' कविताकी एक पुरानी प्रसिद्ध पोथी है जिसपर अनुवाद, व्याख्या तथा टीका टिप्पणीका कार्य पर्याप्त मात्रामें किया जा चुका है। ऐसी स्थितिमें आचार्य श्री हजारीप्रसाद द्विवेदीने नये सिरेसे इसे एक स्वतंत्र तथा 'स्वांतः सुखाय' रचना का निमित्त क्या बनाया? इस प्रसंगमें उन्होंने एक मौलिक उत्तर देनेकी चेष्टा की है। वे लिखते है कि "गीता और मेघदूत हमारे देशके दो विचित्र ग्रन्थ है। धर्म और अध्यात्मका उपदेश देनेवाला हर एक विद्वान और आचार्य गीताकी एक व्याख्या अवश्य लिख जाता है और साहित्य रसिक कवि और सहृदय जन कोई-न-कोई टीका, व्याख्या, कविता या आलोचना मेघदूतके सम्बन्धमें अवश्य लिख जाते है। ये दोनों ग्रन्थ विश्वनाथजीके मंदिरके घण्टेके समान है। हर तीर्थयात्री एक बार इनको अवश्य बजा जाता है।" आचार्य द्विवेदीके इस कथनका महत्त्व इस बात में है कि उन्होंने कर्मयोग और अध्यात्म-दर्शनकी रचना गीता तथा अनुराग भाव एवं शृंगार रसकी रचना 'मेघदूत'का समान महत्त्व प्रदान किया है। योगके पल्लेपर गीता और भोगके पल्लेपर मेघदूत-वजन और मूल्यमें लगभग बराबर है। और, विश्वनाथजीके मंदिरवाले उस घण्टेकी छटा निराली है। कोई उसे धीरसे बजाता है, कोई जोरसे। कोई उसे बजाकर घूम लेता है कोई सिर आँखों लगाता है। जिसमें जितना सामर्थ्य या श्रद्धा

देता है वह उसे उसी प्रकार बजा लेता है। प्रस्तुत कृतिके सन्दर्भमें यदि इस धरेलवाले रूपकको कुछ आगे बढ़ाया जा सके तो मैं कहूँगा कि आचार्य द्विवेदीने उसे पूरे मनोयोगके साथ निनादित किया है। उनके आन्तरिक आनन्दोल्लाससे साहित्य-देवताका भव्य प्रासाद एक बार पुनः गूँज उठा है।

'मेघदूत' एक छोटा-सा सन्देश काव्य है जिसकी रचना 'मन्दाक्रान्ता' नामक लगभग ११५ छन्दोंमें हुई है। आचार्य द्विवेदीकी प्रस्तुत रचना इस छोटे-से काव्यका कोई १७८ पृष्ठोंका कथात्मक परिधान रही है किन्तु इस सहजताके साथ कि पाठक कहीं ऊब नहीं और मूल कृतिके रसको द्विगुणित आवेगके साथ ग्रहण करता चले। द्विवेदीजी इस रचनाका समारम्भ निम्नांकित प्रकारसे करते हैं

"कहानी बहुत पुरानी है, किन्तु बार-बार नये सिरेसे कही जाती है। अत एक बार फिर दुहरानेमें कोई नुकसान नहीं है। एक यक्ष था, अलकापुरीका निवासी। इस देश और इस कालके निवासियोंकी दृष्टिसे देखा जाये तो वह निहायत ग़रीब नहीं कहा जा सकता। कुबेर ही उसके विशाल महलका तोरण इन्द्रधनुषके समान चमचमाया करता था।"

यह समारम्भ कालिदास कृत 'मेघदूत'के शुभारम्भसे भिन्न है और लेखकके मनमौजी स्वभावका परिचायक है। आगे इसी प्रसंगमें यक्षके अपराधसे सम्बद्ध किंवदन्ती काल्पनिक प्रसंगकी अवतारणा की गयी है। फिर करुण भावसे प्रेमान्ध प्रमाद और शाप-निवारणके उपायपर टिप्पणियाँ की गयी हैं। और इस समस्त पृष्ठभूमिके उपरान्त मेघदूतके प्रथम श्लोकके भावार्थको उसी कथात्मक प्रवाहके साथ पल्लवित किया गया है। प्रथम श्लोक तक पहुँचनेसे पूर्व लेखककी मानवता वादी विचारणाका एक अंश द्रष्टव्य है। प्रेमान्ध प्रमादके प्रसंगमें लेखकने पहले तो यह बताया है कि किस प्रकार मानवताका अंकुर रहनेसे प्रियामोहके कारण कर्तव्यच्युत हुए अपने एक भृत्यको क्षमा कर दिया था किन्तु यह कि कुबेर मेघदूतके इस यक्षको क्षमा नहीं कर सका और फिर इसी सन्दर्भमें अवसर पाते ही लेखककी मानवतावादी दृष्टिका आग्रह फूट उठा है। लेखकके शब्दोंमें—
"मनुष्य क्षमा कर सकता है देवता नहीं कर सकता। मनुष्य हृदयसे लाचार है, देवता नियमका कठोर प्रवर्तयिता है। मनुष्य नियमसे विचलित हो जाता है, पर देवताकी कुटिल भृकुटि नियमकी निरन्तर रखवाली करती है। मनुष्य इसलिए बड़ा होता है कि वह गलती कर सकता है देवता इसलिए बड़ा है कि वह नियमका नियन्ता है। सो कुबेरने उसे शाप दे दिया।" मेघदूत एक पुरानी कहानीके प्रारम्भिक आधारको पकड़कर उसके स्वरूप और प्रकृतिको समझनेमें

थोडी सहायता मिलेगी। सम्पूर्ण कृति कुछ इसी प्रकारकी मनमौजी टीका टिप्पणियों तथा शैलीगत सौन्दर्यसे परिपूर्ण है।

जिन लोगोंने आचार्य श्री हजारीप्रसाद द्विवेदीके साहित्यको थोडा-बहुत पढा है वे उनकी बहुज्ञतासे परिचित होंगे। इतिहास, पुराण और साहित्यसे लेकर फलित ज्योतिष तक एवं भारतके प्राचीन कलात्मक विनोदोंसे लेकर सभ्यता और संस्कृतिके अन्यान्य तत्त्वों तक आचार्यजीकी जानकारीका क्षेत्र बहुत व्यापक है। अध्ययन तथा अनुभव-द्वारा अर्जित की गयी यह ज्ञानराशि उनके किसी भी कृतित्व को यथाप्रसंग बहुत मूल्यवान बना देती है। इस दृष्टिसे 'मेघदूत एक पुरानी कहानी' के पाठकको कुछ निराशा न होगी। इस रचनामें भी आचार्यजीकी बहुज्ञता भलीभाँति प्रकट हुई है। इस कथात्मक व्याख्याको कुछ नवीन, कुछ रुचिकर तथा कुछ अधिक उपयोगी बनानेकी दृष्टिसे उन्होंने बहुधा अन्यान्य विषयोंकी निजी जानकारीका अवलम्ब ग्रहण किया है। कहीं तो इतिहास पुराण अथवा कहानीकी झलक मिलती है और कहीं हठयोग एवं तन्त्र-साधनाकी। फलित ज्योतिषके आधारपर कहीं शुभाशुभ निमित्तोंकी चर्चा की गयी है तो कहीं संगीत नृत्य अथवा आभूषण मण्डन इत्यादि शृंगार प्रसाधनोंके वर्णनका अवसर ढूँढ लिया गया है। ऐसा जान पडता है कि लेखक जो कुछ जानता है उसने जितना कुछ अर्जित किया है उस सब-कुछको यथाप्रसंग दे देने समर्पित कर देनेकी उसमें अपूर्व निष्ठा है। उदाहरणके लिए भाषा बोधके एक प्रसंगको लिया जा सकता है। मेघदूतके सातवें छन्दमें 'हर्म्य' शब्द प्रयुक्त हुआ है। विरही यक्ष मेघका 'अलका' का विवरण देते हुए कहता है कि वहाँ चाँदनीमें धुले हुए बडे-बडे 'हर्म्य' देखनेको मिलेंगे। द्विवेदीजी केवल इतना ही नहीं कहते। वे लगे हाथों इस शब्दकी भाषा वैज्ञानिक स्थिति भी स्पष्ट कर देते हैं—'हर्म्य समझ गये न? इधर लोग धनिकोंके मकानको हर्म्य कहने लगे हैं। लेकिन असली बात यह कि धनसेठोंकी धनी अट्टालिकाओंसे भरी बस्तीमें बहुत कम मकान ऐसे होते हैं जिनमें घाम या धूप पहुँच सके। जो बहुत ऊँचे होने हैं वे ही घम्य हो पाते हैं। 'घम्य' शब्द ही जरा मुलायम होकर हर्म्य बन गया है। यहाँ यह उल्लेख्य है कि 'हर्म्य' का एक अन्य रूपान्तर हरम अरबी भाषाका शब्द है और अट्टालिका अथवा अन्तःपुरके अर्थमें ही प्रयुक्त होता है किन्तु द्विवेदीजीने इसकी कोई चर्चा नहीं की है। यह तो संस्कृत हर्म्य का ही परवर्ती विकास है।

यहाँ यह सम्भव नहीं है कि प्रस्तुत कृतिके माध्यमसे उपलब्ध होनेवाली अन्यान्य विषयोंकी जानकारीका पूर्ण विवरण उपस्थित किया जाये। यह विवरण पूरी पुस्तकमें मेघदूतके छन्दोंके माध्यमसे अनुस्यूत है। इस सन्दर्भमें इतिहास

पुराणके कतिपय प्रसंगोंकी जानकारीके लिए पृ० ४०, ४७, ६७, ८१, १०० गुम शकुनोंकी दृष्टिसे पृ० २०, २१, १५६ ताण्डव और लास्य नामक नृत्य भेदोंकी पौराणिक आधारभूमिके लिए पृ० ७३, दस शोभा विधायक धर्मोंके लिए पृ० १२३ १२४, आवेध्य, निबन्धनीय, प्रक्षेप्य, आरोप्य नामक आभूषणोंकी चार कोटियोंके लिए पृ० १२५, कस्तूरी, कुंकुम आदि शृंगारिक मण्डन द्रव्योंकी दृष्टिसे पृ० १४५ लोकाचार और दुनियादारीकी दृष्टिसे पृ० १० १३, १५९ तथा तान्त्रिक हठयोग-के लिए पृष्ठ १४९ विशेष रूपसे द्रष्टव्य हैं। ये विवरण कृतिके मूल प्रवाहमें किसी प्रकारका व्यवधान उत्पन्न नहीं करते वरन् विज्ञ पाठकको सहज भावसे मानसिक ताप प्रदान करते हैं।

मैंने निवेदन किया है कि मैं प्रस्तुत कृतिको 'मेघदूत'की व्याख्या मात्र कहना पसन्द नहीं करूँगा। यह बात मुझे इस पुस्तकमें जहाँ-तहाँ उपलब्ध कुछ वाक्यों-को देखकर दोबारा याद हो आयी है। कुछ वाक्य ये हैं— मत्स्यवासी धनके प्रेमी हैं, देवताओंकी भोगभूमिमें जाकर व मूल्य क्या धरें।' (पृ० १८) तज की (शक्तिको) बुरा नाम देकर बदनाम करना अपनी असमर्थताका विज्ञापन करना है।" (पृ० ८४) 'जिसके पास पैसा होता है वही मोटा होता, उसीके शरीरकी चर्बी बढ़ जाती है।" (पृ० १३६) "पैसा मनुष्यको भीतर और बाहरसे मोटा बना देता है।' (पृ० १३६)। अब मेघदूत' की व्याख्यामें इन वाक्यों की क्या संगति बताया जाय। इस प्रकारकी सूक्तियाँ इस पुस्तकमें अनेक स्थलों पर टँकी हुई मिलेंगी। इनसे लेखककी सामाजिक दृष्टिका पता चलता है।

मेघदूत एक पुरानी कहानी' सचमुचकी कोई 'कहानी' नहीं है। इसमें न तो किसी घटनाका आयाम है और न उसके माध्यमसे पाठकके कौतूहलको जागृत करानेका कोई कौशल। चरित्रके नामपर लेखकने यक्षका चरित्र है किन्तु उसमें भी कोई उतार-चढ़ाव नहीं है। बस उसका प्रेमोन्मत्त विरहीवाला स्वरूप ही पाठकके सम्मुख रहता है। तब इस कृतिका 'कहानी कहलाना सार्थकता? इसमें एक ओर तो 'मेघदूत' की संक्षिप्त सी प्रेम-कथा, उसके स्वरूप तथा शैली का निर्वाह किया गया है और दूसरी ओर 'मेघदूत' के शास्त्रव्याख्यापरक परिप्रेक्ष्य में जिन पूर्वापर सम्बन्धोंकी संगति नहीं बतायी जा सकती थी उन्हें भी सुगठित कर लिया गया है। टेक्निकल टिप्पणियोंको छोड़कर सम्पूर्ण कृति आत्म चरिता त्मक शैलीमें प्रस्तुत की गयी है। कथा-नायक यक्ष विगत घटनाओं एवं स्मृतियों के आधारपर अपने मनोभावोंको पाठकोंके सम्मुख व्यक्त करता जाता है। इस दृष्टिसे यक्षका प्रेम पाठकके साथ वस्तुतः तादात्म्य स्थापित किया गया है। इतिहास पुराण धर्म, दर्शन या अन्य सम्बन्ध जो कुछ भी कहना हुआ है वह सब

प्राय यक्षके मुखसे ही कहलवाया गया है। इस रूपमें प्रस्तुत कृतिको आत्मालाप या एकालाप कह सकते हैं।

पुस्तककी भाषा शैली उसके प्रतिपाद्यके अनुकूल बन पड़ी है और उसमें कालिदास और उनके 'मेघदूत'की आत्मा सुरक्षित है। विरही यक्ष मेघको दूत बनाकर उसके माध्यमसे अपनी प्रिया तक अपना प्रणय सन्देश भेजना चाहता है। उसे मेघसे बड़ा महत्त्वपूर्ण काम लेना है। ऐसी स्थितिमें वह मेघको प्राय अत्यन्त आदर तथा मनुहारपूर्ण शब्दोंमें सम्बोधित करता है— मेरे प्यारे जलधर मित्र! यद्यपि मेरा हृदय समागमोत्कण्ठासे कातर है और मैं प्राकृतजनके समान प्रलाप कर रहा हूँ तथापि मुझे रञ्चमात्र भी सन्देह नहीं है कि मेरे हृदयमें जो उत्कण्ठा और औत्सुक्य है वह अकारण नहीं है।" पुस्तकके प्रारम्भमें कहानीका समारम्भ करते हुए नुकसान, गरीब, निहायत गरज पेशा हरकत, शौकीन, गफलत-जैसे कुछ उर्दू-फारसी शब्दोंका प्रयोग किया गया है किन्तु बादमें मेघदूतकी मूल कहानीके साथ यह प्रवृत्ति समाप्त हो गयी है। फिर तो उसी देव भाषाकी शब्दावलीका व्यवहार किया गया है जिसकी अपेक्षा देवलोकके निवासी यक्षसे की जा सकती थी। कहीं कहीं तो दुरत्यय कृत्रिम मिसृणा-जैसे घोर संस्कृत शब्दोंका व्यवहार किया गया है जिसका अर्थ जाननेके लिए कोशकी शरण लेनी पड़ती है। इस पुस्तककी भाषा और इसकी शैली शिल्पपर विचार करते समय आचार्य श्री हजारीप्रसाद द्विवेदीकी एक दूसरी लोक प्रिय कृति बाणभट्टकी आत्मकथाकी याद हो आती है। यह उपन्यास इसलिए भी बहुत सराहा गया कि इसमें विद्वान लेखकने बाणभट्टकी अलंकृत गद्यशैलीको ज्योंका त्यों ग्रहण कर लिया है। इसी प्रकार 'मेघदूत एक पुरानी कहानी' में कालिदासके शब्द विन्यास तथा वर्णन-कौशलका ध्यान रखा गया है। 'मेघदूत के छन्दोंपर आधारित गद्य खण्डोंमें तो ऐसा होना स्वाभाविक ही था, अन्यत्र भी उसी बाँकपनका निर्वाह किया गया है। कथा, वस्तुओं अथवा मन स्थितियोंके वर्णनसे लेकर उपमानोंकी आयोजना तक अथवा शब्दोंके सामासिक प्रयोगसे लेकर भाषाके नाद ध्वनि संयुक्त लयात्मक प्रवाह तक आचार्य-श्रीने कुछ वैसी ही शैलीका प्रयोग किया है जिसकी अपेक्षा कालिदाससे की जा सकती थी।

मेघदूत एक पुरानी कहानी के माध्यमसे, भारतीय वाङ्मयकी एक सरस एवं लोकप्रिय कृतिको नूतन मूल्यवान और किंचित मौलिक परिधानमें पुन प्रतिष्ठित करनेकी चेष्टा की गयी है। हिन्दीमें 'मेघदूत' को लेकर विपुल मात्रामें साहित्य रचना की गयी है किन्तु प्रस्तुत कृतिका रंग कुछ न्यारा है। आचार्य श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा लिखित साहित्यमें इसका एक निश्चित स्थान है और हिन्दी साहित्यमें भी अपने शैलीगत सौन्दर्यके कारण यह विशेष रूपसे समादृत होगी।

■

सूर साहित्य

• •

सुधा राजपाली

'सूर साहित्य' आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीकी पहली कृति है। उस समय वे केवल २३-२४ वर्षके युवक थे। उन्होंने शान्तिनिकेतनमें अध्यापकका पद अभी स्वीकार ही किया था। एक दो वर्षोंके भीतर ही शान्तिनिकेतनके नव मानवधर्मी वातावरणमें व्याप्त धार्मिक पुनर्जागरणसे प्रेरणा लेकर उन्होंने अपने सांस्कृतिक अध्ययनको भास्वर बना लिया। आचार्य क्षितिमोहन सेन जैसे सन्त-काव्य-मर्मी विद्वान्के सम्पर्कमें आनेसे तथा सिद्ध, सन्त तथा अन्य भारतीय धर्म-साधनाओंके मर्मज्ञ अनेकानेक आचार्योंके सत्संगसे नये तरुण आलोचकके मानसकी रचना हुई। भारतीय पुनर्जागरण और स्वातन्त्र्य साधनाकी जन्म भूमि बंगालमें रहते हुए उन्होंने बड़ी अपमानजनक क्षोभके साथ यह अनुभव किया कि अँगरेज और दूसरे विदेशी पण्डित भक्तिके सम्पूर्ण गरिमामय काव्यको ईसाइयतका अवदान सिद्ध करनेका प्रयत्न करते रहे हैं।

दूसरी ओर भक्ति और सन्त-साहित्यका अध्ययन कमसे कम हिन्दीमें अनेक दलदलोंमें फँस गया था। 'सूर साहित्य'के पहले इस विषय अथवा सम्पूर्ण भक्ति काव्यपर जो कुछ भी लिखा गया उसे देखनेसे पता चल जाता है कि आलोचक इस प्रकारके काव्यकी समीक्षाके लिए जिन पुराने मानदण्डका उपयोग कर रहे थे वह न सिर्फ इस साहित्यके सही अध्ययनके लिए बाधक था, बल्कि इस साहित्यका असली मर्म और माधुर्य इस कठोर तुलापर चढ़कर नष्ट भ्रष्ट हो रहा था।

यह सही है कि द्विवेदीजीके 'सूर साहित्य'के प्रकाशनके पहले आचार्य रामचन्द्र शुक्लकी सूर-विषयक समीक्षाएँ प्रकाशित हो चुकी थीं। शुक्लजीने सूरसागरको अपने मर्यादावादी मानदण्डपर कसा-परखा। यह भी सही है कि मिश्रबन्धुओंके 'विनोद' और हिन्दी नवरत्न में प्रकाशित सूरविषयक सामग्रीसे कहीं बहुत आगे बढ़कर आचार्य शुक्लने सूर साहित्यका अध्ययन किया। उन्होंने अपने रसवादी सिद्धान्तोंके आधारपर सूरके भाव और कला पक्षोंकी बहुत ही विशद व्याख्या की। उन्होंने सूरकी मौलिक उद्भावनाओंकी भी प्रशंसा की।

उन्हें सूरकी गोपियोंका वाग्वदग्ध्य भी प्रिय था किन्तु शुक्लजीकी अपनी कुछ सीमाएँ थीं। वे अपने मर्यादावादी आग्रहोंके कारण सूरके माधुर्य भाव सिक्त, पदोंको ठीकसे सराह न सके। उन्होंने रीतिकालकी 'अश्लीलता के लिए भी बेचारे सूरको ही उत्तरदायी बताया। उनका यह दृष्टिकोण ग्रियर्सनसे बहुत मिलता जुलता है। ग्रियर्सनने सूरदासके बारेमें लिखा कि "युरोपीय आलोचक तुलसीको ही सर्वश्रेष्ठताका मुकुट पहनाना चाहेंगे और आगराके इस अन्धे कवि को उससे नीचा, फिर भी ऊँचा स्थान देंगे।"[1] ग्रियर्सनके इस कथनमें ईसाई नैतिकतावादका आग्रह स्पष्ट था जो मानव-मात्रको पाप-सम्भव मानती हैं और आदम और ईवके प्रेम-सम्बन्धोंको पाप कहती है। आचार्य द्विवेदीके सम्मुख प्रेम और भक्तिके बीचके सम्बन्धोंकी व्याख्याका प्रश्न भी इसीलिए सहज ही उठ खड़ा हुआ।

सूरको समझनेके लिए भक्ति-काव्यकी सही चेतनाको समझना आवश्यक था। भक्ति चेतना सूरके बहुत पहले ही लोकमतका रूप धारण कर चुकी थी। भक्ति आन्दोलन गीताके उदयके साथ-ही साथ विकसित होता रहा। इसपर गुप्त युगमें सात्वत क्षत्रियोंका प्रभाव था। इसी कारण इसे सात्वत धर्म कहा गया। महाभारतके शान्तिपर्वमें इसकी विशद व्याख्या की गयी है। वहाँ इसे ऐकान्तिक धर्म भी कहा गया है। कालान्तरमें राम और कृष्णके अवतारोंको प्रमुखता देकर चलनेवाला यह धर्म भागवत धर्मके नामसे विख्यात हुआ और इसमें अनेक धर्म-साधनाओंके तत्त्व घुल मिलकर इसे लोकमतका रूप देने लगे। बौद्ध महायान और दक्षिणके आलवारोंकी साधनाके अनेक उपादान इसमें समन्वित हो गये। यह सही है कि चौथी इसवी शताब्दीके आस-पास भक्ति साधना नयी भास्वरताके साथ अग्रसर हुई किन्तु इसके पीछे ईसाई धर्मका कोई प्रभाव ढूँढ़ना निराधार कल्पना ही कहा जायेगा।

आचार्य द्विवेदीने ईसाइयतके प्रभावकी इस मिथ्या कल्पनाको नाना तर्कोंके आधारपर पूर्णतः निस्सार सिद्ध कर दिया है। उन्होंने 'सूर साहित्य'में 'राधा कृष्णका विकास' और 'स्त्री पूजा और उसका वैष्णव रूप' नामक निबन्धोंमें भक्ति साधनाके प्रमुख आलम्बन राधा और कृष्ण तथा वैष्णव पूजामें स्त्री तत्त्वकी प्रधानताके बारेमें इसाइयोंके द्वारा फैलाये हुए भ्रमजालको पूर्णतः निरस्त कर दिया है। उन्होंने लिखा है कि 'शताब्दियोंकी उलट-फेरके बाद प्रेम, सख्य, वात्सल्य, दास्य आदि विविध भावोंके मधुर आलम्बन पूर्ण ब्रह्म श्रीकृष्ण रचित

1 हिन्दी साहित्यका प्रथम इतिहास, पृष्ठ १३।

हुए। सब-कुछ उनमें परिपूर्ण रूपमें देखनेकी कोशिश की गयी। माधुर्यके अति रिक्त उद्रेकसे भक्तिका प्याला स्वास्थ्य भर गया। इसी समय ब्रजभाषाका साहित्य बनना शुरू हुआ। ब्रजभाषा काव्यकी इस युगल मूर्तिका परिचय अपूर्ण ही रह जायगा यदि हम तत्त्ववाद और वैष्णव सहजवादका रहस्य न समझ लें।"[1] उन्होंने कृष्णके व्यक्तित्वमें समाहित अनेकानेक धर्म-साधनाओंके मार्मिक तत्त्वोंकी पूरी व्याख्या की तथा उनके आधारपर कृष्ण भक्ति-साहित्यको समझनेका एक नया दृष्टिकोण प्रदान किया।

आचार्य शुक्लने सूरके जिस रसोद्रेकपूर्ण अंशको छोड़ दिया अथवा उन्हें अश्लील कहकर निन्दित किया उन्हीं अंशोंमें द्विवेदीजीने माधुर्यके तत्त्वोंकी प्रतिष्ठा की। उन्होंने स्पष्ट ही लिखा है कि प्रेम और भक्तिमें कोई अन्तर नहीं है जड़ोन्मुख प्रेम ही चिदोन्मुख होकर भक्ति कहा जाता है। 'प्रेम तत्त्व' शीर्षक खण्डमें तथा 'सूरदासकी राधा' शीर्षक निबन्धमें प्रेमके सिद्धान्त और व्यवहारका निरूपण है। यहीं लेखकने जयदेव और चण्डीदासकी राधाके साथ सूरकी राधा-की तुलना करके उसकी अनन्यता, प्रणति, भोलापन और निश्छल सहजताकी श्रेष्ठता स्थापित की है।

सूर साहित्य केवल ईसाई प्रभावोंका खण्डन, भक्तिका लोकमतके रूपमें विकास, प्रेमतत्त्वका विश्लेषण, तथा सूरकी प्रेम और भक्ति-विषयक धारणाओंका निरूपण ही नहीं करता बल्कि मध्यकालके इस अप्रतिम कविके व्यक्तित्व और उसके समाजको समझनेका प्रयत्न भी करता है। रवि बाबूने सूरदासके विषयमें जिज्ञासा की थी कि 'हे अन्धक कवि, तुमने यह प्रेम कहाँ पाया था, किसकी आँखें देखकर राधिकाकी आँसू भरी आँखें याद आ गयी थीं जिनके वसन्त रात्रिकी मिलन-शय्यापर विरह तुम्हें भुजपाशमें बाँध रखा था और अपने हृदयके अगाध समुद्रमें मग्न कर रखा था। इतना प्रेमकथा, राधिकाकी चित्त विदीर्ण कर देनेवाली व्याकुलता तुमने किसके मुख और किसकी आँखोंसे चुरा ली थी। आज क्या इस संगीतपर उसका कोई अधिकार नहीं है। क्या तुम उसके नारी-हृदयको वंचित भाषामें उसीको समझने के लिए वंचित कर दोगे।"[2]

द्विवेदीजीने इस जिज्ञासाका उत्तर सूरदासकी प्रतिभाका सन्धान करके नहीं बल्कि उस काल्य समाज और युगकी साधनाका सही विश्लेषण करके दे दिया है। इसके पहले शास्त्रीय कविता उसके तत्कालीन समाजका दर्पण देखनेकी परि-

---

१ सूर साहित्य पृ० ११।

२ सूर साहित्य, पृष्ठ ७०।

पाटी नहीं थी। असलमें यह परिपाटी फ्रांसीसी हिपाल्यत तेन (Hippolyte taine) की पुस्तक 'द रेस एण्ड द मोमेण्ट' (१८२८-९३) के प्रकाशनके बाद चली। तेनने स्पष्ट स्वीकार किया था कि कला अपने समाजकी उपज होती है। द्विवेदीजी न सिर्फ 'सूर साहित्य' बल्कि 'हिन्दी साहित्यकी भूमिका'में भी अपने सिद्धान्तोंके निर्माणमें तेनके निष्कर्षोंसे प्रभावित हैं। यद्यपि उन्होंने तेनके सभी सिद्धान्त-पक्षोंका स्वीकार नहीं किया है। क्योंकि उनके व्यक्तित्वमें भारतीय परम्परा संस्कृति और सबके केन्द्रमें स्थित मनुष्य और उसकी विजय यात्राके विश्वासका स्वर इतना प्रबल है कि वे सामाजिक वातावरणको सभी-कुछको बदल देनेकी शक्तिसे भरपूर कोई तत्त्व मान ही नहीं सकते। 'सूर साहित्य' में उन्होंने स्पष्ट ही लिखा है कि 'सूरदास मनुष्यकी दुर्बलताओंको पहचानते हैं और इन्हीं दुर्बलताओंको उसकी रक्षाके लिए उपयुक्त प्रहरी बना देते हैं'[1] अर्थात् सूरदासने अपने समयके समाजकी, उसकी वासनात्मक दुर्बलताको पहचाना और उनके परिष्कारका उदात्तीकरणका प्रयत्न किया। क्योंकि सूरदास रवि बाबूके इस कथनको पूर्णतः अभिव्यक्त कर चुके हैं कि "हम जो चीज देवताको दे सकते हैं वही अपने प्रियको देते हैं। और जो अपने प्रियजनको दे सकते हैं वही देवताको देते हैं। इससे हम पायेंगे क्या? देवताको हम प्रिय कर देते हैं और प्रियको देवता। जो सूरदासकी कविताओंसे नाक भौं सिकोड़ते हैं उनके लिए उपाय क्या है?"[2]

इस प्रकार हम यह स्पष्ट देख सकते हैं कि 'सूर साहित्य'की भूमिकापर जिस आलोचकका उदय हुआ वह एक ओर अपनी संस्कृति और धर्म साधनाओं का पूर्णतः मर्मज्ञ था, उसे भक्तिपर ईसाइयतके प्रभावकी बात स्वाभाविक रूपसे ही स्वीकार नहीं हुई। साथ ही वह प्राचीन साहित्यको सही ढंगसे समझनेकी एक ऐतिहासिक मानवतावादी और धर्मसाधना मूलक दृष्टि लेकर आया जो अबतक हिन्दी समीक्षा क्षेत्रमें प्रचलित दृष्टियोंसे बिलकुल भिन्न था। 'सूर साहित्य' इस बातका प्रमाण था कि हिन्दीको एक सबल सांस्कृतिक विचारक मिल गया है।



---

१ सूर साहित्य, पृ० ६८।
२ वही, पृ० ७१।

हिरण्मय

सन् १९३३ मई मासके प्रथम सप्ताहकी बात है। दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रासकी ओरसे आयोजित हिन्दी प्रचारकोंका एक यात्रीदल विश्वकवि रवीन्द्रनाथके दर्शनार्थ शान्तिनिकेतन पहुँचा। इस यात्रीदलका संगठन महात्मा गांधीजीके सुपुत्र स्वर्गीय देवदास गांधीजीने कराया था। इस यात्रीदलमें पन्द्रह व्यक्ति थे जो कर्नाटक, आन्ध्र, तमिलनाड तथा केरलके प्रतिनिधि थे। कर्नाटकके प्रतिनिधि तीन थे जिनमें एक मैं भी था। पद्मभूषण एम० सत्यनारायणजी इस यात्रीदलके नेता थे। इस यात्राकी आयोजनाका उद्देश्य यह था कि अहिन्दी प्रदेशोंमें हिन्दीका प्रचार करनेवाले हिन्दी अध्यापक हिन्दी भाषी प्रदेशोंमें समय-समयपर दौरा करके हिन्दी भाषाकी प्रकृति तथा हिन्दी साहित्यकी प्रवृत्तियोंसे भलीभाँति परिचित हो जायें। सर्वप्रथम यह यात्रीदल मद्राससे रवाना होकर बड़ौदा, इन्दौर, आगरा, दिल्ली, लाहौर, हृषीकेश, हरिद्वार, कानपुर, लखनऊ, प्रयाग, काशी, पटना, आदि प्रमुख हिन्दी भाषी क्षेत्रोंमें हिन्दीके साहित्यकारों, विद्वानों तथा हिन्दीकी संस्थाओंका परिचय प्राप्त करके गुरुदेव रवीन्द्रनाथजीसे मिलनेके लिए विश्वभारती पहुँचा। मुझे स्मरण है कि हमलोग शान्तिनिकेतनमें दो दिन रहे। दूसरे दिन मध्याह्न समय गुरुदेवके दर्शनकी व्यवस्था की गयी थी। विश्वकवि एक कुर्सीपर आसीन हुए और हमलोग उनके सम्मुख जमीन-पर बैठे। पहले-पहल गुरुदेवसे हम लोगोंका परिचय कराया गया और तदुपरान्त हमें आशीष देनेकी उनसे प्रार्थना की गयी। गुरुदेवने पहले बंगलामें बोलना प्रारम्भ किया और कहा कि मैं थोड़ी-बहुत हिन्दी जानता हूँ लेकिन मुझे डर है कि हिन्दी बोलते समय कहीं गलती न हो जाये। इसलिए यही बेहतर है कि मैं बंगलामें बोलूँ। जब उनसे यह निवेदन किया गया कि हमलोग बंगला नहीं समझते, तब वे अंगरेजीमें बातचीत करने लगे। दक्षिण भारतमें हिन्दी प्रचारका जो कार्य चलता है उसका परिचय पाकर गुरुदेवने अपनी प्रसन्नता प्रकट की। उन्होंने अपना संस्मरण सुनाते हुए कहा कि "वास्तवमें कबीरकी रचनाओंका

भलीभाँति अध्ययन करें।" गुरुदेवका सन्देश छोटा था, पर महत्त्वपूर्ण था।

उन दिनों आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीजी 'विश्वभारती'के हिन्दी भवनके अध्यक्ष थे। उन्हींकी कृपासे शान्तिनिकेतनमें हमलोगोंके कार्यक्रमकी व्यवस्था हुई थी। जब मैं आचार्य हजारीप्रसादजीके व्यक्तित्वपर विचार करने लगता हूँ तब हठात् ही मेरा ध्यान दो महत्त्वपूर्ण बातोंकी ओर जाता है। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुरपर कबीरका प्रभाव और विश्वभारतीमें हिन्दी भवनकी स्थापनाके द्वारा हिन्दी भाषा तथा साहित्यके अध्ययन-अध्यापनकी व्यवस्था—ये दो ऐसी बातें हैं जो हिन्दी भाषा तथा हिन्दी साहित्यके इतिहासके लिए अपूर्व घटनाएँ कही जा सकती हैं। वस्तुतः आचार्य हजारीप्रसादजीकी साहित्यिक प्रतिभाकी क्रियाशीलताके कारण ही ये घटनाएँ घट सकीं। विश्वकवि रवीन्द्रनाथजीकी सङ्गतिमें जो प्रतिभा पोषित तथा विकसित हुई वह विद्वान्‌विद्पर भी अपनी अमिट छाप छोड़ सकी, यह सारे हिन्दी जगत्‌के लिए गर्वका ही नहीं, वरन् अविस्मरणीय विषय है।

जिस समय शान्तिनिकेतनमें पहली बार आचार्य हजारीप्रसादजीसे भेंट हुई उस समय उनके महान् व्यक्तित्वसे मैं बिल्कुल अनभिज्ञ था। मुझे क्या मालूम था कि यह पहली भेंट मेरे लिए वरदान बनेगी और किसी समय मुझे उनके चरणोंमें बैठकर हिन्दीका थोड़ा-बहुत अध्ययन करनेका सौभाग्य प्राप्त होगा। सन् १९५२, जनवरीमें मैं शोध करनेकी तीव्र इच्छा लिये काशी पहुँचा और स्वर्गीय आचार्य चन्द्रबली पाण्डेयजीके साथ आचार्य हजारीप्रसादजीके घर गया। जब मैंने अपना परिचय देकर शोधकार्य करनेके हेतु काशी हिन्दू विश्वविद्यालयमें नाम लिखानेके लिए उनसे अनुमति माँगी तब उन्होंने शान्तिनिकेतनमें मिलनेका स्मरण किया और बड़े प्रेम तथा आत्मीयताके साथ कहा—'शोधकार्यके लिए व्यवस्था करनेमें कोई कठिनाई नहीं है।' यद्यपि उसी वर्ष मेरा रजिस्ट्रेशन हो गया तो भी सन् १९५४ जनवरीमें ही अपना कार्य प्रारम्भ कर सका। यह मेरा परम सौभाग्य रहा कि सन् १९५४ से सन् १९५६ तक मुझे काशीमें आचार्य द्विवेदीजीके चरणोंमें बैठकर हिन्दीका अध्ययन करनेका सुअवसर ही नहीं मिला, अपितु इन दो ढाई वर्षोंमें उन्हें अत्यन्त निकटसे देखने तथा समझनेका भी मौका मिला। उनके चुम्बकवत् व्यक्तित्वकी यह विशेषता थी कि जैसे-जैसे मेरा उनसे परिचय बढ़ता जाता था वैसे-ही-वैसे उनके प्रति मेरी श्रद्धा बढ़ती जाती थी। उन्होंने मेरे शोध कार्यमें पथ प्रदर्शन तथा किया, मेरे जीवनका ही पथ प्रदर्शन किया। ऐसी थी उनकी उदारता तथा आत्मीयता।

मैं एक अहिन्दी भाषी हूँ। विगत पैंतीस वर्षोंसे लगातार हिन्दी पढ़ना

जाता आया हूँ। हिन्दी साहित्यकी गतिविधिसे अपनेको परिचित रखनेका यत्न करता आया हूँ। साथ ही, हिन्दी भाषी प्रदेशोंमें समय-समयपर भ्रमण करके हिन्दीके कवियों, लेखकों, आलोचकोंकी साहित्यिक प्रवृत्तियों तथा उनके व्यक्तित्वसे परिचित होनेका मुझे अवसर मिला है। हिन्दीकी संस्थाओंके सभा सम्मेलनोंमें हिन्दीके साहित्यकारों तथा विद्वानोंको दूरसे निकटसे देखने-समझनेका भी मौका पाया है। जब मैं अपने परिचित समस्त हिन्दी जगतपर एक विहंगम दृष्टि डालता हूँ तब कुछ विशिष्ट व्यक्तित्व मेरी आँखोंके सम्मुख अपनी आभा बिखेर देते हैं। यदि मुझसे उन हिन्दी साहित्यकारोंके नाम बतानेके लिए कहा जाये जिनके व्यक्तित्वसे मैं सर्वाधिक प्रभावित हुआ हूँ और जिनकी अमिट छाप मुझपर पड़ी है, तो मैं तुरन्त ही कहूँगा—स्वर्गीय बाबू प्रेमचन्दजी तथा आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी।

यदि प्रेमचन्दजीने अपनी कहानियों तथा उपन्यासोंद्वारा हिन्दी भाषा तथा साहित्यका मस्तक ऊँचा किया तो आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीजीने हिन्दी साहित्यकी आत्माको उसकी महान् सांस्कृतिक सम्पत्तिसे सम्बद्ध करके उसकी गरिमाकी ज्योति जगायी। ये दोनों हिन्दी जगतके बेजोड़ दो युगपुरुष हैं।

यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि आधुनिक हिन्दी साहित्य सर्वांग समृद्ध तथा सुन्दर बनता जा रहा है। यह तो अनगिनत छोटे-बड़े साहित्यकारोंकी साधना तथा कृतित्वका ही फल है। इन साहित्यकारोंमें किसी एकको सर्वाधिक श्रेय दिया जा सकता है न ऐसा करना ही उचित है। फिर भी, ऐसे कतिपय साहित्य-साधक अवश्य मिलेंगे जिनकी प्रतिभाकी छाप सबपर दिखाई पड़ती है। ऐसे इने गिने साहित्यकारोंमें आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीका अपना विशिष्ट स्थान है। इस विशिष्ट स्थानकी परख क्या हो, यह विचारणीय है।

हिन्दी साहित्य जगतमें कुछ ऐसे साहित्यकार मिल सकते हैं जिन्होंने अपनी कृतियोंके परिमाणकी दृष्टिसे सर्वाधिक श्रेय प्राप्त किया हो। ऐसे भी कुछ साहित्य-सेवी मिलेंगे जिन्होंने साहित्यकी किसी एक विधाकी समृद्धिमें महत्त्वपूर्ण योग दिया हो अथवा अपने युगकी एक सर्वश्रेष्ठ रचना प्रस्तुत की हो। यदि कोई श्रेष्ठ आलोचक माने गये हों तो दूसरे कोई सर्वश्रेष्ठ अनुसन्धित्सु कहे जा सकते हैं। यह भी सम्भव है कि कोई किसी एक विषयके विशेषज्ञ हैं तो और कोई किसी दूसरे विषयके सर्वश्रेष्ठ विद्वान् हैं। यह गम्भीर प्रश्न है कि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीके व्यक्तित्वको किस मानदण्डसे मापा जाय। रचनाओंकी संख्याकी दृष्टिसे आचार्य द्विवेदीका सबसे ऊँचा स्थान नहीं दिया जा सकता। यह भी नहीं कहा जा सकता कि साहित्यकी किसी एक विधाकी समृद्धिमें

उनका योगदान सर्वाधिक है। उन्होंने साहित्यका इतिहास लिखा है, निबंध लिखे हैं, उपन्यास लिखे हैं, आलोचनाके ग्रंथ रचे हैं। किन्तु इनमें-से किसी एक पक्षाग्रही कृतिके आधारपर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीजीको सर्वश्रेष्ठ साहित्यकार नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः उनकी छोटी-बड़ी सभी कृतियोंको एक साथ रखकर उनका सम्यक् आलोडन, अध्ययन करके यह देखना पड़ेगा कि उनकी विचार-सरणिमें ऐसी कौन-सी मूलभूत भाव धारा है जो अन्तर्धाराके रूपमें सब कृतियोंमें विद्यमान है और जो उनके व्यक्तित्वको महान तथा गरिमामय बनाती है। यह भाव धारा बड़ी गहरी गम्भीर और ऐश्वर्ययुक्त है। इस जीवन्त भाव धाराकी कुछ रूप रेखा निम्नलिखित पंक्तियोंमें प्रस्तुत करनेकी कोशिश की जायेगी।

किसी भी जातिके साहित्यका आदिकाल उसके भावी विकास-वृद्धिकी आधार शिला है। जबतक आदिकालका सम्यक् अध्ययन प्रस्तुत नहीं हो पाता तबतक परवर्ती साहित्यका सही मूल्यांकन सम्भव नहीं होता। हिन्दीका आदिकाल बहुत दिनों तक अस्पष्ट उलझा हुआ और उसका परिचय अधूरा ही रहा। आचार्य द्विवेदीजीने अपनी संस्कृत अपभ्रंश प्राकृत भाषाओंकी विद्वत्ता तथा आधुनिक आलोचनाकी प्रक्रियाओंसे सुलझी हुई अपनी सूक्ष्म विचार-सरणि एवं विवेचन शक्तिके सहारे हिन्दीके आदिकालके वास्तविक स्वरूप तथा महत्त्व का परिचय उसकी महती सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक पृष्ठभूमिके परिवेशमें प्रस्तुत किया। फलतः समूचे हिन्दी साहित्यके अध्ययनका पथ प्रशस्त हुआ।

आचार्य द्विवेदीजीकी सबसे बड़ी देन है उनका साहित्यको शास्त्रके तंग दायरेसे बाहर लाकर उसे जीवनकी अभिव्यक्तिका सहज साधन बनाकर उसका जीवनके साथ सीधा सम्बन्ध स्थापित करनेका आग्रह और मनुष्यकी अन्तर्निहित एकताकी प्राप्तिको ही साहित्यका एक मात्र लक्ष्य घोषित करना। उन्होंने बराबर यह स्पष्ट किया है कि साहित्य चेतना व्यक्ति चेतनाका वाहक मात्र न होकर एसी समृद्धि है कि वह जीवनको प्रफुल्ल तथा प्रबुद्ध बनानेकी प्रेरणाका अजस्र स्रोत है।

आचार्य द्विवेदीजीका जीवन दर्शन परम्परागत रूढ़ियों तथा विश्वासोंकी सीमित परिधिमें मानवको मुक्त करके आधुनिक वैज्ञानिक युगकी नूतन स्थापनाओं के साथ सामंजस्य स्थापित करता है। जहाँ वह स्वस्थ है वहाँ उदार तथा जीवनके सही मूल्योंका पोषक भी है।

आधुनिक साहित्यके भीतर शोधका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस क्षेत्रमें हिन्दी साहित्यका प्रगति आशाजनक है। आचार्य द्विवेदीजीने शोध-कार्यको पवित्र ज्ञान

का साधन बताकर गाथग्रन्थोंको तथ्योंका निर्जीव पुलिन्दा न बनाकर रचनात्मक प्रतिभाका वाहक घोषित किया है।

इन सबके लिए मानवताको सर्वोपरि बताकर आचार्य द्विवेदीजीने साहित्यका वास्तविक तथा अंतिम प्रयोजन सारे मानव समाजको सुंदर तथा भव्य बनानेका साधन-मात्र माना है।

आचार्य द्विवेदीजी सच्चे अर्थमें एक प्रगतिशील साहित्यकार हैं। उन्होंने किसी भी प्रकारके प्रयोग या मतवादकी निन्दा न करके पूर्ण सहानुभूतिके साथ उन सबके भीतर ऐसे तत्त्वको देखनेका प्रयास किया है जो किसी समय साहित्य की समृद्धिमें सहायक सिद्ध होगा।

हिन्दी भाषाके सहज विकासमें आचार्य द्विवेदीका योगदान कुछ कम महत्त्व-का नहीं है। उनकी समस्त रचनाओंमें बरती गयी भाषाके स्वरूपको देखनेसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भावाभिव्यंजनामें भाषा एक सहज साधन हो, बाधक न हो। उनके जिंदादिल स्वभावकी छाया उनकी भाषामें क्या, भावा-भिव्यक्तिमें क्या विषय प्रतिपादन-शैलीमें क्या—सर्वत्र दिखाई देती है, जो भाषाको, साहित्यको, जीवनको मधुर, सरस तथा प्रफुल्ल बनाती है।

आचार्य हजारीप्रसादजीकी छोटी बड़ी समस्त रचनाओंमें अन्तर्धाराके रूपमें जो तत्त्व दिखाई देते हैं वे उनके महान् व्यक्तित्वका परिचय प्रस्तुत करते हैं। ये तत्त्व ही उन्हें हिन्दी साहित्यके भीतर एक महान् विभूतिके रूपमें प्रतिष्ठित करते हैं। ये ऐसे तत्त्व हैं जिनसे हिन्दी भाषा तथा साहित्यका गौरव निरन्तर बढ़ता ही जायेगा।



जिस भाषाका अर्थ समझमें नहीं आता उसका अर्थ है ही नहीं यह कैसे कहा जा सकता है। यह आकाश भरा तारक मण्डल उल्लास मुखर पवन पवन उद्धूत अग्निशिखासे तुलना करनेवाला सन्ध्याकालीन गिरि कुहर सबका अर्थ होना चाहिए। समझमें नहीं आ रहा है। कितना समझ पाया हूँ? इस विराट ब्रह्माण्डमें जो कोलाहल सुनाई दे रहा है वह क्या निरर्थक है? यह जो जय-पराजयकी त्रिगुण मन्त्रणाओंका है वह क्या उपर-ऊपरसे जैसा सुनाई दे रहा है वैसा ही है? नहीं गहराईमें कुछ और होना चाहिए।

—चारुचन्द्रलेख

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीका लोकवार्त्तिक दृष्टिकोण

• •

श्याम तिवारी

किसी साहित्य-समीक्षकके लोकतात्त्विक दृष्टिकोणका तात्पर्य उन व्युत्पत्तियों तथा निष्कर्षोंसे है जो लोकवार्ताके अध्ययनसे निःसृत हुए हों। लोकवार्त्ताशास्त्रका मनन चिन्तन अपने-आपमें एक अलग विषय है जो पुराकथाशास्त्रसे लेकर सांस्कृतिक नृतत्त्वशास्त्रकी उन सभी शाखाओं प्रशाखाओंसे सम्बद्ध है जिनमें किसी जातिकी मौखिक, अशास्त्रीय आदिम और परम्परागत कृतियों, कलाओं अन्ध विश्वासों क्रिया-कलापों और मनोवृत्तियोंका अध्ययन होता है। इन सबके धारावाहिक अध्ययन और उसके परिणामों तथा सिद्धान्तोंके आधारपर किसी साहित्य विशेषकी समीक्षा एवं व्याख्याकी रीति ही समीक्षक अथवा साहित्य अध्येताका लोकवार्तिक दृष्टिकोण है।

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि समीक्षक अथवा व्याख्याता लोकवार्त्ता विज्ञान विषयक अध्ययन तथा खोजको साहित्येतर मानकर उसके परिणामों और निष्कर्षोंको नकारता है। हिन्दी साहित्यके अध्येताओंने तो इसके विपरीत लोक साहित्य और अभिजात अथवा श्रेष्ठ साहित्यमें धारावाहिक समानता और विषय बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव देखनेके बजाय दोनोंको जैसे प्रतिगामी मान लिया है। वे इन दोनों धाराओंमें एकताका दर्शन नहीं कर पाते और एक सीमातक इन्हें अध्ययनके भिन्न क्षेत्रके अन्तर्गत रखते हैं। इसीलिए हिन्दी लोकसाहित्य और हिन्दी साहित्यके अध्ययनके बीच एक विचित्र अलगाव दिखाई पड़ता है। इसमें अभिजातवादियोंके उस असन्तुलित मनोविज्ञानका कम योग नहीं समझना चाहिए जिसके चलते साहित्यमें अस्पृश्यतावाद या कछुआवृत्तिको बढ़ावा मिलता है।

हिन्दी साहित्यके अध्येताओंमें आचार्य द्विवेदी ही एक ऐसे साहित्य मनीषी दिखाई पड़ते हैं जिन्होंने सर्वप्रथम इस टूटनकी ओर ध्यान दिया और लोकवार्ता साहित्य विशेषके अध्ययन विवेचनमें आवश्यक मान उसे अध्ययनकी

उस परम्परासे जोड़ दिया जिसे कतिपय युरोपीय पण्डितोंने भारतीय साहित्य, विशेषकर पुराकथा, आख्यायिका और कथाके अन्य अनेक रूपोंके अध्ययन-मनन द्वारा स्थापित किया था। इसका अर्थ यह है कि साहित्यके अध्ययनकी पद्धति-विशेष, चाहे वैदिक या लौकिक संस्कृत हो, चाहे प्राकृत, पाली, अपभ्रंश या हिन्दी और उसकी बोलियोंका साहित्य हो, अपनी धारावाहिकतामें ही नित्य नूतन खोजों तथा सिद्धान्तोंसे उत्तरोत्तर पूर्ण विकसित होती है। किन्तु खेदके साथ स्वीकार करना पड़ता है कि मैक्समूलर, बेनेफी, पेंजर, लैंग, टानी, ब्लूमफील्ड, क्रूक आदि विदेशी पण्डितोंकी भारतीय साहित्यालोचन-पद्धतिको उनके अध्ययनकी दिशाको जहाँका तहाँ छोड़ दिया गया है। फलतः हिन्दी साहित्यके अध्येताओं और समीक्षकोंने साहित्यशास्त्रीय मानदण्डोंसे साहित्यकी नावेलवादी कर अध्ययनको ही ग्रस्त कर दिया है, उन्हें पूर्ववर्ती साहित्य-समीक्षकों और अध्येताओंके उन मानदण्डों तथा पद्धतियोंसे कोई प्रयोजन या लगाव ही नहीं है जो साहित्यको अन्य मानवतादिशास्त्रों और उनके निष्कर्षोंसे जोड़ता है, उनका तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करती है और समीक्षा व्याख्याको शास्त्रकी जकड़बन्दीसे मुक्त करती है। आचार्य द्विवेदीने इस विसंगति, अलगाव और अन्तरालका अनुभव कर अपनी खोजी प्रवृत्ति तथा अतीत अध्ययनकी आवश्यकताके अनुरूप, हिन्दी साहित्यके अध्ययन चिन्तनमें लोकतात्त्विक किंवा लोकवार्तिक दृष्टिकोणको ग्रहण की है।

विशेषतः मानवतावादी समीक्षक कहे जाते हैं। किन्तु उनका यह दृष्टिकोण (ह्यूमनिस्टिक आउटलुक) पिछले आर्गियन्टलिस्टों-जैसा भावात्मक तथा एकांगी नहीं है। शास्त्रगत लक्षणोंके सहारे साहित्यकी शल्यचिकित्सा करने तथा लक्षण-उदाहरण खोजनेका काम उन्होंने बहुत कम किया है। शल्य चिकित्सा इसलिए कि हिन्दी आलोचकोंका एक प्रतिष्ठित वर्ग बीते युग और मृतसाहित्यका ही अध्ययन-का उचित और गौरवपूर्ण क्षेत्र मानता आया है। उसमें अध्यापकीय वृत्ति-मात्र ही उनकी विवशता नहीं है वरन् वह अवसर भी है जिसके द्वारा वे साहित्यशास्त्रीय ज्ञानका निगूढ़ परिचय देते हैं। द्विवेदीजी भी अतीतके उद्धारवादी चिन्तक हैं किन्तु उनकी शव-साधनाका प्रयोजन उस दृष्टि रूपमें सिद्ध कर लेना है ताकि अन्य भारतीयतम अतीतका रहस्यभेदन हो सके। यह रहस्यभेदन उन अर्थोंमें नहीं समझना चाहिए जिनकी अतिरंजनाके कारण गडाजने मैक्समूलरपर कटाक्ष करते हुए लिखा था—'मैक्समूलर वाज ए मिथ हिमसेल्फ।'

डॉ॰ द्विवेदीके लोकवार्तिक दृष्टिकोणके पीछे उनकी बहुमुखी जिज्ञासाका ढंग दिखाई पड़ता है। उन्होंने शास्त्रके आसन्दीसे पिण्ड छुड़ाकर अपने स्वतन्त्र

चिन्तन और अध्ययन द्वारा हिन्दी साहित्यका प्राचीन साहित्यकी रूढ़ियों और परम्पराओंके क्रमम परखनेका प्रयास किया। उन्होंने एक विकासवादीकी भाँति उन मूल अभिप्रायों, उपादानों और रूढ़ि-तत्त्वोंको आलोच्य साहित्यके सन्दर्भ प्रसंगमें देखने-परखनेकी चेष्टा की जिनकी निरन्तर उपस्थिति उसे पूर्ववर्ती साहित्य सम्पदा तथा परम्परासे जोड़ती है। अतः यह उनकी अनिवार्य आवश्यकता थी कि वे साहित्यके विवेचन अध्ययनमें उन प्रभावों और परिणामोंको रेखांकित करें जो साहित्य इतिहासकी परम्परा और प्रयोगके उपादान-स्वरूप उसमें व्यक्त होते आये हैं। आपने अपनी हिन्दी साहित्यकी भूमिका में दो भिन्न श्रेणीके संस्कारवाले आर्योंकी दो भिन्न भाषाओंमें दो भिन्न प्रकृतिवाली रचना-परम्पराको लक्ष्य कर, संस्कृतके समानान्तर निरन्तर विकसित लोकभाषा साहित्यकी स्थिति स्पष्ट की और उसके प्रति हीन भावनाओंसे विजड़ित सिद्धान्तको चुनौती दी। यह आपके ऐतिहासिक लोकवार्तिक दृष्टिकोणका आग्रह था जिसके आधारपर आपने हिन्दी साहित्यकी भूमिका बनानेवाली दो भिन्न प्रवृत्तियोंकी काव्यधाराओंमें लोकभूमिपर आधृत काव्यपरिपाटीकी ओर संकेत किया और उदाहरणस्वरूप प्राकृतमें लिखित हालकी गाहा सत्तसई तथा अपभ्रंशकी नीति शृंगारवाली रचनाओंका उल्लेख किया। आगे अपभ्रंश और हिन्दी दोनोंकी साहित्य धाराओंमें दो भिन्न जातियोंकी विविध प्रवृत्तियोंके संयोगको शुभ माना। इन धाराओंमें जिसका मूल उद्गम 'लोक' था और अपभ्रंश-साहित्यमें जिसके आगमनसे ऐहिकतामूलक शृंगारी काव्य तथा 'लोक प्रचलित कथानक' का विकास हुआ था पूर्वी अपभ्रंशकी साधनामूलक काव्यधारासे मिलकर हिन्दी जन साहित्यकी गंगाजमुनी साहित्यधाराके रूपमें परिवर्तित हो गया था। लोककी ताजी अनुभूतियोंसे मण्डित इस स्वच्छन्द काव्यधाराके साथ दूसरी धाराकी काव्य प्रवृत्तियोंके मेलने हिन्दीके पूर्वमध्यकालीन साहित्यको वास्तविक जन-साहित्यके रूपमें उकसाया। आचार्य द्विवेदीका मत है कि इस संयोगमें हिन्दीके जिस जनसाहित्यका उद्भव हुआ उसके जोड़का साहित्य सम्पूर्ण भारतीय इतिहासमें दुर्लभ है।

हिन्दी जन-साहित्यको भारतीय साहित्यमें बेजोड़ बना देनेवाली लोक प्रवृत्तिके उपयुक्त सहयोग-समन्वय और सन्दर्भका संकेत करनेके अतिरिक्त आचार्य द्विवेदीने उसकी समीक्षा तथा व्याख्याके लिए भी लोकवार्ता तत्त्वोंके आकलन और परिशीलनपर कुछ सामग्री तक पर्याप्त वल दिया है। सच तो यह है कि आपने साहित्यके इतिहास अध्ययन समीक्षा, व्याख्या आदि सभीमें लोकप्रवृत्तियों, तत्त्वों और लोकवार्तिक मानदण्डोंको अपेक्षित वरीयता प्रदान की है। उदाहरण स्वरूप आदिकालीन चरितकाव्यों, भक्तिकालीन सन्त भक्ति कथा प्रबन्धों तथा

गीतों और गृहस्थोंके रससे परिपूर्ण रीतिकथाएँ एवं लोकचित्र, उद्भावनाएँ, अनुभूतियाँ सामान्य वर्णना आदिकी उनकी अनुशीलन-पद्धति तथा विचार-क्षण उपस्थित किये जा सकते हैं। अध्ययन विवेचनकी यह रीति जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है, आपने भारतीय साहित्यके पाश्चात्य पण्डितोंसे ग्रहण की है। आदिकालीन चरितकाव्योंकी अनुशीलन पद्धति वही है जो भारतीय साहित्य, इतिहास, धर्म, जाति, समाज आदिके खोजी युरोपीय भारतीय अध्येताओंने प्रतिष्ठित की थी। हर्षचरित, राजतरंगिणी, पृथ्वीराजरासो, पुरातन प्रबन्ध संग्रह, प्रबन्ध चिन्तामणि, भोज प्रबन्ध आदि प्रशस्तिमूलक प्रच्छन्न ऐतिहासिक काव्यों, जातककथा, कथासरित्सागर, पंचतन्त्र, कथाकोश आदि भारतीय कथा आख्यायिका ग्रन्थों, पुराकथा और पुराणों, लोककथा, किंवदंती, वार्ता आदि नृतत्त्व-समाजशास्त्रीय तथ्य-सम्बन्धोंके सम्पादन, संग्रह और विवाद-क्रमसे अध्ययनकी जो पीठिका प्रस्तुत हुई थी, द्विवेदीजीने हिन्दी साहित्यके अनुशीलनमें उसका उपयोग किया।

कथानक रूढ़ियोंको ही लें: आपने हिन्दीके प्रचलित अध्ययनमें उसे प्रवर्तित किया। अब तो कथा ग्रन्थोंमें इसका अध्ययन विशेष लोकप्रिय हो चला है किन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि हिन्दी प्रबन्धोंके अनुशीलनमें कथानक रूढ़ियोंके अध्ययनकी परिपाटी द्विवेदीजीने ही चलायी। कथा-साहित्यके तुलनात्मक अध्ययन-क्रममें विंटरनित्ज, ब्लूमफील्ड, पेंजर आदि विद्वानोंने लोकवार्ताशास्त्रके अनुशीलनको वैज्ञानिक बनाने, उसे सुशृंखलित करने और विस्तृत आधारोंपर कथाओंके प्रभाव एवं प्रभावोंको स्पष्ट करनेके लिए कथानक रूढ़ियों तथा अभिप्रायोंकी खोज पद्धति चलायी थी। हिन्दीके अभिजात साहित्यमें इसके उपयोगका शुभारम्भ करते हुए द्विवेदीजीने हिन्दी साहित्यका आदिकाल (पृ० ७४) में ऐतिहासिक चरितकाव्योंकी कथानक रूढ़ियोंका आवश्यक संकेत किया है। यही नहीं, वे विंटरनित्ज प्रभृतिके इस दावेसे सहमत प्रतीत होते हैं कि प्राचीन कथा 'आधुनिक साहित्यके जटिलतम कथावस्तुवाले उपन्यासोंके मूल तत्त्व' भी परम्परा प्राप्त लोकसाहित्यमें ढूँढ़े जा सकते हैं। अर्थ यह हुआ कि कथानकके परम्परागत विचार, अभिप्राय और क्रियाका यान्त्रिक ढंगपर प्रयोग होता रहा है। भारतीय कथा-धाराके विकासमें इनका बड़ा महत्त्व है और हिन्दी प्रबन्धोंके लिए भी यह उतनी ही उपादेय पद्धति है जितनी पूर्ववर्तिनी साहित्यिक भाषाओंके कथा प्रबन्धोंके लिए। साहित्यकी सनातन धारा, परम्परा और प्रयोगकी दिशा और रचनाविधानकी गरिमा वास्तविक अनुमान इन्हीं रूढ़ियोंके लक्षण तथा साम्यपर किया जा सकता है। भारतीय लोककथा रूढ़ियोंके सम्बन्धमें हिन्दी कथा प्रबन्धोंके

अध्ययामें इनका अशेष महत्त्व है।

इस महत्त्वको दृष्टिमें रखते हुए द्विवेदीजीने मुख्य कथा प्रबन्धों और चरित काव्यों—कीर्तिलता, पृथ्वीराजरासो, रामचरितमानस, पद्मावत आदि—के लोकवार्तातत्त्वों एवं कथानक रूढ़ियोंका अध्ययन किया है और उसके लिए उत्साही अनुसन्धित्सुओंको प्रेरित भी किया है। डॉ० व्रजविलासशरण 'पृथ्वीराज रासोमें कथानक रूढ़ियाँ' तथा 'मध्यकालीन सूफी प्रबन्धोंमें लोकतत्त्व', पंजाबी लोककथाओंकी कथानक रूढ़ियोंका अध्ययन उनकी ही सत्प्रेरणाके निदर्शन हैं। इन कृतियोंकी गणना हिन्दी साहित्यकी कथानक रूढ़ियोंकी दृष्टिसे दशनेक प्रारम्भिक प्रयासोंमें की जा सकती है। इससे प्रेरित होकर भोजपुरी, अवधी और राजस्थानी कथाओंकी कथानक रूढ़ियोंपर अच्छा काम हुआ और हो रहा है।

मैक्समूलरने अपने 'माइथालॉजी ऐण्ड फोकलोर'में पूर्व पश्चिमकी पुरा कथाओंके तुलनात्मक अध्ययनके लिए भाषाका सहारा लिया है और यह सिद्ध करनेका प्रयास किया है कि पुराकालीन भाषाका प्रतिबिम्ब पुराकालीन कविताम परिलक्षित होता है। उन्होंने विशिष्ट वर्गके शब्दों द्वारा दो भिन्न देशीय पुरा कथाओंमें प्रतीकों और रूपकोंसे सम्बद्ध सत्योंका वैज्ञानिक हल प्रस्तुत करते हुए, काल और स्थानके भिन्न सन्दर्भोंमें प्रयुक्त एक ही शब्दके अर्थ विकासका विवरण दिया है और बताया है कि पुराण प्रसिद्ध पुरुरवा उर्वशीकी प्रेमकथा किस प्रकार सौर कथासे निर्मित होकर समकालीन पश्चिमी तथा परवर्ती भारतीय कथा साहित्यमें नूतन रूप रंग लेकर उपस्थित हुई जिनका अपना आगे चलकर धर्म और दर्शन दोनों क्षेत्रोंमें हुआ। उनका यह भी कहना है कि सौरकथाएँ आदिम जड़ जीववादका परिणाम थीं जिसके रहस्यकी कसौटी उसकी भाषामें है। आचार्य द्विवेदी भी इसी कसौटीके अनुसार नाथ सिद्ध तथा सन्त-साहित्यमें प्रचलित कुछ शब्द प्रतीकोंकी व्याख्या-द्वारा उस युगका रहस्योद्घाटन करते हैं। इस क्षेत्रमें आपके लोकतात्त्विक संकेतके लिए 'जोगीड़ा' और 'कबीर' सम्बन्धी मन्तव्यका उल्लेख किया जा सकता है जो पर्याप्त विचारोत्तेजक सिद्ध हुआ है। 'हिन्दी साहित्यकी भूमिका'के 'योगमार्ग और सन्तमत' अध्यायमें आपने योगियों और निर्गुण मतवादियोंमें होड़ और 'करामाती दाँव-पेचोंकी' कहानी की चर्चा करते हुए लिखा है—'कुछ प्रान्त और विशेषकर होलीके अवसरपर जो अश्लील और अवाच्य गान गाये जाते हैं उन्हें जोगीड़ा कहते हैं। जोगीड़ा गा लेनेके बाद लोग कबीर गाते हैं जो और भी भयंकर होते हैं। क्या इन जोगीड़ों और कबीरोंका साथ योगियों और कबीर पंथियोंकी किसी प्राचीन प्रतिद्वंद्विता

की स्मृति जुड़ी हुई है या ये अश्लील गान भी उलटबाँसियोंकी भाँति किसी युगमें किसी अप्रस्तुत अन्तर्निहित सत्यकी ओर इशारा करनेवाले माने जाते थे।"

'कबीर' और 'जोगीड़ा' इन दो लोकप्रचलित शब्दों और उनके व्यवहार-के आधारपर आपने सगुणिया और निर्गुणियाकी प्रतिद्वन्द्विताका जो संकेत दिया है वह निश्चय ही लोकवार्त्तातत्त्व तथा शब्दार्थ विशेषका व्याख्येय अनुसंधेय प्रकरण है। न जाने ऐसे कितने शब्द अपने गर्भमें अतीतकी रहस्यकथा समेटे और अपने पुराने सन्दर्भोंसे कटे हुए अनुसंधानकी प्रतीक्षामें विमूर्च्छित पड़े हैं। तुलनात्मक पुराकथाशास्त्रके अध्येताओंने तुलनात्मक भाषा विज्ञान पद्धति द्वारा ऐसे ही शब्दोंसे उनके अर्थ विकासका इतिहास ज्ञात किया और साथ ही, पुराकालीन इतिहासके कुछ पहलुओंपर विश्वसनीय अनुमान प्रस्तुत किया था।

द्विवेदीजीके 'जोगीड़ा' और 'कबीर' सम्बन्धी अनुमानोंसे उत्तेजित होकर इधर कई लेख लिखे गये हैं किन्तु वे किसी तथ्यपर नहीं पहुँच सके हैं। मेरा अनुमान है कि दो विचारधाराओंमें प्रतिद्वन्द्विताके ऐसे बीज लोकप्रचलित पहेली प्रतियोगिता तथा मराठी-गुजराती लावणी और टप्पोंमें ढूँढ़े जा सकते हैं। जोगीड़ा और कबीर जैसे अश्लील पदोंसे भोपालके 'कबीरा' छत्तीसगढ़के 'डिंडवा छिंदवाड़ेके 'निहड़ा की तुलना की जा सकती है। अब मुकाबला तक इसका विस्तार खोजा जा सकता है पर विचारणीय है कि 'जोगीड़ा' सरयू या घाघराके तटवर्ती प्रदेशों तक ही सीमित है। गोंडा, बस्ती, गोरखपुर, फैजाबाद, आजमगढ़, बलिया, देवरिया और इनसे सटे कतिपय जिलोंमें ही इसका विशेष प्रचलन है। बस्तीमें फलगमन-मास अवसरपर जितने मेले लगते हैं, उनमें अश्लील गानों और उक्तियोंसे भरपूर जोगीड़ा नृत्यकी धूमधाम देखी जा सकती है। शृंगी ऋषि पण्डूरघाट [illegible]के मेलेमें आजसे पचीस वर्ष पूर्व सबेरा होते जोगीड़ा नृत्यका दंगल आयोजित होता था जिसकी तैयारी और पूर्वाभ्यास महीना पहलेसे चला करता था। आज भी बैसाख पण्डूरघाटके मेलेमें जोगीड़ा नाचक सौ से अधिक हर हुल्लड़ मचाने और अश्लील पदोंका कथोपकथन या उत्तर प्रत्युत्तर करते देखे जा सकते हैं। जोगीड़के नाचमें प्रयुक्त कुछ [illegible] और रूढ़ियाँ उल्लेखनीय हैं।

बस्ती-गोरखपुर जिलेके ग्रामीण अत्यन्त रुचिसे जोगीड़ा नृत्यका आयोजन तथा प्रदर्शन करते हैं। इसके प्रदर्शनके समय जो नृत्य नियोजित होता है उसे जोगिनी कहते हैं। मण्डलाकार बैठे दर्शकोंके मध्य दो दलोंके बीच जो पद प्रतियोगिता चलती है उसे 'पता बाँधना' (परिचय अथवा भूमिका ?) कहते

है। दो दलके लोग एक दूसरेको 'हे नाथजी'का सम्बोधन कर बारी-बारीसे पता बोलते ह। ये पते रति विषयक अश्लील क्रियाओ और सम्बन्धापर आरोपित पद्यात्मक-उक्तिया है जो इतने नग्न, फूहड और अनतिक होते ह कि परिष्कृत रुचिके दर्शकको उनमे कुछ भी आनन्द नही आयेगा। किन्तु गाली भरे 'पता की नोक झोक, दगाकाके बेतरतीब भभटमे बडा विचित्र आकषण उत्पन्न करती है। जिन प्रदेशामें इनका विशेष प्रचलन है, वे अधिकाशत निगुनिया सन्तो और गोरखपन्थी नाथोके विशेष प्रभाव क्षेत्र रहे ह। अत कबीरके सन्दभमे द्विवेदीजीके अनुमानके पीछे अतीत सत्यकी कौधके ये आधार विश्वसनीय प्रतीत होते ह।

लोकवार्ता तत्त्वोसे निर्मित दृष्टिकोण तथा मानदण्डको हिन्दी साहित्यके अध्ययनमें एक देनके रूपमें महत्त्व प्रदान करनेवाले डॉ० द्विवेदीके ऐतिहासिक प्रयासको आगे बढानेके लिए लोकवार्ता तत्त्वोंके सुश्रृखलित अध्ययन एव आकलनका काय अत्यन्त आवश्यक ह। भारतीय लोक साहित्यके सग्रहका काय पिछली शताब्दीके अन्तिम चतुर्थांशसे चलकर बीसवी शताब्दीमें विशेष लोकप्रिय हुआ। अबतक प्राय सभी अचलो और जातियोका लोक साहित्य अपर्याप्त ही सही सकलित हो चुका ह। परन्तु सग्रहीताओने अपना ध्यान प्राय सग्रहकी ही ओर केन्द्रित किया ह। इधर बगाल, महाराष्ट्र, गुजरात राजस्थानके लोक साहित्य सस्थान और फोकलोर सोसायटिया इस दिशामें अच्छा काय कर रही ह। लोकसाहित्य एव लोकवार्ताके अध्येताओ—डॉ० सेन, डॉ० सत्येन्द्र, डा० श्याम परमार, डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय, डॉ० मनोहरशमा, डॉ० सहल, चक्रधर महापात्र, डॉ० इन्द्रदेव, दुर्गाभागवत आदिने इस क्षेत्रमें उल्लेखनीय प्रयास किया ह। डॉ० द्विवेदीसे प्रेरणा प्राप्त कर इन पक्तियोके लेखकने आजसे बारह वष पूव 'उत्तरभारतीय लोकवार्ता कोश' निर्माणके लिए दुस्साहसपूर्ण चरण बढाये, अनेक बाधाओंके बावजूद अब उस योजनाका तृतीयाश-काय शेष रह गया ह। लेकिन कुल मिलाकर स्टिथ टॉमसन-कृत 'माटिफ इण्डेक्स' और मेरियालीच-सम्पादित 'डिक्शनरी आव फोकलोर' जसा काय यहा नहीं हो पाया है। आशा ह कुछ वर्षोमें भारतीय लोकवार्ता सम्बन्धी प्रामाणिक कृतियोंके प्रस्तुत हो जानपर आधुनिक-पूव हिन्दी साहित्यकी अनेक गुत्थियोको सुलझानेके लिए ठोस भूमि प्राप्त हो जायेगी।

■

द्विवेदी-साहित्य
पाठकीय प्रतिक्रियाएँ

• •

श्यामनन्दन किशोर

सिद्ध आलोचक शुद्ध पाठक होता है। "किसी साहित्यकारकी कृतियोंका सौभाग्य यह नहीं है कि उनकी कितनी समीक्षाएँ प्रकाशित हुईं, उनपर कितने साहित्यिक-परिसंवादोंकी योजना की गयी अथवा उनपर कितनी मूल्यांकन-मालाएँ प्रकाशित हुईं। मेरी समझमें वह साहित्यकार बड़ा भाग्यवान है जिसकी रचनाओंको सहज पाठक मिले हों। सहज पाठक, अर्थात् वह व्यक्ति जो किसी पूर्वाग्रहसे मुक्त हो, पुस्तक पढ़नेके पूर्व ही आलोचना लिखनेका कागज-कलम ठीक किये न बैठा हो। केवल अपने खाली समयको आनन्दात्मक अनुभूतिसे भरनेको पढ़ने बैठा अथवा लेटा हो।" आज तो अधिकांश आलोचक परीक्षण-प्रणालीसे पढ़ते-लिखते हैं। जैसे किसी विश्वविद्यालयकी उत्तर पुस्तिकाओंको जाँचनेके लिए अंक-प्रदान पहलेसे ही सँभाले रखे होते हैं और समय-सीमाका ध्यान रहता है, वैसे ही वे आलोचक किसी सम्पादकके अनुरोध, किसी लेखककी प्रार्थना या किसी पुस्तकके प्रकाशनके निमित्त तैयार होकर आलोचना लिखने बैठते हैं। आलोचक भी एक पाठक है, पर उसकी मर्यादाका निर्वाह डाकका मुँहताज नहीं हो सकता। उसका विशुद्ध मूल्यांकन उसकी वे सहज प्रतिक्रियाएँ हैं जो अध्ययनके क्रममें अनायास प्रकट होती हैं। स्वाध्यायसे प्राप्त ये अनमोल अनुभूतियाँ ही किसी पुस्तककी वास्तविक देन हैं। आलोचनाके क्षेत्रमें व्यावहारिक कठिनाई यह है कि आलोचकका केवल आनन्द लेकर रह जाना अभीष्ट नहीं होता, उसे कविकी भाँति अपने अनुभूत भावोंको संक्रमित करना पड़ता है। जहाँ कवि सहज, निभृत भावाभिव्यक्तियोंमें अपनेको अभिव्यक्त करता है, वहाँ आलोचकको पाठकोंको समझानेके लिए एक शिक्षककी वृत्ति अपनानी पड़ती है। अपने विचारोंको तर्कसे पुष्ट करना पड़ता है। उसकी पद्धति वैज्ञानिक हो जाती है। उसमें वह स्वाभाविकता नहीं रह जाती, जो कवितामें मिलती है।

लेकिन हिन्दीमें एक ऐसे आलोचकका जन्म हुआ है, जिसकी रचनाओंमें

हैं। इन दलोंके लोग एक दूसरेको 'हे नाथजी'का सम्बोधन कर बारी-बारीसे पद बोलते हैं। ये पद रति विषयक अश्लील क्रियाओं और सम्बन्धोंपर आरोपित पद्यात्मक-उक्तियाँ हैं जो इतने नग्न, फूहड़ और अनैतिक होते हैं कि परिष्कृत रुचिके दर्शकको उनमें कुछ भी आनन्द नहीं आयेगा। किन्तु गाली भरे 'पद'की नोक-झोंक, दर्शकोंमें बेतरतीब भगदड़ बड़ा विचित्र आकर्षण उत्पन्न करती है। जिन प्रदेशोंमें इनका विशेष प्रचलन है वे अधिकांशतः निर्गुनिया सन्तों और गोरखपंथी नाथोंके विशेष प्रभाव क्षेत्र रहे हैं। अतः कबीरके सन्दर्भमें द्विवेदीजीके अनुमानके पीछे अतीत सत्यकी कौंधके ये आधार विश्वसनीय प्रतीत होते हैं।

लोकवार्ता तत्त्वोंसे निर्मित दृष्टिकोण तथा मानदण्डको हिन्दी साहित्यके अध्ययनमें एक देनके रूपमें महत्त्व प्रदान करनेवाले डॉ० द्विवेदीके ऐतिहासिक प्रयासको आगे बढ़ानेके लिए लोकवार्ता तत्त्वोंके सुव्यवस्थित अध्ययन एवं आकलनका कार्य अत्यन्त आवश्यक है। भारतीय लोक साहित्यके संग्रहका कार्य पिछली शताब्दीके अन्तिम चतुर्थांशसे चलकर बीसवीं शताब्दीमें विशेष लोकप्रिय हुआ। अबतक प्रायः सभी अंचलों और जातियोंका लोक साहित्य अपर्याप्त ही सही, संकलित हो चुका है। परन्तु संग्रहीताओंने अपना ध्यान प्रायः संग्रहकी ही ओर केन्द्रित किया है। इधर बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात, राजस्थानके लोक साहित्य संस्थान और फोकलोर सोसायटियाँ इस दिशामें अच्छा कार्य कर रही हैं। लोकसाहित्य एवं लोकवार्ताके अध्येताओं—डॉ० सेन, डॉ० सत्येन्द्र, डॉ० श्याम परमार, डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय, डॉ० मनोहर शर्मा, डॉ० सहल, चक्रधर महापात्र, डॉ० इन्द्रदेव, दुर्गा भागवत आदिने इस क्षेत्रमें उल्लेखनीय प्रयास किया है। डॉ० द्विवेदीसे प्रेरणा प्राप्त कर इन पंक्तियोंके लेखकने आजसे बारह वर्ष पूर्व 'उत्तरभारतीय लोकवार्ता कोश' निर्माणके लिए दुस्साहसपूर्ण चरण बढ़ाये, अनेक बाधाओंके बावजूद अब उस योजनाका तृतीयांश-कार्य शेष रह गया है। लेकिन कुल मिलाकर स्टिथ टॉमसन-कृत 'मोटिफ इण्डेक्स' और मरियालीच-सम्पादित 'डिक्शनरी आव फोकलोर' जैसा कार्य यहाँ नहीं हो पाया है। आशा है कुछ वर्षोंमें भारतीय लोकवार्ता सम्बन्धी प्रामाणिक कृतियोंके प्रस्तुत हो जानेपर आधुनिक-पूर्व हिन्दी साहित्यकी अनेक गुत्थियोंको सुलझानेके लिए ठोस भूमि प्राप्त हो जायेगी।



द्विवेदी-साहित्य
पाठकीय प्रतिक्रियाएँ

• •

श्यामनन्दन किशोर

सिद्ध आलोचक शुद्ध पाठक होता है। किसी साहित्यकारकी कृतियोंका सौभाग्य यह नहीं है कि उनकी कितनी समीक्षाएँ प्रकाशित हुईं, उनपर कितने साहित्यिक-परिसंवादोंकी योजना की गयी अथवा उनपर कितनी मूल्यांकन-मालाएँ प्रकाशित हुईं। मेरी समझमें वह साहित्यकार बड़ा भाग्यवान है जिसकी रचनाओंको सहज पाठक मिले हों। सहज पाठक, अर्थात् वह व्यक्ति जो किसी पूर्वाग्रहसे मुक्त हो, पुस्तक पढ़नेके पूर्व ही आलोचना लिखनेको कागज-कलम ठीक किये न बैठा हो, केवल अपने खाली समयको आनन्दात्मक अनुभूतिसे भरनेको पढ़ने बैठा, चाहिए, ऐसा हो। आज तो अधिकांश आलोचक परीक्षण-प्रणालीसे ग्रस्त लगते हैं। जैसे किसी विश्वविद्यालयकी उत्तर पुस्तिकाओंको जाँचनेके लिए अंक-प्रदान पहलेसे ही सँभाले रखे होते हैं और समय-सीमाका ध्यान रहता है वैसे ही वे आलोचक किसी सम्पादकके अनुरोध, किसी लेखककी याचना या किसी पुस्तकके प्रकाशनके निमित्त तैयार होकर आलोचना लिखने बैठते हैं। आलोचक भी एक परीक्षक है, पर उसकी मर्यादाका निर्वाह होकर मुहताज नहीं हो सकता। उसका विशुद्ध मूल्यांकन उसकी वे सहज प्रतिक्रियाएँ हैं जो अध्ययनके क्रममें अनायास प्रकट होती हैं। स्वाध्यायसे प्राप्त ये अनमोल अनुभूतियाँ ही किसी पुस्तकका वास्तविक दान हैं। आलोचनाके क्षेत्रमें ध्यान देनेकी कठिनाई यह है कि आलोचकको केवल आनन्द लेकर रह जाना अभीष्ट नहीं होता, उसे कविकी भाँति अपने अनुभूत भावोंको संक्रमित करना पड़ता है। जहाँ कवि सहज निर्मुक्त उक्तियोंमें अपनेको अभिव्यक्त करता है, वहाँ आलोचकको पाठकोंके समाधानके लिए एक निर्णायककी वृत्ति अपनानी पड़ती है। अपने विचारोंको तर्कसे पुष्ट करना पड़ता है। उसकी पद्धति वैज्ञानिक हो जाती है। उसमें वह स्वाभाविकता नहीं रह जाती, जो कवितामें मिलती है।

लेकिन हिन्दीमें एक ऐसे आलोचकका ... है, जिसकी रचनाओंमें

निविन

आलोचनाकी विश्लेषणात्मकता, गुण दोष निरूपणशक्ति आदि सभी विशेषताओंके होते हुए भी एक अपूर्व सहजता है। वह आलोचक है लेकिन उसकी कृतियोंमें दुरूहता, तर्क-जाल, वैज्ञानिक शब्दावलियोंका बोझ या मानसिक व्यायामके लिए कोई स्थान नहीं है। उसमें सम्पूर्ण भारतीय साहित्यका पाण्डित्य है लेकिन उस पण्डिताईका प्रदर्शन कहीं नहीं है। पण्डिताईमें बुद्धिकी अजीर्णता नहीं है। लगता है जैसे विभिन्न पुष्पोंके पराग मधु बन गये हों। विभिन्न नदियोंकी धाराएं जैसे सगम बन गयी हो। सात सुरोंका समन्वय जैसे संगीत बन गया हो। ऐसे तत्त्वदर्शी आलोचक है—राष्ट्रभाषाके गौरव, विद्यावारिधि पद्मभूषण डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी। भूल हो गयी इतने सहज साहित्यकारका इतना बडा नाम क्यों?—कहिए आचार्य द्विवेदी, नहीं मात्र द्विवेदीजी। द्विवेदीजी आलोचक हैं क्योंकि वे किसी वस्तुको देखने या समझनेके लिए सम्यक दृष्टि प्रदान करते हैं। ऐसी दृष्टि जो कविकी होती है—आर-पार बेधनेवाली। तथ्य परक इतिहास हो, भाव-परक निबन्ध हो या घटना-परक उपन्यास—सर्वत्र द्विवेदीजीकी अनुभूति प्रवणता दृष्टिगोचर होती है। 'हिन्दी साहित्यकी भूमिका' में भूमिकाकी रूपमें हिन्दीके अतिरिक्त हमें कई भारतीय भाषाओं और संस्कृतियों की सर्वथा मौलिक व्याख्या और स्थापना देखनेको मिलती है। गूढ विषयोंका प्रतिपादन सर्वत्र एक प्रसन्न शैलीमें हुआ है। 'नाथ-सम्प्रदाय' और 'आदि काल'की ऐतिहासिक दृष्टि साहित्यके अन्धकारमें खोयी टूटी पड़ी अनेक शृंखलाओंको जोड़नेवाली है। द्विवेदीजीकी खोजने हिन्दी साहित्यको कुछ और बुजुर्ग बना दिया है। 'हिन्दी साहित्यका उद्भव और विकास' परम्परागत रूप से लिखे गये साहित्यिक इतिहासोंसे भिन्न है। न इसमें उद्धरणोंकी चकाचौंध मिलती है न ग्रन्थकी घटनाओंके विस्तारके क्रममें सामाजिक राजनैतिक इतिहासोंकी कहानी। परम्परा और विकासकी पृष्ठभूमिमें साहित्यिक गतिविधिका मूल्यांकन किया गया है।

'सूर-साहित्य' और 'कबीर' में जिन दो महाकवियोंका अध्ययन प्रस्तुत किया गया है उनमें भी द्विवेदीजीके साहित्यिक व्यक्तित्वका निराला रूप मिलता है। इन दोनों ग्रन्थोंके उपशीर्षक ही इस बातके प्रमाण हैं कि लेखककी आलोचना दृष्टि कितनी मर्मोन्मेषिणी है। कितने ही अछूते प्रसंग पूरी सज धजके साथ उपस्थित हुए हैं। उनकी गवेषणात्मक और समीक्षात्मक दृष्टिकोणोंका अद्भुत समन्वय, इन दोनों कृतियोंमें हुआ है। पौरस्त्य विचार धाराओंकी कितनी ही भूली बिसरी फूटी-टूटी हुई भाव मुक्ताओंको संयोजित कर द्विवेदीजीने साहित्य का बड़ा उपकार किया है।

द्विवेदीजीकी कल्पना-दृष्टि बड़ी तीव्र है। उनका 'अनुमान' इतना प्रबल होता है कि वह पाठकोंको सब कुछ 'प्रत्यक्ष' करा देता है। कल्पनाएँ इन्द्रधनुषी ताने-बाने बुनकर भाग खड़ी नहीं होतीं, जम जाती हैं। कल्पनाएँ घटनाओंका निर्माण कर स्वतः सलिला हो जाती हैं। द्विवेदीजीकी कल्पना-शक्तिमें दृष्टि सजगता तीव्र कर देनेकी ऐसी शक्ति है कि कल्पना कल्पना न रहकर यथार्थ प्रतीत होती है। इतिहास और पुराणके कितने ही टूटे प्रसंगोंको इन्होंने जोड़कर एकरूप कर लिया है। 'बाणभट्टकी आत्मकथा' हो या 'चारु-चन्द्रलेख', उनमें जो कुछ है द्विवेदीजीका अपना है। ऐसा लगता है कि सभी चरित्र असली हैं—वे जो कुछ शताब्दी पूर्व इसी रूपमें धरा-धाममें विचरते रहे हों। लेकिन यथार्थ यह है कि उनमेंसे अधिकांश चरित्रोंका रूप-निर्माण मुख्यतः द्विवेदीजीकी कल्पना-शक्तिकी देन है। बाणभट्टकी कथाके साथ भैरव भैरवी, महामाया, जटिल और सुचरिता आदि प्रसंग बड़ी स्वाभाविकतासे जुड़े हैं। द्विवेदीजीकी कल्पना ऊर्ध्वगामिनी होकर भी बड़ी सघन है। इनकी दोनों ही कृतियोंमें कथा-क्रमका निर्वाह बड़ी निपुणतासे हुआ है। तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परिवेशोंका स्वाभाविक चित्रण हुआ है।

एक ओर द्विवेदीजी प्रख्यात आलोचक, इतिहासकार, गवेषक और उपन्यासकार हैं, पर उनका सर्वश्रेष्ठ रूप है उनका निबन्धकार, ललित निबन्धकार। साहित्यकार अपनेको अभिव्यक्त करनेके लिए विविध माध्यम ढूँढ़ता है। रवीन्द्रनाथने भी ढेरों निबन्ध कहानियाँ लिखीं, उपन्यास लिखे और चित्रकारी तक की; पर उन सभी रचनाओंके भीतर उनका कवि-रूप प्रमुख रहा, उसी प्रकार द्विवेदीजीकी समग्र साहित्यिक विधाओंके बीच उनका ललित निबन्धकार प्रमुख है। सच पूछिए तो 'बाणभट्टकी आत्मकथा' और 'चारु-चन्द्रलेख' भी उनके निबन्ध ही हैं। एक निबन्धकारके सभी गुण इन दोनों ग्रन्थोंमें विद्यमान हैं। कमनीयता, अनायास फूट पड़नेवाली सहजतामें विचारोंकी उन्मुक्तता, विषय-वस्तुकी नगण्यता और कल्पनाकी प्रमुखता, एक विषयको माध्यम मानकर उछाल भरते हुए जीवन और जगतकी अनेक वस्तुओंको स्पर्श, भावुकता, जीवनमें गहरे पैठनेका परिचय आदि—जो अनेक गुण मिलते हैं वे इन दोनों कथा-साहित्योंमें प्रचुर मात्रामें हैं। एक कथाकारको घटनाओंकी जितनी और जितनी चिन्ता रहती है, वैसी कुछ बात इन दोनों कथाओंमें नहीं दीखती। द्विवेदीजीके उन निबन्धोंमें भी, जिन्हें सांस्कृतिक, आलोचनात्मक, ऐतिहासिक, सामाजिक या अन्य नामोंसे पुकारा जाता है इन गुणोंका विकास अत्यधिक मात्रामें दीखता है। 'सभ्यता और संस्कृति', 'संस्कृति और साहित्य', 'भारतीय संस्कृतिकी देन', 'कुटज-साधना',

'शव साधना', 'रवीन्द्रनाथका राष्ट्रीय गान', 'हमारी राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली', 'भारतीय फलित ज्योतिष' आदि किसी भी रचनाको पढकर देखा जा सकता है कि उनमें सर्वत्र 'हजारीप्रसादत्व' वर्तमान है। द्विवेदीजीका अपना व्यक्तित्व सर्वत्र मुखर है। कहीं विषयका नीरस प्रतिपादन पढनेको नहीं मिला।

वेद, पुराण और शास्त्रके निष्णात पण्डित होकर भी द्विवेदीजी कोरे पण्डिताऊपनसे उत्पन्न विडम्बनाओं और दोषोंपर करारी चोट करनेवाले हैं। उनका विद्रोही रूप उन्हींके शब्दोंमें—'मेरी भावुकताको जबरदस्त धक्का लगा। मेरा विद्रोही पाण्डित्य तिलमिलाकर रह गया।' सर्गति लगानेकी पण्डिताईपर व्यंग्य करते हुए द्विवेदीजी लिखते हैं—"सगति लगानेका यह रूप मुझे हतदर्प भारतीय धर्मकी सबसे बडी कमजोरी जान पडी है। मैं ठीक समझ नहीं सका कि शास्त्रीय वचनोंके इन विशाल पर्वतोंको खोदकर ये चुहिये क्यों निकाली जा रही हैं।" इसी तरह वे शास्त्रीयताकी मीमांसा करते हुए कहते हैं—'साधारण मनुष्यके लिए यह समझना बडा कठिन है कि कब पण्डितका शास्त्र उसकी बुद्धिको दबा देता है और कब उसकी बुद्धि शास्त्रको।' अशोकके फूलका विवेचन करते हुए पण्डिताईके बाह्याडम्बरपर कैसी अच्छी सूझ दी है— "पण्डिताई भी एक बोझ है—जितनी ही भारी होती है उतनी ही तेजीसे डुबाती है। जब वह जीवनका अंग बन जाती है तो सहज हो जाती है।"

बीसवी शताब्दीका हिन्दी साहित्य उपेक्षित और अनादृत मानवताको नयी आशा और प्रतिष्ठासे भर देनेका प्रयासी है। इस कालमें समाजके कितने ही नव मूल्योंको प्रतिष्ठित किया गया। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदीके साहित्यमें यह तत्त्व बहुत बडी शक्ति लेकर उभरा है। एक कविके लिए, विशेषत प्रबन्ध-कविके लिए ऐसे मूल्योंकी स्थापनामें सुगमता है पर एक आलोचकके लिए, एवं इतिहासकारके लिए इसकी पुष्टि बडी कठिन है। द्विवेदीजीने जो अपने ललित निबन्धोंमें मानव उत्कर्षके तत्त्वोंको प्रश्रय दिया यह उतने आश्चर्यकी बात नहीं है, लेकिन उनकी अन्यान्य गद्य विधाओंमें इसकी प्रतिष्ठा बहुत बडी सफलताकी सूचना देती है। डॉ० द्विवेदीका विशाल और उदार दृष्टिकोण उनके मानवता उद्धारक विचारोंकी रीढ है। वे मनुष्यकी दुर्दम जिजीविषा मनुष्यकी विराट एकता, वे विश्वासी और विवेक कल्पना औदार्य और संयम को मनुष्यताके तत्त्व माननेवाले हैं। उनकी दृष्टिमें 'हमारे समस्त प्रयत्नोंका लक्ष्य एकमात्र मनुष्य है।' द्विवेदीजी धर्म ग्रन्थ और मानव जीवनके लक्ष्यकी आधुनिक व्याख्या करते हुए लिखते हैं उसको (मनुष्यको) वर्तमान दुर्गतिसे बचाकर मनुष्यके आत्यन्तिक कल्याणकी ओर उन्मुख करना ही हमारा लक्ष्य है, यही सत्य है, यही धर्म

है।" द्विवेदीजी ठोस भूमिके कलाकार हैं। वे आध्यात्मिक तत्त्वोंको आवश्यकतासे अधिक महत्त्व नहीं देना चाहते। वे पलायनवादी वृत्तिके घोर विरोधी हैं। विश्व-साहित्यमें मानवताको ऊँचा उठानेकी प्रेरणा देनेवाले साहित्यकारोंमें द्विवेदीजी उच्च पदके अधिकारी हैं। वे स्पष्ट रूपसे इस बातकी घोषणा करते हैं कि उनका साहित्य मानवीय है—'मैं साहित्यको मनुष्यकी दृष्टिसे देखनेका पक्षपाती हूँ। जो वाग्जाल मनुष्यको दुर्गति, हीनता और परमुखापेक्षितासे बचा न सके, जो उसकी आत्माको तेजोद्दीप्त न बना सके, उसके हृदयको पर-दुःखकातर और संवेदनशील न बना सके उसे साहित्य कहनेमें मुझे संकोच होता है।" चण्डीदासकी भाँति ही द्विवेदीजी मनुष्यको सबसे बड़ा सत्य मानते हैं। द्विवेदीजी मनुष्यका श्रेणी-विभाजन उसकी मनुष्यताकी क्षमतापर आधारित मानते हैं और उस मनुष्यताकी पहचान है दूसरोंके साथ तादात्म्य-सम्बन्ध।" साहित्यको 'वे मनुष्यका वह उच्छलित आनन्द मानते हैं जो उसके अन्तरमें अँटाये नहीं अँट सका था।' मानव-मानवकी अभेद भावनाके कारण ही वे विज्ञान और काव्यको 'एक ही मानवीय चेतनाके दो किनारोंकी उपज' मानते हैं।

जिस सहजताकी बात मैं ऊपर कह आया हूँ वह सहजता द्विवेदीजीकी भाषा-शैलीमें है। संस्कृत-साहित्यके अगाध पाण्डित्यके होते हुए भी इनकी भाषामें उर्दू, अँगरेजी आदि शब्दोंके प्रयोग प्रचुर मात्रामें हैं। लेकिन उनका प्रयोग उन्हीं स्थानोंपर हुआ है, जहाँ वे अधिक भावबोधक सिद्ध हुए हैं और उनसे भाषा-शैलीकी व्यंजना और प्रवाहमय शक्ति आती है। उन स्थानोंपर वे ही अधिक सहज लगते हैं। अभिव्यंजनाको पुष्ट करनेके लिए गद्यकी सभी विधाओंमें इन्होंने नये-नये शब्द गढ़े हैं। भाषा-शैलीके उत्कर्षका एक प्रबल मानदण्ड है—व्यंग्य, द्विवेदीजीके व्यंग्यमें सूक्ष्मता, पैठ और पैनापन तो है, पर वे व्यंग्य तिलमिलानेवाले नहीं, दुलरानेवाले और गुदगुदानेवाले होते हैं। द्विवेदीजीका व्यंग्य मनकी आँखका काजल है—भला लगता है, आँखको सुन्दर बनाता है, ज्योति बढ़ाता है।

संक्षेपमें यदि द्विवेदीजीके साहित्यके एक पाठककी सहज प्रतिक्रियाओंको सूत्र-रूपमें कहा जा सके तो उनका रूप कुछ इस प्रकार होगा—

१ द्विवेदीजी भारतीय वाङ्मयके असाधारण पण्डित हैं लेकिन उनकी पण्डिताई पुस्तकोंसे हटकर अनुभूतिका अंग बन गयी है।

२ साहित्यकी विविध विधाओंमें सफल प्रयोक्ता होकर भी वे मुख्यतः निबन्धकार हैं।

३ भारतीय संस्कृतिके प्रबल समर्थक होते हुए भी वे विश्वकी उन सभी विशेषताओंको अपनानेको तैयार हैं जो मानवताके लिए हितकर हैं।

४ वे मानवताके अखण्ड सुन्दर, कल्याणकारी और आनन्दमयस्वरूपके प्रबल प्रेरक हैं। उनकी राष्ट्रीयता बौद्धिक नहीं आत्मिक है।

५ विषयोंकी नवीनता और उनके प्रतिपादनके उपयुक्त नवीन शिल्पको जन्म देनेकी इनकी प्रतिभा असाधारण है।

६ द्विवेदीजी सहज साहित्यकार हैं। उनका व्यक्ति और साहित्यकार एकरूप है। वे अपनी रचनाओंके माध्यमसे जैसा दीखते हैं, व्यावहारिक जीवनमें भी वैसे ही हैं। यह बात उस पाठकके लिए सहज है, जिसने उन्हें थोड़ा निकटसे देखा है।

७ द्विवेदीजीने जो कुछ लिखा है, वह साहित्यका एक नवीन अध्याय बन गया है।

८ इनके साहित्यमें यह स्पष्ट झलकता है कि ये अतीतके प्रति श्रद्धा रखकर वर्तमानके प्रति पूर्ण आस्थावान हैं और भविष्यके प्रति इनकी सुखद आशाएँ अटूट हैं। आशावादका इतना बड़ा सिद्ध प्रवक्ता भारतीय भाषाओंमें कोई दूसरा साहित्यकार नहीं है।



देखा उस सिंहवाहिनी नील ताराको। यह सिंहपर सवारी करती है। उसके चौखटेपर शिर मारकर प्रसाद पानेकी आकांक्षा न रख, सच्चा सिंह बन तभी उसका प्रसाद पा सकेगा। सहस्र बार मैंने इस नील तारा मूर्तिका निर्मम अट्टहास सुना है। यह बड़ी निर्मम है बड़ी बेपीर है। कायरोंको अपनी छाया तक नहीं छूने देती। मूरख नीतिज्ञोंकी जड़तापर दारुण अट्टहास करती है पथभ्रान्त कवियोंकी झमाझम निकलती वाणीको क्रूर परिहासका विषय मानती है। यह निखिल ब्रह्माण्डकी क्रिया शक्तिकी अधिष्ठात्री है।

—चारुचन्द्रलेख

'विश्वभारती' का सम्पादन
अन्तरके सत्यकी बात

• •

काशीनाथ सिंह

बीसवीं सदीके आरम्भिक दशकोंमें 'सरस्वती' हिन्दीको व्यवस्थित और सुसम्बद्ध भूमिका दे चुकी थी। 'हंस' हिन्दीको 'जनताके हृदय' और 'जनताकी आत्मा' के साथ एक कर देनेका दायित्व निभा चुका था। जरूरत थी अखिल भारतके भाषाधार साहित्योंकी आन्तरिक एकरूपता पहचानने और जातीय परम्पराके सन्दर्भमें वर्तमान चिन्ताधाराका मूल्यांकन प्रस्तुत करनेकी—'विश्वभारती पत्रिका' इन्हीं प्रयासोंका परिणाम रही है।

किसी हिन्दी भाषी क्षेत्रकी पत्रिकाकी तुलनामें इस आवश्यकताका अनुभव 'विश्वभारती'को अधिक होना भी चाहिए था। यह मात्र इसलिए नहीं कि वह अहिन्दी भाषी प्रान्तमें जन्म ले रही थी बल्कि इसलिए भी कि वह इतिहासके उस दौरमें थी जिसमें विदेशी हुकूमत समूचे राष्ट्रको प्रान्तों, जातियों, धर्मों और भाषाओंके स्तरपर टुकड़ोंमें बाँटनेके लिए प्रयत्नशील थी। बंगाल अकालसे गुजर रहा था, हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरेके खूनके प्यासे हो रहे थे और बंगाली 'हिन्दुस्तानियों'को हिकारतकी निगाहसे देख रहे थे। 'विश्वभारती पत्रिका' पर यह ऐतिहासिक जिम्मेवारी थी और कहना न होगा कि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीके सम्पादनमें वह अपने दायित्वको आरम्भमें ही समझ गयी थी।

द्विवेदीजी पत्रिकाके प्रवेशांकमें ही स्पष्ट करते हैं कि "बाहरके आचारने भारतमें नाना आकारमें भेदको ही मजबूत कर रखा है इसीलिए भारतकी श्रेष्ठ साधना है—बाहरके आचारको अतिक्रम करके अन्तरके सत्यको स्वीकार करना।" अन्तरके सत्यको तभी स्वीकार किया जा सकता है जब बाहरी आचारको नाटिका अच्छी तरह समझा जा सके।

द्विवेदीजीके सामने स्पष्ट था कि भारतमें शासन करनेवाली यह कौम अपने

पहले आनेवाली सभी कौमोंसे भिन्न किस्मकी है। यह भारतको अपना देश नहीं मानती उसका होकर रहना नहीं जानती। अपना देश उसके लिए 'उपनिवेश' सरीखा है। उसे निकट भविष्यमें ही जाना है लेकिन जानेके पहले वह उसे तोड़कर जाना चाहती है। द्विवेदीजीने यह भी स्पष्ट किया कि उसकी इस भेद नीतिका असर भारतीयोंपर पड़ने लगा है।

उन्होंने पत्रिकाके दूसरे अंकमें घोषणा की—"नाना मार्गोंके साधक जो कुछ भी साधना कर रहे हैं उसका लक्ष्य ही होना चाहिए इस विशाल जनसमूहकी मुक्ति।" उन्हें पराधीन देशमें 'कार्य विभाजन' की पद्धति स्वीकार नहीं थी क्योंकि इस पद्धतिके पीछे विदेशी शासनकी चाल थी। इसलिए उनकी दृष्टिमें मार्ग चाहे जो हो लक्ष्य सबका एक होना चाहिए। उन्होंने सुझाया कि इस जनसमूहकी मुक्तिके लिए हमें साहित्य लिखना है राजनीतिक आन्दोलन चलाना है सामाजिक सुधारका आयोजन करना है, आर्थिक उन्नयनका प्रयत्न करना है और धार्मिक दृढ़ता प्रतिष्ठित करनी है।

प्रान्तीय साहित्योंका अध्ययन पत्रिकाके इसी लक्ष्यके अन्तर्गत रहा है। उनके विचारमें वस्तुतः भारतवर्षकी एकताको दृढ़तर और स्थायी बनानेके जितने भी उद्योग हैं उनमें साहित्यिक विचारोंके आदान प्रदानका उद्योग प्रमुख है।" एक साहित्यकार इस एकताको दृढ़तर बनानेमें इसी तरह योग दे सकता है और फिर हिन्दी भाषाके लेखकोंपर तो अन्य भाषाके लेखकोंकी अपेक्षा बड़ी जिम्मेदारी है। अगर इस दिशामें वह पहल नहीं करता तो और कौन करेगा?

द्विवेदीजीने यह सुझाव ही नहीं दिया बल्कि स्वयं बंगला साहित्यकी सामयिक गतिविधियोंसे हिन्दी लेखकोंका परिचय भी कराया। उन्होंने अन्य भारतीय आर्यभाषाओंकी प्राचीनतम सामग्रियोंको लेकर उनमें परस्परकी अन्तःसूत्रता भी ढूँढ़ निकाली और इस क्रमको आगे बढ़ानेके लिए लेखकोंका आवाहन भी किया।

प्रान्तीय साहित्योंके अध्ययनका आधार क्या हो? इस प्रसंगमें द्विवेदीजीने लिखा कि उनका अध्ययन 'समूची जनताको समझनेके लिए होना चाहिए।' क्योंकि जनता राष्ट्रीय और साहित्यिक एकताकी नींव है। उसकी उपेक्षाका अर्थ है विदेशी हुकूमतको अपना समर्थन देना, उसकी भाय विभाजनकी नीतिका अनुमोदन करना।

जनताको आधार रूपमें स्वीकार करनेके बाद द्विवेदीजी एक लेखकको प्रान्तीय साहित्य तक ही सीमित रहनेके लिए नहीं कहते। इस भाषाके लेखक को दूसरी भाषाके जनसमुदायके निकट होनेका मतलब होता है उसकी भौगोलिक

तिहासिक, धार्मिक और जातिगत विशेषताओंसे परिचय प्राप्त करनेका प्रयास रना। इसके अन्तर्गत उस प्रान्तकी लोक भाषाएँ, लोक-गीत, पूजा-पावनकी धियाँ, रीति रस्म, लोकोक्तियाँ पुराण-ग्रन्थ, शास्त्रीय सिद्धान्त, पौराणिक थाओंकी लोक-प्रचलित व्याख्याएँ-आदि सभी कुछ आती हैं। जबतक एक सब इन्हें नहीं जानता और न प्यार करता है तबतक वह 'देश प्रेमी की ना पानेका हकदार नहीं होता।

यहाँ यह भी कह देना होगा कि द्विवेदीजीको बाहरी आचारसे कभी परहेज हीं रहा। उन्हें विशेष बाहरी-आचार विचारकी जानकारी है। उन्होंने पत्रिका में चीनी, जापानी, रूसी कविताओंका अनुवाद प्रकाशित किया है और अपने समय पाठकोंसे उन्हें परिचित कराया है। वे देशके हर नागरिकका बाहरी विचार धाराके लिए खुला रखनेके पक्षमें हैं। उन्हें विरोध केवल उस बाहरी चिन्ता धारासे है, जो देशकी एकता और भारतीय संस्कृतिको खण्डित करनेके लिए सचेष्ट है। यही कारण है कि वे उसे 'अतिक्रम करके अन्तरके सत्यको स्वीकार करनेके लिए प्रेरित करते हैं।

स्वाधीनताके बीस वर्षों बाद भी विश्वभारती-पत्रिका'की भाषा-नीति हमारे सामने है, यह अलग बात है कि वह हमारे राजनीतिक और स्वार्थ परक विचारोंसे कहीं मेल न खाती हो।

जो लोग अँगरेजीको भारतके लिए अनिवार्य मानते हैं, उनसे द्विवेदीजीका कहना है कि "अँगरेजीके बिना काम काम चल सकता है, यह विचार तो हमारे पराधीन चित्तका विकल्प है।" समस्त स्वतन्त्र देशोंने अपनी ही भाषाका उपयोग किया है। कितने ही स्वाधीन राष्ट्र तो आज भी ऐसे हैं जिनकी भाषाएँ हिन्दीकी तुलनामें बहुत पिछड़ी हुई हैं परन्तु इससे न तो उनका राजकाज रुकता है न विज्ञानके समझने पढ़ानेमें बाधा अनुभव होती है। तब फिर हिन्दीका लेकर इतनी बहस क्या?

'काशी' भाषा को राजभाषा बनाये जानेका विरोध करते हुए शिवजीने लिखा है कि हमें ऐसी भाषा चाहिए जिससे हम सरकारकी आलोचना कर सकें, सरकारका बहुत पता सकें, सरकारसे आरम्भ जवाब दे सकें कठिनसे कठिन समस्याओंका निर्णय लिया सकें और फिर भी वह भाषा इतनी साफ, मँजी और चुस्त हो कि विदेशी राजदूतोंको समझनेमें अस्पष्टता और गलतफहमीका मौका न हो।

ऐसी भाषाकी बात यह करते हैं—वे भी जिनकी अपना बाद भाषा नहीं

है। वे भाषाशास्त्र और इतिहासके सिद्धान्तोंके आधारपर बहस करते हैं और गड़े मुरदे उखाड़ते हैं। गड़े मुरदे उखाड़नेका शौक बुरा नहीं क्योंकि ऐसे लोग कभी-कभी इतिहासके अंग भी बन जाते हैं। लेकिन जब जातिके बनने और बिगड़नेका प्रश्न हो तो यह नीति गलत है। द्विवेदीजीने सन '४५ ई० में लिखा था कि 'हम अब जल्दी ही कोई रास्ता निकालना है। शास्त्रीय बहस फिर हो लेगी। लेकिन हमें आजादी हासिल किये इतना अरसा हो गया और बहस अब भी जारी है कोई रास्ता नहीं निकला।

हिन्दीके सबसे बड़े शत्रु कौन हैं—इसका आभास देते हुए सन '४२ की 'अपनी बात' में द्विवेदीजीने लिखा है कि "यदि हम केवल इस भाषाका विरोध करनेके लिए या उस भाषाकी स्तुति करनेके लिए अन्धश्रद्धाके आदेशमें हिन्दी हिन्दी चिल्ला रहे हैं तो निश्चित रूपसे गलत रास्ते जा रहे हैं।" और हमारे गलत रास्ते जानेका नतीजा यह हुआ है कि आज भी साम्राज्यवादियोंकी जबान हम भारतीयोंके मुँहमें है, कलममें है, कुरसी और मेजपर है।

द्विवेदीजी अपने बारेमें स्पष्ट लिखते हैं कि 'मेरे लिए हिन्दी भाषा और हिन्दी साहित्य कोई देव प्रतिमा नहीं है जिसका नाम जपकर और आरती उतारकर हम सन्तुष्ट हो जायेंगे। यदि वह अपना दायित्व नहीं निभाती तो वह श्रद्धा और भक्तिका विषय भी नहीं बनी रह सकती।' हिन्दीका दायित्व है—भारतवर्षके करोड़ों नर-नारियोंके हृदय और मस्तिष्कको खुराक देना। हृदय-स्थित उसे अज्ञान, मोह, कुसंस्कार और परनिर्भरतासे बचाना।

जो हिन्दीको बड़ी मात्र उसकी विराट जनसंख्याके कारण मानते हैं उनसे द्विवेदीजीका कहना है कि यह गर्वकी नहीं, चिन्ताकी बात है। कोई भी भाषा महज इसलिए बड़ी नहीं होगी कि उसके बोलनेवालोंकी संख्या अधिक है। हिन्दी इसलिए बड़ी है कि करोड़ों जनताके हृदय और मस्तिष्ककी भूख मिटानेका वह इस देशमें जबरदस्त साधन है, वह इसलिए बड़ी है कि भारतकी हजारों वर्षकी अपरिमेय चिन्ताराशिको ठीक-ठीक सुरक्षित रख सकनेका मजबूत पात्र है, वह इसलिए बड़ी है कि करोड़ोंकी तादादमें अकारण कुचली हुई गूँगी जनता तक आशा और उत्साहका सन्देश इस जीवन्त और समर्थ भाषाके द्वारा दिया जा सकता है वह इसलिए बड़ी है कि उसने आँचलकी छायामें ऐसे हजारों महापुरुषोंके पनपनेकी सम्भावना है जो न केवल इस देशको वरन् समूचे संसारको विनाशके मार्गसे बचानेकी साधना करेंगे। हिन्दीका खानेवाली संस्थाएँ और नेता हिन्दीका इतना और महत्त्व समझ लें तो वह हिन्दीका चाहे जो करें, अपना कल्याण जरूर करेंगे।

हिन्दीमें साहित्य रचनेवालोंसे द्विवेदीजीका कहना है कि "हम इस भाषाको इस योग्य बना देना है जो अत्यन्त साधारण मजदूरसे लेकर अत्यन्त विकसित मस्तिष्क व बुद्धिजीवीके दिमागमें विहार कर सके।" जो भाषा केवल बुद्धिजीवियोंके कामकी होगी, वह न तो किसी राष्ट्रके कामकी होगी और न जनताके। यदि हम हिन्दीको ऐसी भाषा बनायेंगे जो अँगरेजीकी ही भाँति विलायती बनी रहेगी या संस्कृतकी तरह कुछ चुने हुए विद्वानोंका मनोरंजन करेगी तो हम उसे इतनी कमजोर बना देंगे जितनी कोई भी शक्ति नहीं बना सकती। हमें हर हालतमें ध्यान रखना होगा कि हिन्दी उनके लिए होनी चाहिए जो दीन हैं, उपेक्षित हैं, भुला दिये गये हैं और जिनका भविष्य है।

द्विवेदीजीने तभी लक्ष्य कर लिया था कि भाषाका प्रश्न जिनके लिए है, उनके लिए है हिन्दी आनेवाली पीढ़ीके लिए कतई समस्या न होगी। नवीन पीढ़ी इस समस्यासे न तो विचलित होगी, न पराजित।" और आज स्पष्ट है कि भारतीय भाषाओंमें आनेवाली साठकी पीढ़ीके लिए भाषा कोई समस्या नहीं है—चाहे वह बंगलाकी 'भूखी पीढ़ी' हो या दक्षिणकी 'दिगम्बर पीढ़ी' या हिन्दीकी 'साठोत्तरी पीढ़ी'। इनमें वैचारिक मतभेद चाहे जितना हो लेकिन भाषा कभी आड़े नहीं आती।

द्विवेदीजीके नामके साथ 'मानवतावाद' शब्द उसी तरह लिया जाता है जिस तरह आचार्य रामचन्द्र शुक्लके नामके साथ 'लोकमंगलकी भावना' और प्रेमचन्दके साथ 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद'। लेकिन 'मानवतावाद' शब्द उतना ही भ्रामक है, जितना भ्रामक शब्द 'जनता'। 'पत्रिका' में प्रकाशित द्विवेदीजीके लेखों और 'अपनी बात' को आधार बनाकर देखना होगा कि द्विवेदीजी 'साहित्य' में जब 'मानव' की बात करते हैं तो उनका उद्देश्य किस मानवसे होता है।

सन् '४५ में 'प्रसाद-परिषद्' काशी-द्वारा आयोजित सातवें अधिवेशनमें द्विवेदीजीने एक निबन्ध पढ़ा था। वह निबन्ध उसी वर्षकी पत्रिकामें प्रकाशित भी है। वे मनुष्यको साहित्यका लक्ष्य मानते हुए लिखते हैं—"नगरों और गाँवोंमें फैला हुआ सैकड़ों जातियों और सम्प्रदायोंमें विभक्त अशिक्षा, कुशिक्षा, दारिद्र्य और रोगसे पीड़ित मानव-समाज आपके सामने उपस्थित है। भाषा और साहित्यकी समस्या वस्तुतः इन्हींकी समस्या है। क्या ये इतने दीन-दलित हैं? शताब्दियोंकी सामाजिक, मानसिक और आध्यात्मिक गुलामीके भारसे दबे हुए ये मनुष्य ही आपकी भाषाके प्रश्न और संस्कृति तथा साहित्यकी कसौटी हैं।' अर्थात् ये ही मनुष्य साहित्य और भाषाकी समस्या भी हैं और उसके

हैं। वे भाषाशास्त्र और इतिहासके सिद्धान्तोंके आधारपर बहस करते हैं और गड़े मुरदे उखाड़ते हैं। गड़े मुरदे उखाड़नेका शौक बुरा नहीं क्योंकि ऐसे लोग कभी-कभी इतिहासके अंग भी बन जाते हैं। लेकिन जब जातिके बनने और बिगड़नेका प्रश्न हो तो यह नीति गलत है। द्विवेदीजीने सन् '४५ ई० में लिखा था कि "हम अब जल्दी ही कोई रास्ता निकालना है। शास्त्रीय बहस फिर हो लेगी।" लेकिन हमें आजादी हासिल किये इतना अरसा हो गया और बहस अब भी जारी है कोई रास्ता नहीं निकला।

हिन्दीके सबसे बड़े शत्रु कौन हैं—इसका आभास देते हुए सन '४२ की 'अपनी बात' में द्विवेदीजीने लिखा है कि यदि हम केवल इस भाषाका विरोध करनेके लिए या उस भाषाकी स्तुति करनेके लिए अन्धश्रद्धाके आवेशमें हिन्दी हिन्दी चिल्ला रहे हैं तो निश्चित रूपसे गलत रास्ते जा रहे हैं।" और हमारे गलत रास्ते जानेका नतीजा यह हुआ है कि आज भी साम्राज्यवादियोंकी जबान हम भारतीयोंके मुँहमें है, कलममें है, कुरसी और मेजपर है।

द्विवेदीजी अपने बारेमें स्पष्ट लिखते हैं कि मेरे लिए हिन्दी भाषा और हिन्दी साहित्य कोई देव प्रतिमा नहीं है जिसका नाम जपकर और आरती उतारकर हम सन्तुष्ट हो जायेंगे। यदि वह अपना दायित्व नहीं निभाती तो वह श्रद्धा और भक्तिका विषय भी नहीं बनी रह सकती।" हिन्दीका दायित्व है—भारतवर्षके करोड़ों नर-नारियोंके हृदय और मस्तिष्कको खुराक देना। हृदय-देशमें स्थित उसे अज्ञान, मोह, कुसंस्कार और परनिर्भरतासे बचाना।

जो हिन्दीको बड़ी मात्र उसकी विराट जनसंख्याके कारण मानते हैं उनसे द्विवेदीजीका कहना है कि यह गर्वकी नहीं, चिन्ताकी बात है। कोई भी भाषा महज इसलिए बड़ी नहीं होगी कि उसके बोलनेवालोंकी संख्या अधिक है। हिन्दी इसलिए बड़ी है कि करोड़ों जनताके हृदय और मस्तिष्ककी भूख मिटानेका वह इस देशमें जबरदस्त साधन है, वह इसलिए बड़ी है कि भारतकी हजारों वर्षकी अपरिमेय चिंताराशिको ठीक ठीक सुरक्षित रख सकनेका मजबूत पात्र है, यह इसलिए बड़ी है कि करोड़ोंकी तादादमें अकारण कुचली हुई गूँगी जनता तक आशा और उत्साहका सन्देश इस जीवन्त और समर्थ भाषाके द्वारा दिया जा सकता है वह इसलिए बड़ी है कि उसके आँचलकी छायामें ऐसे हजारों महापुरुषोंके पनपनेकी सम्भावना है जो न केवल इस देशको वरन् समूचे संसारको विनाशके मार्गसे बचानेकी साधना करेंगे। हिन्दीका खानेवाली संस्थाएँ और नेता हिन्दीका इतना और महत्त्व समझ लें तो वह हिन्दीका चाहे जो करें, अपना कल्याण जरूर करेंगे।

हिन्दीमें साहित्य रचनेवालोंसे द्विवदीजीका कहना है कि "हम इस भाषाको
इस योग्य बना देता ह जो अत्यन्त साधारण मजदूरसे लेकर अत्यन्त विकसित
मस्तिष्क व बुद्धिजीवीके दिमागमें विहार कर सके।' जो भाषा केवल बुद्धि-
जीवियोंके कामकी होगी, वह न तो किसी राष्ट्रके कामकी होगी और न
जनताके। यदि हम हिन्दीको ऐसी भाषा बनायेंगे जो अँगरजीकी ही भाँति
विदेशी बनी रहेगी या सस्कृतकी तरह कुछ चुने हुए विद्वानोंका मनोरजन करेगी
तो हम उसे इतनी कमजोर बना देंग जितनी कोई भी शक्ति नहीं बना सकती।
हमें हर हालतम ध्यान रखना होगा कि हिन्दी उनके लिए होनी चाहिए जो दीन
ह, उपेक्षित हैं, भुला दिये गय हैं और जिनका भविष्य है।
द्विवेदीजीने तभी लक्ष्य कर लिया था कि भाषाका प्रश्न जिनके लिए ह
उनके लिए ह हिन्दी आनेवाली पीढीके लिए कतई समस्या न होगी। नवीन पीढी
इस समस्यासे न तो विचलित होगी न पराजित। और आज स्पष्ट ह कि
भारतीय भाषाओंम आनेवाली साठकी पीढीके लिए भाषा कोई समस्या नहीं ह—
चाहे वह बगलाकी 'भूखी पीढी' हो या दक्षिणकी 'दिगम्बर पीढी' या हिन्दीकी
'साठोत्तरी पीढी'। इनमें वैचारिक मतभद चाहे जितना हो लेकिन भाषा कभी
आड नहीं आती।

द्विवेदीजीके नामके साथ 'मानवतावाद' शब्द उसी तरह लिया जाता ह
जिस तरह आचार्य रामचन्द्र शुक्लके नामके साथ 'लोकमगलकी भावना' और
प्रेमचदके साथ 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद'। लेकिन मानवतावाद शब्द उतना ही
भ्रामक ह जितना भ्रामक शब्द जनता'। पत्रिका म प्रकाशित द्विवेदीजीके
लेख और 'अपनी बात को आधार बनाकर देखना होगा कि द्विवेदीजी साहित्य'
में जब 'मानव की बात करते ह तो उनका उद्देश्य किस मानवसे होता ह।
सन् '४५ म प्रजाद-परिषद् काशी-द्वारा आयोजित सातवें अधिवेशनम
निबन्धान एक निबन्ध पढ़ा था। वह निबन्ध उसी वर्षकी पत्रिकामें प्रकाशित
भी ह। वे मनुष्यको साहित्यका लक्ष्य मानते हुए लिखते ह— नगरों और
गाँवोंमें फैला हुआ सकड़ों जातियों और सम्प्रदायोंमें विभक्त अशिक्षा, कुशिक्षा
दारिद्रय और रोगसे पीडित मानव-समाज आपके सामने उपस्थित ह। भाषा और
साहित्यकी समस्या वस्तुत इन्हींकी समस्या हैं। क्या ये इतने दीन-दलित ह?
शताब्दियोंकी सामाजिक, मानसिक और आध्यात्मिक गुलामीके भारसे दबे हुए
ये मनुष्य ही आपकी भाषाके प्रश्न और संस्कृति तथा साहित्यकी कसौटी
है।' यथार्थ य ही मनुष्य साहित्य और भाषाकी समस्या ना ह और उसके
विविध

समाधान भी।

सन् '४७ ई० में 'सावधानीकी आवश्यकता' नामक लेखमें द्विवेदीजी फिर लिखते हैं—"साहित्य लिखनेका अर्थ है करोड़ोंके मानसिक स्तरको ऊँचा करना, करोड़ों मनुष्योंको मनुष्यके सुख-दुःखके प्रति संवेदनशील बनाना, करोड़ोंको अज्ञान, मोह, और कुसंस्कारसे मुक्त करना। वह शिक्षा किस कामकी जो दूसरोंके शोषणमें और अपने स्वार्थसाधनमें ही अपनी चरमसार्थकता समझती हो।" जब भी द्विवेदीजीकी मानवतावादी दृष्टिकोणकी व्याख्या की जानी चाहिए, कमसे कम इतनी सावधानी तो बरतनी चाहिए।

द्विवेदीजीकी साहित्य-साधनाका ठोस आधार मनुष्य है, लेकिन वह मनुष्य नहीं जो स्वार्थ लिप्सा और शोषणमें विश्वास करता है। वे उस साहित्यके भी विरोधी हैं जो शोषणकी प्रवृत्तिकी शिक्षा देता है और प्रचार करता है। द्विवेदीजीका मनुष्य वह है जो अज्ञान, मोह, कुसंस्कार और परमुखापेक्षिताम पड़ा पिस रहा है। इसलिए जो साहित्य मनुष्यके लिए इन सारी बातोंके विरुद्ध संघर्ष करता है, द्विवेदीजी उसे 'अक्षय निधि' मानते हैं। वे साफ कहते हैं कि "जो साहित्य अपने-आपके लिए लिखा जाता है, उसकी क्या कीमत है मैं नहीं कह सकता, परन्तु जो साहित्य मनुष्य-समाजको रोग, शोक, दारिद्र्य-अज्ञान, तथा परमुखापेक्षितासे बचाकर उसमें आत्मबलका संचार करता है, वह निश्चय ही अक्षय निधि है।"

भारतमें हिन्दू हैं, मुसलमान हैं, स्पृश्य हैं, अस्पृश्य हैं, संस्कृत है, फारसी है, विरोधी और संघर्षोंकी विराट वाहिनी है। पर सबके ऊपर और सबको छापकर मनुष्य है। अपने समयके सामाजिक ढाँचेमें मनुष्यकी स्थितिका संकेत करते हुए द्विवेदीजी लिखते हैं—"अच्छी बात कहनेवालोंकी कमी नहीं है, परन्तु मनुष्यके सामाजिक संघटनमें ही कहीं कुछ ऐसा बड़ा दोष रह गया है जो मनुष्यको अच्छी बात सुनने और समझनेसे रोक रहा है। इसलिए आजकी सबसे बड़ी समस्या यह नहीं है कि अच्छी बात कैसे कही जाये, बल्कि यह कि अच्छी बातको सुनने और माननेके लिए मनुष्यको कैसे तैयार किया जाये।"

सम्भवतः यही कारण है कि द्विवेदीजीने अपने सम्पादन-कालमें समसामयिक साहित्य लेखनके भीतरसे विरोध और समन्वयके लिए 'प्रगतिशील साहित्य'को चुना और 'मनोविज्ञान' तथा 'मनोविश्लेषण' शास्त्रको आधार मानकर लिखी जानेवाली रचनाओंको कोई प्रोत्साहन नहीं दिया। द्विवेदीजीका प्रगतिशील साहित्यकी जिस बातसे विरोध रहा है वह है 'दुर्दम जड़ विज्ञानका तत्त्ववाद'। साहित्यके अन्दर अगर इस तत्त्ववादकी अविकल व्याख्या होती रहे और इसे

'प्रोमूल्ट' बनाकर रचनाएँ की जायें तो उनमें किसीको भी विरोध हो सकता है। लेकिन द्विवेदीजी कहते हैं "सिद्धान्त रूपमें वह चाहे जो भी स्वीकार क्या न करता हो, साहित्यमें वह मनुष्यको दृढ़ चित्त बनानेका कार्य करता है।" यही वह बात है जो द्विवेदीजीको 'प्रगतिशील' साहित्यमें सबसे अच्छी लगती है। इसी सन्दर्भमें 'पत्रिका' पाठकका ध्यान 'पुस्तक-समीक्षा' की ओर आकृष्ट करती है। सन '५४ के दूसरे अंकमें द्विवेदीजीने 'तार-सप्तक' की समीक्षा की है। 'तार-सप्तक'की कविताओं और वक्तव्यपर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा है—"वक्तव्य और काव्यका सबसे अच्छा सामंजस्य गजानन माधव मुक्तिबोध और 'अज्ञेय की रचनाओंमें हुआ है।" इतना पहले मुक्तिबोधको पहचान लेना द्विवेदीजीके लिए आकस्मिक नहीं है। दो साल पहले इनकी पुस्तक 'कबीर' प्रकाशमें आ चुकी थी। पुराने कवियोंमें कबीर और नये कवियोंमें मुक्तिबोध की पसन्द जाहिर करती है कि द्विवेदीजीकी आस्थायता मानव-समाज के किस पक्षके साथ है ?

पत्रिकाका उद्देश्य मात्र विशाल जनसमूहकी मुक्ति, मानवकी प्रतिष्ठा और भाषागत तथा साहित्यिक समस्याओंका मूल्यांकन ही नहीं था उसकी दृष्टि 'युग शिक्षाकी उमड़ती धारा की ओर भी थी। सच तो यह है कि पाठ्य-पुस्तकों और छात्र छात्रा और अध्यापकों, विश्वविद्यालय और अधिकारियों, शिक्षाके माध्यम और उद्देश्यों—आदि अनेक प्रश्नोंके विषयमें द्विवेदीजी जिस गहराई और निकटतासे सोच सकते थे, किसी दूसरे और बाहरी व्यक्तिसे इसकी उम्मीद नहीं की जा सकती।

स्वाधीनताके बीस वर्षों बाद सन् '६७ में भारत सरकारने काफी सोच विचारके बाद इसके उपर फैसला लिया है कि विश्वविद्यालयोंमें शिक्षाका माध्यम देशी भाषाएँ हों। इस निर्णयके पीछे देशका करोड़ों रुपया भी बहा है जिसका उपयोग किसी रचनात्मक काममें हो सकता था। द्विवेदीजीने सन् '४३ की पत्रिकाके अक्तूबर अंकमें लिखा है—'हमारे विश्वविद्यालयोंमें शिक्षाके प्रसारके लिए विराट आयोजन हैं पर व सभी विदेशी भाषाके माध्यमसे शिक्षा बाँटते हैं। देशी भाषाएँ इन विश्वविद्यालयोंमें उपेक्षित रही हैं।

ये देशी भाषाएँ तब भी उपेक्षित थीं अब भी उपेक्षित हैं। यही नहीं इस तरहके सुझाव भी उपेक्षित रहे हैं। द्विवेदीजीने हिन्दी भाषाको माध्यम बनाने की योजनाको 'राष्ट्रीय अपमान की संज्ञा दी है और यह राष्ट्रीय अपमान इस स्वाधीन देशमें इस समय भी जारी है।

शिक्षाका उद्देश्य क्या हो और इस दिशामें विश्वविद्यालयका क्या कर्तव्य हो सकता है ? द्विवेदीजीका कहना है कि केवल पाठ्य-पुस्तकोंकी भरमार कर देनेसे ही विद्या नहीं आ जाती। विश्वविद्यालयोंमें जो पाठ्य पुस्तकें पढ़ानेकी होड़-सी मची हुई है, वह गलत है। केवल पुस्तकें पढ़ाना शिक्षाका उद्देश्य नहीं है। आदमी बनाना ही बड़ी बात है।' लेकिन विश्वविद्यालयोंकी शिक्षा हमें आदमी नहीं बनाती, वह हमें बाबूगीरी या ऐसे ही और किसी व्यवसायके योग्य बना देती है। जहाँ हम दफ्तरसे लौटनेके बाद या जानेके पहले कपड़े और घड़ी सजाकर रखते हैं वहीं अपनी सारी विद्या भी उठाकर रख देते हैं।

वे कौन सी पाठ्य पुस्तकें हैं जो विश्वविद्यालयोंमें पढ़ायी जानी चाहिए ? द्विवेदीजीकी रायमें विशाल जन-समूह विस्तृत भूखण्ड और सजीव चिन्ताप्रवाह ही प्रधान पाठ्य-पुस्तकें हो सकती हैं। पुस्तकें इसी महाग्रन्थको समझानेका साधन मानी जानी चाहिए। वे शिक्षा संस्थाओंमें पुराने ढंगका अध्ययन करने वाले पण्डितोंके प्रयत्नको 'शास्त्रीय' कहते हैं और उनका आग्रह है कि हमारा प्रयत्न रचनात्मक होना चाहिए। प्राचीन साहित्योंका अध्ययन भावी भारतीय समाजको ध्यानमें रखकर हो तो अच्छा है।

विश्वविद्यालयोंमें इन दिनों काफी उत्साहसे शोध-कार्य हो रहा है और प्रतिवर्ष भारतमें सैकड़ों छात्र पी एच० डी० की उपाधि हासिल कर रहे हैं। द्विवेदीजी भी शोधकार्यपर जोर देते हैं लेकिन शोध-कार्यका रूप क्या होना चाहिए—इसपर भी वे चुप नहीं हैं। वे लिखते हैं कि 'यदि हम भावी मानव समाजका अपने अध्ययन और शोध-कार्यसे कोई कल्याण न कर सकें तो वह अध्ययन एक शास्त्र विलासिता मात्र सिद्ध होगा। इसीलिए शोधकार्यकी योजना इस प्रकार बननी चाहिए कि उससे भावी मानव समाजका कल्याण हो।" मानव समाजका कल्याण तो तब हो जब अपने कल्याणसे मुक्ति मिले। अपने देशका शैक्षणिक ढाँचा ही ऐसा है कि अनुसन्धित्सुओंका भावी समाजके कल्याणकी बात ही उनके मस्तिष्कमें नहीं उठती।

किन्तु इस सन्दर्भमें मुख्य बात है शोध-कार्यका दिशा निर्देश। द्विवेदीजीने 'पत्रिका'में समय-समयपर इस प्रकारके शोधसम्बन्धी निबन्ध भी प्रस्तुत किये हैं जिनसे शोध करनेवाले प्रेरणा पा सकते हैं। उदाहरणके लिए—भारतीय संस्कृतिके अध्ययनकी एक उपेक्षित दिशा (क्षितिमोहन सेन) हिन्दीका भक्ति साहित्य (हजारीप्रसाद द्विवेदी) मध्य एशियामें प्राचीन पोथियाँ (प्रह्लाद प्रधान) हिन्दीमें तिब्बती वाङ्मयके उपकरण (शान्ति भिक्षु) नागरीमें चीनी ध्वनियाँ सकेत (शान्ति भिक्षु) बौद्धधर्ममें तान्त्रिक प्रवृत्तियाँका प्रवेश

नया मूल्यांकन
कालिदासकी लालित्य-योजना

• •

करुणापति त्रिपाठी

'कौन नहीं जानता कि कालिदास सौन्दर्यके महान् गायक कवि हैं। रूपका वर्णका, प्रभाका और प्रभावका ऐसा चितेरा दुर्लभ है, आभिजात्य और विलासिताका ऐसा उद्गाता (अन्य) कवि कान्यनगरमें जाना हुआ नहीं है और राग और सौभाग्यका ऐसा उद्घोषी खोजे नहीं मिल सकता। कविताका सच्चा रसिक सिर धुनकर रह जाता है। कहा जाता है कि शृंगारका ऐसा लाल आजतक दूसरा पैदा नहीं हुआ। परन्तु जो लोग काव्य-सौन्दर्यका विश्लेषण करनेमें रस पाते हैं—उनके लिए कालिदास एक समस्या है। आप यदि जानना चाहें कि कालिदासका सौन्दर्यबोधके सम्बन्धमें क्या मत है, क्या वे सौन्दर्यकी स्थिति द्रष्टाके रागात्मक चित्तमें मानते हैं या ऐसा मानते हैं कि द्रष्टा हो या न हो सुन्दर वस्तु सुन्दर ही रहेगी या क्या वे सौन्दर्यके किसी विश्वजनीन मानदण्डमें विश्वास करते हैं या ऐसा मानते हैं कि ऐसा कोई मानदण्ड हो ही नहीं सकता, तो कठिनाईमें पड़ना पड़ेगा।

कालिदासकी लालित्ययोजना' नामक ग्रन्थके तत्त्वान्वेषी और कृती शीर्षक प्रकरणका आरम्भ उपर्युक्त वक्तव्यके साथ होता है। उपर्युक्त कथनके द्वारा जिस अनुसन्धेय जिज्ञासाकी ओर इंगित किया गया है उसीकी व्याख्या और समाधान करनेका प्रयास इस कृतिमें है। यहाँ आचार्य द्विवेदीने तत्त्वान्वेषी कृतीके रूपमें अपनी व्याख्यानात्मक कृतिका संयोजन किया है। दूसरे शब्दोंमें कहा जा सकता है कि प्रस्तुत ग्रन्थमें आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीके मुख्यतः दो व्यक्तित्व गोचर होते हैं। एक रूप है कृतीका जो तत्त्वान्वेषणके बौद्धिक श्रम और विश्लेषणात्मक प्रपंचमें न पड़कर महाकवि काव्यलालित्यका आस्वादन करनेमें आकण्ठ निमग्न है। कृती पाठक इन बेकारकी बातोंमें उलझना नहीं चाहते। ■ डूबकर सौन्दर्यरस पाते हैं। बेकार बातोंमें उलझना भी बेकार ही है। स्वयं द्विवेदीजी भी स्थान-स्थानपर काव्यरसमें निमग्न होकर

उद्गार प्रकट करते हैं। कालिदासने भी इन शब्दोंका प्रयोग किया है। ऐसा लगता है वह 'कृती' का ही पर्याय मानते हैं। 'तत्त्वान्वेषी' को वे हतभाग्य ही समझते हैं। आगे ग्रन्थकारने लिखा है— लेकिन कवियोंकी डाँट-फटकारके बावजूद दुनियामें तत्त्वान्वेषणका कारबार बन्द नहीं हो गया है। खुद कालिदास संस्कारवती वाणीको दाद देते हैं। मनीषाको वे उत्तम गुण मानते हैं।"

यहाँ द्विवेदीजीने बताया है कि कालिदासकी दृष्टिसे कलाके आस्वादकर्ताका, रसानन्दभोक्ताका, सहृदयका, कृतीका स्थान अपेक्षाकृत अधिक उत्कर्षशाली है। काव्यके, कलाका ललितकलाके (मूर्ति, चित्र, संगीत, नृत्य, नाट्य आदिके) साधक भोक्ता सहृदय या सामाजिकका दर्जा कुछ अधिक ऊँचा है। मूल्यांकनकर्ताका समीक्षकका, आलोचकका, तत्त्वान्वेषकका स्थान अपेक्षाकृत कम महत्त्वका है। फिर भी कालिदासने जिस परिप्रेक्ष्यमें 'संस्कारवती वाणी' 'मनीषा' 'विद्वान्' का गर्भित होना बताया है उसी परिप्रेक्ष्यमें आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीने परिवेश रचना-द्वारा कालिदासकी लालित्य योजनाका नया मूल्यांकन दिया है।

नये मूल्यांकनकी दृष्टिपद्धति

द्विवेदीजीने अपने इस नये मूल्यांकनका नाम रखा है— "कालिदासकी लालित्य योजना।" इस 'लालित्य का तात्पर्य भी उन्होंने स्पष्ट कर दिया है— "आचार्य सौन्दर्य शास्त्री सौन्दर्यके अनेक रूपोंकी चर्चा करते हैं। उसकी चर्चा करना यहाँ अभीष्ट नहीं है। मनुष्य निर्मित सौन्दर्य ही—जिसे मैं लालित्य कहना पसन्द करता हूँ आजका (व्याख्यानका) अनुसन्धेय विषय है। कालिदासने इस सम्बन्धमें क्या कहा है या उनके कहनेसे किस बातका अनुमान किया जा सकता है यही बात आजकी चर्चाका उद्देश्य है।'

इससे स्पष्ट हो जाता है कि द्विवेदीजीके इस नये मूल्यांकनका परिप्रेक्ष्य क्या है? उसकी सीमा क्या है? उसकी व्याप्ति और क्षेत्र क्या है? यह ग्रन्थ वस्तुतः द्विवेदीजीके दो व्याख्यानोंका (क—कालिदासकी प्रसाधन-सामग्री, ख—कालिदास-की लालित्य योजना) एकत्र संयोजित और पुनर्लिखित ग्रन्थरूप है। दोनों लिखित व्याख्यानोंको नये सिरेसे लिखकर इस ग्रन्थका प्रकाशन हुआ है। अतः इसमें दोनों रूपोंकी सामग्री आ गयी है। कुल मिलाकर इस ग्रन्थमें चौदह प्रकरण या शीर्षक हैं। कालिदासके अगाध साहित्य रत्नाकरका मन्थन (मनन चिन्तन और आस्वादन) करते हुए तत्त्वान्वेषी मनीषावान् जिन रत्नोंको प्राप्त किया है उन्हींके संग्रहसे यह ग्रन्थ बना है।

इस ग्रन्थमें जहाँ एक ओर आधुनिक और पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्रकी दृष्टिसे कालिदासकी लालित्य-योजनाका मूल्यांकन किया गया है वहीं दूसरी ओर

सौंदर्यबोध और सौंदर्यशास्त्रके संदर्भमें कालिदासकी कलाविषयक मान्यताओंका शास्त्रीय धरातलपर आख्यापन किया गया है। इस संदर्भमें श्री द्विवेदीजीने अपने तत्त्वान्वेषणमें कालिदासकी लालित्य-योजनासे सम्पृक्त और कालिदास द्वारा प्रयुक्त अनेक पारिभाषिक देश्य पदोंको प्रस्तुत और व्याख्यायित किया है। ग्रंथकारका यह मूल्यांकन निश्चय ही नया मूल्यांकन है। आधुनिक पश्चिमी सौंदर्यशास्त्रने लालित्य-योजनाके संदर्भमें जिस दृष्टिबोधको लेकर सौंदर्य विधानकी प्रक्रिया, पदावली और सौंदर्यबोधका चिंतन किया है उसी धरातलपर इस ग्रंथमें व्याख्यापन किया गया है। पर कालिदासकी जिस लालित्य-योजनाका यहाँ प्रतिपादन हुआ है उसमें भारतीय चिंतनपरम्परा, सांस्कृतिक चेतना और दार्शनिक एवं आध्यात्मिक परम्पराका नयी दृष्टिसे उपयोजन किया गया है। इसका कारण है। आचार्य द्विवेदीके मतमें स्वकालीन परिवेश और परिप्रेक्ष्यके संदर्भमें ही कालिदासकी लालित्य चेतनाका यथार्थबोध प्राप्त किया जा सकता है। अपने काव्य-नाटकोंमें 'राष्ट्रकी समग्र सांस्कृतिक चेतनाको सप्राण अभिव्यक्ति देनेकी कला पर कालिदासका पूर्ण अधिकार था। ग्रंथ लेखकने आरम्भमें ही घोषणा की है कि भारतवर्षमें ऋषियों, संतों, कलाकारों, राजपुरुषों और विचारकोंने जो कुछ उत्तम और महान् दिया है, उसके सहस्रों वर्षोंके इतिहासमें जो कुछ सौंदर्य है उसने मनुष्यको पशुसुलभ धरातलसे उठाकर देवत्वमें प्रतिष्ठित करनेकी जितनी विधियोंका संधान किया है उन सबको ललित मोहन और सशक्त वाणी देनेका काम कालिदासने किया है'।

युगबोध

पृष्ठ दो में लेखकने कहा है कि इस देशमें बाहरसे भी अनेक मानव मण्डलियाँ—विविध कारणों और उद्देश्योंको लेकर आयीं। उनके नाना प्रकारके आचार विचार, नृत्य गीत, उत्सव-आयोजन आदिने इस महान देशकी जन मण्डलीके वैचित्र्यमें वृद्धि भी की। यहाँ आकर वे जनमण्डलियाँ बसकर यहींकी अंग बन गयीं। दोनोंके संगमन और समंजसनसे यह देश भारतबाह्य और भारतीय नाना धर्मों और संस्कृतियोंका संगमस्थल बन गया था। यहाँकी संस्कृतिमें अनेक प्रकारके वैचित्र्य आये। नवीन बातोंका समावेश होने रहनसे संस्कृति धर्म विश्वास काव्य, नाट्य एवं समस्त अन्य ललित कलाओंमें एक प्रकारकी प्रच्छन्न गतिशीलताका प्रादुर्भाव हुआ'। कालिदासकी मर्मभेदिनी दृष्टि और अर्थग्राहिका शक्तिने—साधिकार ढंगसे—भारतकी समन्वित और गतिशील चेतना और संस्कृतिके सर्वोत्तमांशोंको ललित रूप देकर—समग्र राष्ट्रीय चेतनाको जीवन्त रूपमें अभिव्यक्त किया।

जिस युगमें कालिदास आविर्भूत हुए थे उस युगके परिवेशकी चर्चा करते हुए द्विवेदीजीने लिखा है—"(उनके प्रादुर्भावयुग के) पहले भारतवर्षके अनेक महिमान्वित धर्मोंका उद्घोष हो चुका था, कई धार्मिक और आध्यात्मिक आंदोलनोंका उद्भव और विलय हो चुका था, अनेक कलाएँ प्रौढावस्थाको प्राप्त कर रहिवद्धताकी ओर अग्रसर हो चुकी थीं। वैदिक कर्मकाण्ड—एक ओर उपनिषदोंके अद्वैतवाद और दूसरी ओर बौद्ध और जैन धर्मके वेदविरोधी आंदोलनोंका सामना कर चुका था, रामायण और महाभारतके शक्तिशाली कथासाहित्यके बाद पौराणिक और निजंधरी कथाओंका विपुल साहित्य निर्मित हो चुका था, ब्राह्मणग्रन्थोंमें प्रतिपादित कर्मकाण्डप्रधान धर्मके बाद अन्तरारम-दर्शनके पक्षपाती सांख्य और योगके दार्शनिक सिद्धान्त जड़ जमा चुके थे, यवनशिल्पोंका प्रवेश और तज्जन्य शक्तिशाली प्रतिक्रियाका उन्मेष हो चुका था भारतवर्ष—नयी राष्ट्रीयतासे ओतप्रोत था।"

ऐतिहासिकताओंका परिचय देनेके अनन्तर श्री द्विवेदीजीने कालिदासके जीवनदर्शनके विषयमें बताया है कि 'उपनिषदोंके आत्मवादी अद्वैत साधनाको रामायणके मानवी आदर्शोंमें मुखरित आदर्शवादको महाभारतके बौद्धिक चरित्रविकासको, धर्मसूत्रों और स्मृतियोंमें ब्राह्मणसमानुमोदित आचारसंहिताको, पुराणोंमें विभिन्न मानव-मण्डलियोंमें परिव्याप्त मिथक कल्पनाके समृद्ध तत्त्वोंको, भरत मुनिके नाट्यशास्त्रमें नाटकीय व्यवस्थाओंको पाशुपत आगमोंके सृष्टि रहस्यको, सांख्य योगसे अन्त र्द्रित चित्तसमाधिका सार लेकर उन्होंने अपना जीवनदर्शन रूपायित किया था"। इसी कारण उनके काव्योंमें 'भारतीय धर्म, दर्शन शिल्प (कला भी) और साधनामें जो कुछ उदात्त है, जो कुछ दक्ष है जो कुछ महनीय है और जो कुछ ललित और मोहन है उसका प्रयत्नपूर्वक सजाया सँवारा रूप' उभरकर सामने आया है। इसी कारण उनके शृंगार और प्रेमकी परिणति भी विश्वकी मंगल-साधनासे दीपित है, उनके सहजात मांसल विकारोंका रूप उत्तीर्ण है, उनके नायक-नायिकाओंका रूपसौन्दर्य जड़तासे मुक्त और सत् एवं 'शुभ' आलोकसे ज्योतित है। 'उनकी वाणीमें भारतका महान् उदात्त और शान्त शोभन' स्वर मुखरित हुआ है उसमें इस देशकी महनीय 'मनीषा और महान् साधनाके आदर्शोंको रूप मिला है"। वे सही अर्थोंमें हमारे राष्ट्रीय कवि हैं।"

कृतियाँ

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीने, प्रथम प्रकरणमें पूर्वोक्त चर्चा-द्वारा महाकविको राष्ट्रीय कविके रूपमें अंकित करके यहाँ द्वितीय सोपानमें कालिदासकी

रचनाएँके अन्तर्गत उनकी ७ कृतियोंका परिचय दिया है। उन्होंने अयंत भावमय वाणीमें काव्य-नाटकोंके वस्तुका सारांश देते हुए तत्तत्कृतियोंके वैशिष्ट्य का संकेत किया है। ऋतुसंहार—जीवन दर्शन देनेवाला काव्य न होकर भी अनुरागकी अग्निको प्रदीप्त करनेवाला और मादक जीवन रससे आद्यन्त पूर्ण पात्र कहा गया है। मेघदूतका जीवन-दर्शन (पृ० १३ में) बड़े काव्यात्मक (साथ ही व्यक्तिनिष्ठ = सब्जेक्टिव) पदावलीमें—पर दार्शनिक स्वरसे मुखरित रूपमें—वर्णित है—'व्यक्ति-मनुष्यके हृदयकी व्याकुल वेदनाको जगत्में व्याप्त वेदनाकी पृष्ठभूमिमें एकसाथ साथ एकमेक करके (कालिदास) निखारते हैं। कुछ भी विच्छिन्न नहीं है कुछ भी अजनबी नहीं है। बिन्दुसे लेकर पर्वत तक एक ही व्याकुल वेदना समुद्रकी लहरोंकी तरह पछाड़ खा-खाकर लोट रही है। एक तारको छुआ और सम्पूर्ण तार झनझना उठते हैं। सब तार मिलकर पूर्ण संगीतका निर्माणका कार्य करते हैं। नरलोकसे किन्नरलोक तक एक ही व्याकुल अभिलाषभाव उल्लसित हो रहा है। मिलन स्थिति बिन्दु है विरह गतिवेग है। दोनोंके परस्पर आकर्षणसे रूपकी प्रतीति होती रहती है। विचार मूर्त आकार ग्रहण करते हैं भावना साकार बनती है। विरहमें सौभाग्य पनपता है रूप निखरता है मन निर्मल होता है बुद्धि एकतानता संधान पाती है। [पृ० १९]

कुमारसम्भवकी चर्चा करते हुए लेखकने उक्त कृतिको समष्टिप्रेम का काव्य सिद्ध किया है। इस सन्दर्भमें श्री द्विवेदीजीने दार्शनिक परिप्रेक्ष्यका स्वर अपने कथनको प्रकट किया है।

कुमारसम्भव के पावनी प्रेमकी महिमा हजारों आलोचक गाते रहे हैं। कामदहन कामिनी रूपसम्पत्तिकी व्यर्थता और भक्तिकठोरी पार्वती साथ-साथ उमाकी तपश्चर्याके पावन पावकमें तपकर दीप्यमान हेमोज्ज्वल प्रेमकी महनीयता और आराधना—आलोचकों-द्वारा बारम्बार—गायी गायी गयी है। परन्तु आचार्य द्विवेदीने गुरुवर प्रेरणा पाकर कुमारसम्भवके प्रेम को समष्टिप्रेम सिद्ध किया है। पर अपनी सिद्ध साधनामें उन्होंने कालिदासकी रचनामें—मुख्यतः कुमारसम्भवकी उक्तियोंसे दार्शनिक स्थापनाको पुष्ट किया है। यहीं पाशुपत दर्शन (शैवदर्शन) की विचारधाराओंका सहारा भी लिया गया है और मधुरोपासक वैष्णवमतमें राधा जिस प्रकार आह्लादिनी शक्ति स्वीकृत है उसी प्रकार पार्वती को भी बताया गया है— शिव वाद एवं शक्ति नहीं बल्कि विश्वमूर्ति है। पार्वती निखिल भूतमें व्याप्त ह्लादिनी शक्ति है। शिव और पार्वतीका प्रेम सत्तामात्र है। यह ■ प्रथम दिव्यसे आकर मनुष्यलोकसे देवलोक तक व्याप्त महाशक्तिका प्रेमलीला है। दरअसल शिव ही पुरुष और स्त्रीके रूपमें अपने

आपको द्विधा विभक्त किया है। इस पुरुष-तत्त्व और स्त्री-तत्त्वमें जो पारस्परिक आकर्षण है वह भगवान् शिवकी आदि सिसृक्षाका ही विलास है। एक-दूसरेकी ओर आकृष्ट होकर वे उस प्रथम शिवत्वकी अवस्थाको ही प्राप्त करना चाहते हैं। विशुद्ध प्रेममें जो अद्वैत भावना आती है वह शिवत्वकी ही अनुभूतिका एक रूप है। इसी महान उद्देश्यको लक्ष्य कर महाकविने शिव और पार्वतीको सनातन पुरुषत्व और स्त्रीत्वका प्रतीक बनाया है।'

"कुमारसम्भव में कविने अपने जीवन-दर्शनको बहुत बड़ी पृष्ठभूमिकापर रखकर व्यक्त करनेका प्रयास किया है। त्यागके साथ संयमका और तपस्याके साथ प्रेमका मिलन होनेपर ही स्त्री और पुरुषका प्रेम धन्य होता है। कालिदासने इस महाकाव्यमें यह दिखानेका प्रयास किया है कि त्याग और भोगके सामञ्जस्यसे ही जीवन चरितार्थ होता है। एकान्त वैराग्य, आसुरी शक्तिका दमन नहीं कर सकता। भोग और वैराग्यके यथोचित सामञ्जस्यमें ही जीवनकी चरितार्थता है। जो प्रेम केवल शारीरिक आकर्षणपर निर्भर होता है जबतक वह तपस्याकी अग्निमें तपकर नहीं निकलता तबतक वह कच्चा है निकृष्ट है। पार्वतीमें तपस्या और प्रेमका सामञ्जस्य है, जिसमें भोग और वैराग्यका। कामदेव जो शारीरिक विषयोंमें आकर्षणकी अधिकता है। सच्चा प्रेम और गहराईमें पलता है'। (पृ० १८)।

इसी प्रकार रघुवंशका प्रतिपाद्य कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुरके 'तपोवन' नामक उद्धरण (पृ० २० २३) द्वारा उपलब्ध है। मालविकाग्निमित्र और विक्रमोर्वशीय दोनोंका महत्त्व जीवन दर्शनके प्रकाशनकी दृष्टिसे नहींके बराबर या स्वल्प ही है। परन्तु कालिदासकी शिल्पविधान भावनाओंका समन्वयमें इन दोनोंका महत्त्व निःसन्दिग्ध है'। नृत्यकला, संगीतकला और चित्रकला (नाट्यकला भी)से सम्बद्ध अनेक विषयोंके जानकार ही नहीं थे—स्वयं सफल शिल्पी थे और कलाविद् चित्रकार और गायक भी थे' तथा उन कलाओंमें उनकी साधनाएँ भी रही। अभिज्ञानशाकुन्तल निश्चय ही 'कालिदासका सर्वश्रेष्ठ नाटक तो है ही, संसारके नाट्य साहित्यमें भी इसकी जोड़का नाटक दुर्लभ है।'

आवश्यक जानकारी

कालिदासके कुमारसम्भवमें पाश्चात्य मतके आलोचक कहते हैं कि इसका शान्तिमें समाप्त होनेसे मौलिक [illegible] कोई समाधान नहीं है। वे [illegible] लिया भारतीय कवि कहते हैं। पर 'Aeneid' के [illegible] दृष्टि और कल्पना कालिदासकी [illegible] वस्तु है। [illegible] विषयमें [illegible]

'कालिदासके अध्ययनके लिए कुछ आवश्यक जानकारी' शीर्षकके अन्तर्गत बताया है कि इस प्रकारकी आलोचना दृष्टिका कारण है। पश्चिमके आलोचक और उनके अनुयायी हिन्दुस्तानवासी भी भारतीय साहित्यकी कुछ मूलभूत मान्यताओं आस्थाओं और विश्वासोंकी उपेक्षा करते हैं। अतः प्राक्तन भारतीय परिवेशके परिप्रेक्षण सन्दर्भका सही मूल्यांकन कर सकनेमें असमर्थ हो उठते हैं। पुनर्जन्मका सिद्धान्त, कर्मफलभोगका अविचल विश्वास, लिंगशरीरकी परिकल्पना, पुरुषार्थचतुष्टय, ऋणत्रयशोधमें जीवनकी सार्थकता, और दृश्य, नश्वर एवं जड़ तत्त्वके अतिरिक्त शाश्वत, सत्य एवं रम्य, चैतन्य तत्त्वमें अडिग विश्वास आदि ऐसी ही मान्यताएँ हैं जिनके समग्र परिचय बिना भारतीय-काव्य-नाटकोंके स्वरूप और आदर्शवादका सही परिप्रेक्ष्यमें देखा नहीं जा सकता। कालिदासकी कृतियोंमें प्रतिष्ठित जीवनचित्र और जीवनमूल्योंका मूल्यांकन ठीक ठीक नहीं हो पाता। इसी भारतीय दृष्टिके कारण अन्तर्द्वन्द्वोंका अभाव भी है। कालिदासके ही नहीं अधिकांश संस्कृत नाटक सुखावसायी हैं—ट्रेजेडी न बन पाये।

इसी सन्दर्भमें एक प्रश्नको द्विवेदीजीने आगे चलकर 'विश्वव्यापक छन्दो-धारा और लालित्य' (शीर्षक) में दार्शनिक चिन्तनके धरातलसे अधिक स्पष्टताके साथ उपस्थित किया है। उन्हें ऐसा लगता है कि 'कालिदास इस विश्वव्यवस्थाके मूलमें एक विश्वव्यापक छन्द स्वीकार करते हैं जो समष्टिगत चित्शक्तिकी सर्जनेच्छा या सिसृक्षाके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। केवलात्मा ब्रह्म विशुद्ध चैतन्य है, केवल ज्ञान रूप। उसकी सिसृक्षाने ही उसे स्त्री और पुरुष रूपमें द्विधा विभक्त होनेको प्रवृत्त किया। ब्रह्मकी इच्छाशक्ति ही समष्टिगत छन्द है जिसने समस्त भेदोपभेदोंको छादन कर रखा है। छादन करता है, इसलिए छन्द है। छन्द अर्थात् इच्छा। ब्रह्मकी इच्छा शक्ति ही वह छन्द है जिसने सृष्टिको नाना वर्णों गन्धों और रूपोंमें रूपायित किया है। उसकी क्रिया शक्तिसे यह विश्व ब्रह्माण्ड दृश्यमान हो रहा है। छन्द इच्छा मात्र है, गतिमात्र है, चेतनामय है। जहाँ कहीं चैतन्य है वहीं गति है, प्राण है, आनन्द है। नृत्यमें छन्द है। नृत्य देवताओंका चाक्षुष यज्ञ है। काव्यमें प्रवहमान छन्दोधारा ही ब्रह्मकी सर्जनेच्छा है। देशमें स्थिरीभूत सृष्टि ही ब्रह्मकी क्रिया शक्ति है।" इस छन्दको और स्पष्टताके साथ समझाते हुए ग्रन्थकारने लिखा है— छन्द कोई बाह्यवस्तु नहीं है। बाह्य जगतमें दिन रात, ऋतु परिवर्तन और भूचक्रका नियतावर्तन चल रहा है। ग्रहोंमें प्रदक्षिणाकी क्रिया नियत तालपर चल रही है। इस नियतानुवर्तनको हम अनुक्रमता कहेंगे। इदंता प्रधान बाह्य जगतमें परिदृश्यमान अनुक्रमता जब अहंताप्रधान मानवके अन्तर्जगतमें प्रतिभासित अनुक्रमताके

तालसे ताल मिलाकर चलती है तो लय और तालकी अनुभूति होती है। यही छन्द है। यही विश्वव्यापी छन्दोधाराके साथ अन्तर्जगतकी छन्दोधाराके आनुकूल्य की कसौटी है।' "जहाँ कहीं आकर्षण है, उल्लास है वहीं सृष्टिकी इस मूल छन्दोधाराके अनुकूल जानेकी प्रवृत्ति है। जहाँ नहीं है वहाँ इस मूल छन्दोधारा का प्रातिकूल्य है। वही वस्तु असुन्दर और भद्दी है।'

लालित्य : नयी व्याख्या

हम यहाँ देखते हैं कि आचार्य द्विवेदीजीने लालित्यकी कल्पनामक सौन्दर्यकी साधारणीभूत रसकी एक नयी दार्शनिक व्याख्या उपस्थित की है जिसमें भारतीय दार्शनिक तत्त्वचिन्तनकी दृष्टि विशेषतः शिव (शैव) दर्शनके सामरस्य-सम्पा-की प्रेरणाको आधार बनाकर इच्छाशक्ति (स्वातन्त्र्यशक्ति) ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति—शक्तित्रिकके सहज योगसे विशुद्ध चैतन्यको आकार जानेके रूपमें अभिव्यक्ति मिलनेके साथ-साथ ललित वस्तुको उसीके अनुकूल रूप कहा गया है। उक्त विश्वव्यापी छन्दोधाराके आनुकूल्यसे मण्डित सर्जना ललित, मनोरम और सुन्दर होती है। लालित्य वस्तुतः उसी विश्वव्यापी छन्दोधाराकी गतिके अनुकूल सर्जनाकी तत्परता है।

ज्ञान, इच्छा और क्रिया चैतन्यधाराकी इन त्रिविध शक्तियोंका विलास बताते हुए और सर्जन प्रक्रियामें उनके योगदानका विवरण देते हुए आगे कहा गया है—'मूल चैतन्यधारा सङ्कल्पात्मिका इच्छाशक्तिका ही रूप है। वह गति मात्र है। क्रियाशक्ति स्थितिमात्र है। गति और शक्तिके द्वन्द्वका ही रूप बनता है। (आधुनिक विज्ञानकी दृष्टिसे प्रभावित उक्ति जिसमें इलेक्ट्रॉन और प्रोटोन तथा ऋणात्मक और धनात्मक विद्युत् युग्ममें अपार सर्जनाशक्ति निहित है), गति चित्तत्त्व है स्थिति अचित्तत्त्व। चिद्रूपा गति बारबार अचिद्रूपा स्थितिसे टकरा जाती है। चैतन्यधारा बारबार जड (अचित्) से स्थित आकर्षणसे नीचेकी ओर खींची जाती है। वह कल्पित होती है स्पन्दित होती है। जो कुछ विश्व-ब्रह्माण्डमें घट रहा है, वह पिण्डमें भी हो रहा है अन्तर केवल यह है कि विश्व ब्रह्माण्डमें केवल आत्मा की मूल सिसृक्षा चलती है। पिण्डमें वह अनेक शक्तियों—मायाजन्य कंचुकों या कोषोंसे—आवृत है। वस्तुतः गुणातीत ज्ञान शक्तिका नाम ही सत्त्व है इच्छाशक्तिका नाम रजस् है और क्रियाशक्तिका नाम ही तमस् है।' (पृ० ५६-७)

यों द्विवेदीजीने इस प्रसङ्गमें यह भी बताया है कि पश्चिमके पण्डितोंने व्यक्ति-निरपेक्ष इन्द्रियको सौन्दर्य माना है जो सौन्दर्यका व्यक्ति-सापेक्ष्य तत्त्वका

खिडकियोंमें खडा कर अव्यवस्था और तक वितकका कारण बनाता है। अत देश-काल सापेक्ष्य और परम्परास्वीकृत जनवग विशेषके समष्टि चित्तकी इच्छाको सौन्दय माननेके लिए विवश होना पडता है। कालिदासने इस सन्दर्भमें व्यक्तिचित्तकी इच्छाको ही सौन्दय माना है। "पर उनकी व्यक्ति इच्छा समष्टि व्यापिनी इच्छाका विशिष्ट रूप' है। समष्टि इच्छा विश्वव्यापिनी मगलेच्छाके अनुकूल होनेपर ही व्यक्तिगत इच्छा सार्थक होती है। व्यक्तिगत इच्छा उसके (विश्वव्यापिनी मगलेच्छाके) प्रतिकूल जाकर कुत्सित हो जाती है। समष्टि इच्छा चेतन धम है। जो बात चेतन धमके अनुकूल है वही सुन्दर है। समष्टि चेतना सजनात्मक है—वह सिसृक्षा है। व्यक्तिगत इच्छा उसमें अनुकूल रहकर ही चरिताथ होती है। जिस इच्छामें अज्ञान है मोह है परोत्सादनवृत्ति है वह पाप इच्छा है जडत्वसे अभिभूत होती है सौन्दय उसमें नही रहता। रूप कभी पापवृत्तिको उसकावा नही देता। जो देता है वह रूप नही है। (यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वच)। [यहाँ आचाय द्विवेदीजीके वक्तव्यको अधिक स्पष्ट करनेके लिए मैं इतना और जोडना चाहता हूँ—] जिस रूपको देखनेकी भ्रान्तिसे देखनेवालेकी पापवृत्तिको उसकावा मिलता है वह दरअसल रूपको सौन्दयको देख ही नही पाता वह और कुछ देखता है। रूपके नामपर भ्रममें कुछ औरको ही रूप समझता या कहता है। चतन्यशालाकी सजनेच्छासे धृत (सर्जित) रूप सौन्दय तो तन्मयकारी होगा स्रष्टाकी उस कलाकृतिको देखकर व्यक्तिचित्त तो भौतिक वसियाकी परिधिको पार कर उस चन्मय पहुँच जायगा जहाँ उसके कलुषित भाव उसी चैतन्यकी गतिमय धारामें विलीन हो जायँगे। द्विवेदीजीके मतसे कालिदासका पयाम नही था कि वे सौन्दय बोधकी समस्याओंको सुलझायें। उनका लक्ष्य तो यह था कि इस विश्वासमें भी आस्था उत्पन्न करें कि सचमुच ही कोई विधाता है और सचमुच ही उसकी कोई सजनेच्छा है। इसका कारण उनके मनमें सदा क्रियाशील रहनेवाला सत्त्ववाद है। कालिदास मानते थे कि ललित सजना उन क्षणोंमें होती है जब स्रष्टा कलाकार—पूर्ण समाहित चित्त होता है। पूर्ण समाधिके बिना 'सुन्दर' की रचना नही हो सकती। पूर्ण समाधिकी अवस्थामें ही चित्त स्वस्थ रहता है। सत्त्वस्थ चित्त ही अनिन्द्य सुन्दर रूपकी रचना करता है।' व्यापक परिप्रेक्ष्यको अपनाकर कालिदासने विधाताको भी एक कलाकार ही माना है।

सहज रूप ही श्रेष्ठ है

इस शापकके अन्तर्गत (मानव सौन्दयके अनिवाय निरूपण) कालिदासने स्त्री-रूपके सौन्दय-सन्दर्भमें सहज (स्वाभाविक और अयत्नज भी) गुणा

अलङ्कारोंका आदर करते हुए उस रूपको महत्ता दी है 'जो अनायास ही वर्ण, प्रभा, राग, आभिजात्य विलासिता लावण्य, लक्षण, छाया और सौभाग्यको निखार देनेमें समर्थ हो।' 'कालिदासने नारी-सौन्दर्यको महिमामण्डित किया है।' वे निखार वयस् (नरनारी दोनोंमें) प्रबल समर्थक हैं क्योंकि उस अवस्थामें सर्जनेच्छाका 'विश्वव्यापिनी मंगलविधायिनी सिसृक्षाका सप्राण आविर्भाव होता है और मूल चैतन्यधाराकी सर्वाधिक स्फुट अभिव्यक्तिके सूचक—सौन्दर्य, शक्ति, बल सामर्थ्य सर्जनात्मक क्षमताका सर्वाधिक उन्मेष होता है। यह अवस्था—अयष्टिका असम्भृत मण्डन (अयत्न सिद्ध सहज अलंकरण) है (कुमारसम्भव १।३१)। इस प्रकार महाकविने सहज रूपकी विच्छित्तिके विलासभूत यौवनारम्भसे मण्डित नर-नारी कलेवरको श्रेष्ठ माना है। वहीं अंगराग उपरूप आमण्डन आभूषण आभरण प्रसाधन आदिके द्वारा रूपालय दिखाया गया है। उसका कारण है—भारतीय संस्कृतिकी माङ्गल्य-संपृक्त दृष्टिमात्र। 'माङ्गल्य' और 'सम्भृतिमुखी प्रकृति' शीर्षकके अन्तर्गत अलंकरण आमण्डन, माङ्गल्यविधान आदिका विस्तृत विवेचन हुआ है। वहीं यह भी बताया गया कि कालिदासने सहज सौन्दर्य और प्रकृतिके रम्य परिवेशको उत्कृष्टतर प्रतिष्ठाकी पात्रता प्रदान किया है। उन्होंने प्राकृतिक पदार्थोंको श्रेष्ठ उपकरण माना है। प्रकृति उनकी दृष्टिमें मानवकी 'एक जीवन्त संगिनी' है। उसे हटा दिया जाय तो मनुष्यका भाव-जगत् मरुस्थलके समान सूना और नीरस है। कालिदासने पात्रोंके जिस निसर्ग-ललित और मांसलका प्रकृतिकी उन्नत पृष्ठभूमिमें चित्रण किया है वह नैसर्गिक सौन्दर्य और वैभवसे समृद्ध है। यहाँ दिखाया गया है कि एकान्त वैराग्य भी एकान्त प्रेमके समान निष्फल है। फलदायी प्रेम वयस् तपोवनमें पलता है' (पृ० १२१)। कुमारसम्भवका समस्त तप साधना प्रकृतिकी वैभव-भरी गोदमें विरचित है। अभिज्ञान शाकुन्तलम् का तपोवन चित्रित है (एक पृथ्वीपर और एक स्वर्गमें) जिसमें शकुन्तलाके मुग्ध-रूपको विशालता और सम्पूर्णता प्राप्त हुई है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि—कालिदासने मनुष्यकी परिपूर्णता प्रकृतिके सान्निध्यमें देखा है। उनके सभी ग्रन्थोंमें प्रकृतिका यह सघन सौन्दर्य अनन्य मिल जाता है (पृ० १२७, १२६)। फलतः प्रकृति भी चिन्मयटाकी साहित्यमयी रचना है।

लालित्य कतिपय पद और व्याख्या

श्री द्विवेदीजीने इस कृतिमें सौन्दर्य-स्नान और कलात्मकता सम्बद्ध कतिपय पदोंका अनुसंधान करते हुए उनकी सौन्दर्यशास्त्रीय व्याख्या की गयी है। यह

व्याख्या एक ओर भारतीय सौन्दय दृष्टिके साधार प्रमाणसि समर्थित की गयी ह और दूसरी ओर अद्यनततम पश्चिमी सौन्दयशास्त्रके परिप्रेक्ष्यमें रखकर सौन्दर्यविषय, लालित्य-सम्पृक्त अथचित्रोंके समानान्तर रूपमे तुलनीय दिखायी गयी ह। विनिवेशन, अन्यथाकरण और अन्वयन शीषकके अन्तगत उपयुक्त तीनो शब्दोंकी कालिदासकी लालित्य विषय मान्यताके सन्दभमें गम्भीर विवेचना हुई ह। इसी प्रकरणम प्रकृतिके सौन्दय और मानवकी कलाकृतिसे सम्पृक्त सौन्दर्यद्वय के साम्यवैषम्यमूलक गुणधर्मोंकी विश्लेषणात्मक व्याख्या की गयी ह। प्रसगत कलात्मक सजनके कालिदाससम्मत प्रक्रियाका भी निरूपण हुआ ह। यह भी सौन्दयविषयक आधुनिक मीमासाके धरातलपे विवेचित ह। उपादान उपकरण की (माध्यम या मीडियमकी) प्रकृतिका अनुकूल गुणधममूलक स्वभावको ठीक-ठीक पहचानना और उसका सही-सही उपयोजन-नियोजन सनिवेशन और स्थापन करना ही विनिवेशन है। प्रस्तुत या वण्य अथवस्तुके कलानिर्मेय तथ्यका यथाय और ज्योंका त्यों चित्रण करनेमें कलाकारको कुछ छोड़ना पड़ता ह और कुछ बदलना पड़ता है। उसे (कलाकारको) कई बार रूढ़ियोंका आश्रय लेना पड़ता है। ऐसा करना उसके लिए आवश्यक हो जाता ह। वह इस विवशतासे छुटकारा नही पा सकता। इस कौशलको अन्यथाकरण कह सकते हैं। अँगरेजीमें इसे 'डिस्टारशन' कहते हैं (पृ० ८८ ७९)। इस 'ज्योंका-त्यों चित्रणमें' अन्यथाकरण-द्वारा सब कुछ साध्य नहीं हो पाता। उत्तम कोटिका चित्रकार उसमें कुछ और जोड़ देता ह (किंचिदन्वितम)। मानसिक भावपरम्पराका उन्नत करनेकी क्षमताको (मोटे तौरपर) अन्वयन-कौशल कहा जाता ह। इस प्रकरणके आधिकारिक और प्रासगिक अनुसन्धान एव व्याख्यान हम आचाय द्विवेदीका मौलिक चिन्तन और नाप कह सकते हैं। इसी प्रकार भावानुप्रवेश और ललितानुभाव शीषकके अन्तगत निरूपित व्याख्या भी मौलिक है। कलाकारके लिए यह आवश्यक ह कि आश्रय या वर्ण्यके भावचित्रको मीडियम (रेखा रंग, नृत्य-नाट्य या पदयोजना) द्वारा कलासृष्टिमें प्रवेश कराना तो भावानुप्रवेश ह ही—साथ ही यह भी आवश्यक ह कलारचना या कलासजनाके क्षणमें कलाकार चित्रकार नट-नर्तक, या कवि-साहित्यकार भी अपना आत्मदान करके उसीमें तल्लीन हो जाये। नृत्य-अभिनयके क्षणोंमें जब नर्तक-नट अभिनेय भावके साथ एकात्मताका अनुभव करते हुए तल्लीन हो जाता ह तभी भावानुप्रवेश कहा जायेगा। कलाकारका वक्तव्यके साथ तन्मय होकर भावानुप्रवेशी बनना अनिवायत आवश्यक ह। और जिस भावानुप्रवेशकी दशामें चित्रकार चित्र बनाता ह कलाकार कलासृष्टि करता ह सहृदय सामा

जिसमें हृदय उसीका अनुभावन करानेकी क्षमता हो छविज्ञानुप्रवेशिता है।

'कला और अथवा साहित्य' शीर्षकके अन्तर्गत बताया गया है कि "कान्ता या सौन्दर्य न तो विषयनिष्ठ धारणामात्र है और न विषयिनिष्ठ धर्ममात्र है— अपितु वह एक उभयनिष्ठ धर्म है। सौन्दर्यमयी द्रष्टव्य वस्तुमें द्रष्टाको आन्दोलित करनेवाली शक्ति भी रहनी चाहिए, साथ ही ऐसी शक्ति या सवर्णतत्त्वका होना भी आवश्यक है जो द्रष्टव्यके सौन्दर्य चालित और हिल्लोलित होनेकी क्षमता दे सके।' ग्रहीता और गृहीतव्यके अन्तरतरका आकर्षण ही तो वह लीला है जो अनादि शिवतत्त्व और शक्तितत्त्वके शाश्वत लीलाविलासकी व्यक्तिनिष्ठ अभिव्यक्ति है" (पृ० ८९)।

'करण विगम और रसास्वादकी प्रक्रिया' तथा 'अबोधपूर्वा स्मृति और वासना' शीर्षक निबन्धोंमें द्विवेदीजीने करण विगम पदकी अपनी पारिभाषिक व्याख्या देते हुए बताया है कि कलासर्जन और कलास्वादनमें बाह्य ज्ञानेन्द्रियाँ अपने भौतिक विषयोंसे पराङ्मुख होकर मानस लोकके भाव-जगतमें समाहित और तल्लीन हो जाती हैं। समाधि कोटिकी समाहितावस्थामें ही कलाकार सौन्दर्यानुभूति प्राप्त करता है और उसी अवस्थामें रसानुभविता, रसभोक्ता कलाकार, बिना शिथिलसमाधि हुए कलासृष्टि करता है। तभी उसकी रचनामें वह सामर्थ्य आती है कि सहृदय सामाजिकके अन्तर्जगतको उक्त समाधिकी दशामें पहुँचाकर चरम कलास्वादन या रसास्वादन करा सकती है। तभी द्रष्टा या सामाजिकमें करण विगमकी दशा उत्पन्न की जा सकती है। अर्थात् उत्कृष्ट कलासृष्टि और कलास्वादनके लिए रसात्मक कला रचना और रसास्वादनके लिए करण विगम अनिवार्यतः आवश्यक शर्त है।

'अबोधपूर्वा स्मृति और वासना' में श्री द्विवेदीजीने बताया है कि "सभी विषय सब समय स्मरण नहीं रहते, परन्तु सौन्दर्यात्मक यस्तुएँ या गान्धारस य किसी पुरानी स्मृतिको उभार देते हैं। इसी उभरी हुई स्मृतिको कालिदास अबोधपूर्वा कहते हैं अर्थात् जिसकी यादमें विशेष तत्त्वका स्मरण नहीं रहता, केवल निर्विशेष स्मृतिमात्र रहती है।" पुरानी स्मृति जन्मान्तरवादियोंके लिए पूर्वजन्म-संस्कार हो सकती है। पर उसे न माननेवालोंके लिए उत्क्रान्ति-परम्पराके क्रमसे आगत पारम्परिक जाति-संस्कारकी वासना भी वह हो सकती है। इस प्रसंगमें जो कुछ कहा गया है उसका सारांश भी दिया गया है—(१) वर्तमानमें कुछ बातें रम्य और मधुर होती हैं (२) उन्हें देख-सुनकर स्मृतियाँ जगती हैं जो द्रष्टाको पर्युत्सुक बनाती हैं (३) ये स्मृतियाँ अबोधपूर्वा होती हैं अर्थात् पहलेसे यह बताना सम्भव नहीं है कि ये किस विशेष परिस्थितिके नामरूपमें

अवस्थान करती हैं तथा, (८) वे चित्तका चालित करता ह ।

इसी सन्दर्भम सौंदयकी परिचयात्मक व्याख्या करते हुए बताया गया ह कि सुंदर वस्तुके समग्रके बोधमे उत्पन्न अवयविगत सौंदर्यानुभूति, वस्तुत पृथक अवयवाका विभक्त सौंदयमात्र न होकर उनमे भिन्न वस्तु ह (जसा कि मनोविज्ञानका गस्टाल्ट सिद्धात मानता ह)। सौंदय भाव और रस सम्बधी अच्छी विवचना करते हुए व्यजनावृत्ति और भावकत्व भोजकत्वका भी इस प्रकरणम विश्लेषण किया गया ह और भावकत्व बाधकत्वका साहित्य दृष्टिसे अधिक अनुकूल बताया गया ह । इस प्रकरणका अंतिम अनुच्छेद द्रष्टव्य ह— योगी नही बताता कि अंतरतरम जो छदके प्रति, रागके प्रति, रगके प्रति इतना व्याकुल कम्पन उठा करता ह वह पराशक्तिकी किस विलासलीलाकी अभिव्यक्ति ह । गहराईम कही कुछ छूट गया ह, हठयोग ? नादयोग उसे नही बता पाते । कही न-कही अनुराग योगका भी व्याकुल कम्पन और आत्मनिवेदन मानव हृदयक अंतरतमम विकसित हा रहा ह । उसा छूटे हुए तत्त्वका अनुसधान शिल्पी करता ह । वह अनुभवगम्य ह । उसकी प्रतीति ही यथाथ ह और अनुभूति ही सत्य ह । कालिदासन उसी छूटे हुए तत्त्वका खाजनेका प्रयास किया ह— तच्चतसा स्मरति नूनमबाधपूवम । (पृ० ११६)

आचाय द्विवदीजीने कालिदासकी इसी अवसर अमूल्याकित लालित्य योजनाका इस रचनाम नवीन मूल्याकन किया ह । निश्चय ही प्रस्तुत रचना भी द्विवदीजी-द्वारा कालिदासकी लालित्य-योजनाका एसा मूल्याकन ह जो अद्भुतपूव ह । उसम पाण्डित्य ह, शास्त्रज्ञान ह चितन मनन ह, मूल्याकनकी विलक्षण मनीषाका नवा बोध ह, पूव और पश्चिमके प्राक्तन उपलब्धियाका बुद्धिसगत समजसन ह और सजनात्मक प्रतिभाका विषयनिष्ठ और विषयिनिष्ठ— उभयविध उन्मेष ह । यह भी नूतनवाऽपूवा कृति ह । कालिदासके नये मूल्याकन म इसका महत्त्वपूण स्थान ह भविष्यतम भी विशिष्ट स्थान बना रहेगा ।



> विराट् ब्रह्माण्ड-निकाय कोटि कोटि नक्षत्रोंका अग्निमय आवत नृत्य अनन्त शून्यमें निरन्तर उद्भूयमान और विनाशमान नीहारिका पुंज विस्मयकारी है पर उनसे अधिक विस्मयकारी है मनुष्य जो नगण्य स्थान-कालमें रहकर इनको नाप जोख करने निकल पड़ा है।
>
> —अशोकके फूल

अशोकके फूल

सम्प्रदायकी प्रतिष्ठा ही जब सबसे बड़ा लक्ष्य हो जाता है तो सत्यपरसे दृष्टि हट जाती है। पृ० २८।

काम क्रोध आदि मनःशक्तियाँ जिन्हें 'शत्रु' कहा जाता है सुनियन्त्रित होकर परम सहायक मित्र बन जाती हैं। पृ० ३०।

मैं बालूमेंसे भी तेल निकालनेका प्रयत्न करता हूँ बशर्ते कि वह बालू मुझे अच्छी लग जाये। पृ० ३३।

मनुष्यको अज्ञान, मोह, कुसंस्कार और परमुखापेक्षितासे बचाना ही साहित्यका वास्तविक लक्ष्य है। पृ० ४५।

घृणा और द्वेषसे जो बनता है वह शीघ्र ही पतनके गह्वरमें गिर पड़ता है। पृ० ४६।

प्रेम बड़ी वस्तु है, त्याग बड़ी वस्तु है और मनुष्य मात्रको वास्तविक 'मनुष्य' बनानेवाला ज्ञान भी बड़ी वस्तु है। पृ० ४८।

शिक्षाका मुख्य साधन उत्तम गुरु है। पृ० ६१।

संस्कृति मनुष्यकी विविध साधनाओंकी सर्वोत्तम परिणति है। पृ० ६८।

मैं संस्कृतिको किसी देशविशेष या जातिविशेषकी अपनी मौलिकता नहीं मानता। मेरे विचारसे सारे संसारके मनुष्योंकी एक ही सामान्य मानव-संस्कृति हो सकती है। पृ० ७१।

रास्ता खोजते समय भटक जाना, थक जाना या पीछे पड़ना, इस बातके सबूत नहीं हैं कि रास्ता खोजनेकी इच्छा ही नहीं है। पृ० ७८।

संसारकी समस्त जटिल समस्याएँ नित्यप्रति और भी जटिलतर इसलिए होती जाती हैं कि इनपर विचार करनेवालोंमें मानसिक और बौद्धिक बराबरीका अभाव है। पृ० ८१।

बौद्धिक साम्य ही मनुष्यको सभ्य बनाता है। पृ० ८१।

जिन विषयोंके गम्भीर अध्ययनसे मनुष्यका मस्तिष्क परिष्कृत और हृदय

सुसस्कृत होता है, उसमें श्रम लगता है और उसके लिए बाजार आसानीसे नहीं मिलता। पृ० १६८।
हिंदी भारतवर्षके हृदय देशमें स्थित करोड़ो नर-नारियोंके हृदय और मस्तिष्कको खुराक देनेवाली भाषा है। पृ० १७०।
जो साहित्य मनुष्य-समाजको रोग शोक दारिद्रय-अज्ञान तथा परमुखापेक्षितासे बचाकर उसमें आत्मबलका सचार करता है वह निश्चय ही अक्षय निधि है। पृ० १८१।
सत्य वह नहीं है जो मुखसे बोलते है। सत्य वह है जो मनुष्यके आत्यतिक कल्याणके लिए किया जाता है। पृ० १९०।

'कल्पलता'

अपने-आपपर अपने-आपके-द्वारा लगाया हुआ बधन हमारी सस्कृतिकी बड़ी भारी विशेषता है। पृ० ५।
अज्ञान सर्वत्र आदमीको पछाड़ता है। और आदमी है कि सदा उससे लोहा लेनेपर कमर कसे है। पृ० ६।
मनुष्यकी चरितार्थता प्रेममें है, मैत्रीमें है त्यागमें है, अपनेको सबके मगलके लिए नि शेष भावसे दे देनेमें है। पृ० ७।
कालिदास महान थे क्योंकि वे अनासक्त रह सके थे। पृ० २३।
जो हम हो नहीं सकते उसके लिए प्रयत्न करना बेकार है। पृ० २५।
अन्याय करके पछतानेकी आदत बुरी नहीं है। पृ० २६।
कार्य-क्षेत्रमें—स्वार्थोंकी सघर्षस्थलीमें महान आदर्शोंकी रक्षा करना कठिन काम है। पृ० २८।
मनुष्यकी सर्वोच्च वृत्ति यही है कि वह मनुष्य है—हाड चामका पशु नहीं। पृ० १५९।
व्यक्तियोंने इतिहास बनाये है व्यक्तियोंके कारण मरी हुई जातियोंमें जान आयी है व्यक्तियोंके कारण ही जीती हुई जातियाँ नष्ट हो गयी है। सही बात तो यह है कि व्यक्तियोंके बिना जातिका कोई अर्थ ही नहीं होता। पृ० १६१–६२।
शायद दुनिया भरके लोगोंकी कमजोरीका पता लगानेकी अपेक्षा अपनी कमजोरी का पता लगा लेना ज्यादा विश्वसनीय होता है। पृ० ३४।
कोई भीतरी महान् वस्तु ऐसी अवश्य है जिसके होनेसे मनुष्यको जितेंद्रियता प्राप्त होती है या प्राप्त करनेकी इच्छा होती है। पृ० ३६।
मैं जो भी सचार्य माय कर रहा हूँ वह सार्थक है जो कुछ मैं बचनाके

लिए करता हूँ निरर्थक है और असफल होनेको बाध्य है। पृ० ३८।

ब्रह्माण्ड कितना बड़ा है, यह बड़ा सवाल नहीं है, मनुष्यकी बुद्धि कितनी बड़ी है, यही बड़ा सवाल है। पृ० ९९।

गांधी भारतवर्षके अनेक युगोंके संचित पुण्यका मधुर फल था। पृ० १३०।

'साहित्य-सेवाका अधिकार सबको है', यह ठीक है पर साहित्य-सेवाका अर्थ पुस्तक लिखना ही नहीं है। पृ० १२८।

उपनिषदोंके उद्धरण भी जब हम अँगरेजीमें उद्धृत करते हैं, तो अपने ज्ञानका दिवाला प्रकट करते हैं। पृ० १२९।

साहित्य-सेवा और पुस्तक-लेखकका परस्पर पर्यायवाची हो जाना साहित्यके लिए बड़ा खतरनाक है। पृ० १२८।

सारे मानव-समाजको सुंदर बनानेकी साधनाका ही नाम साहित्य है। पृ० १३८।

जो जाति जितनी ही अधिक सौंदर्य प्रेमी है, उसमें मनुष्यता भी उतनी ही अधिक होती है। पृ० १३८।

जो आदमी दूसरोंके भावोंका आदर करना नहीं जानता उसे दूसरेसे भी सद्भावनाकी आशा नहीं करनी चाहिए। पृ० १४३।

मनुष्यता सिर्फ जीविका निर्वाह करनेके लिए ही नहीं है। पृ० १४७।

कुटज'

रूप व्यक्ति-सत्य है, नाम समाज-सत्य। पृ० २।

कार्पण्य दोषसे जिसका स्वभाव उपहत हो गया है उसकी दृष्टि म्लान हो जाती है, वह स्पष्ट नहीं देख पाता। पृ० ८।

सुखी वह है जिसका मन वशमें है, दुखी वह है जिसका मन परवश है। पृ० ९।

धोखा देनेवाला धोखा खाता है, प्रवंचनाका परिणाम हार होता है, दूसरोंके रास्तेमें गड्ढा खोदनेवालेको कुआँ तैयार मिलता है। पृ० १०-११।

जीतता वह है जिसमें शौर्य होता है, धैर्य होता है, साहस होता है, सत्त्व होता है, धर्म होता है। पृ० ११।

देशकी जनताके साथ देशके शिक्षितोंके व्यवधानका एक प्रमुख कारण विदेशी भाषाका माध्यम है। पृ० १५।

बड़ा काम करनेके लिए बड़ा हृदय होना चाहिए। पृ० १८।

ईमानदारी और बुद्धिमानीके साथ किया हुआ काम कभी व्यर्थ नहीं जाता। पृ० २०।

बुद्धिमानको स्वेच्छासे सही मार्गपर चलना चाहिए। विवश होकर किसी बातको मानना मोहग्रस्त मूढ लोगोंका काम है। पृ० २१।

लक्ष्यभ्रष्ट जीवन केवल दयनीय ही नहीं होता, वह समाजके लिए हानिकर भी होता है। पृ० ३४।

दीनता उस मानसिक दुर्बलताको कहते हैं जो मनुष्यको दूसरेकी दयापर जीनेका प्रलोभन देती है। पृ० ३४।

सभी भाषाएँ सबकी हैं। जबतक यह बुद्धि नहीं आती तबतक आशंकाएँ दूर नहीं होंगी। पृ० ४६।

बडोंके बीच पैदा हुआ बटा बहुत बडा होता है औसतमें बडा औसत बडके बराबर भी नहीं हो सकता। पृ० ७५।

जिसका लगना सबको लगे वह कवि है जिसका लगना सिर्फ उसे ही लगे औरोंका नहीं वह पागल है। लगने लगनेमें भेद है। जो सबको लगे वह अर्थ है। जो एकको ही लगे वह अनर्थ है। अर्थ सामाजिक होता है। पृ० ८७।

कम लोग जानते हैं कि शास्त्रार्थमें कोई हारता नहीं हराया जाता है। पृ० ८७।

मनुष्य प्रयोजनके पीछे दौडनेके लिए नहीं बना है प्रयोजनसे जो अतीत धर्म है वही मनुष्य है। पृ० ९५।

शक्ति प्रेम दया, सहानुभूति आदि गुण स्थूल प्रयोजनाकी सिद्धि करें या, और न करें तो बडे हैं और पालनीय हैं। पृ० ९५।

मनुष्य इसलिए मनुष्य है कि उसमें मनुष्यत्व धर्म है। पृ० ९५।

रति वस्तुतः अन्तर्निहित तत्त्ववादका भुला देनेका ही नाम है। पृ० १००।

वैराग्यसे मनुष्य असत कर्मोंसे निवृत्त होता है और फिर सत कर्मोंकी ओर उसकी प्रवृत्ति बढ़ती है इसलिए सदाचारके लिए विवेक और वैराग्य दोनोंका साथ साथ उदय होना आवश्यक है। पृ० १०२।

औषधियाँ और रोगके कीटाणु मनुष्यको समान भावसे प्रभावित करते हैं। पृ० १०२ ३।

मनुष्य भोगके द्वारा शाश्वत सुख नहीं प्राप्त कर सकता त्यागमें ही उसकी चरितार्थता है। पृ० १०८।

जो वान सफल होती है वह निश्चय ही धर्म है। अधर्म और सफलता कभी एक साथ रह ही नहीं सकते। पृ० १११।

वस्तुतः जिनके भीतर आचरणकी क्षमता रहती है वे ही विचारमें निर्भीक और स्पष्ट हुआ करते हैं । पृ० ११८ ।

सतीत्वको स्त्रियोंके लिए जंजीर समझनेवाला तार्किक विचार शास्त्रीय सत्यके विरुद्ध है । पृ० ११९ ।

किसी लकीरको मिटाये बिना छोटी बना देनेका उपाय है बड़ी लकीर खींच देना । क्षुद्र अहमिकाओं और अर्थहीन संकीर्णताओंकी क्षुद्रता सिद्ध करनेके लिए तर्क और शास्त्रार्थका मार्ग कदाचित् ठीक नहीं है । सही उपाय है बड़े सत्यको प्रत्यक्ष कर देना । पृ० १२३ ।

संस्कृतसे निरन्तर प्रेरणा और शब्दभण्डार पाते रहना परम सौभाग्यकी बात है । परन्तु यह समझना कि संस्कृत कभी इस देशकी राजभाषा बन सकेगी, ग़लत ढंगसे सोचनेका नतीजा है । पृ० १४९ ।

संस्कृतकी उपेक्षा करनेसे हम उस विशाल साहित्यको उत्पन्न करनेमें एकदम असमर्थ हो जायेंगे जिसकी आज सर्वाधिक आवश्यकता है । पृ० १५० ।

'विचार-प्रवाह'

वस्तुतः साहित्य-रसकी सुकुमार वस्तुको आस्वादनके लिए अपने संस्कारोंसे बहुत ऊपर उठनेकी ज़रूरत है । फिर वे संस्कार चाहे स्वगत हों या आगत । पृ० ८५ ।

विवेक और वैराग्यकी क्षमता केवल प्रेमसे ही सम्भव है । प्रेम-तत्त्वके अभावमें वैराग्य और विवेक अधिक देर तक टिक नहीं पाते । पृ० ५९ ।

साहित्यका सहज होना (मैं सरल नहीं कहता) ही मौलिकताका श्रेष्ठ प्रतिमान है । पृ० १०७ ।

मेरी दृष्टिमें साहित्यकी मौलिकताका प्रतिमान यही समाजकी मंगल-दृष्टिसे अनुप्राणित, परम्पराप्राप्त शास्त्रदृष्टिसे सुसंस्कृत और लोकचित्तमें सहज ही गुम्फित तत्त्वोंका सरस रूपमें प्रतिफलित करनेमें समर्थ व्यक्तित्वकी अभिव्यक्ति है । यह व्यक्तित्व जितना उज्ज्वल और शक्तिशाली होगा, साहित्यकी मौलिकता उतनी उज्ज्वल और दृढ़ होगी । पृ० १०२ ।

प्रेम संयम और त्यागसे उत्पन्न होता है । भक्ति साधनासे प्राप्त होती है, श्रद्धाके लिए अभ्यास और निष्ठाकी ज़रूरत होती है । पृ० १४५ ।

संस्कार बड़े प्रबल होते हैं वे विवेकको प्रायः ही दबोचते रहते हैं । पृ० १४६ ।

प्रयोजनके अतीत पदार्थका ही नाम सौन्दर्य है, प्रेम है, भक्ति है—मनुष्यता है । पृ० १५६ ।

जहाँ स्थूल जीवनका स्वार्थ समाप्त होता है वहीं मनुष्यता प्रारम्भ होती है। पृ० १५६।
मनुष्यके सभी विराट प्रयत्नोंके मूलमें कुछ व्यक्तिगत या समूहगत विश्वास होते हैं, परन्तु जब वे उस संस्कारजन्य प्रयोजनकी सीमा अतिक्रम कर जाते हैं तो उनमें मनुष्यकी विराट एकता और अपार जिजीविषाका ऐश्वर्य प्रकट होता है। पृ० १५७।

बाणभट्टकी आत्मकथा

मैं स्त्री शरीरको देव-मन्दिरके समान मानता हूँ। पृ० ८।
बुद्धिमान्की नीति मौन होती है। पृ० ५१।
क्या ब्राह्मण क्या श्रमण मनुष्यता दोनों ही जगह विरल है। पृ० ६१।
पुरुष स्त्रीको शक्ति समझकर ही पूर्ण हो सकता है पर स्त्री स्त्रीको शक्ति समझकर अधूरी रह जाती है। पृ० ८४।
नारीकी सफलता पुरुषको बाँधनेमें है सार्थकता उसे मुक्ति देनेमें। पृ० ९१।
राजनीति भुजंगसे भी अधिक कुटिल है असिधारासे भी अधिक दुर्गम है विद्युत् शिखासे भी अधिक चंचल है। पृ० ९९।
तुम झूठसे शायद घृणा करते हो मैं भी करता हूँ परन्तु जो समाजव्यवस्था झूठको प्रश्रय देनेके लिए ही तैयार की गयी है, उसे मानकर अगर कोई कल्याण कार्य करना चाहो, तो तुम्हें झूठका ही आश्रय लेना पड़ेगा। पृ० ९९।
लज्जा और अनुराग गणिकाको मूक नहीं बनाते और भी प्रगल्भ बना देते हैं। पृ० १२१।
न तो प्रवृत्तियोंको छिपाना उचित है न उनसे डरना कर्तव्य है और न लज्जित होना युक्तियुक्त है। पृ० ७७।
यह उन्मत्त उत्सव, ये रासक गान, ये भ्रूभंग सीत्कार, ये अबीर-गुलाल, ये चर्चरी और पटह मनुष्यकी किसी मानसिक दुर्बलताको छिपानेके लिए हैं, ये दुःख भुलानेवाली मदिरा हैं, ये हमारी मानसिक दुर्बलताके परदे हैं। इनका अस्तित्व सिद्ध करता है कि मनुष्यका मन रोगी है, उसकी चिन्ता धारा आविल है उसका *पारस्परिक सम्बन्ध दुःखपूर्ण है। पृ० १४।*
किसी दुःखी मनुष्यको आश्वासन देते समय मनुष्य बहुत कुछ बढ़ाकर बोलता है। पृ० ११७।
असुरोंके गृहमें जानेसे लक्ष्मी धर्षिता नहीं होती। चींटियोंके स्पर्शसे कामधेनु

अपमानित नहीं होती। चरित्रहीनोंके बीच वास करनेसे सरस्वती कलंकित नहीं होती। पृ० १०९-१०।

जहाँ कहीं अपने आपको उत्सर्ग करनेकी, अपने-आपको खपा देनेकी भावना प्रधान है, वहीं नारी है। जहाँ कहीं दुःख-सुखकी लाख-लाख धाराओंमें अपनेको दलित द्राक्षाके समान निचोड़कर दूसरेको तृप्त करनेकी भावना प्रबल है, वहीं 'नारीतत्त्व' है या शास्त्रीय भाषामें कहना हो तो 'शक्तितत्त्व' है। नारी निषेध-रूपा है। वह आनन्द भोगनेके लिए नहीं आती, आनन्द लुटानेके लिए आती है। पृ० १५०।

चित्त जड़ प्रकृतिका चैतन्यके संसर्गसे उत्पन्न विकारमात्र है। पृ० २१४।

वस्तुतः कल्मष भी मनुष्यका अपना सत्य है। उसे स्वीकार करके ही वह साधक हो सकता है। दबानेसे वह मनुष्यको नष्ट कर देता है। समस्त गुण और अवगुण जबतक निर्विकार चित्तसे नारायणको नहीं सौंप दिये जाते, तबतक वे भार-मात्र हैं। पृ० २२१।

साम्य ही साम्यके मिलनसे शक्ति उत्पन्न हो सकती है। पृ० २४६।

स्त्रीके दुःख इतने गम्भीर होते हैं कि उसके शब्द उसका दशमांश भी नहीं कह सकते। पृ० २५३।

छुई-मुईकी तरह मुरझा सकना कितनी बड़ी शक्तिका सूचक है। पृ० २६८।

एक जाति दूसरीको म्लेच्छ समझती है, एक मनुष्य दूसरेको नीच समझता है, इससे बढ़कर अशान्तिका कारण क्या हो सकता है। पृ० २७०।

जो वास्तव है उसे दबाना, जो अवास्तव है उसका आचरण करना—यही तो अभिनय है। पृ० २८०।

बन्धन ही सौन्दर्य है, आत्म-दमन ही सुरुचि है, बाधाएँ ही माधुर्य हैं। नहीं तो यह जीवन व्यर्थका भार हो जाता। पृ० २८१।

वास्तविकताएँ नग्नरूपमें प्रकट होकर कुत्सित बन जाती हैं। पृ० २८१।

भारतीय समाजने बन्धनको सत्य मानकर संसारको बहुत बड़ी चीज दी है। पृ० २८१।

वशीकरण अपने-आपको सम्पूर्णरूपसे उत्सर्ग करनेको कहते हैं। पृ० २९१।

जितने बँधे-बँधाये नियम और आचार हैं उनमें धर्म अटता नहीं। पृ० २९३।

'साहित्य-सहचर'

साहित्यकी साधना निखिल विश्वके साथ एकत्व अनुभव करनेकी साधना है। जो साहित्य नामधारी वस्तु काम और शृंगारपर आधारित है वह साहित्य

कहलानेके योग्य नही। पृ० ६।

लेखकके वक्तव्यका रसास्वादन कराना ही साहित्यिक समालोचकका कर्त्तव्य है। पृ० १८।

जो साहित्यकार अपने जीवनमें मानव-सहानुभूतिसे परिपूर्ण नही है और जीवनके विभिन्न स्तरोको स्नेहार्द्र दृष्टिसे नही देख सकता है वह बड़े साहित्यकी सृष्टि नही कर सकता। पृ० १९।

सैद्धान्तिक वाद विवाद आवश्यक है। पर उन्हीमे उलझ जाना ठीक नही। पृ० १९।

हिन्दीके प्रसिद्ध औपन्यासिक प्रेमचन्द शताब्दियोंसे पददलित और अपमानित कृषकोकी आवाज थे। परदेमें कैद, पद-पदपर लांछित और अपमानित असहाय नारी-जातिकी महिमाके जबरदस्त वकील थे। पृ० २५।

व्यक्तिका आत्मबल उसकी जड-पूजासे अवरुद्ध हो जाता है। जिसके पास ये जड-बन्धन जितने ही कम होते हैं वह उतनी ही जल्दी सत्यपरायण हो जाता है। पृ० २५।

कविताका क्षेत्र वहाँसे आरम्भ होता है जहाँ दुनियावी प्रयोजनकी सीमा समाप्त हो जाती है। पृ० ४७

मुझे ऐसा लगता है कि रहस्यवादी कविताका केन्द्र बिन्दु वह वस्तु है जिसे भक्ति-साहित्यमें 'लीला' कहते हैं। 'रहस्य' शब्दका नाम है 'लीला' समाधान का पृ० ६८।

यथार्थवादके भयसे उपमा नरक बुरसे चित्रणको नहीं कहा जा सकता, फिर वह चित्रण कितना भी यथार्थ क्यों न हो। इसी प्रकार उस चीजको आदर्शवाद नहीं कह सकते जो केवल रूढि-समर्थित सदाचारके उपदेशका नामान्तर है। पृ० ९१।

जमानेकी अनिवार्य तरगोंन हम जिस किनारे ला पटका है वहींसे हम यात्रा शुरू करनी होगी। पीछे लौट जानेके प्रयत्नमें बहादुरी और उद्भटता जितनी भी हो बुद्धिमानी बिल्कुल नहीं है। पृ० १७५।

नये युगको अत्यन्त सक्षेपमें बताना हो तो कहूँगे यह युग मानवताका युग है। पृ० १७६।

विचार-वितर्क

जड विषयक अनुरागको 'काम' कहते हैं और भगवद्विषयक अनुरागको 'प्रेम'। पृ० ३२।

वह शिक्षा जिस व्यक्तिको दूसरोंके शोषणमें, अपने स्वार्थ-साधनमें ही अपनी चरम सार्थकता समझती हो। पृ० ६०।

सन्तुलित दृष्टि वह नहीं है जो अतिवादिताओंके बीच एक मध्यम मार्ग खोजती फिरती है बल्कि वह है कि जो अतिवादिताओंकी आवेशान्तरक विचार-धाराका शिकार नहीं हो जाती और किसी पक्षके उस मूल सत्यको पकड़ सकती है जिसपर बहुत बल देने और अन्य पक्षोंकी उपेक्षा करनेके कारण उन अतिवादी दृष्टिका प्रसार बढ़ा है। सन्तुलित दृष्टि सत्यान्वेषीकी दृष्टि है। पृ० १५३।

'चारुचन्द्रलेख'

मनुष्य क्या इस प्रकारकी दुर्गतिका आखेट हो जाता है? वह कौन-सी वस्तु है जो सामान्य युक्ति—तर्कोंका निरसन कर देती है, बुद्धि विवेकको दबा देती है और ज्ञान क्षमताको चकनाचूर कर देती है। पृ० २६।

चारुदेवता यथासमय कहा देंगे कि निखिल ब्रह्माण्डके अणु-परमाणुमें व्याप्त शक्तिका जो रहस्य मन और बुद्धिके रूपमें घटित होता है वह चिन्मय देवताकी शक्तिसे भिन्न नहीं है। पृ० ७०।

जो कुछ हम जानते हैं, जो कुछ हम देखते हैं, जो कुछ हम अनुभव करते हैं वह वस्तुतः हमारे अन्तःकरणमें स्फुरित होनेवाली महाशक्तिका ही रूप है। हम देवताके लिए उपासना करते हैं, जप करते हैं, तपस्या करते हैं, वह अन्तःकरणमें स्थित उस शक्तिकी उद्बोधना मात्र है। पृ० ६१।

आध्यात्मिक शक्तिका सन्धान पाकर भी यदि मनुष्य अन्तःकरण और बाह्य जगत्का सामंजस्य नहीं स्थापित कर सका, तो भयंकर तमोगुणका शिकार हो जाता है। पृ० ६३।

स्थूल शरीर एक आवरण-मात्र है। इसके भीतर एक भाव शरीर है जिसमें भाव तरंगें प्रत्येक क्षण उद्वेलित हो रही हैं। भाव स्थूल रूप ले सकते हैं। यह जो मनुष्यके शरीरके भीतर कल्पना करनेकी अपार शक्ति है, अन्तःकरणमें नाना-प्रकार दुनियाका जो उद्वेलन हो रहा है वह मिथ्या नहीं। भाव जगत्में जो कुछ अनुभूत होता है वह स्थूल जगत्में प्रत्यक्ष हो सकता है। पृ० ७८।

एक अद्भुत सत्ता जिसका नाम नहीं है, कदाचित् रूप भी नहीं है, निरालम्ब स्वभाव है, भावाभाव—विनिर्मुक्तावस्था है। पृ० ७८।

सत्यपर दृढ़ताका अपार संयम, कठोर आत्मदमन और अनासक्त कर्मनिष्ठा, यही क्या मनुष्यता कहलाती नहीं? पृ० १५७।

विविध

यह जो ताम्बूल है यह शिव और शक्तिका युक्त प्रथम विग्रह है। यह गृहस्थ धर्मका साक्षात् रूप है। भगवानको जब लीला-विस्तारकी इच्छा हुई तो ज्ञानमय चिन्मय वपुने दो दिशाओंमें चलकर रूप परिग्रह किया। एक तो उनकी विलास-लीला इच्छाके रूपमें और दूसरी क्रियाके रूपमें अभिव्यक्त हुई। यही कारण है कि ज्ञान, इच्छा और क्रियारूपमें यह जगत त्रिधा विभक्त है। त्रिधा-विभक्त होनेकी सामर्थ्य रखनेवाली इसी शक्तिको कोई आद्या शक्ति, कोई त्रिपुरा, कोई सीता, कोई महामाया कहता है। बात एक ही है। नाम उसके बहुत हो सकते हैं, तत्त्व एक ही है। ज्ञानसे निकली हुई दो शाखाएँ—इच्छा और क्रिया—यही अधोमुख त्रिकोण है। यही ऊर्ध्वशाखा अधोमूल अश्वत्थ है, यही त्रिकोणात्मक जगत है। इसमें ज्ञान नीचेकी ओर पड़ा हुआ है।

पानके पत्तेमें यही त्रिकोण दिखाई देता है। कह सकते हो कि मायिक जगतका एक छोटा-सा प्रतिमान है। यह उस शक्तिका प्रतीक है जिसने स्थूल जगतमें नारी कलेवर धारण किया है। और यह जो पूगीफल है, जो नीचसे दीर्घ और ऊपर सूक्ष्म होता गया है, वह शिवतत्त्व है। जब क्रिया और इच्छा दोनों ज्ञानकी ओर बढ़ने लगती है तो नर-नारीके पिण्डमें—इस स्थूल कायामें—चिन्मय शिवतत्त्वकी ज्योति जगती है। शिव और शक्तिकी इसी लीलाको शक्ति साधक अधोमुख और ऊर्ध्वमुख त्रिकोणोंमें अंकित श्री-चक्र कहते हैं, बौद्ध-साधक वज्र कहते हैं। परन्तु ताम्बूल ही गृहस्थका श्री-चक्र है। इसमें केवल शिव-शक्तिका लीला-विलास ही नहीं, उनका तेज भी विद्यमान है। खदिरसार (कत्था) शक्तिका तेज है, सुधा-चूर्ण (चूना) शिवतत्त्वका तेज है। सो, ताम्बूल-चाटक गृहस्थको भगवानकी सिसृक्षा और समस्त जगद्व्यापी तेजोयोगका स्मरण तो दिलाता ही है, संसारमें रहते हुए संसार-चक्रसे मुक्त होनेके उपायका भी स्मरण दिलाता है। पृ० २८५-८६।

छोटेपनमें अहंकारका दर्प इतना प्रचण्ड होता है कि वह अपनेको ही खण्डित करता रहता है। पृ० ३४२।

कुछ और है, कुछ और है। पर क्या है? सीमाबद्ध [illegible] तरंगें पछाड़ खा-खाकर तीरपर सिर मार रही हैं—कुछ और है, पर क्या है? पृ० ३९०।

—संकलनकर्ता प्रेमचन्द जैन



एक इण्टरव्यू : कुछ पत्र

*

हरिहर शान्तिनिकेतनका डाकिया है। मस्त हसमुख और शालीन। समालोचक उसकी ओर बड़े आग्रह आशंका और उत्सुकतासे देखता है। चिट्ठियोंमें पचहत्तर प्रतिशत साहित्यिक होती हैं कभी-कभी प्रशंसा कभी-कभी डाँट कभी-कभी अनुनय कभी-कभी प्रलोभन। समालोचक एक एक करके पढ़ता है उत्फुल्ल होता है और आग बन जाता है। महाभारत-की पोथी खुला है।

—अमानीचरण राय

एक जलती शाम द्विवेदीजीके साथ

• •

शिवप्रसाद सिंह

गरमियोंमें आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जब काशी आते हैं, हर शाम उनके निवास-स्थानपर एक खासी मजलिस जम जाती है। भयानक लू और दिनकी उमसती शाममें कहकहोंकी बौछारमें नहा जाती है। बातोंका दायरा अजीब अतिवादी छोरोंको छूने लगता है। उनके घेरेमें हिन्दीके शोध-अनुसन्धानसे लेकर लिवाल्एमोतवा, साहित्यिक पुरस्कारोंसे लेकर हिन्दी विभागाध्यक्षोंके कचहरी मामले, रुपयेके अवमूल्यनसे लेकर चण्डीगढ़पर मँडराते पाकिस्तानी वायुयानोंकी भयानक यादें—सभी कुछ सिमट आते हैं। पं० विष्णुकान्त शास्त्री तुलसीके विनय काव्यपर शोधके सिलसिलेमें अयोध्या हो आये। कनक भवनमें बैठकर विनयपत्रिकाका पाठ कर आये। हनुमानगढ़ीके हनुमानजीका भी सुना आये। महन्तोंके चरणादरोंमें 'सकल भय हरन-नाशक' शक्तियोंके बारेमें बैरागियोंके अटूट विश्वासके ग्लोबापर ठहाके लग रहे हैं। डॉ० रामपूजन तिवारी आये हैं, कभी 'रोमेन्टिक' थे, अब सूफियोंपर शोध करते हैं। शायद हर 'रोमेन्टिक' कभी-न-कभी सूफी हो जाता है, जैसे वात्स्यायनजी ही। कहकहे तड़तड़ाते हैं। पहले पण्डितजीकी बातोंमें कबीरकी साखियाँ, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंशकी सूक्तियोंके बेल-बूटे टँकते थे, इधर नयी कविताके कृपाद भी उभर रहे हैं, सिर्फ मजाकमें नहीं, काफी संजीदगीके साथ।

नये साहित्यके प्रति उनका इस रुझानका ही नतीजा है या किसी औरका कि वे आजकल बहुत-सी बातोंपर निस्संकोच, अपनी राय व्यक्त कर देते हैं। मुझे यह परिवर्तन कुछ इतना आतिशय लगा कि मैं उनसे साहित्यके कुछ अहम मसलोंपर ये सवाल कर बैठा। भूमिकाके रूपमें प्रार्थना की कि यदि जवाब बिना लाग-लपेटके दे सकें तो ही पूछूँ। वे एक क्षण चुप रहे मूँछोंमें उँगली डाले। (मैंने भी मान लिया कि इण्टरव्यू देना स्वीकार है) फिर मुझे अनुमति दे गये—"अच्छा पूछो।

• इधर आपने इतिहास-लेखनके सिलसिलेमें आधुनिक साहित्यको खूब विस्तारसे पढा है। नवलेखनके बारेमें आपकी क्या धारणाएँ बनी?

हाँ, इधर बहुत-कुछ पढ़ा है, पर अभी भी खूब अच्छी तरह पढनेका अवसर नहीं मिला। कविता कहानीकी बहुत-सी चीजें देखी हैं। कुछ काफी अच्छी लगी। महत्त्वपूर्ण। बहुत-सी फैशनकी उपज हैं। अनुकरणात्मक। उनमें मुझे अनुभूत सच्चाईका अभाव लगा। मदानजी कहा करते हैं कि आजकल कविता तो है कवि नहीं है। इसका मतलब है कि कुछ अच्छी कविताएँ तो मिल जाती हैं पर कवियोंका कोई विशिष्ट व्यक्तित्व नहीं बन पा रहा है। कविताके संकलनोंका देखते जाओ, लगेगा कि बहुत-सी कविताएँ एक-जैसी हैं। इन्हें देखकर मुझे लगा कि आजका कवि अपने अनुभवोंके आधारपर कुछ विशिष्ट कुछ अलग नहीं दे पा रहा है।

• तो क्या आप मानते हैं कि आजका साहित्य धुरीहीन और विकेन्द्रित है।

मैं इन शब्दोंका प्रयोग तो नहीं करूँगा, पर बहुत बिखराव है यह सही है। मेरा कहना यह नहीं है कि बिखराव न हो। वह तो होगा। जीवनमें ही बिखराव आ गया है, तो साहित्यमें क्या न होगा। पर अन्ततोगत्वा यदि सब-कुछ पकड़से छूट ही जाये तो फिर साहित्यका प्रयोजन ही क्या रहेगा। मुझे लगता है कि आजका साहित्यकार किसी भी जीवन-व्यापी महत् मूल्यसे सम्बद्ध नहीं रह गया है। जीवनकी विसंगति, विघटन और बिखरावके बीच वह खुद दिग्भ्रमित हो गया है और किसी नतीजेपर नहीं पहुँच पा रहा है।

• तो आप क्या साहित्यमें सोद्देश्यता आवश्यक मानते हैं?

सोद्देश्यता पिछले लेवके साहित्यकारोंके लिए एक अनिवार्य वस्तु थी, वह एक निश्चित उद्देश्य लेकर साहित्य लिखता था। जैसे प्रेमचन्द यशपाल या जैनेन्द्रको ही लें। ये कहानी लिखनेके पहले एक उद्देश्य तय कर लेते थे। उन्हें निश्चित बात कहनी थी। वैसे तो कहानीमें इन्होंने यथार्थका परिवेश स्वीकार किया, किन्तु यथार्थगामी यह प्रयत्न भी आइडियलिस्टिक (आदर्शवादी) था। यानी एक 'आइडिया' तय करके उसके अनुसार जीवनको उपस्थित करना। आजका लेखक इस तरहका कोई 'आइडिया' लेकर नहीं चलता। यह ठीक है। क्योंकि आइडिया या उद्देश्य ऊपरसे आरोपित नहीं होना चाहिए, जीवनके भीतरसे फूटना चाहिए। मगर लाख कोशिश करनेपर भी उसकी रचनाओंसे यह फूट नहीं रहा है।

• इस बातको थोडा और स्पष्ट कीजिए।

यो समझो। भारतकी प्राचीन चित्रकलाको लो। उसमें रेखाएँ पहले बना ली जाती थीं यानी खाका तयार करके उसमें रंग भरनेका प्रयत्न किया जाता था। भारत ही क्यों, सारे एशियाकी यह प्रणाली थी कि रेखाएँ तय करके उसमें भरावट की जाती थी। रेखा यानी सीधी बाहररेखा। चित्रकार इसी मूल रेखाके आधारपर निश्चित भावके चित्र निर्मित करता था। इसे किधर कितना झुकायें, कितना बल दें, कि वह शृंगार, रौद्र, या फिर हास्य या किसी और रस भावकी सृष्टि कर सके यह उसका प्रयत्न होता था। रेखाओंका सारी भंगी मूलरेखाको दृष्टिमें रखकर व्यवस्थित की जाती थी। पश्चिमकी प्रणाली भिन्न है। वे लाइट और शेड (प्रकाश-छाया) के संयोजनके द्वारा रेखाओंका बोध जगानेका प्रयत्न करते हैं। उनकी आधुनिक चित्रकलामें यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। उनका प्रयत्न होता है कि पहले लाइन तय न हो, प्रकाश और छायाकी ऐसी व्यवस्था की जाये कि लाइन स्वयं आ जाय। हमारा आधुनिक साहित्यकार इस पद्धतिको अपना रहा है पर अभाग्यवश उसके सारे प्रयत्नोंके बावजूद कोई ठीक सीमा बन नहीं पाती, या उल्टी-सीधी ऐसी बन जाती है कि पाठक विरक्ति अनुभव करने लगता है।

• आपका मतलब यह है कि लेखक कोई निश्चित 'लाइन' उभार नहीं पा रहे हैं।

मैं आजकी कहानियाँ और कविताएँ पढ़ता हूँ तो लगता है कि कुछ बात बनी नहीं। बहुत कहा, पर उसमें कुछ स्पष्ट होकर उभरा नहीं। महाकाव्योंकी एक पंक्ति है मैं अपने बेसुरपनमें कहती कुछ, कुछ कह जाती। आजका एक सामान्य प्रवृत्ति है शब्दोंका कमसे कम अपव्यय। यह एक अच्छी बात है। नयी कवितामें यह प्रवृत्ति खूब है। कमसे कम शब्दोंका खर्च, तथा सन्दर्भको अधिकसे अधिक अनुमानके लिए छोड़ देना। मगर ऐसा अस्पष्टीकरण किस कामका कि वह निरर्थक हो जाये। कहानियाँ पढ़ता जाता हूँ तो लगता है कि अनावश्यक बातें कही जा रही हैं जिनका कहीं कोई तारतम्य नहीं।

• यही तो अकविता, अकहानीका लक्षण है।

होगा। पर यह गाँठ बाँध लो कि जो इन पूर्व विरासतका सम्मानसे लाभ ले जिनके पास समझनेकी क्षमता है वस्तुतः वे ही उच्चकोटिका सृजन कर सकते

ह, जा अचेन है उनकी पकडम यह निखरार कभी बँध नही पाता। छूट जाता ह।

• आप नयी कविनामे क्या कुछ ऐसे कवियाका नाम लगे, जो आपकी इस सक्षमतावाली तुलापर सटीक उतरते हो।

क्या नही, गिरिजाकुमार मायुर, भवानीप्रसाद मिश्र (वैसे वे कई बातामें कुछ पुराने लगते ह) सर्वेश्वर, कुँवर नारायण, भारतीम यह क्षमता दिखाई पडती ह।

• अज्ञेयके बारेमे आपका क्या खयाल है।

अज्ञेयम दोनो ही प्रवृत्तियाँ दिखाई पडती हैं।

• और मुक्तिबोध?

मुक्तिबोधका सकलन 'चादका मुँह टेढा ह मने पढा ह। दो तीन कविताएँ निस्सदेह बहुत उच्चकोटिकी हैं, जस 'अँधेरमें'। लेकिन शेष कविताओंको देख कर लगता हैं कि इनके जगलमें कवि खो गया ह।

• भारतीके बारेमे कुछ कहिएगा?

भारतीने बहुत अच्छा लिखा है, काफी महत्त्वपूर्ण। इधर 'ठण्डा लाहा' भी पढा। कइ कविताएँ बहुत अच्छी ह। और फिर 'कनुप्रिया'। उच्चकोटिकी कृति हैं। कहीं-कहीं भावुकताका रग जरूर गाढा हा गया ह, पर भारती समथ कवि हैं, इसमें सन्देह नही।

असलम पुरानी परम्पराकी समृद्धि और नवीनकी बौद्धिकताका समन्वय बहुत जरूरी ह। पुरानी परम्परा भाव तक सीमित ह। बौद्धिकताका रूप वहाँ दशनका विषय हो जाता था। आजका कवि बौद्धिकताका पक्ष लेकर अनासक्त सक्तिकी बात तो करता ह पर हा नही पाता। परिणामत साहित्यमें न तो भाव-जगत ठीकस प्रतिष्ठित हो पा रहा ह न बौद्धिक विवेक। आधुनिक मनुष्य निरपेक्षिकता बुद्धिकी आर अग्रसर हाना चाहता ह पर साहित्यम उसकी प्रक्रिया क्या हो इसपर कोई सही ढगसे विचार नही कर पा रहा ह।

• आप बौद्धिक दृष्टिसे साहित्यकी सामथ्यका विश्लेषण करके किस नतीजेपर पहुँचना चाहते ह?

इसीलिए मैं कविताको 'प्रिमिटिव कला' मानता हूँ। संगीत इसका एक छोर है। मात्र शब्द। कवितामें शब्द और अर्थका योग है। यहाँ शब्द और अर्थमें कौन प्रधान है, कहना कठिन है, दोनोंका तुल्यतर योग होता है। कवितामें एक शब्द हटाकर उसका पर्याय नहीं रखा जा सकता। कहानीमें रखा जा सकता है, क्योंकि कहानी अर्थप्रधान चीज है। वह प्रिमिटिव नहीं है, सिविलिजेशनसे (सभ्यता) जुड़ी हुई चीज है। इसी कारण आधुनिक जीवनके बिखराव और उलझनोंको व्यक्त करनेकी क्षमता भी इसमें कविताकी अपेक्षा अधिक है। कविता संश्लेषण प्रधान होती है वह साधारणीकरण चाहती है कहानी विश्लेषण प्रधान है। वह विशेषीकरणकी प्रक्रिया है। आधुनिक कवि जब कहानी लिखता है, तब वह कवि धर्मसे च्युत होता है। छन्दके बिना कविता नहीं हो सकती। मैं यह मानकर चलता हूँ कि छन्दका अर्थ लोग मात्र डगण पिंगल नहीं मान लेंगे। कहानीकी सबसे बड़ी शक्ति उसकी नमनीयता है, 'रिद्म' जिसमें जितना अधिक कब लेनेकी सामर्थ्य है वह उतनी ही उत्कृष्टकोटिकी कलाका सृजन कर सकता है। तानपूरेमें स्वरोंके 'कर्व'-की जो शक्ति है वह हारमोनियममें नहीं है। अर्थकी प्रधानता तो इतिहासमें भी है कहानीमें भी। पर कहानी इतिहास नहीं है क्योंकि उसमें कर्वेचरके कारण एक विलक्षण शक्ति और सामर्थ्य आ जाती है जो इतिहासमें नहीं होती। आजके कहानीकारोंसे मेरी शिकायत यह है कि वे समस्याओंसे टकराकर खुद बिखर जाते हैं उन्हें सँभाल नहीं पाते, उनमें 'कर्वेचर' का अभाव है।

• आपने अभी कुछ कवियोंका नाम लिया था, क्या कुछ कहानीकारोंका भी नाम लेंगे, जिनमें आपको यह 'कर्वेचर' दिखाई पड़ता है।

क्यों नहीं। तुम्हारी कहानियोंमें यह 'कर्वेचर' है। मन्नू भण्डारी, उषा प्रियंवदा, कमलेश्वर, निर्मल वर्मा और शिवानीमें मुझे यह क्षमता दिखाई पड़ती है।

• नये साहित्यकारोंसे क्या आपकी कोई शिकायत है?

मेरी शिकायत यह है कि हिन्दीका सांस्कृतिक 'बैकग्राउण्ड' (पृष्ठभूमि) काफी कमजोर होता जा रहा है। नये लोगोंका पठन-पाठन बहुत कम है। अपना जो कुछ पुराना साहित्य या वाङ्मय है उसके प्रति अरुचि होती जा रही है। परम्परा-ज्ञान शून्यप्राय है। दूसरी भाषाओंके बारेमें भी, चाहे प्राचीन हो या नवीन, उदासीनता बढ़ रही है। इतिहासमें बड़े-से-बड़ा वाद भी कभी समृद्ध नहीं हो सकता। ऐसे लोगोंमें तो 'जो न पढ़ें' या 'सीमन का फ़ैशन चल गया है।

मेरे एक शिष्य हैं, पी-एच० डी०। उनका मैंने अभी एक निबन्ध पढ़ा। लिखा है कि मैं पी-एच० डी० होना नहीं चाहता था, पर हो गया। यह तो मैं ही जानता हूँ कि बिचारे उस पी-एच० डी०के लिए कितने व्यग्र थे। निबन्ध पढ़कर मुझे बड़ा दुःख हुआ कि बिचारेको नाहक पी-एच० डी० दे दी, क्योंकि इससे उसे अपने अनपढ़ होनेका रोब लेनेमें बाधा पड़ रही है। यह हालत है आज हिन्दी साहित्यकारोंकी। अध्यवसाय और परिश्रम जहाँ उपहासकी चीज़ हो जाये, वहाँ सांस्कृतिक स्तरकी क्या आशा की जा सकती है?

• इस सांस्कृतिक दारिद्र्यका कारण क्या है?

दरिद्रताका कारण दरिद्रता है, और क्या?

• मेरा मतलब यह है कि क्या हिन्दीभाषी पहलेसे भी सांस्कृतिक दृष्टिसे ऐसा ही दरिद्र था कि अब हो गया है?

पहले ऐसा दरिद्र नहीं था। अब हुआ है। कारण यह है कि हम अपनी विरासतके प्रति अचेत हैं। यानी कपूत। यह कितने दुःखकी बात है कि बाप-दादाके इतने बड़े उत्तराधिकारसे हम कट गये हैं और अपने खोखलेपनको विज्ञापनकी चीज़ मानते हैं।

• क्या आधुनिक स्थितियोंमें आप यह मानते हैं कि कोई भारतीय संस्कृति नामक चीज़ हो सकती है?

क्यों नहीं हो सकती? सर्वोत्तमको रूप देनेका प्रयास ही संस्कृति है। क्या आज भारतके पास कुछ भी ऐसा नहीं, जिसको रूप दिया जाये? माना पहलेसे बहुत भिन्नता आ गयी है पर जो है वह सर्वथा तिरस्करणीय नहीं है। जिसके पास अपनी कोई जीवन-दृष्टि नहीं है, कोई दर्शन नहीं है, स्वकीय पद्धति नहीं है, वह कभी कोई बड़ी चीज़ दे सकता है, इसमें मुझे सन्देह है। जो अपनी इस संस्कृतिको नहीं समझ रहे हैं वे ऐसे ही भटकते रहेंगे, इसमें कोई शक नहीं। माना कि आज बहुत परेशानी है, भुखमरी है, बेरोज़गारी है—पर "लोग मर रहे हैं" ऐसा चिल्लानेसे क्या लाभ होनेका है। यह सब हम सबमें हैं। आखिर इसके लिए भी कुछ करो, कुछ बताओ, चिल्लाना भर तो साहित्यकारका दायित्व नहीं है।

• प्रायः कहा जाता है कि सन् साठके बाद नवलेखनमें एक परिवर्तन आया है। रचनाओंमें बिखराव, कुण्ठा, सन्त्रास, विसंगतिके स्वर ज़्यादा मुखर हुए हैं। इसका कारण लोग चीनी आक्रमण और केरलमें साम्यवादी

सरकारकी बर्खास्तगी-जैसी घटनाओंमें खोजते हैं। क्या आप इससे सहमत हैं ?

बिलकुल नहीं। ये दोनों कारण फालतू हैं, यदि ये प्रवृत्तियाँ साहित्यमें या जीवनमें बढ़ी हैं तो इसलिए कि सम्पन्न चित्तको लग रहा है कि इस देशमें चीजें जैसी चलनी चाहिए नहीं चल रही हैं। यह अपने प्रति अपना ही क्षोभ है। मैं इसमें उपर्युक्त घटनाओंका कोई प्रभाव नहीं देखता।

● किन्तु जैसी स्थिति चल रही है, यानी घोर निराशाजनक, उसमें क्या आपको नहीं लगता कि साहित्य सिर्फ 'अँधेरेमें चीख' बनकर रह जायेगा ?

कैसी वाहियात बात है। मैं तो भाई घोर आशावादी हूँ। इसलिए मैं खूब अच्छी तरह जानता हूँ कि यह सब निराधार और बकवासमात्र है। तुम क्या समझते हो ये सब जो लोग लिख रहे हैं, वे लेखक हैं ? इनमें-से बहुत-से नये लेखक जीनेवाले नहीं हैं। बल्कि इनमें बहुत-से सरकारी नौकरियोंमें चले जायेंगे। बहुत-से बड़ा पहुँचेंगे, जहाँ वे अनुशासन-हीन भीड़पर लाठी-चार्ज करायेंगे। बहुत-से काम धन्धा ठीक होते ही लिखना-पढ़ना छोड़ देंगे। सारी निराशा हवा हो जायेगी। साहित्य 'अँधेरेकी चीख' कभी नहीं बना है, कभी नहीं बनेगा। अच्छे-अच्छे लोग आते रहते हैं और आयेंगे, जिनमें जीवनके दृढ़ बद्ध मूल्योंके प्रति आस्था होगी। और वे साहित्यको सही दिशाकी ओर ले जायेंगे।

■ क्या आधुनिक भारतीय साहित्यकारको राजनीतिसे कोई खतरा है ?

मुझे तो नहीं लगता। अभीतक तो यहाँ साहित्यकार ही राजनीतिज्ञोंकी निन्दा करता रहा है। किसी राजनीतिज्ञने साहित्यकारोंके खिलाफ शायद कुछ नहीं कहा। बात यह है कि राजनीति और साहित्यकारको एक-दूसरेका विरोधी समझनेकी धारणा पुरानी है। आजकी सही राजनीति साहित्यको अलग करके नहीं चलती। जनतन्त्रकी यही विशेषता है। एक ही मूलभूत विचारधारा साहित्य और राजनीति दोनोंमें अपने-अपने ढंगसे काम करती है। हाँ, जहाँ तानाशाही है वहाँ साहित्यकारोंको जरूर खतरा है। जैसे आजकल चीनमें साहित्यकारोंपर दबाव डाला जा रहा है और यूनिवर्सिटियोंपर कब्जा किया जा रहा है। भारतमें ऐसी स्थिति बिल्कुल नहीं है।

● गुटबन्दी करके गलत या सही तरीकेसे अपना विज्ञापन या पुरस्कार तथा सम्मानादि पानेके प्रयत्नोंके बारेमें आपकी क्या राय है ?

मैं यह मानता हूँ कि ग्रुपिज्म (गुटबन्दी) मध्ययुगीन मनोवृत्ति है। बिल-

कुल आधुनिक विरोधी। स्वतंत्र विचारका आधुनिक साहित्यकार गुट क्या बनायेगा भला! गुटसे शक्ति पानेका प्रयत्न बिलकुल असाहित्यिक है। यह कमे आश्चयकी बात है कि जो साहित्य रचनामें कोई पूर्वनिश्चित 'लाइन'को मानकर नही चलना चाहते, वे 'लाइन' बनाकर चलना चाहते हैं।

● किन्तु ऐसा प्रयत्न सिर्फ नये लोग ही तो नही करते?

जो भी करता हो, वह मध्ययुगीन है।

● पुरानी पीढी और नयी पीढीके बीचके तनावके बारेमे आपकी क्या राय है?

पुरानी परिपाटीवाले निरद्देश्य साहित्यिक प्रयत्नोको दाद नही देते, नयोको लगता है पुराने रास्ता रोककर खडे है। हिन्दीमे पुरानी पीढीवाले प्राय सहते ही है। मुझे नही याद आता कि कभी पुरानोने नयोके खिलाफ कोई 'पम्फलेट' निकलवाया, या मैनिफेस्टो' छापा।

● कल बातचीतके सिलसिलेमें आपने कहा था कि साहित्यकाराको पुरस्कार-सम्मान आदि नही मिलना चाहिए, ऐसा क्यो?

मैं अपने निजी अनुभवो द्वारा इस निष्कर्षपर पहुँचा हूँ कि ये पुरस्कार वगैरह बन्द कर दिये जाने चाहिए। पुरस्काराको देनेमें जो तटस्थता बरती जानी चाहिए, वह नही बरती जा रही है। इसमे हानि ही हो रही है। साहित्यकार अपनेको निर्मोही और तटस्थ तो कहते बहुत है, पर उनके मोह और आसक्तिकी कोई सीमा नही रहती। हर हिन्दी साहित्यकार अपने अलावा किसी औरको कुछ नही समझता। उसके घनिष्ठतम साथियोमें से भी किसी एकको पुरस्कृत कर दो, तो शेष बुरा मानकर पीछे पड जाते है। दल बाधकर, 'वोट' बटोरकर पाये जानेवाले पुरस्कारासे साहित्यका कोई हित नहीं होगा।

● इधर नवलेखनवाले प्राध्यापकोंके खिलाफ और कुछ कूट प्राध्यापक नवलेखकोंके खिलाफ हाथ धोकर पडे हैं, ऐसा क्यो?

यह हिन्दीका दुर्भाग्य ही है और क्या कहूँ। प्राध्यापकोंके प्रति विद्रोह असलमें पढने लिखनेके प्रति विद्रोहका ही रूप है। अध्यापककी कमजोरी यह है कि वह अध्यापनको पेशा बनाकर उसीमें कूपमण्डूकवत जी रहा है। साहित्य उनके लिए वृत्ति है, जीविका। वे परिश्रमसे बचनेके लिए नयी वस्तुको ग्रहण करना नहीं चाहते। असलमे साहित्यका अध्यापन और साहित्य रचना दोनो

एक-दूसरेके पूरक हैं। प्राध्यापकको साहित्यको 'प्रॉपर पर्सपेक्टिव'में देखनेका प्रयत्न करना चाहिए। अनुसन्धान और ऐतिहासिक व्याख्याका अपना एक महत्त्व होता है। इतिहास एक अनन्त प्रक्रिया है। कोई भी अनुसन्धायक 'इदमित्थ' नहीं कह सकता। अपने विचारोंमें मोहग्रस्त होकर नये विचारको स्वीकार न करना भी मध्ययुगीन मनोवृत्तिका परिचायक है। प्राध्यापकका कार्य है कि वह अनासक्त भावसे नये साहित्यको ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्यमें रखकर देखे। जो लोग नये साहित्यको देखनेका अवसर नहीं निकाल पाते और अपने ऐतिहासिक अनुसन्धानोंमें लगे रहनेके कारण नयोंको दाद नहीं दे पाते, वे नयों द्वारा निन्दित हों, यह भी स्वस्थ प्रवृत्ति नहीं है।



> बिन्दुसे लेकर व्योमतक एक ही व्याकुल वेदना समुद्रकी लहरोंकी तरह पछाड़ खा-खाकर लौट रही है। एक तारको छुओ और सहस्रों तार झन झना उठते हैं। सब तार मिलकर पूर्ण संगीतके निर्माणका कार्य करते हैं। मर्त्यलोकसे लेकर किन्नरलोक तक एक ही व्याकुल अभिलाष उन्मथित हो रहा है। मिलन स्थितिबिन्दु है विरह गति-वेग है। दोनोंके परस्पर आकर्षणसे रूपकी प्रतीति होती रहती है विचार मूर्त आकार ग्रहण करते हैं भावना सौन्दर्य बनती है। विरहमें सौभाग्य पनपता है रूप निखरता है मन निर्मल होता है बुद्धि एकताका सन्धान करती है।
>
> —कालिदासकी लालित्य योजना

पता एक   पत्र अनेक

• •

१, एल्गिन रोड, इलाहाबाद

भाई हजारीप्रसादजी

शुभाशीष।

बहुत दिनोंसे आपका कोई समाचार नहीं मिला, मैं भी अपनी चिन्तनीय अस्वस्थताके कारण कुछ न लिख सकी। इधर दो माससे इंजेक्शन ले रही हूँ। अभीतक स्वयं लिखने पढ़नेमें असमर्थ हूँ। किन्तु आशा ही नहीं विश्वास है कि सूरकी परम्परा बनाये रखनेका श्रेय मुझे न मिलेगा।

एक साहित्यिक योजनाके सम्बन्धमें मुझे आपके सहयोगकी आवश्यकता है। स्वयं भुक्तभोगी होनेके कारण हिन्दी साहित्यकारोंकी दयनीय स्थितिसे आप विशेष परिचित हैं। हमारी साहित्यिक संस्थाएँ इस विषयमें उदासीन हैं। साहित्यकारोंका भी ऐसा कोई संगठन नहीं जो हमें एक-दूसरेके सुख दुःखोंसे परिचित करा सके, तथा पारस्परिक सहयोग और सहायताके अवसर दे सके। पन्तजीकी लम्बी बीमारी और अनेन्द्र, निराला-जैसे साहित्यिकोंके आर्थिक संकटने इस अभावकी अनुभूतिको इतना तीव्र बना दिया है कि एक साहित्यकार संसदकी आयोजना अनिवार्य हो उठी। साहित्यिक बन्धुओंको सहयोग तथा सहायता देनेके अतिरिक्त संसद उनकी पुस्तकोंका प्रकाशन भी करेगी, तथा लेखकको पर्याप्त पुरस्कार देनेके उपरान्त बची हुई आय साहित्यिक सहायक निधिके रूपमें संचित रहेगी, जिससे आवश्यकतानुसार साहित्यिक बन्धुओंको सहायता दी जा सकेगी। इस संसद्की सदस्यता स्वीकार करनेमें आपको आपत्ति न होगी, ऐसा विश्वास है। आपका उत्तर आनेपर इस सम्बन्धमें विस्तारसे लिखूँगी।

आशा है, आप सपरिवार प्रसन्न होंगे।

शुभेच्छुका,
महादेवी

*

चिरगाँव
वसन्तपंचमी '९८

श्रद्धेय भैया,

प्रणाम। कल सन्ध्या समय आपकी वाणी सुननेको मिली। बहुत आनन्द मिला। आपने तो जैसे मुझे और अन्य श्रोताओंको भी शान्तिनिकेतनकी यात्रा ही करा दी।

और मुझे कौतुक हो रहा था, मेरी ही भाँति आप भी कहीं अपनी वाणी सुनकर रीझ रहे हैं।

रेडियोवालोंको कौन समझाये कि सुनाने योग्य ऐसी ही वस्तु है। कुछ हो, उन्होंने यह सौभाग्य दिया, इसके लिए मैं उनका अनुगृहीत हूँ।

रेडियोके निवेदनकर्ताने आपके नामके साथ 'डाक्टर' पद जोड़ा था। आपसे इस पदका ही गौरव बढ़ा। पर जिन्होंने यह गुणग्राहकता दिखायी है, उन्हें मैं बधाई देना चाहता हूँ।

आशा है आप सानन्द हैं। इधर मैं श्वास रोगका बहुत कष्ट उठा रहा हूँ। इसीसे आपके त्रैमासिकके लिए लिखनेका प्रयत्न करनेपर भी लिख नहीं सका। आपकी उदारताने मेरी विवशता समझकर मुझे क्षमा किया होगा।

नया काशी गये हैं। और सब कुशल है।

स्नेहाश्रित,
सियारामशरण

*

बिन्की, उ० प्र०
३-२-४२

भाई शम्भु,

अब तो आपको पत्र लिखनेमें भी डर लगता है। जान पड़ता है तुम बहुत बड़े हो गये हो। और सचमुच इसमें सन्देह भी नहीं। तथापि मेरे निकट तो तुम सदा ही और उसी रूपमें रहोगे। मेरे निकट उसीका मूल्य अधिक है।

विश्वभारती पत्रिका आपकी प्रकाशित हो गयी, यह जानकर प्रसन्नता हुई। क्या लिखूँ कि वह देखनेको मिलती तो अच्छा होता। कहीं मिलगा तो देख लूँगा। भजनेको मैं नहीं लिख रहा।

यह भी न समझिएगा कि 'भैरवी पर कुछ लिखनेके लिए तगाज़ा करने आया हूँ। वह यथासमय अपने आप हो जायेगा। हा इतना ही कहने आया हूँ कि जहाँ आपकी दृष्टि हिन्दीके अन्य सेवकोंपर इतनी स्निग्ध एवं स्नेहार्द्र बनी रहती है, वहाँ मुझे भी एक कोना मिले।

मेरी दृष्टिमें आपकी आलोचनाओंका मूल्य सर्वाधिक है। न जाने मेरा मन क्या कहता है कि तुम्हारी ही आलोचनाएँ सर्वाधिक उत्कृष्ट होती हैं। convincing होती है, उत्कृष्ट भले चाहे न हो। मेरा मन तुम्हारी हर बातमें 'हाँ' करनेको कहता है। इसीलिए, यदि अपने सम्बन्धमें तुमसे कुछ सुननेको उत्सुक होऊँ तो अनुचित तो नहीं है। तुम सा पथप्रदर्शक मुझे मिल जाता, तो जो समय इधर उधर लिखकर मैं नष्ट करता हूँ, सार्थक हो जाता। क्योंकि जिस श्रमकी सराहना विद्वान् नहीं करते, वह व्यर्थ ही होता है।

आप अब सुचित्त होंगे। कभी-कभी पत्र पानेका अधिकारी अपनेको मानूँ क्या? इतना हक तो मुझे मिलना चाहिए, पुराने परिचयके नाते ही सही।

भाई—
सोहनलाल द्विवेदी

*

लखनऊ
कार्तिक शुक्ल ७, सं० २००० वि०

प्रिय श्री द्विवेदीजी,

आपका कृपापत्र पाकर धन्य हुआ। आपने जिस तत्पर सहयोगकी आशा थी उसे कितनी सहृदयतासे आपने प्रदान किया है, यह आप जैसे विद्वान्‌के अनुरूप ही है। आप इस विषयके मार्मिक पण्डित हैं, आपका प्रतिपादन हम सबके लिए ज्ञानवर्द्धक होगा, ऐसी आशा है।

मुझे तो श्री नाथूरामजीसे ज्ञात हुआ कि आप ज्योतिषके भी धुरंधर और पूर्ण सुधी हैं। भारतीय ज्योतिषशास्त्रकी दृष्टिसे विक्रम संवत्‌पर ५-१० पृष्ठ यदि आप उपोद्घातरूपमें कुछ लिखनेका कष्ट करें तो बड़ा अनुग्रह हो। इस विषयपर एक विवादास्पद लेख मेरे पास मन्त्रीजीकी ओरसे भेजा गया है उसे अवलोकनार्थ भेजता हूँ। आशा है आप शास्त्रीय दृष्टिसे इसपर प्रकाश डालनेकी कृपा करेंगे।

हिंदी विश्वभारतीके लिए मैं कुछ भेजूँगा। इस समय यद्यपि चारों ओरसे कार्यसे घिरा हूँ फिर भी आपका अनुरोध माननीय है। हिमालय सम्बन्धी एक छोटा लेख आपके देखनेके लिए भेज रहा हूँ।

भवदीय,
वासुदेव शरण

*

आरा (बिहार)
४ अक्तूबर १९४३

प्रिय द्विवेदीजी,

आज, अभी आपका सन्देश लेकर माधवजी आये थे। और वे कुछ ही देर रुककर चले गये। उनका जाना बहुत खला, जीवनमें ऐसे कम अवसर आये हैं।

आपका वियोग तो इतना नहीं महसूस हुआ था, शायद इसलिए कि उसके लिए हृदय तैयार था, अथवा इसलिए कि आपसे परिचय 'प्रगाढ़' नहीं हुआ था या इसलिए कि आपका व्यक्तित्व उतना कोमल नहीं लगा था, नहीं है—उसपर बौद्धिकताका कठोर कवच चढ़ा है। फिर भी उस परिचयको इतना माना जा सकता था कि उसकी व्यंजना दो वाक्यों द्वारा करनेकी चेष्टा अपर्याप्त समझी जाती।

पर यह दो वाक्य छोटे-से पत्रमें दो स्थानोंपर थे इसलिए यह पत्र लिखनेकी प्रेरणा हुई।

आपके व्यक्तित्वका सौन्दर्य (गरिमा नहीं) उसको सक्रिय करने, बातचीत करते रहनेमें है इसे, जहाँ आप अपनेको सुन्दर दर्शित करना चाहें, न भूलें। आपका नाम और Personality 'दोनों ही धोखा देनेवाले हैं। आप ऊपरसे विनोदी और सीधे-सादे हैं, पर भीतरसे नितान्त गम्भीर और जटिल। मेरे घर जब आप चुपचाप बैठे थे तो मुझे तो एक बार यह आशंका हुई कि 'मैं देखा जा रहा हूँ।' मैं आपसे सच कहूँ कि मैंने हिन्दी भाषामें इतने विशिष्ट-सरल व्याख्यान शायद कभी नहीं सुने हैं। 'कार्य-कारणकी नीरन्ध्र परम्परा'—भाषा जैसे कहीं अटकना जानती ही नहीं, उसके लिए कुछ भी 'दुर्वच' नहीं है—अपि वागधिपस्य दुर्वचं वचनं तद् विदधीत विस्मयम्। और काव्यके रसग्रहणकी, तथा उसकी व्याख्याकी, यह सुन्दर क्षमता कितने कम आलोचकोंको प्राप्त होती है।

आपने जब पूछा कि क्या मैंने 'हिन्दी साहित्यकी भूमिका' पढ़ी है, तो मैं बड़े संकोचमें पड़ गया, क्योंकि उसे मैं आद्योपान्त नहीं पढ़ सका था। बात यह है कि मैंने हिन्दी साहित्य 'बाकायदा' नहीं पढ़ा, इसलिए मेरा तत्सम्बन्धी ज्ञान नितान्त अपूर्ण है। इसीलिए उसके विभिन्न युगोंके सम्बन्धमें जिज्ञासा भी कम है। फिर भी जिस लेखकको हम अच्छा समझते हैं उसकी कृतियाँ यथाशक्ति पढ़ना कर्त्तव्य हो जाता है।

आपने कवि रवीन्द्रके संसर्गसे बहुत कुछ पाया है—आग्रहहीन सरलता, व्यापक दृष्टिकोण, उदार भारतीयता और सबसे ज्यादा भक्ति-काव्यके हृदयसे परिचय। आपका 'कबीर' पढ़ डाला। प्रारम्भमें आपकी भयंकर रिसर्च पटुतासे भय लगा, धीरे धीरे रस मिलने लगा। पुस्तक सहज ही हिन्दीके अन्यतम आलोचना ग्रन्थोंमें गिनने योग्य है, उसका स्थान शुक्लजीके 'तुलसीदास' के साथ है। एक कमी लगती है—कबीर as a poet पर कुछ अधिक लिखा जा सकता था। जिसे 'कला' (रचना कौशल) कहते हैं वह अनुभूतिको प्रगट करनेकी शैलीका ही दूसरा नाम है, अनुभूति ही उसका स्वरूप निर्धारित करती है। जहाँ अनुभूतिसे भिन्न कारण उसे प्रभावित करते हैं, वहीं वह कृत्रिम हो जाती है। कबीरमें यदि कृत्रिमता नहीं है तो उनकी शैली भावानुगामिनी होगी, और उससे उनके 'साहित्यिक' मूल्यका निर्धारण सम्भव होना चाहिए। हिन्दी साहित्य पर Religion का अधिक प्रभाव रहा है। भक्ति काव्य सुन्दर है, सन्तोंकी वाणी महनीय है, पर साथ ही हमें सम्भवतः Secular साहित्यसे भी प्रेरणा लेना चाहिए। हिन्दीका यह पक्ष—साकेत, पथिक, कामायनी भी—कमजोर ही है। पन्तमें भी स्वस्थ Secular realism का अभाव है।

आज इतना ही।

आपका,
देवराज

*

चौक, गया
२०-१२-४३

श्रीमन्,

प्रतिमा भाभी साहबासे मेरा प्रणाम कहिएगा। वहीं रवीन्द्र भाई साहब और दीक्षा मुझे खूब याद हैं। बच्चे अच्छी हैं।

अमिय चक्रवर्ती अच्छा लिखते हैं। कुछ चीजें पहले देखी, फिसल गयी थीं। इधर फिर देखीं, गनीमत है। प्रभाव पड़ा।

आप प्रसन्न होंगे। महात्माजीके छूट जानेके बाद मैं शान्तिनिकेतन आऊँगा।

आपका

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

पु० मुझे श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी, दारागंज, प्रयागकी मार्फत जवाब दीजिएगा।

निराला

★

हरिजन निवास,
किंग्स वे, दिल्ली

प्रिय भाई हजारीप्रसादजी, १३.१.४४

सप्रेम नमस्कार! 'विश्वभारती'के अंक ४ में आपका आरावाला भाषण देखा। बड़ा ही सुन्दर है। बधाई। केवल एक जगह कुछ संशोधन करनेको जी चाह रहा है। आपने (पृष्ठ ३१८) कहा है—'मैं आशा करता हूँ कि आपका युवक समुदाय साधन मात्र है।" महाराज! इतना यह समझदार हो तो हमारे साहित्यका अहोभाग्य! इससे तो विपरीत ही देखनेमें आता है। यह तो छन्दके लिए ही छन्द लिखता है। प्रगतिशीलताके नामपर आज क्या-क्या हो रहा है इससे आप अपरिचित नहीं होंगे। 'इतना समझदार अवश्य है' के स्थानपर 'इतना समझदार हो' और 'केवल छन्द नहीं लिखता' की जगह 'केवल छन्दके लिए छन्द न लिखे और यह जाने कि इत्यादि' संशोधन करनेको जी चाहता है। आशा है इसे आप मेरा विनोद नहीं समझेंगे।

करीब एक महीना हुआ, मैंने आपको एक पत्र लिखा था। उसका उत्तर नहीं मिला। पत्र शायद पहुँचा ही न हो। 'विश्वभारती' न आनेकी शिकायत थी। अब भी नहीं आ रही है। केवल २ अंक पहले आये थे। पोस्टरजिस्टरपर शायद मेरा नाम चढ़ाना भूल गये।

श्रद्धेय क्षितिबाबू आजकल कहाँ हैं? क्यों न कुछ दिन हमारे हरिजन निवासको कृतार्थ करें। प्रार्थना कीजिएगा। आशा है प्रसन्न होंगे।

आपका सस्नेह,
वियोगीहरि

★

एक इण्टरव्यू : एक पत्र

हिन्दी विभाग
प्रयाग विश्वविद्यालय

प्रिय द्विवेदीजी, ३ १ १ ४४

आपका पत्र मिला। सुख और संतोष मिला। परिवारमें इन शव यात्राओं की विषाद भरी छायामें आपके पत्रकी सान्त्वना भरी किरण बहुत सुखकर ज्ञात हुई। इधर श्री कृष्णकिंकरजीका भी एक पत्र मिला था जिसमें उन्होंने कुछ पुस्तकें चाही थी। मैं अपनी अव्यवस्थामें उन्हें कुछ भी नहीं भेज सका। क्या अब भी वे शान्तिनिकेतनमें हैं या चीनके लिए रवाना हो गये? क्या अभी भी उन्हें पुस्तकें भेजी जा सकती हैं? मान्यवर तान युन शानजीसे मेरा नमस्कार कहिए। विश्वभारती मिली थी। अनेक धन्यवाद। उसमें प्रकाशित आपका विश्वविद्यालयका लेख मैंने अपनी क्लासमें पढ़ाया है और एम० ए० के विद्यार्थियोंको बहुत रुचिकर हुआ है। आजकल आप क्या लिख रहे हैं? मेरे प्रकाशक बहुत ही लापरवाह हैं। मैं उन्हें चारुमित्रा भेजनेके लिए दो बार स्मरण दिला चुका पर अभीतक उन्होंने वह पुस्तक शायद आपके पास नहीं भेजी। तीसरी बार मैं खुद लेकर आपके पास भेजूँगा।

अपने कुशल समाचार लिखें।

आपका
रामकुमार

*

प्रिय द्विवेदीजी, २५ ५ ४४

कबीर तुलसी-नानक दादूका संग्रह मिला, संग्रह अच्छा हुआ है, लेकिन कितना ही छूट गया भी है। संग्रहमें शृंगार, प्रकृति वर्णन, करुणा आदिके नमूनोंका भी काफी देना है, इसलिए उन्हें छोड़ना नहीं चाहिए।

चिट्ठी में अपने सिद्ध युगके संग्रहके कुछ नमूने भेजना चाहता था, मगर नक्ल करनेमें समय लगाना ठीक नहीं, खयाल छोड़ देना पड़ा। चौरासी सिद्धोंमें से योगीन्दु, रामसिंह लक्ष्मीचन्द, अब्दुररहमान (1100 A D) आदिकी कविताओंका संग्रह कर चुका हूँ। IX IX शताब्दी दो सौ पृष्ठोंकी होगी। मैंने उन्यनारायणको अप्राप्य कवियोंके बारेमें लिख दिया है, वह मदद करेंगे, यदि प्रति बनारस, प्रयागमें होगी। आगरा जयपुरमें हो तो भी लिखें। अन्तमें अब्दुररहमानके सन्देशरासकका नमूना—

जइ अवरू उंगि लइ राय पुनि रगियइ।
अह निनेहउ अगु जइ बामगियइ॥
यदि अवर छाडै रग, फिनु रगियई।
जो निस्नेहइ अग हाइ, अम्भगियइ॥
अह हारिज्जइ दविणु, जिणिवि पुणु मिट्टियइ।
पिय विरत्त जइ चित्त, पट्टिय किमि वाट्टियइ॥
जो हारिज्जइ धनहिं जीति पुनि भेंटियइ।
प्रिय विरत्त ह्व चित्त पथिक किमि फेरियइ॥१०१॥
"केनान कर सवरण न घन कुसुमहि रच्चऊँ,
काजल वह कपालहिं, जो नयननि धरऊँ।
जो प्रिय आशा सर्माहं अगे मास घर।
विरह हुताश क्लक्कयो सो दुगुनाउ फर॥१०६॥

आपका
राहुल सांकृत्यायन

★

गुरुवार, २८ जुलाई ४४

प्रिय भाईजी,

पत्रिकाकी दोनों कापियाँ मिलीं। आपको इस शानदार कामयाबीपर कितनी मुबारकबाद दूँ। तार भेजनेको जी चाहता है। हर लिहाजसे आपके और शान्ति-निकेतनके शानकी है। बाकी तारीफ़ आपके मुँहपर करूँगा ताकि आप घबरा जायें। मेरे कथनको अतिशयोक्ति समझें और आपका प्रयास कागजका तगावे बावजूद प्रबल होता जाये। मोहनलाल भाई मुझे अच्छी तरह याद हैं। उनका पत्र मिलते ही मैंने जो कुछ सम्भव था वह किया और उन्हें इत्तिला दी। क्या उन्हें मेरा पत्र नहीं मिला। पुस्तकोंकी बात मैंने काफ़ी स्पष्ट कर दी। आप जान-बूझकर मुझे छेड़ते हैं, आपने मई सन् १९४० में मुझे दो हिन्दी पुस्तकें भेजे थे या भिजवाये थे। उनकी कीमत मुझे अभी अदा करना है। कीमतें किताबोंपर दर्ज नहीं हैं। अगर अब भी आप न समझें तो अपने अन्दाजसे मनीऑर्डर भेज दूँगा। सिर्फ़ शुक्रियाके लिए इस्तेमाल होती तो मैं करता आपका देर रहा, मगर यह भी ठीक नहीं है। कृपया बता दीजिए। मुझे दूसरोंसे पैसे वसूल करके आपको देने हैं। अपना तकाज़ा नहीं। हमारे अब ५ सालका लड़का

है, उसका नाम परीक्षित है। इसके अलावा एक लड़की ८ महीनेकी, उसका नाम शबनम रखा है। पिताजी इस शब्दका अनुवाद कर देना चाहते हैं। काम कैसा जारी है। मैंने अपने पहले खतमें आपसे भी यही सवाल पूछा था। जवाब का इंतजार है। मेरा इरादा सितम्बरमें आपके चरण छूनेका जरूर है लेकिन अभी पक्की तरहसे नहीं कह सकता। आप मुझे अलमस्त कहते हैं। काश आपको बता सकता कि आप कितने बड़े अलमस्त हैं? आपके साथ बिताया एक एक क्षण मेरे लिए अमृत था। आपकी अलमस्तीके पीछे वेदना बहुत ज्यादा है, इसीलिए उच्चतर है। आप ललित साहित्यके मैदानमें नहीं उतरते, यह देशका अभाग्य है।

बलराज

*

स्टेला विला, थियोसॉफिकल कॉलोनी
जुहू, बम्बई।
५ १ ४५

पूज्य भाईजी

सस्नेह नमस्कार।

मल्लिकजी मिले होंगे, मेरे बारेमें बहुत कुछ बताया होगा। और आपने मुझे कुछ-कुछ जरूर याद किया होगा।

यह बताइए कि पुराने जमानेमें रूपकका नाटक-कलामें क्या स्थान था। रूपक क्या होते थे, किस जमानेमें लिखे जाते थे और यह नाटकसे विभिन्न थे या नहीं, इनकी क्या विशेषताएँ थीं। अगर बता सकें कुछ, विस्तारसे, तो कृपा होगी।

यहाँ कुछ ऐसा बँध गया हूँ कि हिल नहीं सकता। लेकिन अजीब बात है कि आपके लिए श्रद्धा और प्रेम जरा भी कम नहीं हुआ। आपको बार बार याद करनेमें जरा भी मेहनत नहीं करनी पड़ती। अपनी क्षुद्रताका अहसास जरूर होता है। लेकिन इसे कम करनेकी कोई तजवीज आप भी नहीं करते। यह भी नहीं कि अगर मैं नहीं आ सका तो आप ही दो चार दिनके लिए यहाँ आ जायें। यह गलत है कि सिर्फ छोटे कदवाले लोग ही गाड़ीमें सफर कर सकते हैं। मैंने आपसे भी ऊँचे कदवालोंको बड़ी सुविधासे रेलमें सफर करते देखा है।

गुल्लू यहाँ अच्छी तरहसे है।

बलराज

*

मान्यवर,

लेख भेजनेके लिए हृदयसे आभारी हूँ। मुझ अकिंचनपर आपकी इतनी कृपा है, यह देखकर श्रद्धासे मन-ही-मन आपको नमस्कार करता हूँ।

'नया साहित्य'में आपका लेख पढ़ा। निश्चय ही ऐसे अनेक लेखोंकी आवश्यकता है जो चिरकालसे सोते हुए हमारे देशको जगा सकें।

'हंस'का जनवरी अंक दस-बारह दिनमें प्रेसको दिया जायेगा। इस अंकसे सन् '४६ का आरम्भ होगा। आपकी किसी रचनाके बिना सूना रहेगा। पुनः लेखकी माँग करते हुए तो आगे हिचक मालूम होती है, इसीलिए आपसे अपनी कोई नवीन कविता भेजनेका अनुरोध करता हूँ। अत्यन्त कृपा होगी।

अपने पिछले पत्रमें आपने यह अभिलाषा प्रकट की थी कि 'हंस'में सम्पादकीय टिप्पणियाँ और जाया करें। इस विषयमें आपका परामर्श चाहता हूँ। मुझे तो इस महान् सम्पादकीय टिप्पणियोंके लिए विषय ही जल्द नहीं मिलते। राजनीतिक विषयोंपर मैं टिप्पणियाँ देना नहीं चाहता क्योंकि इससे 'हंस' परिवारमें अकारण ही वैमनस्य फैलनेकी आशंका है। साहित्यके क्षेत्रमें अगर हम एक हैं तो राजनीतिक क्षेत्रके विरोधोंको बीचमें लाकर आपसकी अपनी एकताको क्षति पहुँचाना मैं गलत समझता हूँ। इसीलिए राजनीतिक टिप्पणियाँ देना बन्द कर दिया है। शायद यही कारण है कि 'हंस'में कम्युनिस्ट भी लिखते हैं और कांग्रेसी भी, क्योंकि सभी स्वाधीनताकामी साहित्यकी रचनाके कार्यमें निश्चिन्त होकर हाथ बँटा सकते हैं। राजनीतिक क्षेत्र छूट जानेपर तुरन्त हमारा ध्यान साहित्यिक क्षेत्रकी सरगर्मियों, गोष्ठियों और साहित्य-सम्मेलनोंकी ओर जाता है। वह भी कुछ अधिक होते नहीं, कभी-कभार हो जाते हैं तो उनपर टिप्पणी भी चली जाती है। अब रही बात साहित्यिक समस्याओंकी। तो पहली बात तो आप मुझे ऐसी साहित्यिक समस्याओंकी तालिका भेजनेकी कृपा करें जिनपर मैं अध्ययन करके कुछ लिख सकूँ। मुझे स्वयं विषय सूझते नहीं। तो इतनी कृपा तो आप मुझपर अवश्य करें। ऐसे विषय जिनपर प्रगतिवादियोंकी स्पष्ट नीतिका उद्घाटन आवश्यक है। इसमें एक कठिनाई यह है कि सभी प्रगतिवादी सभी समस्याओंपर एक-सा विचार नहीं रखते और न यह सम्भव ही है। इसलिए 'हंस'के सम्पादककी प्रगतिवादियोंकी प्रामाणिक स्थिति मानना भी उचित न होगा। ये अधिकतर अधिक मेरे निजी विचार हो सकते हैं। इसलिए कभी-कभी यह विचार भी मनमें आता है कि सम्पादकीय स्तम्भ हटा दिया

जाये और 'हंस'को भिन्न भिन्न विचारधाराओंके संघर्षका क्षेत्र (open forum) बना दिया जाये। लेकिन फिर सम्पादकीयकी आवश्यकता भी सामने आती है। इसलिए आप ऐसे अधिकसे अधिक विषय मुझे भेजें जिनपर चिन्तन अपेक्षित है।

यदि मैं आपको यशपालकी 'दिव्या' और 'निराला जी की 'प्रभावती' भेजूँ तो उनका आलोचनात्मक परिचय (जय यौधेयके समान) लिखनेका अवकाश आपको रहेगा?

उत्तर अवश्य दें और जनवरी अंकके लिए कुछ भेजें भी अवश्य।

सादर,

आपका विनम्र सेवक
अमृतराय

*

एग्जिबीशन रोड, पटना
५.१२.४६

मान्यवर,

आपको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि आजकल मैं पटना कालेजके हिन्दी विभागमें आ गया हूँ। एम० ए० में सन्तमतके special paper को पढ़ा रहा हूँ। इसी सम्बन्धमें कुछ बातें पूछनी थी। आशा है जो कष्ट दे रहा हूँ उसके लिए आप क्षमा करेंगे।

१ आचार्य क्षितिमोहन सेनने चार भागोंमें कबीरकी रचनाओंका संग्रह किया है। यह संग्रह कहाँसे मिल सकता है? क्या यह ग्रन्थ सटिप्पण है?

२ रामकुमार वर्माके संग्रहको छोड़कर ऐसे कौन-से संग्रह हैं जो सटिप्पण हैं? (बेल्वेडियर प्रेसके संग्रहको भी छोड़कर)

३ कबीरकी रचनाओंका अंग्रेजीमें अनुवाद है या नहीं यदि है तो कहाँसे प्राप्य है?

४ 100 poems of Kabir (Trans by Tagore) प्राप्य है या नहीं, यदि है तो कहाँसे?

५ दादूपर आचार्य महाशयका बंगलामें जो ग्रन्थ है वह कहाँसे मिल सकता है? Medieval Mysticism पर उनकी पुस्तक कहाँसे प्राप्य है?

६ दूसरे सन्त कवियोंकी रचनाओंके प्रामाणिक संग्रहोंके नाम (मीराको छोड़ दें, बेल्वेडियर प्रेस और सुन्दर ग्रन्थावलीको भी) अनुवाद प्राप्तिस्थान इत्यादि।

कबीर और सूरदासपर आपकी पुस्तकें सम्प्रति प्राप्य हैं या नहीं—हैं तो कहाँसे ? बम्बईका पूरा पता भेजें। 'कबीर' तो पुस्तकालयमें भी है, (मेरी अपनी प्रति बहुत दिनोंसे गायब है) पर 'सूरदास' नहीं मिल रहा है—मुझे कुछ दिनोंके लिए उसकी प्रति अवश्य चाहिए, यदि out of print हो।

आपसे और बातें भी पूछनी हैं लेकिन एक बारके लिए इतना ही बहुत है। मैं आपसे साग्रह अनुरोध करूँगा कि कबीरकी समस्त प्रामाणिक रचनाओंके संग्रहका सम्पादन आप अपने हाथमें लें। ऐसे संग्रहोंका महत्त्व तभी होगा जब साथमें विशद टीका भी हो। जायसीका अँगरेजी अनुवाद हो चुका है, उसे अभी छोड़ दिया जा सकता है, मीरा और सुन्दरदासके भी सटीक संस्करण सुलभ हैं किन्तु दूसरे सन्तोंकी वाणियोंका एकत्र संग्रह होना चाहिए—लेकिन वह भी सटीक हो। 'सूर सागर' का सम्पादन न होना हिन्दीके लिए लज्जाका विषय है। ना० प्र० स० से जिस प्रस्तावित संस्करणके कुछ भाग निकले हैं उसे तो बन्द ही कर देना चाहिए। भड़कीली छपाईके बदले यदि पदोंका अर्थ दिया जाये तभी उसकी कोई उपयोगिता होगी।

तुलसी-साहित्य इस दृष्टिसे सचमुच ही सौभाग्यशाली है, यह हमारे लिए भी कम सौभाग्यकी बात नहीं। रीतिकालकी भी प्रायः समस्त प्रसिद्ध रचनाएँ टीका टिप्पणीके साथ छप चुकी हैं या छप रही हैं। लेकिन सन्त साहित्यकी बिल्लीके गलेमें भी तो किसीको घण्टी बाँधनी ही चाहिए। यदि आप इसका बीड़ा नहीं उठा लेते तो हम मूषकके मूषक ही ठहरे।

क्या मैं उम्मीद करूँ कि आप शीघ्र ही पत्रोत्तर देकर अनुगृहीत करेंगे ?

विनीत
नलिन

*

श्री राष्ट्रभाषा विद्यालय
गायघाट, काशी
ता० १० १२ ४६

प्रियवर द्विवेदीजी,

इतने दिनों तक चुपचाप बड़े इत्मीनानसे आपने आशा की कि निराला जयन्ती तथा अभिनन्दन ग्रन्थकी योजना खटाईमें पड़ गयी। पर हम लोग कुछ-

न कुछ काम करते रहे हैं और अब वह स्थिति पहुँच गयी है कि आपके समीप कार्यकी एक स्पष्ट-सी रूपरेखा लेकर उपस्थित हो सकें।

आरम्भिक वक्तव्य तथा निराला अभिनन्दन ग्रन्थके सम्पादक मण्डलमें आपका शुभ नाम दिया गया है। ग्रन्थके लिए आपका एक लेख 'निरालाजीके निबन्ध और समीक्षा' पर तो होगा ही, दो-तीन विषय ऐसे हैं जिनपर शान्तिनिकेतनसे ही सामग्री मिल सकती है। आधुनिक चीनी और आधुनिक एशियाई अथवा जापानी साहित्यपर दो तीन लेखोंकी व्यवस्था आप ही करेंगे तो होगी। रूसी, योरपीय तथा अँगरेजी साहित्यके लिए हम राहुलजीको लिख रहे हैं। अमरिका के नवीन साहित्यपर हमारे यहाँ (काशी विश्वविद्यालय) के एक अमेरिका प्रवासी अध्यापक सग्रह कार्य करेंगे।

आप यह भी सुझानेकी कृपा करें कि लेख और लेखक-सूचीमें क्या कमी बेशी है। उसमें परिवर्द्धन या परिष्कार किस रूपमें किया जाय।

अभिनन्दन ग्रन्थके लिए नवीन कलाके द्योतक कतिपय चित्र भी सम्भवतः शान्तिनिकेतन-केन्द्रसे मिल सकेंगे। इनके लिए हम (यदि आवश्यक हो तो) आवश्यक मूल्य भी चुकानेकी चेष्टा करेंगे।

अब सग्रहके लिए एक प्रतिनिधि मण्डल बड़े दिनोंके अवसरपर कलकत्ता जायेगा। उसको भी आपका सहयोग वाछित होगा। दो-तीन दिनके लिए आप कलकत्ता जायेंगे तभी काम बनेगा। प्रतिनिधि मण्डलके कलकत्ता जानेकी तिथि आदि हम आपको सूचित करेंगे। इस बीच आपका पत्र प्रतीक्षित रहेगा। आपके पूर्ण सहयोगके बिना इस अनुष्ठानकी सफलता सन्दिग्ध ही रहेगी।

विशेष सब प्रसन्नता है। आशा है आप स्वस्थ और सानन्द हैं।

आपका
नन्ददुलारे वाजपेयी

पुन पत्र लिखते लिखते स्मरण आया कि आप हिन्दी साहित्य सम्मेलनके करांची अधिवेशनमें सम्भवतः अवश्य ही जायेंगे—साहित्य-परिषदके अध्यक्षकी हैसियतसे। तब तो आपको शायद २४।१२ को ही रवाना होना पड़े। कृपया लिखें कि २३ और २४ के दिन आप कलकत्तेके जयन्ती सम्बन्धी कार्यको दे सकेंगे या नहीं ?

न० वाजपेयी

*

३ वर्निग रोड, नयी दिल्ली
१५४७

प्रियवर द्विवेदीजी,

विश्वभारतीका वह अंक मिला जिसमें 'पाकिस्तान'की आलोचना आपने कृपापूर्वक लिखी। अनेक धन्यवाद।

तोते और कुतियाके सम्बन्धमें मुझे एक बात अवश्य निवेदन करनी है। ये दोनों पात्र स्टेजपर सफलतापूर्वक आ सकते हैं। विदेशोंमें रंगमंचपर यह होता है और इस सम्बन्धमें मैंने थोड़ा बहुत पढ़ा भी है। परन्तु ये दोनों पात्र असली न होकर नकली होते हैं। तोतेका पिंजरा और नकली पिंजरा रहता है। रंगमंचपर किसी 'विंग'के निकट पिंजरा टाँगा जाता है और 'विंग'के पीछेसे आदमी बोलता है जो दिखाई न देनेके कारण तोतेका बोलना ही जान पड़ता है। कुतिया भी नकली रहती है। उसकी भाँ भाँके लिए एक छोटी-सी मशीन जिस पात्रके साथ वह कुतिया रहती है उसके पॉकेटमें छिपी रहती है और वह पात्र समय समयपर उसे दाबता रहता है जिससे भाँ भाँकी आवाज निकलती है। हाँ, इतना अन्तर अवश्य करना होगा कि कुतिया दौड़ती और चलती न दिखाई जाकर पात्रकी गोदमें दिखायी जाये। यह अन्तर रंगमंचका प्रबन्धकर्त्ता सहजमें कर सकता है। विदेशोंमें तो इस नाटकसे भी कठिन नाटक रंगमंचपर खेले जा सकते हैं। मेरी बड़ी इच्छा है कि जिन्दोरामें एक सुन्दर रंगमंच निर्मित हो, जो 'रिवाल्विंग हो', परन्तु समय ही नहीं मिलता।

अब मैं आपको अपने कुछ ऐसे नाटक भेजूँगा जिनमें एक अंकमें एक ही दृश्य है और जो 'एमच्यारस' तक सरलतासे कहीं भी खेल सकते हैं। इनमें-से अधिकांश हाल ही में प्रकाशित हुए हैं।

विधान परिषद्के लिए मैं यहाँ आया हूँ। ता० ३ मईको विधान-परिषद् समाप्त हो रहा है। इसके बाद जबलपुर जाऊँगा और अब तो मान्य गुराव उसी ओर रहूँगा।

विश्वास है आप प्रसन्न हैं। पुनः धन्यवाद।

भवदीय
गोविन्द दास

*

१११४, वाग मुजफ्फरखाँ, आगरा
२० ६ ४७

पूज्य पण्डितजी,

आपको पत्र लिखते हुए सकोच होता है क्योंकि आप बहुकृत्य बहुकरणीय होनेके नाते अत्यधिक व्यस्त होते हैं। कुछ दिन जो आपके पास रहकर आपका अप्रत्याशित स्नेह पाया था उसीके कारण जो भूल हो गयी कि आपको यहाँ आकर सहजभावसे कई पत्र लिख गया उनमें एक Taking liberties की भावना थी जिसका शायद मुझे अधिकार न था अत क्षमा करें।

और सब बातोंका उत्तर तो प्रकट है किन्तु एक कष्ट आपको उठाना ही होगा। आपने 'भारतीय पुनर्जागरणकी भूमिका' के प्रारम्भमें एक वक्तव्य दिया था, सो यहाँ खो गया है। वह फिर लिखकर कृपया शीघ्रातिशीघ्र भेज दें। जहाँ तक मुझे ध्यान है उसमें शायद निष्पक्षरूपसे लिखनेपर आपने प्रकाश डाला था। आशा है इसमें निराश न करेंगे।

एक बात और। अच्छा सा मजाक है। प० श्रीराम शर्मा थे तो पहलेसे ही क्रुद्ध कि मैं कम्युनिस्ट हूँ, परन्तु शान्तिनिकेतनमें मिलनेके बादसे अधिक नाराज हैं—ऐसा सुना है। और जिस जिसने यह बात मुझसे कही है उसका कहना है कि आपने भी पण्डितजीसे जाने अनजाने क्या कह दिया है कि वे और खौल गये हैं। हम तो जानते हैं कि आप भी प्रच्छन्न कम्युनिस्ट विरोधी हैं। और सत्यश्रेष्ठ है कि अब यहा आधे कम्युनिस्ट तो मुझे कम्युनिस्ट मानते हैं और दूसरे आधे petit bourgeois, क्या इलाज है? तिवारीजी, तोमरजी, किंकरजीको नमस्कार। शेष कुशल है।

सस्नेह
रांगेय राघव

*

१११४ बागमुजफ्फरखाँ, आगरा
३ ७ ४७

पूज्य पण्डितजी

प्रणाम।

कृपापत्र। धन्यवाद।

मित्रान जो कहा उसपर विश्वास करके तो आपको शायद ही लिखा। कितनी Classic भाषामें आपपर प्रहार किया। हार गये आप। सीधे आप ही

क्या तो लिखा, किसी औरसे तो कहा भी नहीं न ? ऐसी बातें कहनेवाले क्या बारासे पहलेसे ही मैं भलीभाँति परिचित हूँ। क्षमा करें बर्नार्डशासे किसीने कहा था—I have some Complaints against you उसने कहा था—So have many आप भी ऐसे ही लिख देते। पं० रामपूजनजी तिवारीका २२.५.४७ का पत्र रखा है जिसके दूसरे वाक्यमें उन्होंने यह लिखा है कि वे मुझे लिखनेकी सोच रहे थे। मैंने बिना सोचे उन्हें उत्तर दिया था। फिर मुझे उनका उत्तर नहीं मिला। आगरेमें भी लगातार न रह पानेके कारण डाकी डाक बहुत व्यस्त रहती है। कभी-कभी गलत जगहपर पत्र Readdress कर दिये जाते हैं। उन्हें फिर लिखता हूँ। मैं पत्र लिखनेका आदी हूँ। फिर उन्हें उत्तर न देना ?

खेद है आपकी आशाके अनुरूप मैं आजकल प्रसन्न नहीं हूँ। चिन्तित हूँ। शान्तिनिकेतन आनेमें कुछ देरी होगी। भरतपुरमें भयानक जाट मेव दंगा हो रहा है—सुना ही होगा। मैं गाँवमें मिलकर चल देनेवाला था। कल २६ ता० का पत्र मिला है—गाँव न आना। २७ की News है गाँवमें आग लगना, हत्या इत्यादि। आगरा बयानाकी गाड़ीमें खतरा लगा है। अभी लूटी गयी थी। आगरेमें मेव इकट्ठे हो रहे हैं। भाग भागकर। Prices shoot up कर गयी हैं। पानीके नीचे आग है। मार्चका पत्रोत्तर प्राप्त करना मेरा मर्म पहला काम है। फिर दो सालके लिए आगरेका इन्तजाम करके, काम Wind up करनेमें दो तीन दिन लगेंगे। फिर ही आऊँगा।

समितिके निर्णय सूचित करेंगे ?

कृपया उत्तर दें। शान्तिनिकेतनसे पत्र यहाँ ६ दिनमें आता है। आज माह का लिखा है। सबको यथायोग्य—

सस्नेह
रांगेय राघव

*

टीकमगढ़ (बुन्देलखण्ड)
३.७.४७

प्रिय मित्रजी,

सादर प्रणाम।

कृपा पत्र मिला। निराशाके आस-पास यदि आप फीरोजाबाद पधारेंगे तो बड़ी कृपा होगी। एक सप्ताह पूर्व सूचना मिल जाय तो मैं अपने प्रबन्धके

साहित्यिक बन्धुओंका भी आपसे मिलनेके लिए न्योता दे सकूँगा। ऐसे अवसर बार-बार नहीं मिलते। मुझे उर्दूका वह कविता ठीक ठीक याद नहीं आ रही

"कि हिलमिल बैठ लें दो चार दिन हम
क़यामत की घडी सर पर खडी है"

वैसे अपने सिद्धान्तानुसार तो 'अजरामरवत प्राज्ञो' ही ठीक है। शायद अपने अपने स्थानपर दोनों ही भाव ठीक हैं।

साहित्यकी दुनियाकी उपमा थर्ड क्लाससे आपने खूब दी। उसमें 'देखते नहीं हो, डमाडा है।' कहनेवाले भी बहुत से हैं। पर चिरंजीव चतुर्वेदीका तो उसपर पैतृक अधिकार होगा—आपके नाते—और मेरे आशीर्वादका टिकिट भी सायम होगा। अभी कल हो मेरे एक पुराने साथी श्री चन्द्रवल्लभजी शास्त्रीके सुपुत्र शोभाचन्द्रजीकी प्रथम पुस्तक एकलव्य बम्बईसे छपकर आयी है। रजिस्ट्री से आपकी सेवामें आज भिजवा रहा हूँ। कृपया पढ़ लीजिए और अपना आशीर्वाद भी भेजिए। शोभाचन्द्र होनहार युवक हैं। प्राइवेट तौरपर First Division में बी० ए० पास किया है—जो बहुत मुश्किल है। संस्कृतका भी साधारणत अच्छा ज्ञान है उन्हें। आपके प्रशंसक और भक्त हैं।

मेरे अनेक मित्रोंके पुत्र मेरे comrade बन गये हैं। चि० चतुर्वेदी भी मेरा comrade बनेगा।

हम लोग अपनी स्पिरिटको तरोताजा बनाये रखें और वयोवृद्धोंकी सूचीमें नाम लिखानेसे इनकार कर दें तो नवयुवक मण्डली हमारे साथ रहेगी। [इस नुसखेमें धृष्टता + धूर्तताकी कुछ-कुछ मात्रा और चाहिए।] श्री जैनेन्द्रजी मुझे 'अकाल युवा' कहते हैं। प्राइवेट तौरपर मन मुमखा मुजरब आपको बतला दिया है। गोपनीय प्रयत्नत।]

विनीत
बनारसीदास

पुनश्च भगीरथ तथा गंगाके विषयमें मुझे मसाला चाहिए। साहित्य गंगा नामक एक लेख लिखनेका विचार है। कुछ ट्रैक्ट आपकी सेवामें दो पैकेटों-द्वारा भेजे जा रहे हैं। कृपया उनका सदुपयोग कर लीजिए। पहुँच लिखिए। हम बाहर ९॥ हजार प्रतियाँ इन ट्रैक्टोंकी वितरणार्थ भेज चुका हूँ। इस क्षुद्र शुद्र साहित्य निर्झरिणीमें अस्सी रुपयेसे अधिक पोस्टेज व्यय हुआ, छपाईका खर्च अलग था ही और घरके कई व्यक्ति इनके पैक इत्यादि करनेमें लगे रहे।

इस ग़रीब मुल्कमें शुद्ध सात्विक भोजनका सदावर्त कहीं-कहींसे कभी कभी तो होना ही चाहिए। यदि साधन-सम्पन्न व्यक्ति कुछ नहीं करते तो हम ग़रीब लोग ही अपनी शक्ति अनुसार कुछ करें। देहातके आस-पासमें ही संघर्षमय जीवनका प्रारम्भ करना है। लेख लिखकर आजीविका चलाना कोई आसान काम नहीं।

शायद मैंने आपको नहीं लिखा कि श्रीडालमियाजीने साप्ताहिक नवयुग में सात सौ रुपये मासिकपर मुझे बुलाया था पर मैंने अपनी क़लम बेचना नामुनासिब समझा।

अपना 'असंस्कृत' होना मुझे बहुत अखरता है और मुश्किल यह है कि संस्कृतज्ञ—समझदार संस्कृतज्ञ—आसानीसे नहीं मिलते। देखिए फ़ीरोज़ाबादमें कोई मिलता है या नहीं।

जीवनके नवीन अध्यायमें प्रारम्भ करते हुए मुझे उत्साह और हर्ष है। पूज्य कक्का कहा करते थे, 'कभी घी घना, कभी मुट्ठी भर चना तो कभी वह भी मना' जो कुछ होगा ठीक ही होगा।

*

चिरगाँव (झाँसी)

पूज्य भैया, ३०.११.४७

प्रणाम। सुयोग्य और समादरणीयके सम्मानसे प्रसन्नता स्वाभाविक है। हिन्दी साहित्य सम्मेलनके निर्णयसे मंगलाप्रसाद पारितोषिककी ही प्रतिष्ठा नहीं बढ़ी वरन् समस्त हिन्दी प्रेमियों और सेवकोंका गौरव बढ़ा है। इस अवसरपर मेरा सादर प्रणाम कृपया स्वीकार कीजिए।

आशा है आप सानन्द और स्वस्थ हैं। एक ही दो दिनमें पं० रायकृष्णदासजी, श्री सुमित्रानन्दन पन्त और अज्ञेयजी पधार रहे हैं। अपना अस्वास्थ्य इस शुभ अवसरपर विशेष पीड़ा पहुँचाता है। इधर श्वासके साथ ज्वर भी रह रहकर अपना बल बार-बार दिखा रहा है, सो भी मेरे-जैसे दुर्बलपर। पर मुझे विश्वास है कि इस कठिन प्रसंगसे आप सब बन्धुजनोंकी शुभकामनाओंके सहारे पार पा जाऊँगा। अभी जीवनमें कितने ही संकल्प पूरे नहीं हुए, जिनमें यह एक शान्तिनिकेतनकी यात्रा भी है।

घर कुशल है। भैया नमस्कार कहते हैं।

आपका
सियारामशरण

*

लोलाक कुण्ड (भदनी)
बनारस सिटी

सहृदय बन्धुवर, प्रणाम। ४ ३ ४७

कल 'हिमालय'में आपका लेख ('जनताका अन्तःस्पन्दन') पढ़ा। आपने मेरे मन्तव्यको अपने गम्भीर चिन्तनका मनोबल दे दिया। आपकी साहित्यिक साधनामें जो सामाजिक शुभचिन्तना है उसीके कारण आपकी गुणग्राहकताने मेरे क्षीण कण्ठको भी एक आवाज दे दी। मैं सचमुच कृतज्ञ हूँ। आपका समर्थन पाकर मेरी भावनाको एक गम्भीर ममस्थल मिल गया है। इन दिनों मैं जिस मनोजगतमें भ्रमण कर रहा हूँ उसका रसात्मक परिचय मैंने अपनी नयी पुस्तक (पथ चिह्न) में देनेका प्रयत्न किया है। पुस्तक अभी प्रकाशित नहीं हुई है, किन्तु उसकी अग्रिम प्रति लेकर वातावरणमें घूमा हूँ, लोगोंसे मिला हूँ। लोगों को पुस्तक बहुत पसन्द आयी। चतुर्वेदीजीको पुस्तकका एकाध वाक्य सुनाया था। वे मुग्ध हो गये। पुस्तक हाथमें आ जानेपर वे भी उसपर विस्तारसे लिखेंगे।

प्रकाशित हो जानेपर अथवा उसकी अग्रिम प्रति लेकर मेरा विचार शान्ति निकेतन आनेका है। इस बार मेरी बातें अधिक स्पष्ट रूपमें आपके सामने आ सकेंगी। पुस्तकके अनुसार कुछ रचनात्मक कार्य भी देखना चाहता हूँ। मिलने पर विचार विनिमयका सुयोग पाऊँगा। कृपया सूचित करें कि शान्तिनिकेतन अभी कबतक खुला है? छुट्टियाँ शुरू होनेके पहले एक बार गुरुदेवके 'जगती पारावार किनारे'का मनोज्ञ संसार देखकर अपनी यात्रा सुफल कर लूँगा।

अस्वस्थताके कारण आप कराँची नहीं जा सके। अस्वस्थ होते हुए भी आप गृहस्थी, अध्यापन, साहित्य और समाजके स्नेह सम्पादनमें संलग्न हैं, आपकी इस कर्मनिष्ठापर कौन नहीं निछावर हो जायेगा। आपकी परेशानियाँ मैं देखी हैं, दैन्यमें भला कितने लोग अपनेको जागरूक और सक्रिय रख सकते हैं। प्रभु सदैव आपको अपना प्रेमबल प्रदान करते रहेंगे।

इन दिनों आपका स्वास्थ्य कैसा है?

आशा है आप सपरिवार प्रसन्न हैं। गृहिणीको सादर नमन्। बच्चोंको प्यार और आसीस।

मित्रोंको यथा योग्य।

आपका आत्मीय
शान्तिप्रिय द्विवेदी

*

माधव कॉलिज, उज्जैन
२५ ३ ४९

आदरणीय पण्डितजी,

'कवि की कविता' क्या मिली, नव-वर्षका नव सन्देश प्राप्त हो गया। मैं तो अभीतक कवीन्द्र-दर्शनवाले दृश्यमें ही डूब उतरा रहा हूँ। बबुआवाला चित्र शायद आगामी कलकी बहुमूल्य स्मृति बन जाय। उसे सूमके धनकी भाँति सँजो कर रखूँगा। यद्यपि मेरा जी नहीं भरा, लाल गाउनके बगलमें अकड़कर खड़े होनेकी हसरत तो अभीतक जी में भरी ही है, उस समय मेरा पोज देखकर आप बिसमिल्लाह कर उठते। बकरीके दूधमें गुड़ डालकर पिलानेवाली मेरी अन्नपूर्णा भाभी कहीं वह मनहर दृश्य देख लेतीं तो बाग-बाग हो जातीं। ऐसे आनन्दके क्षण सरलतासे कल्पनामें नहीं लाये जा सकते। मैं बादमें सोचता रहा कि उन्हें लखनऊ न लाकर आपने भूल अवश्य की, क्योंकि उस दशामें नारदकी नारदायी खिल उठती। एक-आध और करतब देखनेको मिल जाते। मैं आशा करता हूँ कि धान कूटनेका अस्त्र मेरे लिए हस्बमामूल सुरक्षित होगा। सच मानिए, लखनऊके वे चार दिन अपनी चारुतामें अनोखे बन पड़े हैं, सम्भव है प्रबोधपूर्व पारमित्राना आकलन भी कोई संयोग ही हो।

यों तो लखनऊका दृश्य बिल्कुल ही अप्रत्याशित न था, पर इतने शीघ्र इस शुभ घड़ीका दर्शक बन सकूँगा, यह सोच न पाया था। मैं अपने दुर्भाग्यकी कल्पना तो कर लेता हूँ, सौभाग्यकी नहीं कर पाता। बिना इस घटनाके कालिदासके 'भावस्थिराणि जननान्तर सौहृदानि'का अर्थ ठीक ठीक समझ न पाता। जैसे जैसे दिन बीतते जाते हैं, वह सुयोग सचमुच ही संयोग मालूम पड़ता है और बहुमूल्य होता जाता है। उस दिन यदि देवस्वभाव व्यक्तियोंमें विराजमान होनेके कारण आप पारस्परिक सौहार्द विनिमयमें अधिक व्यस्त न रहे होते तो सरोजिनीजीकी उस भव्यमूर्ति (अब तो अन्तिम)को आजीवन न भूल सकेंगे। अब समझमें आ रहा है कि उनकी वह दीप्ति, वह तेज, वह भावविह्वलता, सचमुच ही दीपकका 'सँभाला' था। भगवती और वीणापाणिके उस मधुर समन्वयने, उस उत्सवमें जो सजीवता सञ्चारित कर दी थी, वह अब इतिहासकी बात बन चुकी है। ऐसे ऐतिहासिक महापर्वकी तो आपने भी कभी कल्पना न की होगी। किसी व्यक्तिको आप चाहे महत्त्व न प्रदान करना चाहें (यद्यपि मेरे लिए यह भी कम ऐतिहासिक महत्त्वकी नहीं) पर महोत्सवकी गुरुताका वह जाज्वल्यमान दृश्य सम्भवतः आप भी इस पारके मानव जीवनमें विस्मरण न कर सकेंगे। गुरुदेवको पर्देमें मूँदनेके बाद सम्भवतः परमभट्टारिकाके सम्मान और आत्मीयतापूर्ण दो शब्द भारती

सबसे बड़ी निधि होगी। इसीलिए उपर्युक्त हास्यात्मक व्यंजनाको भुलाकर, मेरे इस कथनमें हार्दिक सत्य है कि उस दृश्यके दर्शकरूपमें भाभीजी तथा शान्ति निकेतनकी सुहृद मण्डलीका होना परमावश्यक था। वाजपेयीजी तो प्रत्येक पल पर बनते—मिटते नजर आते। उस दिनके अनुभवसे अकडकर कह सकता हूँ कि अभिनेता होनेसे दर्शक होना कहीं बड़े सौभाग्यका चिह्न है। अब तो आप अव य हा दबे छिपे मेरे भाग्यकी सराहना करेंगे, ईर्ष्यावश ही सही। उस चित्र पटका वर्णन मैंने अपने कॉलेजके सम्भाषणोंमें जिस तन्मयताके साथ किया ह, यदि आप श्रोताओंमें होते तो ध्यानचन्दकी ठाय ठाय भूल जाते। मौका लगा तो आपको भी सुनाऊँगा और यह भी कि लाल गाउन किसको कैसा दिख रहा था। अब कभी ऐसा मौका आया तो भाभीजीको स्वयं लिवाकर लाऊँगा और एक लाल गाउनिया भी बनवाकर साथ लेता आऊँगा। नारदस बढ़कर दूसरा भाई खिताब तो अब मिलना नहीं ह, इससे हद बीरबल बन जाऊँगा।

अब इस पचडेको बन्द करूँ और कुछ स्वार्थकी बात कहूँ, वैसे भी मानकी पुलक इस प्रकार उडेल देना आत्मसंयमका अभाव कहा जायेगा, विशेषकर आजके यान्त्रिक युगमें। और मैं किसी न किसी तरह गम्भीर बननेका उपक्रम कर रहा हूँ। इतनी गम्भीरता जो बाघीव महत्ताको सभाम मेरा रोब जमा दे। आपने मुझे इतने थोडे-से परिचयम ही इतना धृष्ट बना दिया ह कि साक्षात्कार होनेपर वस्तुतः सी पागल बातें भी बक जाता हूँ कहीं भविष्यमें इसका दामि याजा न देना पड़े। यह भयका तत्त्व किसी-न किसी अशमें सदा मेरे साथ लगा रहता ह, शायद इसका मूल आदिम संस्कार ह।

एक विचित्र बात, अभी जब आपका पत्र आया तो उसे पढ़कर सभी परिवार कुछ क्षणोंके लिए 'मगन रहे चोला' बन गया। चित्र और कविताका लेकर स्वयं श्रीमतीजी उपस्थित हुइ और ऐसा रस ले-लेकर पढ़न लगीं, जसे बाणभट्ट की निउनियाका अभिनय देखकर आयी हो और उसे सबको सुनाती फिर रही हो। म पत्र और चित्र सिरहाने रखकर सो गया और स्वप्नमें देखता हूँ कि आपने श्रीमद्भागवतका सप्ताह सुननेका निश्चय किया ह और श्रोताओंमें मैं सबसे आगे बैठा हुआ, साँस रोककर प्रारम्भकी प्रतीक्षा कर रहा हूँ। इस हँसी न समझिएगा, सचमुच हो आज आपके पत्रके साथ यह स्वप्नरूपमें दवसयाग घटित हुआ। यद्यपि मैं आध्यात्मिकताका विशेष कायल नहीं, पर इस स्वप्नसे अनायास ही मन प्रसन्न हो उठा ह, जो हलका हो गया ह। सम्भव ह इसका कारण यह हो कि आजकल मैं नियमसे श्रीमद्भागवतका पाठ कर रहा हू, केवल जिज्ञासु भावसे गाँधीवाला पद प्राप्त करनेकी महत्त्वाकांक्षा मुझमें नहीं।

इस रूपकमें स्वार्थवाली बात तो छूटी ही जा रही है इन गरमीकी छुट्टियों में मुझे थीसिस समाप्त करनी ही है, अब तो उसे पूरा न करनेका अपयश मैं अपने सिरपर नहीं लेता। भारतीय परम्परामें भक्तगण सदासे अपनी भूलको भगवान्के सिर मढ़ते आये हैं। इस रूपकसे चिढ़िएगा नहीं, लौकिक रूपक जल्दी-में सूझ नहीं पाया है। इसी स्वार्थवश मैं पुनः शान्तिनिकेतन-वासका विचार कर रहा हूँ। या यों वर्षमें एक मास नियमसे आपके साथ रहनेका विचार पक्का रूप ले बैठा है। आप लिखिए कि इस सिरदर्दके लिए तैयार हैं या नहीं? भाभीजीसे चर्चा न कीजिएगा नहीं तो गुड़के पार्सल आना शुरू हो जायेंगे। और मेरी मरम्मत होगी सो अलगसे, पिछली बार तो दुम दबाकर निकल आया पर अबकी एक भी हथकण्डे नहीं चलनेके। जहाँतक मुझे याद आता है आपने इस ग्रीष्ममें काशी वासका विचार कर रखा है। मैं अभीसे आपके लिए वहाँ पर एक साफ़-सुथरे बँगलेका प्रबन्ध कर रहा हूँ, पर वह इसी शर्तपर कि सिद्धार्थ या गंगा-स्नानमें सम्मिलित हुआ करेंगे। आपकी बहू भी इसरार कर रही हैं कि भाभीजीसे भेंटका सुयोग जुटाया ही जाये। वे पुतुलसे कढ़ाईका काम सीखना चाहती हैं। अरुण साहब नित्य पुतुलका बनाया कबला धारण करते हैं और पास-पड़ोसके लोग भी उसकी कढ़ाईपर मुग्ध हैं। मुझे तो वह विशेष पसन्द आया नहीं था पर श्रीमतीजी बुरी तरह रीझी हुई हैं। अपने कलात्मक ज्ञानके लिए क्या कहूँ? यदि आपने काशीमें ग्रीष्म-वास किया तो उन्हें भी भाभीजीके दर्शनका सुयोग या सौभाग्य प्राप्त हो सकेगा, और इस ही हल्लड़में मेरी भी जान बच जायेगी। आशा है इस द्विविध सुयोगका सुख आप मेरे हाथसे न जाने देंगे। चाहता हूँ कि आपके आवासका इन्तजाम करनेका गौरव प्राप्त कर सकूँ। हौसला तो यह है कि कभी बड़े बड़े ज्योतिषाचार्योंको भी मात दे सकूँ। पर यह एक जमकी बात नहीं है। आशा है मेरी शरारत जरा भी नागवार नहीं दिखायेंगे और एक दाँवमें इस दुनियामें रहने लायक सुशील तो बना ही देंगे।

भाभीजीको मेरा साष्टांग प्रणाम। बहुआने भाभीजीका एक सुन्दर चित्र और स्थानके अन्य चित्र भी भेजनेको कहे थे, साथमें पुतुल, शिरीन, मुन्नी, मुन्ना और सिद्धार्थका भी। कृपया याद दिला दें। इस चित्रके लिए फ़ोटोग्राफ़र महोदयको धन्यवाद। बच्चोंको सुमन बबूकी स्नेह आशिष। वाजपेयीजी, किरणजी, शास्त्रीजी और प्रधानजी आदि सुहृदोंसे मेरा स्नेहाभिवादन कहिएगा। शिति बाबू, मास्टर दा, गुसाइंजी तथा हरिदास बाबूको प्रणाम। रथीन्द्र बाबूसे भी स्नेहाभिवादन कहें। उनका आनेका निमन्त्रण पुनः दोहराता हूँ। आपको

बहू, आपको तथा भाभीजीसे प्रणाम निवेदित करती हैं, और ऊषा, अरुण वरुण चरणस्पर्श कहते हैं।

'अशोकके फूल' सचमुच ही नहीं मिले, हो सकता है पोस्ट आफिसकी भूल हो। आशा है मेरी भूलोंको क्षमा करते रहेंगे।

विनीत
सुमन

*

प्रयाग
२७ ४ ४९

प्रियवर हजारीप्रसादजी,

आपकी सेवामें दो एक दिनमें लोकायन संस्कृति पीठका विधान भेज सकूँगा। लोकायनकी मुखभारती 'लोकचेतना' का पहला अंक जुलाई पहली तारीखको निकालनेका विचार है। आपसे अनुरोध है कि पहले अंकके लिए दो पृष्ठका या कुछ अधिकका एक लेख अवश्य भेजनेकी कृपा करें। हम छोटे छोटे निबंध दो या ढाई पृष्ठ तकके दे रहे हैं। आपसे मैं चाहता हूँ आप कुछ भारतीय संस्कृति और बापूजीको लेकर लिखें—'आजकल'में आपका लेख मुझे बहुत पसन्द आया। उसीको आप अधिक सबल संगठित रूप देकर अवश्य लिखनेकी कृपा करें। आपके द्वारा मुझे अप्रत्यक्ष रूपसे गुरुदेवका भी आशीर्वाद मिल जायगा। मैं चाहता हूँ प्रत्येक अंकमें आप मुझे कुछ-न-कुछ अवश्य दें—अगले अंकमें गुरुदेवपर आपकी लेखनीसे चाहता हूँ। हिन्दीमें आजकल अच्छे निबन्ध मिलना कितना कठिन है आपको ज्ञात है। शान्तिनिकेतन (विश्वभारती)के आचार्य ही मेरी रक्षा कर सकते हैं। अतः आपसे मेरा आग्रह है कि आप 'लोकचेतना'को अपने आशीर्वादका गौरव प्रदान करें।

'स्वर्णकिरण' 'स्वर्णधूलि'—मेरी १० प्रकाशित रचनाएँ शायद आपको अभी नहीं मिली होंगी। लीडर प्रेसमें आजकल Stock taking हो रहा है—मैं सोचता हूँ इसी सप्ताहमें आपको दोनों पुस्तकें अवश्य मिल जायेंगी।

मैं ७वीं मईको अल्मोड़ा जा रहा हूँ। जुलाई प्रथम सप्ताहमें लौटूँगा। जूनके प्रथम सप्ताहमें मुझे प्रेसमें सामग्री देनी होगी। आशा है उससे पहले ही आपका आशीर्वाद मुझे प्राप्त हो सकेगा। मेरा पता—मेरा नाम, अल्मोड़ा (कुमाऊँ पर्वत)। संस्थाके पास अभी धनका अभाव है, फिर भी संस्था अपने

आदरणीय साहित्यिकोंकी यथाशक्ति सेवा करना चाहती है। सदस्यताके लिए अगले पत्रमें लिखूँगा।

आशा है आप सानन्द और सकुशल हैं। कई वर्षोंके बाद अबके आपसे मिलनेपर अत्यन्त आनन्द हुआ। आशा है आप सदैव कृपाभाव बनाये रहेंगे। जुलाईके बाद जब भी आप प्रयाग आयें आप मेरे साथ ठहरकर संस्थाको गौरव प्रदान करें। कष्टके लिए क्षमा चाहता हूँ।

आपका
सुमित्रानन्दन पन्त

*

व्रजकिशोर धाम पटना
३० १ ४९

मान्यवरेषु,

कोटिशः प्रणाम।

लखनऊ विश्वविद्यालयने अभी-अभी डॉक्टरेटकी उपाधि देकर अपना तथा हिन्दीका जो सम्मान किया है उसके लिए—कुछ उपाधि पानेके लिए नहीं—मेरी हार्दिक बधाई स्वीकार करें।

आप काशी नहीं गये इसके पीछे क्या बातें हैं यह सब हमारे यहाँके डॉ० मिश्र सुना रहे थे जो काशी विश्वविद्यालयके कोर्ट आदिके सदस्य हैं। सुना था लखनऊसे भी आपको बुलावा आया है, यहाँकी भी चर्चा चल रही है। मुझसे बातें होती है तो कह देता हूँ कि द्विवेदीजी नहीं चाहते कि दूसरोंके लिए वे सुलभ हों, इसीलिए सुदूर शान्तिनिकेतनमें बैठे हुए हैं और उन्हें वहाँसे डिगाना असम्भव है। कल ही हमारे प्रिन्सिपल साहब कह रहे थे कि वे यहाँ सरकारको लिख रहे हैं कि हिन्दी विभागमें आपको बुलाया जाये। पर जब आप काशी नहीं गये तो मगध में क्यों आने लगे भला ?

कबीरपर जो नयी पुस्तक लिख रहे हैं वह अभी प्रेसमें गयी या नहीं ? क्षितिमोहन बाबूने मध्ययुगपर कोई नयी किताब लिखी है क्या ? अगर लिखी है तो कहाँसे प्राप्त हो सकती है ? पहले भी निवेदन कर चुका हूँ फिरसे स्मरण दिला दूँ—सूरपर जो आपकी पुस्तक छपी थी और अब अप्राप्य है, उसका नवीन संस्करण आवश्यक है। आप उसे अपनी रचनाओंमें महत्त्वपूर्ण नहीं समझते फिर भी उसका अभाव विद्यार्थियोंके लिए बहुत ही असुविधाजनक सिद्ध हो रहा है।

टाइम्स ऑव इण्डिया बिल्डिंग, बम्बई–१
२९ अगस्त १९६०

आदरणीय,

बहुत लज्जित हूँ कि आपके पत्रका उत्तर तीन सप्ताह बाद दे रहा हूँ। जिन दिनों आपका पत्र और कविता मिली, मैं बाहर गया हुआ था। लौटकर आनेके बाद बहुत व्यस्त रहा और इसके बाद कुछ अस्वस्थ सा हो गया। रोज सोचता था कि आपको लिखूँ और रोज टलता जाता था।

आपका पत्र पढ़कर मेरी आँखके आगे फिर वह दिन एकदम घूम गया जिस दिन मैं प्रयागसे बम्बई आया था। जाड़ेके दिन थे। सुबहका कुहरा युनिवर्सिटीपर फैला हुआ था और उस कुहरेमें धुँधली आकृतियाँ दीख रही थीं उन पुलिसके सिपाहियोंकी जो विश्वविद्यालयके फाटकोंपर बन्दूक लिये पहरा दे रहे थे। पता नहीं क्यों आनेके पहले मन बहुत दुःखी था कि विश्वविद्यालयोंका भविष्य न जाने क्या होनेवाला है। कितने ही लोग बड़ी बड़ी सरकारी नौकरियाँ छोड़कर इसीलिए अध्यापक हुए थे कि उसमें एक विशिष्ट प्रकारका गौरव और आत्मसम्मान बना रहता है। पिछले तीन चार वर्षोंसे यह लगने लगा कि अब आसार अच्छे नहीं। जिस दिन समाचार पत्रमें बनारस विश्वविद्यालयका समाचार पढ़ा तो मनपर बहुत गहरा आघात हुआ। पता नहीं आगे अभी हमारे देशको क्या क्या देखना होगा।

लेकिन आपको तो मैंने सदासे गुरुवत माना है। इस तमाम उथल पुथलके बीच आप जितने शान्त और सौम्य बने रहे, वह बिना किसी आन्तरिक निष्ठाके सम्भव नहीं। आपके व्यक्तित्वकी इस गरिमाको हम सब आपके अनुज संकटमय परिस्थितियोंमें अपने व्यक्तित्वमें निबाह सकेंगे, इसका आशीर्वाद दीजिए।

कविता कई बार पढ़ी। इन तमाम सन्दर्भोंमें इस कविताने बहुत आश्वासन दिया। दीपावलीके अंकमें यह कविता दे रहा हूँ और प्रयास करूँगा कि इसके साथ गुरुदेवकी स्वयंकी बनाया हुई कोई कलाकृति दे सकूँ।

मेरे प्रणाम लीजिए।

स्नेहाकांक्षी,
धर्मवीर भारती

*

लेखक

•

१ डॉ० धर्मवीर भारती, सम्पादक धर्मयुग, पो० बा० २१३, टाइम्स ऑफ इण्डिया, बम्बई।

२ डॉ० विद्यानिवास मिश्र, सूरतसदन, अलहदादपुर, गोरखपुर।

३ श्री बलराज साहनी, सुप्रसिद्ध अभिनेता। शान्तिनिकेतनमें द्विवेदीजीके सहयोगी रहे।

४ श्रीमती भारती मिश्र, द्विवेदीजीकी पुत्री, १६ ए बालीगंज प्लेस, कलकत्ता १९।

५ शिवानी, सुपरिचित कथालेखिका, प्रायरी लाज, नैनीताल।

६ श्रीमती मालती तिवारी, द्विवेदीजीकी पुत्री, १९, स्टाफ क्वार्टर, उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद।

७ श्री सीताराम सेकसरिया, प्रसिद्ध समाजसेवी और साहित्यप्रेमी, कलकत्ता।

८ श्री विवेकीराय, निबन्धलेखक, हिन्दी विभाग, डिग्री कालेज, गाजीपुर।

९ डॉ० रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, भाषाशास्त्र विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय।

१० डॉ वीरेन्द्र श्रीवास्तव, हिन्दी विभागाध्यक्ष, भागलपुर विश्वविद्यालय।

११ डॉ० कैलाशचन्द्र भाटिया, हिन्दी विभाग, मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़।

१२ डॉ० विश्वनाथ त्रिपाठी, एफ ८।१ माडल टाउन, दिल्ली-९।

१३ डॉ० वासुदेव सिंह, हिन्दी विभाग, काशी विद्यापीठ वाराणसी।

१४ डॉ० श्यामसुन्दर शुक्ल, हिन्दी विभाग, का० हि० वि०, वाराणसी।

१५ डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, हिन्दी विभाग, का० हि० वि०, वाराणसी।

१६ डॉ० रघुवंश, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

१७ डॉ० रमेशकुन्तल मेघ, रीडर इचार्ज, पंजाब यूनि० सें०, डावा कालेज, जालन्धर।

१८ डॉ० रामसुरेश त्रिपाठी, संस्कृत विभाग, मुस्लिम वि० वि०, अलीगढ़।

१९ डॉ० रामदरश मिश्र, ई ४।११ए, माडल टाउन, दिल्ली ९।

२० डॉ० शम्भुनाथ सिंह, हिन्दी विभाग वाराणसेय संस्कृत वि० वि०, वाराणसी।

२१ श्री ठाकुर प्रसाद सिंह, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश शासन, लखनऊ।
२२ डॉ० प्रभाकर माचवे, १२० रवीन्द्र नगर, दिल्ली ११।
२३ डॉ० देवराज उपाध्याय।
२४ आचार्य नलिन विलोचन शर्मा (स्वर्गीय)।
२५ डॉ० भगवतशरण उपाध्याय। सी–२२०, महानगर, लखनऊ।
२६ डॉ० बच्चन सिंह, हिन्दी विभाग, का० हि० वि० वाराणसी।
२७ श्री मधुरेश, अँगरेजी विभाग, मदनलाल कालेज, बसौली, बदायूं।
२८ डा० देवराज, भारतीय दर्शन विभागाध्यक्ष, का० हि० वि०, वाराणसी।
२९ श्री नेमिचन्द्र जैन, आई ४७, जंगपुरा एक्स्टेंशन, नयी दिल्ली–१४।
३० श्री नवलकिशोर, ६४ भूपालपुरा उदयपुर।
३१ श्री कुँवरनारायण, ४ शाहनजफ रोड, लखनऊ।
३२ श्री कृष्णनाथ, समाज शास्त्र विभाग, काशी विद्यापीठ, वाराणसी।
३३ डॉ० त्रिभुवन सिंह, हिन्दी विभाग, का० हि० वि०, वाराणसी।
३४ डॉ० कृष्ण बिहारी मिश्र, ७ बी हरिमोहन राय रोड, कलकत्ता १५।
३५ श्रीरमेशचन्द्र शाह, अँगरेजी विभाग, गवर्नमेण्ट डिग्री कॉलेज, सीधी म०प्र०।
३६ श्रीमती विनोदिनी सिंह, द्विवेदी साहित्यकी शोध छात्रा, बिहार विश्वविद्यालय मुजफ्फरपुर।
३७ श्री परशुराम चतुर्वेदी, सुप्रसिद्ध सन्त साहित्य मर्मज्ञ, बलिया।
३८ श्री बनारसीदास चतुर्वेदी, सुप्रसिद्ध पत्रकार, फीरोजाबाद।
३९ श्री इलाचन्द्र जोशी, प्रसिद्ध उपन्यासकार, आकाशवाणी, इलाहाबाद।
४० डॉ० रवीन्द्र भ्रमर, हिन्दी विभाग, मुस्लिम युनिवर्सिटी, अलीगढ़।
४१ सुश्री सुधा राजपाली, सूर साहित्यकी शोध छात्रा, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी।
४२ डॉ० हिरण्मय, रीडर, हिन्दी विभाग, मैसूर विश्वविद्यालय, मैसूर।
४३ डॉ० श्याम तिवारी, ना० प्र० सभा वाराणसी।
४४ डॉ० श्यामनन्दन किशोर, हिन्दी विभाग, बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर।
४५ डा० काशीनाथ सिंह, हिन्दी विभाग का० हि० वि०, वाराणसी।
४६ पं० करुणापति त्रिपाठी, प्राचार्य शिक्षण विद्यालय, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।
४७ श्री प्रेमचन्द जैन, शोध छात्र, हिन्दी विभाग, का० हि० वि० विद्यालय, वाराणसी।

